

Prakrit Text Series
Vol. X.

NANDISŪTRAM
With
Vṛtti and Durgapadavyākhyā

PRAKRIT TEXT SOCIETY
VARANASI-5 • AHMEDABAD-9

Prakrit Text Society Series No.

N A N D I S U T R A M

by
SHRĪ DEVAVĀCAKA

with the VRITTI by
SHRĪ HARIBHADRĀCARYA
and
DURGAPADAVYĀKHYĀ ON VRITTI
By
SHRĪ ŚRICANDRĀCARYA
and
VIŞAMAPADAPARYĀYA ON VRITTI

Edited by
MUNI SHRĪ PUNYAVIJAYAJĪ

General Editors :
Dr. V. S. AGRAWĀLA
Pandit DALSUKH MĀLVANIĀ

P R A K R I T T E X T S O C I E T Y
VARANASI-5 AHMEDABAD-9

Published by
DALSUKH MALVANIA
Secretary,
PRAKRIT TEXT SOCIETY
VARANASI-5

Price Rs. 15/-

Available from :

- 1 MOTILAL BANARASIDASS, NEPALI KHAPRA, Post Box 75, VARANASI.
- 2 CHAUKHAMBA VIDYABHAVAN, CHAWK, VARANASI.
- 3 GURJAR GRANTHARATNA KARYALAYA, GANDHI ROAD, AHMEDABAD-1.
- 4 SARASWATI PUSTAK BHANDAR, RATANPOLE, HATHIKHANA, AHMEDABAD-1.
- 5 MUNSHI RAM MANOHARLAL, NAI SARAK, DELHI.

Printed by :-
JAYANTI DALAL
Vasant P. Press
Gheekanta, Ghelabhai's Wadi,
AHMEDABAD-1.

श्रीदेववाचकविरचितं

नन्दिसूत्रम्

श्री-श्रीचन्द्राचार्यकृतदुर्गपदव्याख्या-अज्ञातकर्त्तकविषमपदपर्यायाभ्यां समलङ्घृतया
आचार्यश्रीहरिभद्रसूरिकृतया वृत्त्या सहितम्

संशोधकः सम्पादकश्च

मुनिपुण्यविजयः

जिनागमरहस्यवेदिजैनाचार्यश्रीमद्विजयानन्दसूरिवर(प्रसिद्धनाम—आत्मारामजीमहाराज)शिष्यरत्न—
प्राचीनजैनभाषणागरोद्धारकप्रवर्तकश्रीमत्कान्तिविजयान्तेवासिनां
श्रीजैनआत्मानन्दग्रन्थमालासम्पादकानां मुनिप्रवरश्रीचतुरविजयानां विनेयः

प्राकृत ग्रन्थ परिषद्,

वाराणसी-५

अहमदाबाद-९,

प्रकाशक :-

दलसुख मालविणिया
सेक्टरी, प्राह्लद एक्स्ट सोसायटी,
बाराणसी-५

मुद्रक :-

**अर्थंति दलाल
वसंत शिंटोग प्रेस
चीकांडा, चेलाभाईकी बाडी
अहमदाबाद-१**

गंथसमण्णं

सव्वणु सत थथपया सणत्थं भव्वाण जीवाण विबोहणत्थं ।
गंथा अणेगा रइया महाघा जेहिं महत्था विविहा विसुद्धा ॥१॥

‘भवविरहसूरि’ इतिगुणणाम जेसि जथम्मि सुपसिद्धं ।
जाइगिमहत्तराए धम्मसुयत्तं च जे पत्ता ॥२॥

अणुवक्यपरोवक्या अम्हारिसऽणेयजणगणम्भि जे ।
महमाहणाण महसमणवराणं पुज्जपायाणं ॥३॥

सिरिहिरिभद्रायरियाणऽणुवमचरियाण महमईणं णं ।
ताणं ताणाणऽहयं तन्विरहयवित्तिसंजुयं एयं ॥४॥

पुण्णपवित्ते करक्यकोसे अप्पेमि नंदिसुत्तं हं ।
भत्ति-बहुमाणगहिलो विणयणओ अप्पयं धनं ॥५॥

मन्नमाणो वारं वारं सक्यत्थयं च भावंतो ।
मुणिषुण्णविजयणामो णिगंथो चरणरथकपो ॥६॥ छहिं कुलयं ॥

ग्रन्थसमर्पण

भवयजीवों के विद्योध के लिए सर्वज्ञ के शास्त्रों के अर्थप्रकाशन के हेतु जिन्होंने विविध विशुद्ध और महार्थको प्रकट करनेवाले महामूल्यवान अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनका उपनाम 'भवविरहसूरि' जगत में सुप्रसिद्ध है और जो याकिनीमहत्तरा के धर्मपुत्र थे, हमारे जैसे अनेक जनोंको जिन्होंने अनुपश्चित होते हुए भी उपकार किया है, जो महात्राल्पण महाश्रमणश्रेष्ठ और पूज्यपाद है, ऐसे महामति अनुपमचारित्रधर श्रीहरिभद्राचार्य के पुण्यपवित्र करकमलकोषमें उन्होंकी बनाई वृत्ति के साथ यह नन्दिसूत्र को भक्ति और बहुमान से विवश अपने का धन्य मानता हुआ—पुनः पुनः अपने को इतार्थ समझता हुआ मैं उनकी चरणरङ्के समान निर्ग्रन्थ मुनि पुण्यविजय समर्पित करता हूँ।

प्रकाशकीय निवेदन

जैन आगम ग्रन्थों के प्रकाशनके लिए अब तक अनेक व्यक्ति और संस्थाओंने प्रयत्न किया है। ई. १८४८ में सर्व प्रथम स्टिवेन्सन ने कल्पसूत्रका अनुवाद प्रकाशित किया किन्तु वह क्षतिपूर्ण था। बस्तुतः वेबर ही सर्वप्रथम विद्वान माने जायेंगे जिन्होंने इस दिशामें नवा प्रस्थान शुरू किया। उन्होंने ई. १८६५-६६ में भगवती सूत्रके कुछ अंशों का संपादन किया और उन पर टिप्पणीरूप अपना अध्ययन भी लिखा।

राय धनपतसिंह बहादुरने आगमोंका प्रकाशन १८७४ में शुरू किया और कई आगम प्रकाशित किये किन्तु उनका मूल्य हस्तग्रतों की मुद्रित आवृत्तिसे कुछ अधिक था। फिर भी—विद्वानों को दुर्लभ वस्तु सुलभ बनानेका श्रेय उन्हें है ही। जेकोवीका कल्पसूत्र (ई. १८७९), और आचारांग (ई. १८८२), ल्युमनका औपपातिक (ई. १८८३) और आवश्यक (ई. १८९७), स्टेन्थलका ज्ञाताधर्मकथा का कुछ अंश (ई. १८८१), होर्निंगका उपासकदशा (ई. १८९०), शुत्रिंगके आचारांग (ई. १९१०) इत्यादि ग्रन्थ आगमों के संपादनकी कला में आधुनिक विद्वानों को संमत ऐसी पद्धति को अपनाकर प्रकाशित हुए थे। फिर भी लाला सुखदेव सहायदारा कृषि अमोलककृत हिन्दी अनुवाद के साथ (ई. १९१४-२०) जो ३२ आगम प्रकाशित हुए तथा आगमोदय समिति द्वारा समप्र संस्कृत आगमों का ई. १९१५में जो मुद्रण प्रारंभ हुआ उनमें उस पद्धति की उपेक्षा ही हुई। आचार्य सागरानन्दसूरि द्वारा संवादित संस्करण शुद्धिकी और मुद्रण को दृष्टिसे राय धनपतसिंहके संस्करणसे आगे बढ़ा हुआ है और विद्वानोंके लिये उपयोगी भी सिद्ध हुआ है। इस संस्करणके प्रकाशनके बाद जैनधर्म और दर्शनके अध्ययन और संशोधन में जो प्रगति हुई उसका श्रेष्ठ आचार्य सागरानन्दसूरिको है। किन्तु इतना होने पर भी आगमों को आधुनिक पद्धतिसे समीक्षित बाचना की आवश्यकता तो बनी ही रही थी। पाटनमें ई. १९४३ में आगम प्रकाशनके लिए जिनागम प्रकाशिनी संसदकी स्थापना की गई किन्तु उससे अब तक कुछ भी प्रकाशन हुआ नहीं। पू. पा. मुनिश्री पुण्यविजयजी लगातार चालीससे भी अधिक वर्ष से इस प्रयत्नमें हैं कि आगमोंका सुसंगादित संस्करण प्रकाशित हो। उन्होंने इस दृष्टिसे प्राचीन प्रतों की शोध करके कई मूल आगमों और उनकी प्राकृत-संस्कृत टीकाओं के पाठ संशोधित किए हैं। इतना ही नहीं उन्होंने टीकाओंमें या अन्य ग्रन्थोंमें आगमोंके जो अवतरण आये हैं उनका आवार लेकर भी पाठशुद्धिका प्रयत्न किया है। उनके इस प्रयत्नको ही मुख्यरूपसे नजर समक्ष रख कर स्वतन्त्र भारतके प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसादने ई. १९५३ में प्राकृत ग्रन्थ परिषद्की स्थापना की। अबतक इस परिषद् के द्वारा प्राकृत माषाके कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ सुसंगादित होकर प्रकाशित हुए हैं। तथा पं. हरगोविंददासका सुप्रसिद्ध पाइयसदमहण्डी भी पुनः मुद्रित हुआ है। प्राकृत ग्रन्थपरिषद् के द्वारा संस्कृत आगमों का प्रकाशन होना है यह जातकर केरल मूळ आगमों के प्रकाशनके लिए बंबईके महावीर जैन विद्यालयने ई. १९६० में योजना बनाई और पू. मुनिश्री का सहकार मांगा जो सहर्ष दिया गया।

यह परम हृषका विषय है कि प्राकृत ग्रन्थ परिषद् अब अपने मुख्य ध्येय के अनुसार आगमप्रकाशनके क्षेत्रमें भी प्रवृत्ति कर रही है और समप्र आगमके मंगलमूल नन्दीसूत्र आ० जिनशास महत्वर का चूर्णि और आचार्य हरिमदकृत वृत्ति आदिके साथ नवम और दशम ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित कर रही है। इसका श्रेय पू. पा. मुनिराज श्री पुण्यविजयजी को है जिन्होंने बड़े परिश्रम से इनका संपादन दोर्धकालीन अध्यवसायसे अनेक हस्तप्रतो और टीकाओंके आश्रयसे किया है। इसके लिए प्राकृत ग्रन्थ परिषद् और विद्वजगत् उनका कृणी रहेगा।

प्राकृतयन्थपरिषद् यन्थाद् १०



नन्दस्त्रीदीकाद्वयपद्याह्याको प्राचीनतम् प्रतिके अंतिम (३२१वे) पत्रको प्रथम और द्वितीय पुष्टि । (जैसलमेर जैन शानभण्डार)

॥ जयन्तु वीतरागः ॥

प्रस्तावना

आज विद्वानों के करकमलोंमें नन्दीसूत्र, उसकी हरिभद्रसूरिकृत वृत्ति, हारिभद्री वृत्तिकी चन्द्रकुलीन आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरिकृत दुर्गपदव्याख्या, जिसका अपरनाम टिप्पनक है, और हारिभद्रीवृत्तिके पर्याय, ये चार ग्रन्थ उपहृत किये जाते हैं। इनका संशोधन मूल नन्दीसूत्रकी आठ प्रतियाँ, हारिभद्री वृत्तिकी चार प्रतियाँ, दुर्गपदव्याख्याकी तीन प्रतियाँ और पर्याय या संक्षिप्त टिप्पनककी दो प्रतियाँ, इस प्रकार कुल सत्रह प्रतियोंके आधारसे किया गया है।

मूल नन्दीसूत्रकी आठ प्रतियोंका विस्तृत परिचय, इसी प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित चूर्णिसहित नन्दीसूत्रकी प्रस्तावनामें दिया गया है, इसको न दुहरा कर, विद्वानोंसे विज्ञप्ति है कि इस परिचयको चूर्णिसहित नन्दीसूत्रकी प्रस्तावनासे ही देख लें। मूल नन्दीसूत्र के सख्यावन्ध पाठमेद आदिके विषयमें जो कुछ वक्तव्य और ज्ञातव्य था वह उसमें ही दिया है। इस ग्रन्थमें सिर्फ हरिभद्रसूरि महाराजने जिन पाठोंको लक्षित करके व्याख्या की है, वे पाठ सूत्रप्रतियोंमें मिले हों या न मिले हों, तथापि वृत्तिकारभिमत सूत्रपाठ वृत्तिअनुसार मैने दिये हैं। इन सब बातोंका सूचन चूर्णिसहित नन्दीसूत्र की पादटिप्पणीयोंमें स्थान स्थान पर किया है; चूर्णी, हारिभद्री वृत्ति और मलयगिरिवृत्तिमें पाठमेदोंके अलावा सूत्रोंमें और गाथाओंकी कमी-वेशी भी है, जिनका सूचन भी पाद टिप्पणीयोंमें किया हैं। अत एव सूत्रांक और सूत्रगत गाथांकमें फरक जरूर ही है, इस बातको गीतार्थी मुनिगण और विद्वद्वर्ग ध्यानमें रखें। चूर्णिके अनुसार सूत्रांक ११८ और सूत्रगत गाथांक ८५ है, तब हारिभद्री वृत्ति अनुसार सूत्रांक १२० और सूत्रगत गाथांक ८७ हुआ है। मूल नन्दीसूत्रकी बहुतसी प्राचीन प्रतियोंमें पाई जाती गुणरयणुजलकड्यं० नगर रह चक्र पउमे० वंदामि अज्जधम्मं० वंदामि अज्जरक्षिय० गोविदाणं पि णमो० ततो य भूयदिनं० ये छह गाथायें चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर, लघुवृत्तिकार आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि और बृहदवृत्तिकार श्रीमलयगिरि आचार्य, इन तीनों ही व्याख्याकारोंकी व्याख्यामें नहीं हैं। इन छह गाथाओं के अतिरिक्त जिनशासनकी स्तुति-रूप ऐन्वुइ पहसासणयं० और नेरइय देव तिथंकरा० ये दो गाथायें भी चूर्णिमें नहीं हैं, जो हरिभद्रसूरि और मलयगिरि-सूरिकी व्याख्यामें पाई जाती हैं। इन सबका चूर्णिकी पादटिप्पणीयों में निर्देश किया गया है। सामान्यतया सूत्रपाठके मुद्रण-विषय में मेरा यह क्रम रहा है कि जो जो व्याख्या सम्पादित की जाय उसमें उस व्याख्याकारको अभिमत सूत्रपाठ दिये जायें। नन्दीचूर्णी और नन्दीहारिभद्री वृत्तिके साथ दिये सूत्रपाठोंमें विद्वद्वर्ग को इस कथनका साक्षात्कार होगा।

हारिभद्री वृत्तिकी प्रतियाँ

१. आ. प्रति—आगमोद्धारक पूज्यपाद श्रीसागरानन्दसूरिसम्पादित एवं संशोधित मुद्रित आवृत्ति। जिसका प्रकाशन वि. सं. १९८४ में श्रीकृष्णमदेवजी केशरीमलनी श्रेताम्बर संस्था-रत्णामकी ओरसे हुआ है।

२. दा. प्रति—पूज्यपाद आचार्य महाराज श्री विजयदानसूरीश्वरजी संशोधित। जो भाई श्री हीरालालके द्वारा वि. सं. १९८८ में प्रकाशित हुई है।

३. सं. प्रति—पाटण श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिरस्थित श्रीसंघके ज्ञानभंडारकी कागज पर लिखित प्रति।

४. चा. प्रति—पाटण. श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिरस्थित वाडीपार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडारकी कागज पर लिखित प्रति।

सं. और चा. ये दोनों प्रतियाँ विकम्की पंद्रहवीं शताब्दीके चतुर्थ चरणमें लिखित प्रतीत होती हैं। इनके अतिरिक्त

और भी प्रतियाँ संशोधनके समय पासमें रखती गई थी। किन्तु उनका उपयोग जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ ही किया गया है।

श्रीचन्द्रीयदुर्गपदव्याख्या-टिप्पनक की प्रतियाँ

हारिभद्रीवृत्तिसमेत नन्दीसूत्रके बादमें चन्द्रकुलीन आचार्य श्रीधनेश्वरसूरिके शिष्य श्री श्रीचन्द्रसूरिविरचित हारिभद्री-वृत्तिका टिप्पनक छ्या है, जिसका आचार्यने 'नन्दीटीकादुर्गपदव्याख्या' नाम दिया है। इसके संशोधनके लिये तीन प्रतियाँ एकत्र की गई हैं—

१. जे. प्रति—जेसलमेरके स्वरत्नगच्छीय आचार्य श्रीजिनभद्रसूरिके ताडपत्रीय ज्ञानभंडारकी ताडपत्रीय प्रति, सूचिमें इस प्रतिका क्रमांक ७६ है। इस प्रतिके पत्र २२१ हैं। प्रति अति शुद्ध और उसमें कहीं कहीं किसी विद्वान् मुनिवरकी लिखी हुई महत्वकी टिप्पनीयाँ भी हैं। प्रतिके अंतमें इस प्रकार लेखककी पुष्टिका पाइ जाती है—

॥ ग्रंथाग्रम् ३३०० ॥ ४ ॥ मंगलमस्तु ॥ ४ ॥ संवत् १२२६ वर्षे द्वितीयश्रावण शुद्धि ३ सोमे ऽव्येह मंडलीवास्तव्य श्रीजाल्योधरगच्छे मोढवंशे श्रावक श्री सदेवसुतेन ले० पलहणेन लिखिता । लिखापिता च श्रीगुणभद्रसूरिभिः ॥ ५ ॥ मंगलमस्तु ॥ ५ ॥

सकलभुवनप्रकाशनभानुश्रीहेमचन्द्रसुगुरुणाम् । स्थापयिताऽऽसीद भाण्डागारिकसोमाकसुश्राद्धः ॥१॥

मरुदेवागर्भजया तत्सुतया सोमिकाहया क्रीत्वा । नन्दाध्ययनसुविवरणटिप्पितपुस्तकमिदमुदारम् ॥२॥

मुनिबालचन्द्रशिष्यश्रीमद्गुणभद्रसूरिसुगुरुःयः । दत्तमुपलभ्य वर्यं फलममलं ज्ञानदानस्य ॥३॥

सं. १३१३ श्रीजिनपदव्याख्यासूरिसे ज्ञानभानुश्रीहेमचन्द्रसुगुरुणाम् । किरता सुश्रावकेण सत्पुत्र सा० विजमल सा० कर्मसिंह पौत्र कीका सकलपरिवारेण सदूत्रा नन्दीटीका गृहीता । भगिनीनायकसुश्राविकाश्रेयोर्यम् । आचन्द्राकै नन्दतात् ॥ श्रीः ॥

दुर्गपदव्याख्याकी प्रतिके अन्तमें लिखित इस पुष्टिकासे ज्ञात होता है कि— यह प्रति गुणभद्र आचार्यने वि. सं. १२२६ में मंडलीवास्तव्य जाल्योधरगच्छीय मोढज्ञातीय पलहण नामक श्रावक लेखकके पास लिखाई थी। जिसको भंडारी सोमाककी धर्मपत्नी मरुदेवाकी पुत्री सोमीने सरीद कर (? लेखनमूल्य दे कर) हेमचन्द्राचार्यके शिष्य बालचन्द्रमुनिके शिष्य गुणभद्रसूरिको उपहत की थी।

बादमें अस्तव्यस्त हो जाने के कारण इस प्रतिको—वि. सं. १३१३ में श्रीजिनपदव्याख्यासूरिके उपदेशसे किरतानामक श्रावकने अपनी बहिन नायक सुश्राविकाके श्रेयोनिमित्त सरीद की।

इस पुष्टिकामें निर्दिष्ट श्रीहेमचन्द्राचार्य, बालचन्द्रमुनिके गुरु होनेके कारण सम्भव है कि— ये चाढ़कथराज कुमार-पालनुप्रतिबोधक हेमचन्द्राचार्य हों। पुष्टिकागत 'सकलभुवनप्रकाशनभानु' यह विशेषण भी इस अनुमानको पुष्ट करता है।

इस पुष्टिकासे यह भी सूचित होता है कि— प्राचीनकालमें भी ज्ञानभंडारको पुस्तके अस्तव्यस्त हो जाती थी और इनको पुनः सरीद भी कर ली जाती थी।

इस प्रतिके आदिके दो पत्र प्राचीन कालसे ही गूम हो गए हैं। यहीं कारण है कि— आज इस दुर्गपदव्याख्याकी जो प्राचीन अर्वाचीन हस्तप्रतियाँ देखनेमें आई हैं उन सभीमें इस व्याख्याका मंगलाचरण आदि प्रारम्भिक अंश प्राप्त नहीं है।

२. पा.— यह प्रति पाटन—श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिरस्थित श्रीसंघके ज्ञानभंडारकी प्रति है। यह प्रति अनुमान विक्रमकी सत्रहवीं शतीमें लिखित है।

३. हं.— यह प्रति बडौदा श्रीआत्मारामजी जैन ज्ञानमंदिरस्थित पूज्यपाद श्रीहंसविजयजी महाराज संगृहीत ज्ञान-भंडारकी है और नई लिसी हुई है।

नन्दीसूत्रकी हारिभद्रीवृत्ति एवं उसके ऊपरकी दुर्गपदव्याख्यामें कोई पाठमेद प्राप्त नहीं है।

नन्दीसूत्रविषमपदटिष्पनककी प्रतियाँ

नन्दीसूत्रविषमपदपर्याय या टिष्पनक, यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, किन्तु 'सर्वसिद्धान्तपर्याय' नामक ग्रन्थमें से विभाजित अंशमात्र है। इसके संशोधनके लिये पाटन—श्रीहेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिरकी दो प्रतियोंका उपयोग किया गया है, जो अनुमान विकम्भकी सत्रहवीं शतीकी लिखित प्रतीत होती हैं।

इस प्रकार इन सत्रह हस्तप्रतियोंके आधारसे इस ग्रन्थाङ्कका संशोधन एवं संपादन किया गया है।

नन्दीसूत्रकार

नन्दीसूत्रके प्रणेता रथविर देव वाचक हैं। इनके सम्बन्धमें जो कुछ कहनेका था वह चूर्णि सहित नन्दीसूत्रकी प्रस्तावनामें कह दिया है।

लघुवृत्तिकार श्रीहरिभद्रसूरि

इस ग्रन्थाङ्कमें प्रकाशयमान वृत्तिके प्रणेता याकिनीमहत्तराधर्मसूनु आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि महाराज हैं। इनके विषयमें विद्वानोंने अनेक दृष्टिसे विचार किया है और लिखा भी बहुत है। अतः यहाँ पर मुझे अधिक कुछ भी कहनेका नहीं है। जो कुछ कहनेका था, वह मैंने, श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृतविद्यामन्दिरग्रन्थावलीके चतुर्थ प्रथाङ्करूपमें प्रसिद्ध किये गये 'सटीक योगशतक और ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय'की प्रस्तावनामें कह दिया है। अतः विद्वानोंसे प्रार्थना है कि उस प्रस्तावनाको देखें।

दुर्गपदव्याख्याकार श्री श्रीचन्द्रसूरि

इस ग्रन्थाङ्कमें सम्पादित नन्दीवृत्तिटिष्पनक, जिसका नाम ग्रन्थकारने दुर्गपदव्याख्या दिया है, इसके प्रणेता आचार्य श्रीश्रीचन्द्रसूरि हैं। ये अपनेको चन्द्रकुलीन आचार्य श्रीश्रीलभद्रसूरिके शिष्य श्रीधनेश्वराचार्य के शिष्य बतलाते हैं।

इनका, आचार्यपदप्राप्तिकी पूर्वावस्थामें नाम पार्वदेवगणि था, ऐसा उल्लेख इन्हींकी रचित पाटन—खेत्रवसी पाढाकी न्यायप्रवेशपञ्जिकाकी ताडपत्रीय प्रतिकी पुष्पिकामें पाया जाता है। जो इस प्रकार है—

न्यायप्रवेशशास्त्रस्य सदवृत्तेश्चिह्न पञ्जिका । स्वपरार्थ दृष्टा(दृष्टा) स्वप्ता पार्वदेवगणिनाम्ना ॥१॥

ग्रह९रस६रुद्र९९र्युक्ते विकमसंवत्सरेऽनुराधायाम् । कृष्णायां च नवम्यां फाल्गुनमासस्य निष्पत्ता ॥२॥

न्यायप्रवेशविवृतेः कृत्वेमां पञ्जिकां यन्मथाऽवासम् । कुशलोऽस्तु तेन लोको लभतामवोधफलमतुलम् ॥३॥

यावल्लब्धिदन्वान् यावन्नक्षत्रमण्डितो मेरुः । खे यावचन्द्राकौं तावदिर्य पञ्जिका जयतु ॥४॥

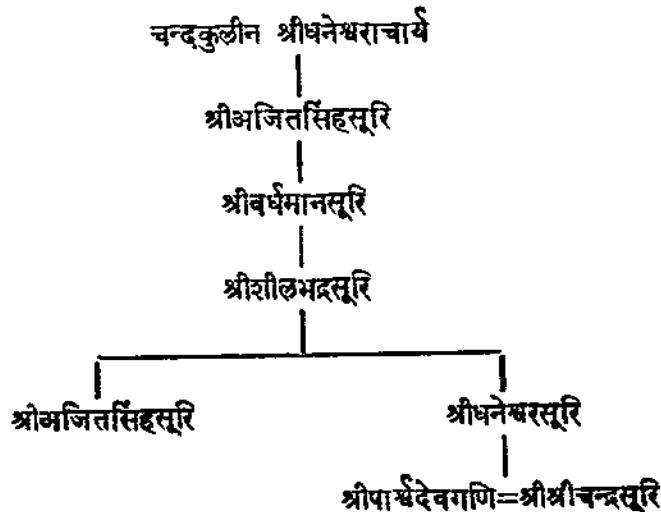
शुभमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः । दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥५॥

इति श्रीश्रीलभद्रसूरिशिष्यसुगृहीतनामघेयश्रीमद्भनेश्वरसूरिशिष्यैः सामान्यावस्थाप्रसिद्धपणिडतयार्थदेवगण्यभिधान-विशेषावस्थावासश्रीश्रीचन्द्रसूरिनामभिः स्वपरोपकारार्थ दृष्टा विषमपदभञ्जिका न्यायप्रवेशकवृत्तेः पञ्जिका परिसमाप्तेति ॥

आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरि, जिनका पूर्वावस्थामें पार्वदेवगणि नाम था, उन्होंने अपने गुरु श्रीधनेश्वराचार्यको श्रीजिन-बद्धभगणिविरचित सार्वशतकप्रकरण-अपरनाम-सूक्ष्मार्थविचारसारग्रकरणकी वृत्तिकी रचना और उसके संशोधनादिमें साहम्य

दिया था, ऐसा इस वृत्तिकी प्रशस्तिमें खुद वृत्तिकार गुरुने सूचित किया है। इस प्रशस्तिमें श्री श्रीचन्द्रसूरिकी गुरु-प्रगुरु आदि परम्पराका और वंशादिका उपयुक्त वर्णन होनेसे यह प्रशस्ति यहाँ दी जाती है—

सम्पूर्णनिर्मलकलाकलितं सदैव जाड्येन वर्जितमखण्डतवृत्तभावम् ।
दोषानुषङ्गरहितं नितरां समस्ति चान्द्रं कुलं स्थिरमपूर्वशशाङ्कतुल्यम् ॥१॥
तस्मैश्चित्रघनधामतया यथार्थाः संज्ञिरे ननु धनेश्वरसूरिवर्याः ।
नीहारहारहरहारविकाशिकाशसंकाशकीर्तिनिवैर्घवलीकृताशाः ॥२॥
ये निःसङ्गविहारिणोऽमलगुणा विश्रान्तविद्याधरव्याख्यातार इति क्षितौ प्रविदिता विद्यनोमोदिनः ।
येऽनुष्ठानिजनेषु साम्रतमपि प्राप्नोपमाः सर्वतस्तेभ्यस्तेऽजितसिंहसूरय इहाभूवन् सतां सम्मताः ॥३॥
उदामधामभवजन्तुनिकामवामकामेभकुभूतटपाटनसिंहपोताः ।
श्रीवर्द्धमानसुनिपाः सुविशुद्धबोधास्तेभ्योऽभवन् विशदकीर्तिवितानभाजः ॥४॥
लोकानन्दपयोधिवर्द्धनवशात् सदवृत्ततासङ्गतैः सौम्यत्वेन कलाकलापकलनाच्छुलाब्योदयत्वेन च ।
ध्वस्तव्यान्ततया ततः समभवैश्चन्द्रान्वयं सान्वयं कुर्वाणाः शुचिशालिनोऽत्र मुनिपाः श्रीशीलभद्राभिधाः ॥५॥
निःसंख्यैरपि लब्धमुख्यगणनैराशाविकाशां सतां कुर्वैरपि सङ्कटीकृतदिग्गमोगैरुणप्रीणिकैः ।
अतैरप्यनुरज्ञितविभुवनैर्येषां विशालैर्गुणैश्चित्रं कोऽपि यशःपटः प्रकटितः अतो विचिनैरपि ॥६॥
सत्तर्ककर्कशविधयः सुविशुद्धबोधाः सुव्यक्तसूक्ष्मशतमौकिकशुकिकल्पाः ।
तेषामुदारचरणाः प्रथमाः सुशिष्याः सधोऽभवनजितसिंहसुनीन्द्रवर्याः ॥७॥
तेषां द्वितीयशिष्या जाताः श्रीमद्धनेश्वराचार्याः । सर्वदशतकस्य वृत्ति गुरुप्रसादेन ते चक्रः ॥८॥
शशि१मुनिष्पशुपति११ सङ्गते वर्षे विक्रमनृपादतिकान्ते । चैत्रे सितसम्यां समर्थितेयं गुरी वारे ॥९॥
युक्तायुक्तविवेचन-संशोधन-लेखनैकदक्षस्य । निजशिष्यसुसाहाय्याद विहिता श्रीपार्श्वदेवगणेः ॥१०॥
प्रथमादशें वृत्ति समलिखतां प्रवचनानुसारेण । मुनिचन्द्र-विमलचन्द्रौ गणी विनोतौ सदोषुलौ ॥११॥
श्री चक्रेश्वरसूरिमिरतिपुण्डुभिर्निपुणपण्डितोपतैः । अणहिलपाटकनगरे विशेष्य नीता प्रमाणमियम् ॥१२॥
इस प्रशस्तिमें आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरिकी पूर्वजपरम्परा इस प्रकार है—



न्यायप्रवेशपञ्जिकाकी प्रशस्तिका उपर जो उल्लेख किया है उसके अंतमें ‘श्रीश्रीचन्द्रसूरिका ही पूर्वावस्थामें पार्श्वदेवगणि नाम था’ ऐसा जो उल्लेख है वह खुद ग्रन्थप्रणेताका न होकर तत्कालीन किसी शिष्य-प्रशिष्यादिका लिखा हुआ प्रतीत होता है। अस्तु, कुछ भी हो, इस उल्लेखसे इतना तो प्रतीत होता ही है कि—श्रीचन्द्राचार्य ही पार्श्वदेव गणि हैं या पार्श्वदेवगणि ही श्री श्रीचन्द्रसूरि हैं, जिनका उल्लेख धनेश्वराचार्यने सार्वशतकप्रकरणकी वृत्तिमें किया है।

श्रीश्रीचन्द्रसूरि का आचार्यपद

श्रीश्रीचन्द्रसूरिका आचार्यपद किस संवत्में हुआ? इसका कोई उल्लेख नहीं मीलता है, फिर भी आचार्यपदप्राप्तिके बाद-की इनकी जो ग्रन्थरचनायें आज उपलब्ध हैं उनमें सबसे पहली रचना निशीथ चूर्णिंविशेषकव्याख्या है। जिसका रचनाकाल वि. सं. ११७४ है। वह उल्लेख इसप्रकार है—

सम्यक् तथाऽम्नायाभावादत्रोक्तं यदुत्सूत्रम् (१)। मतिमान्वाद्वा किञ्चित् क्षन्तव्यं श्रुतघरे: कृपाकलितैः ॥१॥

श्रीशीलभद्रसूरीणां शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः । विशेषोदेशकव्याख्या इव्वा स्वपरहेतवे ॥२॥

वेदाश्वरुद्रसङ्घये ११७४ विक्रमसंवत्सरे तु मुगाशीर्वे । माघसितद्वादश्यां समर्थितेयं रवौ वारे ॥३॥

निशीथचूर्णिंविशेषकव्याख्याप्रशस्तिके इस उल्लेखको और इनके गुरु श्री धनेश्वराचार्यकृत सार्वशतकप्रकरणवृत्तिकी प्रशस्तिके उल्लेखको देखते हुए, जिसकी रचना ११७१ में हुई है और जिसमें श्रीचन्द्राचार्य नाम न होकर इनकी पूर्वावस्थाका पार्श्वदेवगणि नाम ही उल्लिखित है, इतना ही नहीं, किन्तु प्रशस्ति के ७ वें पद्ममें जो विशेषण इनके लिये दिये हैं वे इनके लिये घटमान होनेसे, तथा खास कर पाठन-खेत्रवसी पाडाकी न्यायप्रवेशपञ्जिकाकी प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिके अंतमें उनके किसी विद्वान शिष्य-प्रशिष्यादिने—“सामान्यावस्थाप्रसिद्धपणिडतषार्षदेवगण्यभिधान-विशेषावस्थावात्श्रीश्रीचन्द्रसूरिनामभिः” ऐसा जो उल्लेख दाखिल किया है, इन सब का पूर्वपर अनुसन्धान करनेसे इतना निश्चित रूपसे प्रतीत होता है कि—इनका आचार्यपद वि. सं. ११७१ से ११७४ के विचके किसी वर्षमें हुआ है।

ग्रन्थरचना

ग्रन्थरचना करनेवाले श्रीश्रीचन्द्राचार्य मुख्यतया दो हुए हैं। एक मलधारगच्छीय आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिके शिष्य और दूसरे चन्द्रकुलीन श्री धनेश्वराचार्यके शिष्य, जिनका पूर्वावस्थामें पार्श्वदेवगणि नाम था। मलधारी श्रीश्रीचन्द्रसूरिके रचे हुए आज पर्यंतमें चार ग्रन्थ देखनेमें आये हैं—१ संग्रहणी प्रकरण २ क्षेत्रसमासप्रकरण ३ लघुप्रवचनसारोद्धारप्रकरण और ४ प्राकृत मुनिसुव्रतस्वामिचत्रि। प्रस्तुत नन्दीसूत्रवृत्तिदुर्गपदव्याख्याके प्रणेता चन्द्रकुलीन श्रीश्रीचन्द्राचार्य की अनेक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनके नाम, उनके अन्तकी प्रशस्तियोंके साथ यहाँ दिये जाते हैं—

(१) न्यायप्रवेशपञ्जिका और (२) निशीथचूर्णिंविशेषकव्याख्याके नाम और प्रशस्तियोंका उल्लेख उपर हो चूका है। (३) आद्यप्रतिक्रमणस्त्रवृत्ति । रचना संवत् १२२२ । प्रशस्ति—

कुबल्यसङ्घविकासप्रदस्तमःप्रहतिपुरमलबोधः । प्रस्तुततीर्थाधिष्ठितिः श्रीवीरजिनेन्दुरिह जयति ॥१॥

विजयन्ते हतमोहाः श्रीमौतमसुख्यगणधरादित्याः । सन्मार्गदीषिकाः कृतसुमानसाः जन्मुजाड्यभिदः ॥२॥

नित्यं प्राप्तमहोदयत्रिभुवनक्षीराभ्यरत्नोत्तमं, स्वज्योतिस्ततिपात्रकान्तकिरौरन्तस्तमोभेदकम् ।

सच्छातुर्छसिताम्बरैकतिलकं विभ्रत् सदा कौमुदं श्रीमत् चन्द्रकुलं समस्ति विमलं जाड्यक्षितिप्रत्यलम् ॥३॥

तस्मिन् सूरिपरम्पराक्रमसमायाता बृहत्प्राभवाः सम्यज्ञानसुदर्शनातिविमलश्रीपद्मखण्डोपमाः ।

सच्चारित्रविभूषिताः शमधनाः सद्गर्मकल्पांहृपा विष्याता भुवि सूरयः समभवन् श्रीशीलभद्राभिधाः ॥४॥

ततश्च तेषां पदपञ्चाहंसः, समग्रगच्छाभरणावतंसः । धनेश्वरः सूरिरभूत प्रशस्यः, शिष्यः प्रभावप्रथितो यदीयः ॥५॥

निःशोषागमतर्कशाखसकलालङ्कारसंविनिवेद्येन्दोरिव दीधितीर्वितमसो वाचोऽगृतस्थन्दिनीः ।

आस्वाद्यामितभेद्यिसवभिकाः स्वात्मानमस्ताशुभं मन्यन्ते स्म सुरापर्वगुरुचिरश्रीपात्रमस्युतमम् ॥६॥

श्रीचन्द्रसूरिनामा शिष्यस्तेषां वभूव गुरुभक्तः । तेन कृता स्पष्टार्था श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्तिरियम् ॥७॥

करनयनसूर्यवर्षे १२२२ प्रातः पुरायार्कमधुसितदशम्याम् । धृतियोगनवमक्षे समर्थिता प्रकृतवृत्तिरियम् ॥८॥

उत्सूत्रं यद् रचितं मतिदौर्बल्यात् कथञ्चनापि मथा । तच्छोधयन्तु कृतिनोऽनुग्रहबुद्धिं मयि विधाय ॥९॥

यावत् सुमेरुशिखरी शिखरीकृतोऽत्र, नित्यैर्विभाति जिनकिंवगृहैर्मनोऽज्ञैः ।

श्रीचन्द्रसूरिरचिता भुवि तावदेषा, नन्दात् प्रतिक्रमणवृत्तिरघीयमाना ॥१०॥

प्रत्यक्षरं निरूप्यास्य प्रन्थमानं विनिश्चितम् । श्लोकपञ्चाशदुत्तरशतान्येकोनविशतिः ॥११॥

॥ ग्रन्थाप्रम् १९५० ॥

(४) जीतकल्पवृहच्चूर्णिदुर्गपदव्याख्या । रचनासंक्षेप १२२७ । प्रशस्ति—

इति जीतकल्पच्चूर्णिविषया व्याख्या समाप्ता ।

जीतकल्पवृहच्चूर्णौ व्याख्या शाखानुसारतः । श्रीचन्द्रसूरिरभिर्दृष्ट्वा स्व-परोपकृतिहेतवे ॥१॥

मुनि-नयन-तरणिवर्षे १२२७ श्रीवीरजिनस्य जन्मकल्याणे । प्रकृतप्रन्थकृतिरियं निष्पत्तिमवाप रविवारे ॥२॥

सङ्घ-चैत्य-गुरुणां च सर्वार्थप्रविधायिनः । वशाऽभयकुमारस्य वसतौ द्व्या सुबोधकृत् ॥३॥

एकादशशतविंशत्यविकं श्लोकप्रमाणग्रन्थाप्रम् । प्रन्थकृतिः प्रविवाच्या मुनिपुङ्गवसूरिभिः सततम् ॥४॥

यदिहोत्सूत्रं किञ्चिद् दृष्टं छञ्चस्थबुद्धिभावनया । तन्मयि कृपानुकृतिः शोध्यं गीतार्थविद्विद्विः ॥५॥

समाप्ता चेयं श्रीशीलभद्रप्रभु-श्रीधनेश्वरसूरिपादपदाचञ्चरीकश्रीश्रीचन्द्रसूरिरसंरचिता जीतकल्पवृहच्चूर्णिदुर्गपदविषया
निशीथादिशास्त्रानुसारतः सम्प्रदायाच्च सुगमा व्याख्येति ।

यावल्लक्षणोदन्वान् यावच्छत्रमण्डितो मेरुः । खे यावच्छन्दाकौं तावदियं वाच्यतां भव्यैः ॥१॥

(५) नन्दीसूत्रलघुवृत्तिदुर्गपदव्याख्या । प्रशस्ति—

श्रीधनेश्वरसूरीणां पादपञ्चोपजीविना । नन्दिवृत्तो कृता व्याख्या श्रीमच्छ्रीचन्द्रसूरिणा ॥१॥

इति समाप्ता श्रीशीलभद्रप्रभु-श्रीधनेश्वरसूरिशिष्यश्रीश्रीचन्द्रसूरिविरचिता नन्दिटीकाया दुर्गपदव्याख्या ॥

नन्दिवृत्तिदुर्गपदव्याख्यान्ते ।

(६) सुखबोधा सामाचारी । प्रशस्ति—

इच्चेसा गिहवथसाहुसत्थाणुद्वाणविहिपदरिसिणपरा सिरिसीलभद्रसूरि-धणेसरसूरिसिसरिचंद्रसूरिसमुद्धरिया
सुहबोहा सामाचारी सम्मता । इति बहुविधप्रतिष्ठाकल्पान् संवीक्ष्य समुद्भूतेयं श्रीश्रीचन्द्रसूरिणा ॥

समुच्चय प्रन्थाप्रम् १३८६ ॥

कमलवने पाताले क्षीरोदे संस्थिता यदि स्वर्गे । भगवति ! कुरु सान्निध्यं विम्बे श्रीश्रमणसहे च ॥१॥

॥ इति श्रीसुखबोधा सामाचारी समाप्ता ॥

सं. १३०० माघ शुद्धि १० गुरु श्रीचन्द्रगच्छे मण्डनीय शृद्धांकसूरिभिर्लिङ्गापिता ।

(७) निरयावलिकादिपञ्चोपाङ्गसूत्रवृत्ति । रचना सं. १२२८ । प्रशस्ति—

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिविरचितं निरयावलिकाश्रुतस्कन्धविवरणं समाप्तमिति । निरयावलिकादिपञ्चोपाङ्गसूत्रवृत्ति-ग्रन्थाग्रम् ६३७ ॥

बसु-लोचन-रविवर्षे १२२८ श्रीश्रीचन्द्रसूरिमिर्दिव्या । आभडवसाकवसतौ निरयावलिशास्त्रवृत्तिरियम् ॥१॥

(८) पिण्डविशुद्धिप्रकरणवृत्ति । रचना संवत् ११७८ । प्रशस्ति—

समाप्तेयं श्रीश्रीचन्द्रसूरिविरचिता सूक्ष्मपदार्थनिष्कनिष्कषणपटकसन्निभप्रतिभजिनवल्लभाभिधानाचार्यद्वयपिण्डविशुद्धि-शास्त्रस्य वृत्तिः ॥

यचक्रे जिनवल्लभो दृढमतिः पिण्डेषणागोचरं, प्रज्ञावर्जितमानवोपकृतये प्राच्यार्थमल्याक्षरम् ।

शांखं पिण्डविशुद्धिसंशितमिदं श्रीचन्द्रसूरिः स्फुटां तद्वृत्तिं सुगमां चकार तनुषीः श्रीदेवतानुग्रहात् ॥२॥

बसु-मुनि-रुद्रैर्युक्ते विक्रमवर्षे ११७८ खौ समाप्येषा । कृष्णैकादश्यां कार्तिकस्य योगे प्रशस्ते च ॥२॥

अस्यां चतुःसहस्राणि शतानां च चतुष्टयम् । प्रत्यक्षरप्रमाणेन श्लोकमानं विनिश्चितम् ॥३॥ ग्रं ४४०० ॥

उपर श्री श्रीचन्द्रसूरिकी जिन आठ कृतियोंके नाम उनकी प्रशस्तियोंके साथ उल्लिखित किये हैं, उनको देखनेसे यह स्पष्ट होता है कि— प्रारम्भकी छ रचनायें चन्द्रकुलीन आचार्य श्रीधनेश्वरके शिष्य श्रीश्रीचन्द्रसूरिकी ही हैं । सातवीं निरयावल्यादिपञ्चोपांगव्याख्या भी अनुमान इन्हीकी रचना मानी जाती है । आठवीं पिण्डविशुद्धिप्रकरणवृत्तिकी रचना इन्ही आचार्यकी है या नहीं, यह कहना जरा कठिन है । क्यों कि इस रचनामें वृत्तिकारने “ श्रीदेवतानुग्रहात् ” ऐसा उल्लेख किया है, जो दूसरी कोई कृतिमें नहीं पाया जाता है । यथपि रचनाकाल ऐसा है, जो अपनेको इन्ही आचार्य की रचना होने की ओर आकर्षण करता है । फिर भी इस बातका वास्तविक निर्णय मैं तज्ज्ञ विद्वानोंके पर छोड़ देता हूँ ।

उपर मैंने श्रीश्रीचन्द्राचार्यकी रचनाओंके नाम और उनके अन्तकी प्रशस्तियोंका उल्लेख किया है, उनको देखते ही विद्वानोंके दिलमें एक कल्पना जरूर ऊठेगी कि इन आचार्यकी विक्रमसंवत् ११६९, ११७४, ११७८, ११८०, १२२२, १२२७, १२२८ आदि संवतमें रची हुई जो कृतियाँ पाई गई हैं उनमें सं. ११८० बाद एकदम उनकी रचना सं. १२२२ में आ जाती है, तो क्या ये आचार्य चालीस वर्ष के अंतरमें निष्क्रिय बैठे रहे होंगे ? जरूर यह एक महत्वका प्रश्न है, किन्तु अन्य साधनोंके अभावमें इस समय में इतना ही ज्ञाव दे सकता हूँ कि— प्राचीन ग्रंथोंकी सूचां वृहद्विष्णुनिकामें, जैनग्रन्थावली आदिमें १ श्रमणप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति २ जयदेवछन्दःशास्त्रवृत्तिष्ठिपनक ३ सन्तकुमारचरित र. सं. १२१४ ग्रं. ८१२७ आदि नाम पाये जाते हैं । इसी तरह इनकी और कृतियाँ जरूर होंगी, किन्तु जब तक ऐसी कृतियाँ कहीं भी देखने—सुननेमें न आयें तब तक इनके विषयमें कुछ कहना उचित प्रतीत नहीं होता है । परन्तु यह तो निर्विवाद है कि— बिचके वर्षोंमें रची हुई इनकी ग्रन्थकृतियाँ अवश्यमेव होनी चाहिए ।

पाटन—श्रीहेमचन्द्राचार्य जैनज्ञानमंदिरस्थित श्रीसंघजैनज्ञानभंडार क्रमांक १०२३ वाली प्रकरणपुस्तिकामें श्रीश्रीचन्द्राचार्यकृत अनागतचतुर्विंशतिजिनस्तोत्र है, जो यहाँ उपयुक्त समझ कर दिया जाता है, किन्तु यह कृति कौनसे श्रीचन्द्राचार्यकी है यह कहना शक्य नहीं है । स्तोत्र—

बीरवरस्स भगवद्बो वोलियचुलसीयवरिससहसेहि । पउमाई चउवीसं जह हुंति जिणा तहा थुणिमो ॥१॥

पटमें च पउमनाहं सेणियजीवं जिणेसरं नमिमो । बीयं च झरसेणं वंदे जीवं सुपासस्स ॥२॥

तहयं सुपासनामं उदायजीवं पण्डुभववासं । वंदे सर्यंपमजिणं पुष्टिलजीवं चउत्थमहं ॥३॥
 सञ्चाणुभूयनामं दढुजीवं च पंचमं वंदे । छटुं देवसुयजिणं वंदे जीवं च कित्तिस्स ॥४॥
 सत्तमयं उदयजिणं वंदे जीवं च संखनामस्स । पेढालं भट्टमयं आणंदजिणं नमंसामि ॥५॥
 पुष्टिलजिणं च नवमं सुरक्यसेवं सुनंदजीवस्स । सयकित्तिजिणं दसमं वंदे सयगस्स जीवं ति ॥६॥
 एगारसमं मुणिसुव्ययं च वंदामि देवईजीवं । बारसमं अममजिणं सञ्चइजीवं जगर्हईवं ॥७॥
 निकसायं तेरसमं वंदे जीवं च वासुदेवस्स । बलदेवजियं वंदे चउदसमं निष्पुलाइजिणं ॥८॥
 सुलसाजीवं वंदे पनरसमं निम्ममत्तनामाणं । रोहिणीजीवं नमिमो सोलसमं चित्तगुतं ति ॥९॥
 सत्तरसमं च वंदे रेवईजीवं समाहिजिणनामं । संवरमट्टारसमं सथालिजीवं पणिवयामि ॥१०॥
 दीवायणरस जीवं जसोहरं वंदिमो इगुणवीसं । कन्हजियं गयतन्हं वीसइमं विजयमभिवंदे ॥११॥
 वंदे इगवीसइमं नारयजीवं च मल्लिनामाणं । देवजिणं वावीसं अंबडजीवस्स वंदे हं ॥१२॥
 अमरजियं तेवीसं अणंतविरियाभिहं जिणं वंदे । तह साइबुद्धजीवं चउवीसं भद्रजिणनामं ॥१२॥
 उसप्तिणीए चउवीसजिणवरा कित्तिया सनामेहिं । सिरिचंदस्त्रिनामेहिं सुहयरा हुंतु सयकालं ॥१४॥

॥ इति अनामतचतुर्विशतिजिनस्तोत्रम् ॥

यहाँ पर एक बातको स्पष्ट करना अति आवश्यक है कि— प्राकृत पृथ्वीचन्द्रचरितके प्रणेता चन्द्रकुलीन श्रीशान्ति-द्वारिजीने अपने इस चरितकी मंगलगाथामें सूचित किया है कि— ‘धनेश्वराचार्यकी अर्थगम्भीर वाणीका आपके उपर बड़ा प्रभाव पड़ा है’ और इसी चरितकी प्रशस्तिमें आपने लिखा है कि—चन्द्रकुलीन श्रीसर्वदेवसूरिके स्वहस्तसे दीक्षा पाने वाले श्रीश्रीचन्द्राचार्यकी कृपासे आपको आचार्यपद प्राप्त हुआ है । वह मंगलगाथान्तर्गत गाथा और प्रशस्ति इस प्रकार हैं ।
 मंगलगाथान्तर्गतगाथा—

जनाणधणलवेणं ववहरमाणा वयं महदरिदा । करिमो परोवयारं तेसि नमो गुरु धणेसाणं ॥१०॥

प्रशस्ति—

आसी कुंदिदुसुद्दे विउलससिकुले चारुचारितपत्तं सूरी सेयंवराणं वरतिलयसुमो सञ्चदेवाभिहाणो ।
 नाणामूरिष्पसाहापहियसुमहिमो कप्परुक्खो व्व गच्छो जाओ जतो पवित्रो गुणसुरसफलो सुप्तिस्त्रो जयम्मि ॥१॥
 तेसि चाऽसी सुयजलनिही खंतदंतो पसंतो, सीसो वीसो सियगुणगणो नेमिचंदो मुणिदो ।
 जो चिक्खाओ पुहड्वलए सुगमचारी विहारी, मने नो से मिहिर-ससिणो तेय-कंतीहिं तुछा ॥२॥
 तेसि च सीसो पर्यंजडप्पा, अदिदुपुविलविसिटुसत्थो । परोवधारेकरसावियज्ञो, जाओ निसगेण कइत्तकोही ॥३॥
 जो सञ्चदेवसुणिपुंगवदिक्षिष्ठहिं, साहित्त-तक-समएसु सुसिक्षिष्ठहिं ।
 संपाविओ वरपयं सिरिचंदस्त्रिपुजेहिं पक्खसुवगम्म गुणेसु भूरि ॥४॥
 संवेगनुविवाणं एयं सिरिसंतिस्त्रिणा तेण । वजारियं वरचरियं मुणिचंदविणेयवयणाओ ॥५॥
 जइ किंचि अजुत्तं वुत्तमेत्थ मझड-रहसवित्तीहिं । तमणुगहबुद्धीए सोहेयवं छइलेहिं ॥६॥
 इगातीसाहियसोलससर्हिं वासाण निवुए वरे । कित्तियचरिमतिहीए कित्तियरिक्खे परिसमर्तं ॥७॥
 उपर दी गई पृथ्वीचन्द्रचरितकी मंगलगाथान्तर्गत दसवीं गाथा और उसकी प्रशस्तिकी देखनेसे यह प्रतीत होता है कि—
 प्राकृत पृथ्वीचन्द्रचरित के प्रणेता आचार्य श्रीशान्तिसूरिके हृदयपर श्रीधनेश्वराचार्यके अर्थगम्भीर विचारोंका भारी प्रभाव पड़ा

है और श्री चन्द्राचार्य, जो साहित्य, तर्क और सिद्धान्तके पारंगत थे, उनकी कृपासे आपको आचार्यपद प्राप्त हुआ था। इस प्रकार यहाँ पर इस आचार्ययुगलके नामोंको सुनते ही यह भी संभावना हो आती है कि— ये दो आचार्य, सार्वशतक-प्रकरणवृत्ति आदिके प्रणेता श्रीधनेश्वराचार्य और न्यायप्रवेशपञ्चिका, निशीथर्विशेषकव्याख्या आदिके प्रणेता पार्श्वदेवगणि अपरनाम श्रीश्रीचन्द्राचार्य, गुरु-शिष्यकी जोड़ी हों।। परन्तु पूर्वपर उल्लेखोंका अनुसंधान करनेसे प्रतीत होता है कि— पृथ्वीचन्द्रचरितमें निर्दिष्ट श्रीधनेश्वराचार्य और श्री श्रीचन्द्राचार्य जुदा हैं। इसका कारण यह है कि— यद्यपि पृथ्वीचन्द्रचरितमें निर्दिष्ट धनेश्वराचार्य कौन थे? किनके शिष्य थे? यह स्पष्ट नहीं है, तो भी श्री श्रीचन्द्राचार्य, जिनकी सहायसे श्रीशास्त्रिसूरिको सूरिपद प्राप्त हुआ था, वे चन्द्रकुलीन श्रीसर्वदेवसूरिके हस्तसे दीक्षा पाये थे, ऐसा तो इस प्रशास्तिमें साफ उल्लेख है, इससे ज्ञात होता है कि— पार्श्वदेवगणि अपरनाम श्री श्रीचन्द्राचार्यका आचार्यपद, मैं उपर लिख आया हूँ तदनुसार वि. सं. ११७१ से ११७४ के बीचके किसी भी वर्षमें हुआ है; तब पृथ्वीचन्द्रचरितकी रचना वीरसंवत् १६३१ अर्थात् विक्रमसंवत् ११६१ में हुई है, जिस समय शान्त्याचार्यको आचार्यपदप्रदानकरनेके लिये सहायभूत होनेवाले श्री श्रीचन्द्राचार्य प्रौढावस्थाको पा चुके थे। अतः ये धनेश्वराचार्य और श्रीचन्द्राचार्य प्रस्तुत नन्दीमूत्रवृत्तिरुपदव्याख्याकार श्रीचन्द्राचार्य और उनके गुरु धनेश्वराचार्यसे भिन्न ही हो जाते हैं।

इस प्रकार यहाँ नन्दिवृत्तिरुपदव्याख्याकार चन्द्रकुलीन श्री श्रीचन्द्राचार्यका यथासाधनप्राप्त परिचय दिया गया है।

मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत नन्दिटिप्पनक

इस नन्दिवृत्तिके उपर मलधारगच्छीय आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत टिप्पनक भी था, जो आज प्राप्त नहीं है। आज पर्यंतमें मैंने संख्यावन्ध ज्ञानभंडारों को देखे हैं, इनमेंसे कोइ ज्ञानभंडारमें वह देखनेमें नहीं आया है। फिर भी आपने इस टिप्पनककी रचना की थी—इसमें कोई संशय नहीं है। खुद आपने ही विशेषावश्यकमहाभाष्यवृत्तिके प्रान्त भागमें अपनी प्रन्थरचनाओंका उल्लेख करते हुए इस रचनाका भी निर्देश किया है। जो इस प्रकार है—

इह संसारवाराननिधौ मां निमग्नं....अवलोक्य कोऽपि....महापुरुषः....चारित्रमयं महायानपात्रं सर्मर्पयामास। भणित-वांश—भो महाभाग ! समधिरोह त्वमस्मिन् यानपात्रे । समारूढश्वात्र....भवजलधिमुत्तीर्य प्राप्त्यसि शिवरत्नद्वीपम् । समर्पितं च भम तेन महापुरुषेण सद्ग्रावनामञ्जूषायां प्रक्षिप्य शुभमनोनामकं महारत्नम् । अभिहितं च मां प्रति—रक्षणीयमिदं प्रयत्नतो भद्र । ।..... एतदभावे तु सर्वमेतत् प्रलयमुपग्राति । अत एव तव पृष्ठतः सर्वादरेणैतदपहरणार्थं लग्निष्ठन्ति ते मोहराजादयो दुष्टतस्कराः । ।.....‘रे रे तस्कराधमाः ! किमेतदारव्यम् ? स्थिरीमूय लगत उगत सर्वात्मना’ इति ब्रुवाणो मोहचरटचक्कवर्ती ससैन्य एवाऽरब्धो युगपत् प्रहर्त्तम् । केचित्कतीवच्छलघातिनो मोहसैनिकाः.....जर्जरथन्ति सद्ग्रावनाङ्गानि । ततो मया तस्य परमपुरुषस्योपरेशं स्मृत्वा विरचय ज्ञातिति निवेशितमावश्यकटिप्पनकाभिधानं सद्ग्रावनामञ्जूषायां नूतनफलकम्, ततोऽपरमपि शतकविवरणनामकम्, अन्यदप्यनुयोगद्वारवृत्तिसंज्ञिनम्, ततोऽपरमप्युपदेशमालासूत्राभिधानम्, अपरं तु तद्वृत्तिनामकम्, अन्यच्च जीवसमासविवरणनामवेयम्, अन्यतु भवभावनासूत्रसंज्ञितम्, अपरं तु तद्विवरणनामकम्, अन्यच्च अटिति विरचय तस्याः सद्ग्रावनामञ्जूषाया अङ्गभूतं निवेशितं नन्दिटिप्पनेकनामवेयं नूतनं दृढ़फलकम् । एतैश्च नूतनफलकै-निवेशितैर्ज्ञमयीव सज्जाताऽसौ मञ्जूषा तेषां पापानामगम्या । ततस्तैरतीवच्छलघातितया सञ्चूर्णयितुमारब्धं तद्दारकपाट-सम्पुटम् । ततो मया ससम्भ्रमेण निपुणं तत्प्रतिविधानोपायं चिन्तयित्वा विरचयितुमारब्धं तद्दारपिधानहेतोः विशेषावश्यक-विवरणाभिधानं वज्रमयमिव नूतनकपाटसम्पुटम् । ततश्चाभयकुमारगणि-थनदेवगणि-जिनभद्रगणि-लक्ष्मणगणि-विक्रु-चन्द्रादिसुनिवृत्त-श्रीमहानन्द-श्रीमहत्तरावीरभतीगणिन्यादिसाहाय्याद् ‘रे रे निश्चितमिदानीं हता वर्यं यदेतद् निष्पदते,

ततो धावत धावत, गुह्यीत गुह्यीत, लगत लगत' इत्यादि पृथकुर्वतां सर्वात्मशक्तया युगपत् प्रहरतां हाहारवं कुर्वतां च मोहादि-
चरटानां चिरात् कथं कथमपि विरचन्य तदद्वारे निवेशितमेतदिति । ततः शिरो हृदयं च हस्ताभ्यां कुष्ठयन् विषणो मोहमहाचरटः,
समस्तमपि विलक्षीभूतं तसैन्यम्, निलीनं च सनायकमेव । ततः क्षेमेण शिवरत्नदीपं प्रति गन्तुं प्रवृत्तं तद् यानपात्रमिति ॥

—मलधारीयश्रीहेमचन्द्रसूरिकृतविशेषावश्यकवृत्तिप्राप्ते ।

इस उल्लेखको पढनेसे प्रतीत होता है कि आपने आवश्यकहारिभद्रीवृत्तिटिप्पनककी तरह नन्दिहारिभद्रीवृत्तिटिप्पनककी भी रचना की थी । यद्यपि श्रीहेमचन्द्राचार्य महाराज इस टिप्पनकरचनाका उल्लेख आप करते ही हैं, फिर भी आर्थर्यकी बात यह है कि— इनके ही शिष्य श्री श्रीचन्द्रसूरि महाराजने प्राकृत मुनिसुव्रतस्वामिचरित्रकी प्रशस्तिमें अपने दादागुरु और गुरुके, संक्षिप्त होते हुए भी महत्वके चरित्रिका वर्णन करते हुए श्रीहेमचन्द्राचार्य की ग्रन्थकृतियोंका उल्लेख किया है, उसमें सभी कृतियोंके नाम दृष्टिगोचर होते हैं, सिर्फ इस नन्दिटिप्पनकका नाम उसमें नहीं पाया जाता है । वह उल्लेख इस प्रकार है—

जे तेण सयं इया गंथा ते संपहु कहेमि ॥

सुन्तुवृत्तसमाला-भवभावणपदरणाण काऊग । गंथसहस्रा चउदस तेरस विच्ची कया जेण ॥

अणुओगदाराणं जीवसमासस्स तह य सयगस्स । जेण छ सत चउरो गंथसहस्रा कया विच्ची ॥

मूलावस्सयविच्चीए उबरि रइयं च टिप्पणं जेण । पंचसहस्रपमाणं विसमटूणावबोहयरं ॥

जेण विसेसावस्सयसुतसुवर्नं सवित्थरा विच्ची । रइया परिष्कुडत्था अडवीससहस्रपरिमाणा ॥

मुनिसुव्रतस्वामिचरित्रप्रशस्ति ।

इस उल्लेखमें श्री श्रीचन्द्रसूरिने अपने गुरुकी सब कृतियोंके नाम दिये हैं । सिर्फ नन्दिटिप्पनकका नाम इसमें नहीं है, जिसका नामेउल्लेख खुद मलधारी श्रीहेमचन्द्राचार्य महाराजने विशेषावश्यकवृत्तिके प्रान्तभागमें किया है । यद्यपि मुनि-
सुव्रतस्वामिचरितके इस उल्लेखको प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंसे मीलाया गया है, तथापि सम्भव है कि प्राचीन कालसे ही नन्दिटिप्पनकके नामको निर्देश करनेवाली गाथा छूट गई हो । अस्तु, कुछ भी हो, फिर भी जब विशेषावश्यकवृत्तिके अंतमें खुद श्रीहेमचन्द्राचार्य महाराज आप ही नन्दिटिप्पनकरचनाका निर्देश करते हैं तो वह निर्विवाद ही है कि आपने नन्दिटिप्पनककी रचना अवश्यमेव की थी, जौ आज नहीं पाई जाती है ।

नन्दीविषमपदटिप्पनक

इस ग्रन्थाङ्कमें पृ. १८२ से १८६में नन्दीसूत्रवृत्तिविषमपदटिप्पनक मुद्रित है । इस टिप्पनकको श्री चन्द्र-
कीर्तिसूरिकी कृति बतलाया है, किन्तु वह रचना बास्तवमें उनकी रचना नहीं है । इस टिप्पनकके मुद्रण समय संभातकी
वि. सं. १२१२में लिखित ताडपत्रीय प्रतिको ध्यानमें रख कर, एवं पाटनके भंडारोंकी कुछ प्रतियों के अन्त भागमें निरया-
वलिकादिपंचोपाङ्गपर्याय और नन्दीवृत्तिविषमपदपर्यायको इसी टिप्पनकके साथ देख कर 'श्रीचन्द्रकीर्तिसूरिकृत'
ऐसा लिख तो दिया है, किन्तु संभातके भंडारकी और जैसलमेरके भंडारकी प्राचीन ताडपत्रीय निःशेषसिद्धान्त-
पर्याय और सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय की प्रतियोंको गौरसे देखी तब यह समझ भ्रान्त प्रतीत हुई है । संभातके भंडा-
रकी प्रतिमें और जैसलमेरभंडारकी प्रतिमें अलग अलग सिद्धान्तोंके पर्याय होनेसे दोनों प्रतियाँ जुदी जुदी हैं । अतः इतना
निर्धित होता है कि—संभातकी निःशेषसिद्धान्तपर्याय की प्रति, जो जिस वर्षमें ग्रन्थरचना हुई उसी वर्षमें लिखी हुई है—,
उसमें जितने सिद्धान्तोंके पर्याय हैं, उतनी ही श्रीचन्द्रकीर्तिसूरिकी रचना है । शेष सिद्धान्तपर्यायोंकी रचना किसी अन्य गीतार्थी
की रचना है, जिसका नाम ज्ञात नहीं है । संभात भंडारकी प्रतिमें नन्दीविषमपदपर्याय नहीं है, तब जैसलमेर भंडारकी

प्रतिका प्रारम्भ नन्दीविषमपदपर्यायसे ही होता है। अतः यह निर्विवाद ही है कि इस मुद्रित नन्दीविषमपदटिपनकक्षी रचना श्रीचन्द्रकीर्तिसूरिकी न हो कर किसी अन्य गीतार्थकी रचना है।

नन्दीविषमपदपर्याय प्रायशः नन्दीवृत्तिदुर्गपदव्याख्यासे उद्भृत होनेके कारण, अज्ञातकर्तृक अन्य सर्वसिद्धान्त-विषमपदपर्याय ग्रन्थ अगर एककर्तृक ही है तो, यह रचना निर्विवादरूपसे श्री श्रीचन्द्राचार्यके बाद की ही है।

यहाँ पर विद्वानोंकी जानकारीके लिये उपयुक्त समझ कर संभातको प्रतिका पूर्ण परिचय दिया जाता है—

क्रमांक ८७ (१) निःशेषसिद्धान्तविचार (व्यवहार सप्तमोदेशपर्यन्त) पत्र १२९वाँ + १ - २१०

(२) निःशेषसिद्धान्तविचार (व्यवहार अष्टमोदेशसे आगे) पत्र १ - २०

अन्तिम प्रशस्ति—

शिष्याभ्योजदिवाकरस्य पुरतः श्रीधर्मघोषप्रभोः, सिद्धान्तं विमलारूपस्त्रिगणभृत्येण संश्पृष्टता ।

स्मृत्यर्थं गणिचन्द्रकीर्तिकृतिनो केचिद विचारा वराः, सन्त्येते परिपिण्डिताः परिलस्तिसिद्धान्तस्तनाकरात् ॥

(३) प्रतिष्ठाविधि पत्र २१-२२

(४) प्रायश्चित्तविचार पत्र २३ वाँ

(५) निःशेषसिद्धान्तपर्याय पत्र २४-१११

दृढगालिघोयपोती सदसक्तं ति भणियं होइ ५ । रालग कंगू ॥३॥ संवत् १२१२ आषाढ वदि १२ गुरौ लिखितेयं
सिद्धान्तोद्भारपुस्तिका लेखक देवप्रसादेनेति ॥३॥ प्रथाप्रम् १६७०॥ द्वितीयखण्डस् ॥३॥

शिष्याभ्योजवनप्रबोधनरवे: श्रीधर्मघोषप्रभोः वक्त्राभ्योजविनिर्गताः कतिपयाः सिद्धान्तसत्का अमी ।

पर्याया गणिचन्द्रकीर्तिकृतिना सञ्चित्य सम्पिण्डिताः स्वस्य श्रीविमलारूपस्त्रिगणभृत्येण चिन्ताकृते ॥३॥

आस्ते श्रीमदरूपवर्वततिभिः सबोदयः क्षमातले छायाछन्ददिग्न्तरः परिलस्तत्रावलीसङ्कुठः ।

सेवाकारिनृणां नवीनफलदोऽप्यश्रान्तसान्द्रद्युतिः निष्ठिद्रः सरलत्वकौतुककरः प्राप्ताटवंशः सताम् ॥

मौक्तिकहारसङ्काशः समासीत् तत्र वीहिलः । श्रावको गुणसंयोगान्वराणां इदये स्थितः ॥

समजनि धनदेवः श्रावकस्तस्य सूनुः, प्रथितगुणसमुद्रो मञ्जुवाणीविलासः ।

गगनवलयरङ्गत्कीर्तिचन्द्रोदयेऽस्मिन्, लगति न च कलङ्काः खञ्जनं यस्य सत्काः ॥

तस्य च भार्या यशोमती, तयोश्च पुत्रो गुणरैकरोहणाचलो धर्मचन्दनदुमलयः कीर्तिसुधाधवलितसमस्तविश्वलयो
यशोदेवश्रेष्ठी । तस्य च—

आंबीति नाम्ना जनवत्सलाऽभूद्, भार्या यशोदेवगृहाधिपस्य । यस्थाः सतीनां गुणवर्णनायामादैव रेखा कियते मुनीन्द्रैः ॥

तयोश्च पुत्रा उद्धरण-आम्बिग-वीरदेवाख्या वभूवुः । सोली-लोली-सोखीनामानश्च पुत्रिकाः सञ्जाञ्जिरे । अन्यदा च
सिद्धान्तलेखनबद्धादेण जिनशासनानुरक्षितचित्तेन यशोदेवश्रावकेण सिद्धान्तविचार-पर्यायपुस्तिका लेखयामास ।

पृथ्यं श्री विमलारूपस्त्रिगणभृत्यस्य चारित्रिगो योग्याऽसौ गणिचन्द्रकीर्तिविदुषो विद्वज्ञानानन्दिनी ।

शास्त्रार्थस्मृतिहेतवे परिलसञ्ज्ञानप्रपा पुस्तिका भक्तिप्राप्नितयर्थुणासक्यशोदेवेन निर्मापिता ॥

श्रावचन्द्र-रवी नभस्तलजुषौ यावच्च देवाचलो यावत् सप्तसप्तमुदितमही यावत्त्रभोगण्डलम् ।

यावत् स्वर्गविमानसन्ततिरियं यावच्च दिग्दन्तिनस्तावत् पुस्तकमेतदस्तु सुविधां व्याख्यायमानं मुदे ॥

॥ इति प्रशस्तिः समाप्ता ॥ ३ ॥

(६) कतिचित् सिद्धान्त विचार तथा पर्याय पत्र ११

यहाँ पर संभातके श्रीशन्तिनाथ ताडपत्रीय जैन ज्ञानमंडारकी कमांक ८७ पुस्तिकाका जो विवरण और प्रशस्तियाँ दी गई हैं इससे ज्ञात होता है कि— यह प्रति दो खंडमें विभक्त है। प्रथम खंडके प्रारंभके १२८ पत्र इस समय प्राप्त नहीं हैं, जिनमें संभव है कि— आचार्य श्री चन्द्रकीर्तिसूरि की ही कोई कृति होगी। १२९ वाँ + १-२२० + १-२० पत्रोंमें अंग-उपांग-छेद-आगमगत उपयुक्त विचारोंका संग्रह है, जो आचार्य श्री चन्द्रकीर्तिने अपने विद्यागुरु श्री धर्मघोषसूरिके पास जैन सिद्धान्तोंका अवण अध्ययन करते करते किया है, जिसका निर्देश आपने प्रशस्तिपद्धतिमें किया है। २१ से २३ पत्रोंमें प्रतिष्ठाविधि एवं प्रायश्चित्ताधिकारका संग्रह है।

पत्र २४ से १११ में निःशेषसिद्धान्तपर्याय हैं। जिनमें आचार्य श्रीचन्द्रकीर्तिने पञ्चवस्तुक, आचाराङ्ग, सूत-कृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवतीसूत्र, प्रश्नव्याकरण, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, निशीथचूर्णि, कल्प, व्यवहार, पञ्चकल्प, दशा, जीतकल्प, पाक्षिकसूत्र, इन सोलह शास्त्रोंके पर्याय अर्थात् विषमपदके अर्थ दिये हैं।

पाटन, जैसलमेर आदिके ज्ञानमंडारकी प्रतियोंमें नन्दीसूत्रवृत्ति, आवश्यकवृत्ति, दशवैकालिकवृत्ति, ओषधनिर्युक्ति, पिण्ड-निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्तिगाधा, उत्तराध्ययनबृहदवृत्ति, आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवतीसूत्र, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, प्रज्ञापनाविवरण, जीतकल्प, इन सोलह शास्त्रोंके पर्याय हैं। यथापि इस सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय प्रन्थमें आचाराङ्गादि शास्त्रोंके पर्याय अवश्यमेव शामिल हैं, तथापि दोनों पर्याय अलग अलग हैं। कितनेक शास्त्रों के पर्याय श्रीचन्द्रकीर्ति-सूरिकी रचनामें विस्तृत हैं, तो कितनेक शास्त्रोंके पर्याय दूसरी रचनामें विस्तृत हैं। इसी तरह कितनेक शास्त्रोंके पर्याय परस्पर एक दूसरेमें नहीं भी हैं। यह दोनों विषमपदपर्यायकी दी हुई सूचीयोंको देखनेसे प्रतीत होगा। अतः दोनों विषम-पदपर्यायकारोंका प्रयत्न अलग अलग है, प्रन्थ भी जुदे हैं, प्रन्थकार भी भिन्न हैं। पाटनके मंडार आदिमें ऐसी प्रतियाँ भी नजर आती हैं, जिनमें दोनों विषमपदपर्याय प्रन्थ साथमें लिखे हैं। किन्तु आचार्य चन्द्रकीर्तिसूरिकी प्रन्थरचनाप्रशस्ति संभातकी प्रतिके सिवा और कोई प्रतिमें नजर नहीं आती है, जो अनेक दृष्टिसे महत्वकी है।

इस प्रशस्तिको देखनेसे पता चलता है कि— यह प्रति श्रावक यशोदेवने वि. सं. १२१२ आषाढमासमें खुद प्रन्थकार श्रीचन्द्रकीर्तिसूरिके लिये लिखवाई है। साथमें इस प्रशस्तिको देखते हुए प्रन्थरचनाका समय भी वि. सं. १२१२ संभावित किया जा सकता है। यह पुस्तिका खुद प्रन्थकारके लिये लिखवाई होनेके कारण इस प्रतिको प्रथम प्रति कह सकते हैं, इस दृष्टिसे इस प्रतिका और भी महत्व बढ़ जाता है। इन आचार्यकी अन्य कोई कृति अभी तक देखनेमें नहीं आई है।

इस पुस्तिकाके साथ कतिचित्सिद्धान्तविचार तथा पर्यायके जो ग्यारह पत्र जुड़े हुए हैं, इनका इस प्रन्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये विप्रकीर्ण यन्त्र हैं।

एहाँ पर गीतार्थ मुनिगण एवं विद्वद्वर्गसे निवेदन है कि इस प्रन्थमें मेरे अनवधानसे नन्दीवृत्तिदुर्गपदव्याख्याके शीर्षिकोंमें श्री श्रीचन्द्राचार्यनामके साथ जो मलधारि विशेषण छपा है उन सभी स्थानोंमें चन्द्रकुलीन ऐसा सुधार लिया जाय। और नन्दीवृत्तिसंक्षिप्तिप्रणीत के साथ ‘श्री चन्द्रकीर्तिसूरिप्रणीत’ छपा है उसको मिटा दिया जाय।

यहाँ पर प्रन्थकारोंके विषयमें जो वक्तव्य था, वह समाप्त हो जाता है।

संशोधन और सम्पादन

प्रस्तुत नन्दिसूत्र, हारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या और विषमपदटिप्पनकके संशोधन एवं सम्पादनके लिये मात्र उनकी प्रतियोंका ही आधार लिया गया है, ऐसा नहीं है किन्तु मूलसूत्र, और हारिभद्रीवृत्ति के उद्धरण जो मलधारी आचार्य श्रीहेम-चन्द्रसूरि, आचार्य श्रीमलयगिरि आदिने अपने प्रन्थोंमें दिये हैं, उनका भी इस संशोधनमें उपयोग किया गया है।

हारिभद्रीवृत्ति के संशोधनमें इसकी प्रतियोके अतिरिक्त इसकी श्रीचन्द्रीयदुर्गपदव्याख्याका को भी लक्ष्यमें रखती है, इतना ही नहीं किन्तु आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिजीने अपनी वृत्तिमें जो जो उद्धरण दिये हैं, उन सबको, हो सका वहाँ तक,—मूल स्थानों के साथ तुलना कर, प्राचीन कालसे चली आती अशुद्धियोंका परिमार्जन करनेका प्रयत्न किया है। दुर्गपदव्याख्याका परिमार्जन प्रतियोके अलावा विशेषावश्यककी मलधारी वृत्तिके आधारसे किया गया है। आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने विशेषावश्यक-महाभाष्य आदिके जो उद्धरण दिये हैं, उनके पाठोंकी ओर दुर्गपदव्याख्याकारने कोई स्वास व्यान दिया प्रतीत नहीं होता है। यही कारण है कि आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके उद्धरण और दुर्गपदव्याख्याकारने दी हुई गाथाओंमें पाठभेद पाये जाते हैं। दुर्गपदव्याख्याकारने हारिभद्रीवृत्तिमें उद्भूत विशेषावश्यकमहाभाष्यकी गाथाओंके उपर कोई स्वतंत्र व्याख्या नहीं की है, किन्तु उन गाथाओंकी मलधारी आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिने जो व्याख्या की है उसीका अक्षरशः ऊतारा ही कर लिया है। अतः ऐसे पाठोंको तत्त्व स्थानके पाठोंके साथ मिलाया गया है।

नन्दिमूलसूत्र के उपर आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने जिस पाठको लक्ष्यमें रख कर व्याख्या की है, वही सूत्रपाठ मैंने वृत्तिके आधारसे मूलमें दिया है। ऐसे स्थानोंमें आचार्य श्रीहरिभद्रको इष्ट सूत्रपाठ प्रतियोंमें कहीं पाया गया है और कहीं नहीं भी पाया गया है। फिर भी आचार्यकी व्याख्याकी संगतिको लक्ष्यमें रख कर यह परिवर्तन मैंने उचित माना है। आज अपने सामने नन्दिसूत्रकी जो प्राचीन—अर्वाचीन प्रतियों विवरण हैं, उनमेंसे एक भी प्रति ऐसी नहीं है जो श्रीचूर्णिकार, श्रीहरिभद्रसूरि या श्रीमलयगिरिकी व्याख्याके साथ पूर्णतया संहमत हो। इस दशामें तत्त्व वृत्तिके साथ तत्त्व सूत्रपाठोंका स्थापन या परावर्तन करना असंगत नहीं है। फिर भी मैंने नन्दिसूत्रकी प्रतियोंमें पाये गये महत्वके कोई भी पाठभेद की उपेक्षा नहीं की है, इतना ही नहीं ग्रन्थान्तरोंमें नन्दिसूत्रके उद्भूत उद्धरणोंसे उपलब्ध पाठभेद भी मैंने दिये हैं। साथमें चूर्णिकार, हरिभद्रसूरि और श्रीमलयगिरि, ये तीन व्याख्याकार महर्षियोंमेंसे, किसको कौनसा या कैसा सूत्रपाठ अभिमत है?— इसका भी सर्वत्र विवेक किया गया है। इन पाठभेदोंके जिज्ञासुओंसे विज्ञप्ति है कि— इस संस्थाकी ओरसे प्रकाशित चूर्णिसहित नन्दिसूत्रकी पादटिप्पणीओंको व्यानसे देखें।

परिशिष्ट

इस ग्रन्थके साथ पांच परिशिष्ट एवं शुद्धिपत्र दिये गये हैं। प्रथम परिशिष्टमें मूलनन्दीसूत्रकी गाथाओंका क्रम दिया है। दूसरे परिशिष्टमें नन्दीहारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या और अनुज्ञानन्दी या लघुनन्दीकी वृत्तिमें दिये उद्धरणोंका क्रम दिया है। तीसरे परिशिष्टमें नन्दीसूत्रमूल, हारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या, विषमपदटिप्पतक, अनुज्ञानन्दी और योगनन्दीमें स्थित विशेषनामोंका क्रम दिया है। चतुर्थ परिशिष्टमें नन्दीहारिभद्रीवृत्तिगत पाठान्तर-मतान्तर-व्याख्यान्तरोंके स्थान दिये हैं। पांचवें परिशिष्टमें नन्दीसूत्र और व्याख्याओंमें स्थित व्याख्यात, अव्याख्यात एवं विषयबोतक शब्दोंका अनुक्रम दिया है। और अन्तमें मुनिवर श्रीजम्बूविजयजी, भाई श्रीदलसुखभाई मालवणिया और पंडित श्रीबेचरदास दोसीने तैयार किया शुद्धिपत्र है। विद्वानोंसे प्रार्थना है कि— इस ग्रन्थके पढनेके पूर्व शुद्धिपत्रकका उपयोग करें।

उपसंहार

प्रस्तावनाके प्रारम्भमें उल्लिखित प्रतियोके आधारसे प्रस्तुत ग्रन्थका संशोधन किया गया है। इस मुद्रणके प्रुफपत्रोंका निरीक्षण एवं परिशिष्ट भी पं. भाई अमृतलाल मोहनलाल भोजक ने किया है। भाई श्रीदलसुखभाई मालवणिया जीका साहाय्य भी आदिसे अन्त तकमें रहा है। इतना होते हुए भी अगर इस संशोधनमें कोई क्षति प्रतीत हो तो विद्वानोंसे प्रार्थना है कि— ऐसी क्षतियोंकी सूचना देनेकी कृपा करें। जिनका उपयोग यथावसर अवश्य ही किया जायगा।

हारिभद्रि वृत्ति सहित नन्दीसूत्रका विषयानुक्रम ।

संख्या	विषय	पत्र	संख्या	विषय	पत्र
	वृत्तिकारका मंगल और उपक्रम नन्दिशब्दको व्युत्पत्ति, अर्थ और निषेप	१		कुट, चालनी, परिपूणक, हंस आदिके लक्षणिक उदाहरण और ज्ञप्तिरूप, अज्ञप्तिरूप एवं दुर्विदध्यवर्षतका निरूपण	
१	गाथा १-३ मंगलसूत्र	१-३	८	शानसूत्र	१५-२०
	गाथा १ सामान्यतः जिनस्तुति गा. २-३ महावीर परमात्माकी स्तुति			मत्यादि पांच ज्ञानके नाम, उनकी व्युत्पत्ति और क्रमसाकल्य आदिका निरूपण	
२	गाथा ४-१७ संघस्तुतिसूत्र रथ, चक्र, नगर, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र और मंदरगिरिके रूपकों द्वारा श्रीसहस्रकी स्तुति	४-९	९	मत्यादिज्ञानोंका प्रत्यक्ष प्रोक्ष रूपमें विभाजन	२०
	गाथा १८-१९ तीर्थकरावलीसूत्र नौवीस तीर्थकरोंकी स्तुति	१०	१०	इन्द्रियप्रत्यक्ष नौइन्द्रिय- प्रत्यक्ष दो मेद	२०
४	गाथा २०-२१ गणधरावलीसूत्र भगवान् श्रीमहावीरके ग्यारह गणधरोंकी स्तुति	१०	११	इन्द्रियप्रत्यक्षके पांच मेद— नौइन्द्रियप्रत्यक्षके तीन मेद	२०-२१
५	गाथा २२ बीरशासनस्तुतिसूत्र भगवान् महावीरके शासनकी-प्रवचनकी स्तुति	१०	१२	अवधिज्ञानके दो मेद— क्षायोपशास्त्रिक और भवप्रत्ययिक	२१
६	गाथा २३-४३ इथविरावलीसूत्र श्रुतस्थविरोंकी स्तुति-गा. २३ सुधर्मा, जम्बूस्वामी, प्रभवस्वामी, शश्यमभव- स्वामी; गा. २४ यशोभद्र, सम्भूताये, भद्रवाहु, स्थूलभद्र; गा. २५ महागिरि, सुहस्ती, बहुल, बलिस्सह; गा. २६ स्वाति, इयामर्य, शापिडल्य, जीवधर; गा. २७ आर्यसुद्र; गा. २८ आर्य- महु; गा. २९ आर्यनन्दिल; गा. ३० आर्यनागद्वस्ती वाचक; गा. ३१ रेवति- सित्र वाचक; गा. ३२ खिंह वाचक; गा. ३३ स्कन्दिलाचार्य; गा. ३४ हिमवन्त; गा. ३५-३६ नागाज्ञेनवाचक; गा. ३७-३९ भूतिदिज्ञाचार्य; गा. ४० लौहित्य; गा. ४१-४२ दुष्यगणी; गा. ४३ सामान्यरूपसे सर्वस्थविरोंकी स्तुति	१०-१५	१३	क्षायोपशास्त्रिक तथा गुणप्रत्ययिक अवधि- ज्ञानका स्वरूप	२१-२२
	गा. ४४ पर्षतसूत्र श्रुतज्ञानके-शास्त्रके अधिकारि-अनधि- कारी शिष्योंकी परीक्षाके लिये सेलघण,	१५-१७	१५	अवधिज्ञानके आनुगमिकादि-छ मेद	२२-२३
७			१६-२३	१, आनुगमिक अवधिज्ञानका स्वरूप, उनके अन्तगत और मध्यगत मेद तथा पुरतोअन्तगत, मार्गतोअन्तगत, पार्श्वतो- अन्तगतादि प्रमेदोंका स्वरूप, उनके प्रतिविशेषका-स्वरूपमेदका निरूपण	२३-२४
			२३	२. अनानुगमिक अवधिज्ञान	२४-२५
			२४	३. वर्धमानक अवधिज्ञान	२५-२८
				गा. ४५-४६ अवधिज्ञानका जघन्य और उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र, गा. ४७-५० द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे अवधि- ज्ञानके विषयभूत द्रव्यादिकी वृद्धिका स्वरूप, गा. ५१-५२ द्रव्य-क्षेत्र-काल- भावकी पारस्परिक वृद्धिका स्वरूप आदि	
			२५	४. हीथमानक अवधिज्ञान	२९
			२६	५. प्रतिपाति अवधिज्ञान	२९
			२७	६. अप्रतिपाति अवधिज्ञान	२९-३०
			२८	द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अवधिज्ञानका स्वरूप	
			२९	गा. ५३-५४ अवधिज्ञानके अभ्यन्तरा- वधि और बात्यावधि मेद और अवधि- ज्ञानका उपसंहार	३०
					३०-३१

हारिभद्रो वृत्ति सहित नन्दिसूचका विषयानुक्रम ।

24

संख्या	विषय	पत्र	संख्या	विषय
३०	मनःपर्यवज्ञानका अधिकारी	३१-३४		कर्मजा बुद्धिका स्वरूप और उदाहरण;
३१	मनःपर्यवज्ञानके ऋजुमति विपुलमति दो मेद	३४		६८-७१ पारिणामिकी बुद्धिका स्वरूप और उदाहरण
३२	द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आश्री मनःपर्यवज्ञानका स्वरूप	३४-३६	७८	श्रुतनिश्चित मतिज्ञानके अवग्रह इहाआदि चार मेद
३३	गा. ५५ मनःपर्यवज्ञानका स्वरूप और उपसंहार	३६-३७	७९	अवग्रहके अर्थात् व्यञ्जनावग्रह दो मेद व्यञ्जनावग्रहके मेद और स्वरूप
३४	केवलज्ञानके भवस्थकेवलज्ञान और सिद्ध-केवलज्ञान दो मेद	३७	८०	८० अर्थात् विग्रहके मेद, स्वरूप और एकार्थिक इहाके मेद, स्वरूप और एकार्थिक
३५-३७	भवस्थकेवलज्ञानके सयोगिभवस्थकेवल-ज्ञान और अयोगिभवस्थकेवलज्ञान दो मेद और उसका स्वरूप	३७-३८	८१	८१-८३ अपायके मेद, स्वरूप और एकार्थिक धारणाके मेद, स्वरूप और एकार्थिक
३८-४०	सिद्धकेवलज्ञानके अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान और परम्परसिद्धकेवलज्ञान दो मेद और उसका स्वरूप	३८-४०	८४	८४-८६ अवग्रह आदि आदिका कालप्रमाण
४१	इव्य-क्षेत्र-काल-भाव आश्री केवलज्ञानका स्वरूप	४०	८५	८५ अवग्रह आदि भेदोंसे २८ प्रकारके मतिज्ञानका स्वरूप कथन करनेके लिये प्रतिबोधक और मल्कके दृष्टान्त
	शृत्तिमें—केवलज्ञान- केवलदर्शनविषयक युगपदुपयोग-एकोपयोग-क्रमोपयोगमान्य-ताओंकी चर्चा		८६	८६-८८ प्रतिबोधक दृष्टान्त द्वारा व्यञ्जनावग्रहके स्वरूपका निरूपण
४२	गा. ५६-५७ केवलज्ञानका स्वरूप और उपसंहार	४०-४३	८७	८७-८९ अल्क दृष्टान्त द्वारा अवग्रह-ईदा-अपाय-धारणाके स्वरूपका निरूपण
४३	परोक्षज्ञानके आभिनिवोधिक और श्रुतज्ञान दो मेद	४३-४४	८८	८८-९० अल्क दृष्टान्त द्वारा अवग्रह-ईदा-अपाय-धारणाके स्वरूपका निरूपण
४४	आभिनिवोधिकज्ञान और श्रुतज्ञानकी सैरेव सहभाविता	४४	९१	९१-९३ अभिनिवोधिक ज्ञानके मेद अर्थ, कालप्रमाण शब्दश्वरणका स्वरूप, एकार्थिक नाम-शब्द और उपसंहार
	शृत्तिमें-मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका पृथक्करण-विवेक		९२	९२-९५ श्रुतज्ञानके चौदह मेद
४५	मतिज्ञान और मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञानका या सम्यग्मति-ज्ञान और मिथ्यामतिज्ञानका एवं सम्यक्श्रुतज्ञान और मिथ्याश्रुतज्ञानका विवेक आभिनिवोधिकज्ञानके श्रुतनिश्चित अश्रुतनिश्चित दो मेद	९५-९६	९२-९५ १ अक्षरश्रुतके संज्ञाक्षर, व्यञ्जनाक्षर और लघ्यक्षर तीन मेद और इनका स्वरूप	
४६	अश्रुतनिश्चित आभिनिवोधिकज्ञानके मेद, स्वरूप और उदाहरण	९६	९६	९६-९८ २ अनक्षरश्रुतका स्वरूप
४७	गा. ५८ अश्रुतनिश्चित मतिज्ञानके औपत्तिकी बुद्धि आदि चार मेद; गा. ५९-६२ औपत्तिकी बुद्धिका स्वरूप और उदाहरण; गा. ६३-६५ वैनियिकी बुद्धिका स्वरूप और उदाहरण; ६६-६७	९६-९९	९७-९० ३ संज्ञाश्रुतके कालिक्युपदेश, हेतुपदेश और दृष्टिवादोपदेश तीन प्रकार, स्वरूप और ४ असंज्ञाश्रुत	
			९१	९१-९३ ५ सम्यक्श्रुत-द्वादशाङ्कीके नाम
			९२	६२-६४ ६ मिथ्याश्रुत-भारत, रामायण, हंभी, मासुइक्षु आदि प्राचीन जैनेतर शास्त्रोंके नाम और सम्यक्श्रुत-मिथ्याश्रुतका तात्त्विक विवेक
			७३-७५ ७-८ सादि-अनादि श्रुतज्ञान, ९०-९१ सुपर्यवसित-अपर्यवसित श्रुतज्ञान और उसका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आश्री स्वरूप	६४-६५ ९५-९७

हारिभद्री वृत्ति सहित नन्दिसूत्रका विषयालुक्रम ।

संख्या	विषय	पञ्च	संख्या	विषय	पञ्च
७६-७७	पर्यावाग्राक्षरका निरूपण और अतिगाढ़ श्वानावरणीयकर्मवृत्त दशामें भी जीवको अक्षरके अनन्तने भाग जितने शानका शाश्वतिक स्वरूप	६७-६९	११४	दृष्टिवादका परिभाण और विषय	९२-९३
७८	११-१२ मग्निक अग्निक श्रुतज्ञान	६९	११५	द्वादशाङ्गीका विषय	९३
७९	१३-१४ अङ्गप्रविष्ट और अङ्गवात्य श्रुतज्ञान	७०	११६-१७	द्वादशाङ्गीके विराघकोंको हानि और आराधकोंको लाभ	९३-९४
८०	अङ्गवात्य श्रुतज्ञानके दो भेद	७०	११८	द्वादशाङ्गीकी शाश्वतिकता	९४-९५
८१	आवश्यक श्रुत	७०	११९	द्रव्य-स्त्रेन-काल-भाव आश्री श्रुतज्ञानका स्वरूप	९५
८२	आवश्यकत्वात्तिरिक्तश्रुतके कालिक उत्कालिक दो प्रकार	७०	१२०	गा. ८३ श्रुतज्ञानके चौदह भेद, गा. ८४ श्रुतज्ञानका लाभ, गा. ८५ दुष्किके आठ गुण, गा. ८६ सुनार्थश्रवणविधि, गा. ८७ सूत्रव्याख्यानविधि और नन्दी-सूत्रकी समाप्ति	९५-९७
८३	उत्कालिकश्रुतके २९ नाम	७०-७२		चन्द्रकुलीन आचार्य श्रीश्रीचन्द्र-सूरिप्रणीत नन्दीसूत्रहारिभद्री-वृत्तिकी दुर्गपदव्याख्या	
८४	कालिकश्रुतके ३१ नाम	७२-७३		चन्द्रकुलीन आचार्य श्रीश्रीचन्द्र-सूरिविरचितटीकासहित लघु-नन्दी-अनुज्ञानन्दी	९९-१६१
८५	वृत्तिमें-२९ उत्कालिकसूत्रके नामोंका व्युत्पत्त्यर्थविवरण			जोगणंदी	
८६	कालिकश्रुतके ३१ नामोंका व्युत्पत्त्यर्थविवरण			नन्दीसूत्रहारिभद्रीवृत्तिके विषम-पदपर्याय-विषमपदटिपनक	१८२-१८६
८७	आवश्यकत्वात्तिरिक्त श्रुतज्ञानका उपसंहार	७३-७४		१. प्रथम परिशिष्ट	१८७-१८८
८८	अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञानके १२ नाम	७४		नन्दीसूत्रान्तर्गत सूत्रगाथाओंकी अकारादिक्रमसे अनुक्रमणिका	
८९	१ आचाराङ्गसूत्रका स्वरूप	७४-७७		२. द्वितीय परिशिष्ट	१८९-१९४
९०	२ सूत्रकृताङ्गसूत्रका स्वरूप	७७-७९		नन्दीहारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या और लघुनन्दीमूल और उसकी वृत्ति, नन्दीहारिभद्रीवृत्तिविषमपदपर्यायिके अन्तर्गत विशेषनामोंकी अनुक्रमणिका	
९१	३ स्थानाङ्गसूत्रका स्वरूप	७९		३. तृतीय परिशिष्ट	१९५-२०३
९२	४ समवायाङ्गसूत्रका स्वरूप	७९-८०		नन्दीसूत्रमूल, हारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या, लघुनन्दीमूल और उसकी वृत्ति, नन्दीहारिभद्रीवृत्तिविषमपदपर्यायिके अन्तर्गत विशेषनामोंकी अनुक्रमणिका	
९३	५ व्याख्या[प्रज्ञति]सूत्रका स्वरूप	८०		४. चतुर्थ परिशिष्ट	२०३
९४	६ ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्रका स्वरूप	८०-८२		नन्दीसूत्रवृत्ति आदिमें स्थित पाठान्तर, भातान्तर और व्याख्यान्तरके स्थान	
९५	७ उपासकदशाङ्गसूत्रका स्वरूप	८२		५. पञ्चम परिशिष्ट	२०४-२१६
९६	८ अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गसूत्रका स्वरूप	८२-८३		नन्दीसूत्र, हारिभद्रीवृत्ति, दुर्गपदव्याख्या	
९७	९ अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गसूत्रका स्वरूप	८३-८४		आदिमें स्थित शब्दोंका अनुक्रम	
९८	१० पश्चव्याकरणदशाङ्गसूत्रका स्वरूप	८४		शुद्धिपत्र	२१७-२१८
९९	११ विपाकदशाङ्गसूत्रके दुःखविपाक सुख-विपाक दो प्रकार और उनका स्वरूप	८४-८५			
१००	१२ दृष्टिवादअंगके पांच भेद	८५			
१०१	१३ परिकर्मदृष्टिवादके सात प्रकार और भेद	८५-८७			
१०२	१४ सूत्रहारिभद्रीवृत्तिके २२ प्रकार	८७			
१०३	१५ पूर्वगतदृष्टिवाद—चौदह पूर्व	८८-८९			
१०४	१६ अनुयोगदृष्टिवादके मूलप्रथमानुयोग और मंडिकानुयोग दो भेद और इनका स्वरूप	८९-९२			
१०५	१७ वृत्तिमें—सिद्धगंडिका स्वरूप	९२			
१०६	१८ चूलिकादृष्टिवाद				

॥ णमो त्युं पं समणस्स भगवां नद्विमाणसामिस्स ॥

णमो अणुओगभराणं थेराणं ।

श्रीदेववाचकविरचितं

नन्दिसूत्रम् ।

याकिनीमहत्तराधर्मसूनुना आचार्यश्रीहरिभद्रस्त्रिणा
द्वितिया द्वत्या समलङ्घतम् ।



॥ श्रीसर्वज्ञाय नमः ॥

जयति भुवैकभानुः सर्वत्राविहतकेवलालोकः ।

नित्योदितः स्थिरस्तापर्वितिं वर्द्धमानजिनः ॥ १ ॥

इह सर्वेषौ च संसारिणा सन्वेन नारक-तिर्यङ्-नरा-भरगतिनिवन्धनानेकशारीर-मानसातितीवतरदुःखौयसङ्गात-
पीडितेन जाति-जरा-भरण-शोक-रोगाद्युपद्रवातरहित-निरतिशयालोकसुखस्वभावापवर्गगतिसम्भवे सति पीडानिर्वै ५
दात् तत्परित्यागाय, निरतिशयालोकसुखाभिलाषाच्च तदवासये, आत्म-परतुल्यचित्तेन सर्वथा स्व-परोपकाराय प्रव-
त्तितव्यमिति । तत्रान्यपरिक्षणादिना परोपकारपूर्वक एवाऽत्मोपकार इति विशेषतस्तत्र । स पुनः परोपकारो
द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो भोजनादिविचित्रविभवप्रदानजनितः, अयं चानेकान्तिकोऽनात्यन्तिकश्च ।
भावतस्तु सद्वर्मप्रदानजनितः, अयं चैकान्तिकस्तथाऽत्यन्तिकश्च । सद्वर्मश्च श्रुतधर्म-चारित्रधर्मभेदाद् द्विभेदः ।
तत्र श्रुतधर्मो जिनवचनस्वाध्यायः, चारित्रधर्मस्तु तदुक्तः अमणधर्म इति । उक्तं च— १०

सुधर्ममो सज्जाओ चरित्तधर्ममो समणधर्ममो । []

तत्र श्रुतधर्मसम्पत्समन्विता एव प्रायश्चारित्रधर्मग्रहण-परिपालनसमर्था भवन्तीति तत्प्रदानमेवाऽदौ त्याग्य-
मिति । तत्रापि श्रुतप्रदाने सत्यपि नाविज्ञातार्थादेव तस्मादभिलषितार्थावासिः प्राणिनामित्यतः प्रारम्भते ऽहं द्व-
चनानुयोगः । अयं च परमपदप्राप्तिहेतुत्वाच्छ्रेयोभूतो वर्तते । श्रेयांसि बहुविद्वानि भवन्ति । यथोक्तम्—

श्रेयांसि बहुविद्वानि भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां कापि यान्ति चिनायकाः ॥ १ ॥ १५

[] इति ।

अतोऽस्य प्रारम्भ एव विद्विनायकोपशान्तये मङ्गलाधिकारे नन्दिर्वक्तव्यः ।

अथ नन्दिरिति कः शब्दार्थः ?, उच्यते—“दुण्डि समृद्धौ” [पा. धा. पा. ६७] इत्यस्य धातोः “इदितो तुम्
धातोः” [पा. ७. १. ५८] इति तुमि विहितेऽनुबन्धलोपे च कृते औषादिकः इन् प्रत्ययो विधीयते, “सर्वधातुभ्य
इन्” [पा. ७. ५६७] इति वचनात्, अनुबन्धलोपे च कृते सति नन्दि, सो रुच्यं विसर्जनीयश्चेति नन्दिः । नन्दनं २०
नन्दिः । नन्दन्त्यनेनेति वा नन्दन्त्यस्मिन्निति वा नन्दयन्तीति वा तदभेदोपचाराद् नन्दिः हर्षः प्रमोद इत्यनर्थ-
न्तरम्, “ताभ्यामन्यत्रोणादयः” [पा. ३. ४. ७५] इति वचनात् ताभ्यामिति सम्प्रदाना-प्राप्तानाभ्यामन्यत्र
उणादयः प्रत्यया भवन्ति । अन्ये तु “नन्दी” इत्यभिदधति, तत्रापि नन्दिरिति स्थिते “इक्षु कृष्णादिभ्यः” [पा.
वा. ३. ३. १०८] इति इक्षु प्रत्ययः, स च “कृत्यल्पुटो बहुलम्” [पा. ३. ३. ११३] इति वचनाद् भावे करणे

१ तत्र इति परोपकारे, यतितव्यमिति शेषः ॥ २ अन्ये इति नन्दीचूर्णिकृदादयः ॥

वाऽवगन्तव्य इति, ततः “कृदिकारादक्षिणः” [पा. वार्त्तिकम् ४. १. ४५] “सर्वतोऽक्तिन्धर्थादित्येके” [पा. वा. ४. १. ४५] इति स्त्रीप्रत्ययः; अस्य भावार्थः—कृदिकारान्तो यः शब्दः क्षिनवर्जितस्तस्मात् स्त्रीप्रत्ययो भवति, अपरे तु सर्वतः अक्तिन्धर्थादिकारान्तात् स्त्रीप्रत्ययो भवतीति भन्यन्ते; अनुवन्धलोपे च कृते “यस्य” [पा. ६. ४. १४८] इतीकारलोपे च नन्दी इति रूपं भवति । नन्दनं नन्दी । नन्दन्त्यनयेति वा भव्याः प्राणिन इति ५ नन्दी इत्यलमप्रस्तुतातिप्रसङ्गेनेति ।

अयं च नन्दिश्चतुर्विधः, तद्यथा—नामनन्दिः १ स्थापनानन्दिः २ द्रव्यनन्दिः ३ भावनन्दिः ४ श्वेति । तत्र नाम-स्थापने प्रकटार्थे । द्रव्यनन्दिद्विधा—आगमतो नोआगमतश्च । तत्राऽगमतो नन्दिपदार्थज्ञः तत्र चाऽनुपयुक्तः, “अनुपयोगो द्रव्यम्” [अनुयोग. सू. १३] इति वचनात् । नोआगमतस्तु ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः भव्यशरीरद्रव्यनन्दिः ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तश्च द्रव्यनन्दिः । तत्र ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः नन्दिपदार्थज्ञस्य शरीरं जीवविप्रसुकम्, अनु-
१० भूतनन्दिभावत्वात्, पश्चात्कृतभावस्य द्रव्यत्वात् । यथोक्तम्—

भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यद्योके । तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतना-उचेतनं कथितम् ॥ १ ॥

[]

भव्यशरीरद्रव्यनन्दिश्च नन्दिपदार्थपरिज्ञानभावयोग्यं बालादिशरीरम्, पुरस्कृतभावत्वादस्य । व्यतिरिक्तश्च पुनः क्रियाविष्टो द्वादशविधस्त्रयाङ्गसङ्घातः । अयं तद्यथा—

१५ भंगा १ मउंद २ मद्दल ३ कडंब ४ झल्लरि ५ हुडुक ६ कंसाला ७ ।
काहल ८ तलिमा ९ वंसो १० संखो ११ पण्ठो १२ य वारसमो ॥ १ ॥ []

भावनन्दिरपि द्विविधैव—आगमतो नोआगमतश्च । तत्राऽगमतो भावनन्दिः नन्दिपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, उपयोगो भाव इति कृत्वा । नोआगमतस्तु भावनन्दिः पञ्चपकारज्ञानसमुदायः, नोशब्दो देशवचनः । अथवा पञ्चपकारज्ञानस्यरूपपतिपादकोऽयनविशेषः, नोशब्दो देशवचन एव, अयं चाध्ययनविशेषः श्रुतांशेन सर्वश्रुता-
२० भ्यन्तरभूतो वर्तते । अत एव सर्वश्रुतारम्भेष्वेव विव्रतिनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमभिधीयत इति ।

अस्य च मङ्गलस्थानावसरप्राप्तस्य सत आचार्या विनेयानां सूत्रा-उर्धगौरवोत्पादनार्थमविच्छेदेन सन्तानागत-
सूत्रा-उर्धपददर्शनार्थं चाऽदावेवाऽवलिकामभिधाय व्याख्यानाय यतन्ते । सर्वे श्रुतार्थाश्च यतस्तीर्थकरप्रभवा अतः
प्रज्ञापक-शावक-पाठकाः अभिलषितार्थसिद्धये प्रवर्त्तमानाः प्रधानोपायत्वाद् भगवत एव नमस्कारपूर्वकं प्रवर्त्तन्त
इत्यत आह ग्रन्थकारः—

२५

[सुतं १]

जयइ जगजीवजोणीवियाणओ जगगुरु जगाणंदो ।

जगणाहो जगबंधू जयइ जगपियामहो भयवं ॥ १ ॥

१. जयति० गाथा । व्याख्या—इन्द्रिय-विषय-कषाय-घातिकर्म-भवोपग्राहिकर्मशत्रुगणजयाज्जयतीत्युच्यते ।
किंविशिष्टो जयति ? ‘जगजीवयोनिविज्ञायकः’ इह जगच्छब्देन सकलधर्म-उर्धम-उक्ताश-पुद्लास्तिकायपरिग्रहः,
३० जीवशब्देन तु सकलजीवस्तिकायपरिग्रहः । उक्तं च—

जगान्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम् । []

योनयः सचित्ताद्याः । उक्तं च—“सचित्त-शीत-संष्टुतेतर-मिश्रास्तद्योनयः” [तत्त्वा. २. ३३] जीवोत्पत्ति-स्थानानीत्यर्थः । “यु मिश्रे” [पा. धा. पा. १० ३३] युद्धन्ति-तैजस-कार्मणशरीरक्वन्तः सन्त औदारिकादि-शरीरेण मिश्रीभवन्त्यस्यामिति योनिः । उक्तं च—

जोषण कम्मण्ण आहारेऽ अणंतरं जीवो । तेष परं भीसेण जाव सरीरस्स निष्फल्ली ॥ १ ॥

[सूत्रकृ. नि. गा. १७७]

ततश्च जगच्च जीवाश्च योनयथ जगज्जीव-योनयः, विविधम्—अनेकधा उत्पादाद्यनन्तधर्मात्मकं जानातीति विज्ञायकः, जगज्जीव-योनीनां विज्ञायको जगज्जीव-योनिविज्ञायक इति समाप्तः, अनेन केवलज्ञानप्रतिपादनात् स्वार्थसम्पदमाह । तथा जगद् शृणातीति जगद्गुरुः, यथोपलब्धं जगद्गुरुते भावना, अनेनापि स्वार्थसम्पदमेवाह । तथा ‘जगदानन्दः’ इह जगच्छब्देन संज्ञिपञ्चेन्द्रियपरिग्रहः, तेषां सद्बर्मदेशनाद्वारेणाऽनन्दहेतुत्वादैहिका-ऽसुष्मिक-प्रमोदकारणत्वाज्जगदानन्द इति, अनेन परार्थसम्पदमाह । तथा ‘जगन्नाथः’ इह जगच्छब्देन सकलचराचरपरिग्रहः, तस्य 10 यथावस्थितस्वरूपप्ररूपणद्वारेण वितथप्ररूपणापायेभ्यः पालनाद् नाथवद् नाथ इति, अनेनापि परार्थसम्पदमिति । तथा ‘जगद्गुरुः’ इह जगच्छब्देन सकलप्राणिपरिग्रहः, तदव्यापादनोपदेशप्रणयनेन सुखस्थापकत्वाद् बन्धुवद् बन्धुः । तथा चोक्तम्—“सब्वे पाणा सब्वे भूया सब्वे जीवा सब्वे सत्ता ण हंतव्या ण अज्ञावेयव्या [ण परिवेत्तव्या] ण परितावेयव्या ण उवद्वेयव्या, एस धर्मे धुवे णितिए सासते, समेच्च लोयं खेदणेहिं पवेदिते” [आचा. श्रु. १ अ. ४ उ. १ सू. १-२] इत्यादि, अनेनापि परार्थसम्पदमिति । तथा ‘जयति जगत्पितामहः’ इति, 15 इह जगच्छब्देन सकलसत्त्वपरिग्रह एव, तेषां च कुण्ठितगमनभयापायरक्षणात् पिता धर्मो वर्तते, तथोक्तम्—

दुर्गतिप्रसृतान् जीवान् यस्माद् धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने तस्माद् धर्म इति स्मृतः ॥ १ ॥

[]

तस्यापि चार्थप्रणेतृत्वेन भगवान् पिता वर्तते, अतो जगत्पितामह इति । स्तवाधिकाराच्च युनः क्रियाभिधानमदृष्टम् । उक्तं च—

सज्जाय-श्वाण-तव-ओसहेसु उवएस-थुइ-पयाणेसु । संतगुणक्रित्तणेसु य न हौंति पुणरुत्तदोसा उ ॥ १ ॥

[आव. नि. गा. १५०४ पत्र ७८२-१]

अनेनापि परार्थसम्पदमाह । ‘भगवान्’ इति भगः—समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, तथा चोक्तम्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षणां भग इतीङ्गना ॥ १ ॥

[विष्णुपुराणे ६. ५. ७४]

भगोऽस्यास्तीति भगवानिति । अनेन चोभयसम्पदमाह, स्व-परोपकारित्वादैश्वर्यादेरित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ १ ॥

व्याख्यानयन्ति केचित् सतुतिमेनामन्यथाऽपि विद्वांसः ।

तत्राप्यपौनरुक्तयं द्विष्मधिया चिन्तनीयमिति ॥ १ ॥

एवं तावद् ‘अनादिमन्तो मतास्तीर्थकराः’ इति ज्ञापनार्थं सामान्येन नमस्कारमभिधाय साम्प्रतमासधो-पकारित्वात् सकलदुखपरमोषधभूतप्रवचनप्रणेतृत्वाद् वर्तमानतीर्थाधिपतेः नमस्कारं प्रतिपादयन्नाह—

१ ‘मिश्रेऽमिश्रे च’ इति पाणिनिधातुपाठे ॥ २ ‘वैराग्यस्याथ मोक्षस्य’ इति विष्णुपुराणे ॥ ३ अत्र केचिद् इत्यनेन चूर्णिकारावेदितं जिणवसभो सललियवसभविक्षयगती महावीरो इतिलोण प्रथमसूत्रगाथोत्तरार्थं व्याख्यानयन्तः पूर्वाचार्याः हैयाः ॥

जयइ सुयाणं पभवो तिथ्यराणं अपच्छिमो जयइ ।
जयइ गुरु लोगाणं जयइ महपा महावीरो ॥ २ ॥

जयति सु० गाहा । व्याख्या—‘जयति’ इति पूर्ववत् । ‘श्रुतानां’ आचारादिभेदभिज्ञानां ‘प्रभवः’ प्रभवन्त्य-
स्मादिति प्रभवः, तदर्थाभिधायकत्वात् कारणमित्यर्थः । ऋषभादयोऽप्येवम्भूता एव अत आह—‘तीर्थकरणाम-
५ पश्चिमो जयति’ तत्र तीर्थकरणशीलास्तीर्थकरास्तेषां तीर्थकरणाम्, भरतेऽधिकृतावसर्पिष्यां पश्चिम एव अनिष्ट-
शब्दपरिहारार्थमपश्चिम इत्युच्यते, पश्चानुपूर्व्या वाऽपश्चिम इति । ‘जयति गुरुलोकानां’ शृणाति शास्त्रार्थमिति
गुरुः, ‘लोकानां’ इति सञ्चानाम् । ‘जयति महात्मा’ अनन्तज्ञानवीर्ययुक्तत्वाद् महान् आत्मा यस्य स महात्मा ।
‘महावीरः’ इति “शूर वीर विक्रान्तौ” [पा. धा. पा. १९०३] इति, कषायादिशत्रुजयाद् महाविक्रान्तो महावीरः ।
१० ईर् गति-प्रेरणयोः” इत्यस्य वा विपूर्वस्य विशेषण ईरयति-कर्म गम्यति, याति वा इह शिवमिति वीरः, महांश्वासौ
वीरश्च महावीर इति गाथार्थः ॥ २ ॥

पुनरस्यैवातिशयमर्दशनद्वारेण स्तुतिमभिधित्सुराह—

भद्रं सब्बजगुज्जोयगस्स भद्रं जिणस्स वीरस्स ।
भद्रं सुरा-ऽसुरणमंसियस्स भद्रं धुयस्यस्स ॥ ३ ॥

भद्र० गाहा । व्याख्या—‘भद्रं’ कल्याणं भवतु । कस्य? ‘सर्वजगदुद्योतकस्य’ इति, अनेन ज्ञानातिशयमाह ।
१५ इह च “चतुर्थी चाऽशिष्यायुष्य-मद्भद्रकुशल-सुखा-ऽर्थ-हितैः” [पा. २. ३. ७३] इति चचनात् षष्ठ्यपि भवत्येव,
यथा-आयुष्यं देवदत्ताय आयुष्यं देवदत्तस्येति, एवं मद्रादिष्वपि वक्तव्यमिति । ‘भद्रं जिनस्य’ “जि जये” अस्य
ओणादिकनक्मपत्ययान्तस्य जिन इति भवति, रागादिजयाद् जिन इति, अनेनापायातिशयमाह । अपायः-विश्लेषः,
रागादिभिः सार्द्धमात्यन्तिकवियोग इत्यर्थः । आह—अपायातिशये सति ज्ञानातिशयभावाद् व्यतिक्रमः किमर्थम्?
“फलप्रधानाः समारम्भाः” इति ज्ञापनार्थम् । ‘भद्रं सुरा-ऽसुरनमस्कृतस्य’ इति, अनेन पूजातिशयमाह, न हि
२० विभवानुरूपां पूजामकृत्वैव सुरा-ऽसुरा नमस्कारक्रियायां प्रवर्तन्त इति । उक्तं च—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पदृष्टिर्दिव्यो ध्वनिश्वामरमासनं च ।

भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥ १ ॥

[इति ।

पूजातिशयान्यथानुपपत्त्यैव वागतिशयो गम्यते । ‘भद्रं धुतरजसः’ इति, अनेन सकलसंसारकेशविनिर्मुक्तां
२५ सिद्धावस्थामेवाऽह, यतो बध्यमानकं कर्म रजो भण्यते, तदभावस्त्वयोगिसिद्धानामेव, न पुनरन्येषाम् । यत आह—
“जाव णं एस जीवे एयइ वेदति चलइ फंदइ० ताव णं अट्टविहवंधए वा सत्तविहवंधए वा छन्विहवंधए वा एग-
विहवंधए वा ” [भग. श. ३. सू. पत्र] इत्यादि । तत्थ—

सत्तविहवंधगा होति पाणिणो आउवज्जगाणं तु । तह सुहुमसंपराया छन्विहवंधा विणिद्वा ॥ १ ॥

मोहा-ऽउगवज्जाणं पर्णडाणं ते उ वंधगा भाणिया । उवसंत-खीणसोहा केवलिणो एगविहवंधा ॥ २ ॥

३० ते उण दुसमयठिइतस्स वंधगा ण उण संपरायस्स । सेलेसिं पडिवज्ञा अवंधगा होति विष्णेया ॥ ३ ॥”

[पञ्चा. १६ ग. ४०-४२]

आह—भगवतः संसारातीतत्वात् परमकल्याणरूपत्वात् किमेवमुच्यते ‘भद्रं भवतु’? न च स्तोत्रा भणितं सर्वमेव भवतीति, अत्रोच्यते, सत्यमेतत्, तथापि कुशलमनो-शाक-कायभ्रूतिकारणत्वात् दोष इत्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥३॥ एवं तावत् तीर्थकरनमस्काराः प्रतिपादिताः । साम्रतं तीर्थकरानन्तरः सङ्घ इति कृता तीर्थान्तर-ग्रामव्युदासेन नगररूपकेण तत्संस्तवं कुर्वन्नाह—

[सुत्तं २]

गुणभवणगहण ! सुयस्यणभरिय ! दंसणविशुद्धरच्छागा ! ।

संघणगर ! भद्रं ते अखण्डचरितपागारा ! ॥४॥

२. गुण० गाहा । व्याख्या—‘गुणभवनगहन!’ इह गुणाः—षिष्ठविशुद्धचादय उत्तरगुणा अभिगृह्यन्ते । यथोक्तम्—

षिष्ठस्स जा विसोद्धी समितीओ भावणा तदो दुविहो । पडिमा अभिगाहा वि य उत्तरगुणमो वियाणाहि ॥१॥ १०

[व्यव. भा. पी. गा. २८९]

एत एव भवनानि एभिर्गहनं—पञ्चरत्नादुत्तरगुणानाम् एभिः सङ्घकुलं सङ्घनगरमभिगृह्यते, तस्याऽऽमन्त्रणं हे गुणभवनगहन ! । तथा ‘श्रुतरत्नभृत !’ श्रुतान्येव—आचारादीनि निरूपमसुखहेतुत्वाद् रत्नानि तैर्भृतं—पूरितमित्यर्थः तस्याऽऽमन्त्रणम् । तथा ‘दर्शनविशुद्धरथ्याक !’ इह दर्शनं—प्रशम-संवेग-निर्वेदा-उत्तुकम्भा-ऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यग्दर्शनं गृह्णते । तच्चौपशमिकादिभेदात् पञ्चविधम् । तथा चोक्तम्—“तं च पंचधा सम्मं । ओवसमं १ सासायण 15 खयोवसमिय ३ वेदयं ४ खइयं ५॥” [विशेषा. गा. ५२८] ति । दर्शनमेव असारमिथ्यात्वादिकचवररहिता विशुद्धा रथ्या यस्य तत् तथाविधं तस्याऽऽमन्त्रणम् । ‘सङ्घनगर !’ सङ्घः—चातुर्वर्णः श्रमणादिसङ्घचातुर्वर्णः स नगरमेव सङ्घ-नगरं तस्याऽऽमन्त्रणम्, यथा पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । उक्तं च—“उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे” [पा. २. १. ५६] । ‘भद्रं’ कल्याणं तत्र भवतु । ‘अखण्डचारित्रप्राकार !’ चारित्रं—मूलगुणाः, अखण्डं—अविराधितं चारित्रमेव प्राकारो यस्य तत् तथाविधं तस्याऽऽमन्त्रणमिति गाथार्थः ॥४॥ २०

संसारोच्छेदित्वात् सङ्घस्यैव चक्ररूपकेण स्तवं कुर्वन्नाह—

संजम-तवतुंबा-ऽस्यस्स णमो सम्पत्तपारियलस्स ।

अपदिचकस्स जओ होउ सया संघचकस्स ॥५॥

संयम० गाहा । व्याख्या—‘संयम-तपस्तुम्बा-ऽरकाय नमः’ संयमश्च तपांसि च संयम-तपांसि, तुम्बं च अरकाश्च तुम्बा-ऽरकाः, तत्र यथासङ्घं संयम-तपांस्यैव तुम्बा-ऽरका यस्य तत् तथाविधं तस्मै नमः । तत्र संयमः— 25

पञ्चाश्रवाद् विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः । दण्डवत्यविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥१॥

[प्रशम. आ. १७२]

तपो दादशप्रकारं वाहमभ्यन्तरं च । तत्र वाहं पङ्कविधम् । यथोक्तम्—

अनशनमूनोदरता दृतेः सङ्घक्षेपणं रसत्यागः । कायकलेशः संलीनतेति वाहं तपः प्रोक्तम् ॥१॥

[प्रशम. आ. १७५]

अभ्यन्तरमपि पडविधम् । उक्तं च—“प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्यं स्वाध्यायो ध्यानं व्युत्सर्गश्च” [] इति । “सम्मतपारियद्वास” त्ति पारियद्वास—बाह्यपुष्टकस्य बाह्या भ्रमिष्यते, ततश्च सम्यक्तव्याह्यभ्रमिणे नमः । व्याख्यातं गाथार्थम् । चरकादिभिरतुल्यत्वाद् नास्य प्रतिचक्रं विद्यते इत्यप्रतिचक्रम्, तस्य जयो भवतु इति सुप्रणिधानमेतत् । ‘सदा’ सर्वकालम् । सङ्घशक्रमिव सङ्घचक्रं तस्येति गाथार्थः ॥ ५ ॥

५ इदानीं सङ्घस्यैव मार्गगमित्वतो रथरूपकेण स्तवं कुर्वन्नाह—

भद्रं सीलयडागूसियस्स तव-णियमतुरगजुत्सस ।

संघरहस्स भगवओ सज्जायसुणंदिघोसस्स ॥ ६ ॥

भद्रं० गाहा । व्याख्या—‘भद्रं’ कल्याणं भवतु । कस्य ? सङ्घरथस्य भगवत् इति योगः । किंविशिष्टस्य ? शीलोच्छ्रुतपताकस्य, प्राकृतशैल्याऽन्यथोपन्यासः, शीलग्रहणाद् अष्टादशशीलाङ्गसहस्रपरिग्रहः । तथा ‘तपो-नियम-
१० तुरगयुक्तस्य’ तपः-संयमाश्वयुक्तस्येत्यर्थः । स्वाध्यायः—वाचनादिः, यथोक्तम्—“वाचना प्रच्छना परावर्तना अनुपेक्षा धर्मकथा च” [] इति, तत्र स्वाध्याय एव शोभनो नन्दिधोषः—तूर्यवः “सुनेमिधोसस्स” त्ति नेमिनिधोषो वा यस्य स तथाविधस्तस्य । इह च शीलाङ्गनिरूपणे सत्यपि तपो-नियमनिरूपणं प्रधानपरलोकाङ्ग-
१५ त्वर्त्यापनार्थम् । आस्ति चायं न्यायो यदुत—“सामान्योक्तावपि प्राधान्यस्यापनार्थं विशेषाभिधानम्” इति, यथा ग्राहणा आयाता विशेषोऽप्यायात इति, एवमन्यत्रापि योजनीयमित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ ६ ॥

१५ सङ्घस्यैव लोकासंश्लिष्टत्वतः पश्चापकेण स्तवं प्रतिपादयन्नाह—

कम्मरयजलोहविणिग्गयस्स सुयरयणदीहणालस्स ।

पंचमहव्यथिरकणियस्स गुणकेसरालस्स ॥ ७ ॥

सावगजणमहुयरिपिखुडस्स जिणसूरतेयबुद्धस्स ।

संघपउमस्स भद्रं समणगणसहस्सपत्तस्स ॥ ८ ॥ [जुम्म]

२० कम्मरय० गाहा । सावय० गाहा । व्याख्या—सङ्घपथस्य ‘भद्रं’ मङ्गलं भवत्विति क्रिया । किम्भूतस्य ? ‘कर्मरजोजलौघविनिर्गतस्य’ इह ज्ञानावरणादिलक्षणं कर्म, तदेव अनेकथा जीवगुणानाद् रजो भण्यते, तदेव भव-
२५ कारणत्वाद् जलौघवद् जलौघः, तस्माद् विनिर्गत इव विनिर्गतः, तथा चाविरतसम्यग्देशेष्युपार्ष्वपुद्गलपरावर्तः परः संसार उक्त इत्यतो विनिर्गतस्तस्य । श्रुतरत्नमेव दीर्घनालं यस्य सः, तद्वादेव निर्गत इति भावनीयम् । पञ्च महावतानि—प्राणातिपातादिविनिवृत्तिलक्षणानि तान्येव स्थिरा-द्वा कर्णिका-मध्यगणिका यस्य । गुणाः—उत्तर-
३० गुणाः त एव तत्परिकरत्वात् केसराणि यस्य विद्यन्ते इति गुणकेसरवत् तस्य गुणकेसरवतः ॥ ७ ॥

‘आवकजनमधुकरीपरिवृत्तस्य’ इति प्रकटार्थम् । नवरमभ्युपेत्य सम्यक्तवं प्रतिपन्नाणुत्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात् साधूनामगारिणां च सामाचारीं शृणोतीति आवकः । उक्तं च—

यो ह्यभ्युपेतसम्यक्तवो यतिभ्यः प्रत्यहं कथाम् । शृणोति धर्मसम्बद्धामसौ आवक उच्यते ॥ १ ॥

[]

३० ‘जिनसूर्यतेजोबुद्धस्य’ केवलज्ञानभास्करविशिष्टसंवेदनप्रभवर्थमदेशनाबुद्धस्येति भावार्थः । ‘अमणगणसहस-
पत्तस्य’ इति प्रकटार्थमेव । नवरं आम्यतीति श्रमणः, “कुत्यल्लुटो बहुलम्” [पा. ३. ३. ११३.] इति वचनात्

सहस्रिः]

श्रद्देववाचकविरचितं नन्दिसूत्रम् ।

७

कर्त्तरि ल्युट्, श्राम्यतीति-तपस्यति, एतदुक्तं भवति-प्रत्रज्यादिवसादारभ्य सकलसावद्ययोगविरतो गुरुपदेशादन-
शनादि यथाशक्ति आ प्राणोपरमात् तपश्चरतीति श्रमणः । उक्तं च—

यः समः सर्वभूतेषु स्थावरेषु त्रसेषु च । तपश्चरति शुद्धात्मा श्रमणोऽसौ प्रकीर्तिः ॥ १ ॥

[]

इति गाथाद्यार्थः ॥ ८ ॥ इदानीं सङ्घवस्यैव सौम्यतया चन्द्ररूपकेण स्तवमाह—

५

तव-संजममयलंछण ! अकिरियराहुमुहुद्वरिस ! णिञ्चं ।

जय संघचंद ! णिभ्मलसम्मतविसुद्धज्ञुण्हामा ! ॥ ९ ॥

तवसंजम० गाहा । व्याख्या—‘तपः-संयममृगालाभ्यन् !’ तपः-संयममृगचिह्न ! । ‘अकिरियराहुमुख-
दुष्प्रधृष्ट्य !’ इह अक्रियाशब्देन नास्तिका गृहन्ते, अनभ्युपगमाद् अविद्यमानपरलोकक्रियाः अक्रियाः, त एव राहु-
मुखं तेन दुष्प्रधृष्ट्यः—अनभिभवनीयः तस्याऽमन्त्रणम् । ‘नित्यम्’ इति सदा जय सहचन्द्र ! । ‘निर्मलसम्यक्तव्य-
विशुद्धज्योत्स्नाक !’ इह मिथ्यात्वभावमलरहितं निर्मलं सम्यक्तुमुच्यते, तदेव विशुद्धा—निर्मला उयोत्स्ना—चन्द्रिका
यस्य स तथाविधः तस्याऽमन्त्रणमिति गाथार्थः ॥ ९ ॥ अशुना सङ्घवस्यैव प्रकाशकतया सूर्यरूपकेण स्तवमाह—

परतित्थियगहपहणासगस्स तवतेयदित्तलेसस्स ।

णाणुज्जोयस्स जए भद्रं दमसंघसूरस्स ॥ १० ॥

परतित्थिय० गाहा । व्याख्या—‘परतीर्थिकग्रहप्रभानाशकस्य’ इह परतीर्थिकाः—कपिल-कणभक्षा-ऽक्ष-
पादादिभतावलम्बिनः त एव ग्रहास्तेषां प्रभा—एकदुर्णयज्ञानलक्षणा तां नाशयति—अनन्तनयसङ्कुलभवचनसमुत्थ-
ज्ञानालोकेन अपनयतीति समाप्तस्तस्य । ‘तपस्तेजोदीप्तलेश्यस्य’ तपस्तेज एव दीपाः—उज्ज्वला लेश्याः—दीधि-
तयो यस्य । ‘ज्ञानोद्योतस्य’ इति गतार्थम् । ‘जगति’ लोके ‘भद्रं’ मङ्गलं भवतु । कस्य ? ‘दमसङ्घवद्वर्यस्य’
दमः—उपशमो भव्यते, तत्प्रधानः सङ्घवस्यैव दमसंहस्र्यस्तस्येति गाथार्थः ॥ १० ॥

साम्प्रतं सङ्घवस्यैव महत्तया समुद्ररूपकेण स्तवमाह—

२०

भद्रं धिवेलापरिग्यस्स सज्जायजोगमगरस्स ।

अक्षोभस्स भगवओ संघसमुद्दस्स रुद्दस्स ॥ ११ ॥

भद्र० गाहा । व्याख्या—सहस्रुदस्य भद्रं भवत्विति क्रिया । किम्भूतस्य ? ‘धृतिवेलापरिगतस्य’ धृतिः—
आत्मपरिणामः सैव वेला—वेदिका-जलान्तररमणलक्षणा मर्यादा वा तया परिगतस्तस्य । ‘स्वाध्याययोगमकरस्य’
कर्मविदारणमहाशक्तियुक्तत्वात् स्वाध्याय एव मकरो यस्मिस्तस्तस्य । ‘अक्षोभ्यस्य’ परीष्ठोपरसर्गसम्भवे निष्ठ-
कम्पस्य । ‘भगवतः’ समग्रैश्चर्यादियुक्तस्य । ‘रुद्दस्येति’ विस्तीर्णस्येति गाथार्थः ॥ ११ ॥

इदानीं सङ्घवस्यैव स्थिरतयाऽचलेन्द्ररूपकेण स्तुतिं कुर्वन्नाह—

सम्भद्रंसणवद्वददरूपगाढावगाढपेदस्स ।

धम्मवररयणमंडियचामीयरमेहलागस्स ॥ १२ ॥

५ णियमूसियकणयसिलायलुज्जलजलंतचित्तकूडस्स ।
 णंदणवणमणहसुरभिसीलगंधद्वमायस्स ॥ १३ ॥

१० जीवदयासुंदरकंदरुहस्तिमुणिवरमइंदइणस्स ।
 हेउसयथाउपगलंतरत्तदित्तोसहिगुहस्स ॥ १४ ॥

१५ संवरखजलपगलियउज्ज्वरपविरायमाणहारस्स ।
 सावगजणपउरखंतमोरणचंतकुहरस्स ॥ १५ ॥

२० विणयणयपवरमुणिवरफुरंतविज्जुज्जलंतसिहस्स ।
 विविहगुणकप्परुखवगफलभरकुसुमाउलवणस्स ॥ १६ ॥

२५ णाणवरखयणदिप्पंतकंतवेरुलियविमलचूलस्स ।
 वंदामि विणयणओ संघमहामंदरगिरिस्स ॥ १७ ॥ [छहि कुलयं]

सम्महंसण० गाहा । व्याख्या—सम्यग्—अविपरीतं दर्शनं सम्यग्दर्शनम्, तदेव प्रथममोक्षाङ्गत्वात् सार-
 त्वाद् वज्रं सम्यग्दर्शनवज्रम्, तदेव दृढं रुदं गाढं अवगाढं पीठं यस्य सङ्घमहामन्दरगिरेः स सम्यग्दर्शनवज्रदृढ-
 रुदगाढावगाढपीठस्तस्य वन्दे इति, द्वितीयार्थे पष्ठी प्राकृतशैलया आर्पत्वाच्च, तं वन्दे इत्यर्थः । तत् सम्यग्दर्शन-
 वज्रपीठं दृढमिति—निष्ठकम्पम्, शङ्कादिशल्यरहितत्वात्; रुदमिति—दृढिमुपगतम्, प्रतिसमयं विशुद्ध्यमानत्वात्
 १५ प्रशस्ताध्यवसायस्थानेषु वर्तनात्, गाढमिति—निविडम्, तीव्रतच्चरुचिरुपत्वात् सुषुप्तश्रद्धानरुपत्वादित्यर्थः; अवगाढ-
 मिति—निमग्नम्, जीवादिपदार्थेषु सम्यगवबोधरुपतया प्रविष्टमित्यर्थः । “धर्मव्रे”त्यादि धारयतीति धर्मः, धर्म
 एव वररत्नमण्डिता—प्रधानरत्नमण्डिता चामीकरमेखला यस्य स धर्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाकः । क्रियायोजना
 पूर्ववदेवावसेया । इह धर्मो द्विविधः मूलगुणोत्तरगुणरूपः, तत्रोत्तरगुणधर्मो रत्नानि, मूलगुणधर्मस्तु चामीकरमेख-
 लेति । तथा च न राजते मूलगुणधर्मचामीकरमेखला उत्तरगुणधर्मरत्नभूषणविकलेति गाथार्थः ॥ १२ ॥

२० नियमूसिय० गाहा । व्याख्या—इहोत्सतशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगो द्रष्टव्यः, ततश्चैवं भवति—नियम एव
 कनकशिलातलानि नियमकनकशिलातलानि, तेषूच्छितानि उज्ज्वलानि ज्वलन्ति चित्तान्येव प्राकृतशैलया कूटानि
 यस्मिन् स तथाविधः । इह च नियमः इन्द्रिय-नोइन्द्रियनियमः परिशृणते । उत्सतानि अशुभाध्यवसायपरित्या-
 गात् । उज्ज्वलानि प्रतिसमयं कर्ममलविगमात् । ज्वलन्ति सदा सूत्रार्थानुस्मरणरुपत्वात् । चित्तये यैस्तानि
 चित्तानि । उक्तं च—

२५ चित्तरत्नमसंक्रिष्टमान्तरं धनमुच्यते । यस्य तन्मुषितं दोषैस्तस्य शिष्टा विपत्तयः ॥ १ ॥
 [] इति ।

वनं—दृक्षसमुदायः, नन्दनं च तद् वनं च नन्दनवनम्, तत्र नन्दन्ति यत्र सुरसिद्धदैत्य-विद्याधरादयस्तद्
 नन्दनम्, वनमिति—अशोक-सहकारादिजालम्, मनो हरतीति मनोहरम्, लतावितान-विविधगुण-फल-प्रवालाद्युप-
 पेतत्वात्, नन्दनवनं च तद् मनोहरं चेति “विशेषणं विशेष्येण बहुलम्” [पा. २. १. ५७] इति समाप्तः,
 ३० तस्य सुरभिशासो शीलगान्वश सुरभिशीलगान्वः तेनाऽऽधमातः—व्याप्तो यः स तथाविधस्तस्य । क्रिया पूर्ववत् ।

इह च सहस्रमन्दरगिरे: सन्तोष एव नन्दनवनम्, तथाहि—नन्दन्ति तत्र साधव इति, तदेव विविधामधौषध्यादिलब्ध्यु-परेतत्वान्मनोहरं तस्य सुरभिशीलगन्ध एवेति, अथवा मनोहरत्वं सुरभिशीलगन्धविशेषणमिति गाथार्थः ॥ १३ ॥

जीवदया० गाहा । व्याख्या—जीवदयं च सुन्दराणि स्वपरनिर्दितिहेतुत्वात् कन्दराणि वस्तुतस्तपस्विनिल-यत्वात्, तथाहि—“अहिंसाव्यवस्थितः तपस्वी” [] इति, मुनिवरा एव शक्यादिमृगपराजया-न्मृगेन्द्राः मुनिवरमृगेन्द्राः, उत्-प्राबल्येन दर्पिताः उदर्पिताः कर्मशत्रुजयं प्रति, उदर्पिताश्च ते मुनिवरमृगेन्द्राभेति ५ विशेषणसमासः, जीवदयासुन्दरकन्दरेषु उदर्पितमुनिवरमृगेन्द्रास्तैः आकीर्णः—व्याप्तो यस्तस्येति । ‘हेतुशत’ इत्यादि, प्रगलन्ति च तानि रत्नानि च प्रगलद्रत्नानि, निस्यन्दवन्ति चन्द्रकान्तादीनि परिशृङ्खन्ते, धातवः—कनकादिधातवो शृङ्खन्ते, धातवश्च प्रगलद्रत्नानि च धातु-प्रगलद्रत्नानि, दीप्ताश्च ता ओषधयश्च दीप्तौषधयः, धातुप्रगलद्रत्नानि च दीप्तौषधयश्च धातु-प्रगलद्रत्न-दीप्तौषधयः, ताः गुहासु यस्य स तथोच्यते । इह च सहस्रमन्दरगिरौ हेतुशतान्येव धातवः, अन्यव्यतिरेकलक्षणाश्च हेतवो शृङ्खन्ते, प्रगलद्रत्नानि तु क्षायोपशमिकभावनिस्यन्दवन्ति श्रुतरत्नानि १० शृङ्खन्ते, दीप्तौषधयस्तु विशुद्धा आमधौषध्यादयो शृङ्खन्ते, गुहास्तु समवायाः प्रखण्णगुहा वा शृङ्खन्त इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

संवर० गाहा । व्याख्या—संवरश्चासौ वरश्च संवरवरः, संवरः—प्रत्याख्यानरूपः, सर्वप्राणातिपातादिविनि-वृत्तिरूपत्वाद् वरः, असावेव कर्ममलक्षालनाद् जलमित्र जलं संवरवरजलम्, तस्मात् प्रगलितं च तदुज्ज्ञरं च संवर-वरजलप्रगलितोज्ज्ञरम्, तथा च संवरवरजलादुपचारतः प्रगलिति श्रुतज्ञानाद्युज्ज्ञरमिति, तदेव प्रविराजमानः हारो १५ यस्य स तथाविधः । “सावगजणे” त्यादि, रक्तन्तश्च ते मयूराश्च रक्तमयूराः, प्रचुराश्च ते रक्तमयूराश्च प्रचुररक्त-न्मयूराः, श्रावका एव जनास्त एव प्रचुररक्तमयूरास्तैर्त्यन्तीव कुहराणि यस्येति समासः । इह च स्तुति-स्तोत्र-गन्धर्वादि रक्षणम्, कुहराणि शास्त्रमण्डपादीनि [इति] गाथार्थः ॥ १५ ॥

विणय० गाहा । व्याख्या—स्फुरन्त्यश्च ता विद्युतश्च स्फुरद्विद्युतः, विनयेन नताः विनयनताः, विनयनताश्च ते प्रवरमुनिवराभेति, त एव स्फुरद्विद्युज्ज्वलन्ति शिखराणि यस्येति समासः । इह च विनयस्याऽन्तरतपोभेद-२० त्वात् तपांस्येव स्फुरन्ति, प्रावचनिकाश्च विशिष्टाचार्यादयः शिखराणि । “विविधगुणे” त्यादि, विविध गुणा येषां ते विविधगुणाः, विशेषणान्यथानुयपत्त्या साधवो शृङ्खन्ते, त एव विशिष्टकुलोत्पन्नत्वात् सत्त्वसुखहेतुधर्मफलप्रदानाच्च कल्पवृक्षकाः विविधगुणकल्पवृक्षकाः, फलभरश्च कुसुमानि च फलभर-कुसुमानि, विविधगुणकल्पवृक्षकाणां फलभर-कुसुमानि विविधगुणकल्पवृक्षकफलभर-कुसुमानि तैराकुलानि वनानि यस्येति समासः । इह च फलभरो धर्मफलभरो शृङ्खते, कुसुमानि ऋद्धयः, वनानि गच्छा इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

णाण० गाहा । व्याख्या—ज्ञानं च तद् वरं च ज्ञानवरम्, परमनिर्दितिहेतुत्वात् तदेव रत्नम्, [तेन] दीप्यमाना कान्ता विमला वैर्घ्यचूडा यस्य स तथाविधः । अत्र दीप्यमानेति यथावस्थितजीवादिपदार्थस्वरूपोपलभात्, कान्ता भव्यजनमनोहासित्वाद्, विमला तदावरणाभावात् । वन्दे इति विनयप्रणतः सहस्रमहामन्दरगिरेर्यन्माहात्म्यमिति, कर्मणि वा षष्ठीति गाथार्थः ॥ १७ ॥

एवं सहस्रमस्कारा अपि प्रतिपादिताः । साम्यतमावलिका प्रतिपाद्यते । सा च त्रिविधा—तीर्थकरावलिका ३० १ गणधरावलिका २ स्थविरावलिका ३ च । तत्र तीर्थकरावलिकां प्रतिपाद्यन्नाह—

[सुत्तं ३]

वंदे उसभं अजिअं संभवमभिणंदणं सुमति सुप्पभ सुपासं ।

ससि पुष्कदंतं सीयलं सिज्जांसं वासुपुज्जं च ॥ १८ ॥

विमलमणंतइ धम्मं संति कुथुं अरं च मल्लिं च ।

मुणिसुव्वयं णमि णेमी पासं तह वद्धमाणं च ॥ १९ ॥ [जुम्मं]

5

३. वंदे० गाहा । विमल० गाहा । गाथाद्यमपि निर्गदसिद्धम् ॥ १८ ॥ १९ ॥ गणधरावलिका तु या
यस्य तीर्थकृतः सा प्रथमानुयोगानुसारेण द्रष्टव्येति । महावीरवर्द्धमानस्य पुनरियम्—

[सुत्तं ४]

पद्मेत्य इंदभूई वीओ पुण होइ अग्गभूई ति ।

10

तइए य वाउभूई तओ वियत्ते सुहम्मे य ॥ २० ॥

मंडिय-मोरियपुत्ते अकंपिए चेव अयलभाया य ।

मेयज्जे य पभासे य गणहरा हुंति वीरस्स ॥ २१ ॥ [जुम्मं]

॥ २० ॥ २१ ॥ साम्पतं वर्तमानतीर्थाधिष्ठितेः स्थविरावलिकां प्रतिपादयन्नतिशयभक्त्या सामान्यतस्तच्छा-
सनस्तवं प्रतिपादयन्नाह—

15

[सुत्तं ५]

णेव्वुइपहसासणं जयइ सया सब्बभावदेसणं ।

कुसमयमयणासणं जिणिदवरवीरसासणं ॥ २२ ॥

५. निव्वुइपह० रूपकम् । अस्य व्याख्या—निर्वृतिपथशासनकमिति, अत्र यद्यपि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि
निर्वाणमार्गस्तथाप्यनेन दर्शन-चरणपरिग्रहः; यत आह—जयति सदा ‘सर्वभावदेशनकं’ सर्वभावप्रूपकमित्यर्थः;
20 अनेन तु ज्ञानपरिग्रहः । अथवा ‘निर्वृतिपथशासनकम्’ इत्यनेन सम्पूर्णनिर्वाणमार्गकथनमेवेति गृह्णते, ‘जयति
सदा सर्वभावदेशनकम्’ इत्यनेन तु विधि-प्रतिषेधद्वारेण ‘न निर्वृतिमार्गव्यतिरेकेण किञ्चिदस्ति’ इति रूपाप्यते ।
यत एवम्भूतमत एव ‘कुसमयमदनाशनकं’ कुसिद्वान्तावलेपनाशनकमित्यर्थः । ‘जिनेन्द्रवरवीरशासनकं’ चरमतीर्थ-
करप्रवचनमिति हृदयम् । अयं रूपकार्थः ॥ २२ ॥

अधुना यैरविच्छेदेन स्थविरैः क्रमेणैदयुगीनानामानीतं तदावलिकां प्रतिपादयन्नाह—

25

[सुत्तं ६]

सुहम्मं अग्गिवेसाणं जंबूणामं च कासवं ।

पभवं कञ्चायणं वंदे वच्छं सेज्जांभवं तहा ॥ २३ ॥

६. सुधम्मं० गाहा । व्याख्या—इह स्थविरावलिका सुधर्मस्वामिनः प्रहृता । उक्तं च—“तित्थं च सुधम्माओ णिरवचा गणहरा सेसा ।” [] इति । अतस्तमेव पुरस्कृत्येयं प्रतिपाद्यते—सुधर्मं भगवद्गणधरं ‘अग्निवैशायनं’ इति अग्निवैशायनसगोत्रम् । तथा तच्छिष्यं जन्मवूनामानं च ‘काश्यपं’ काश्यपगोत्रम् । तस्मात् ‘प्रभवं’ तच्छिष्यं प्रभवनामानं ‘कात्यायनं’ इति कात्यायनसगोत्रम् । वन्दे इति क्रिया प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते । तथा तच्छिष्यं “वच्छं” इति वत्ससगोत्रं शश्यम्भवं तथेति गाथार्थः ॥ २३ ॥

जसभदं तुंगियं वंदे संभूयं चैव माढरं ।
भद्रबाहुं च पाइणं थूलभदं च गोयमं ॥ २४ ॥

जसभदं० गाहा । व्याख्या—‘शश्यम्भवशिष्यं यशोभदं तुङ्गिकं’ इति तुङ्गिकगणं—व्याघ्रापत्यसगोत्रं वन्दे । अस्य च द्वौ प्रधानशिष्यौ वभूवतुः, तद्यथा—सम्भूतविजयो माढरसगोत्रः, भद्रबाहुश्च प्राचीनसगोत्र इति । तथा चाह—सम्भूतं चैव माढरं भद्रबाहुं च प्राचीनमिति । तत्र सम्भूतस्य विनेयः स्थूलभद्रो गौतमसगोत्र आसीत् । आह च—स्थूलभदं च गौतम- 10 मिति गाथार्थः ॥ २४ ॥

एलावचसगोतं वंदामि महागिरिं सुहस्तिं च ।
ततो कोसियगोतं बहुलस्स सरिव्यं वंदे ॥ २५ ॥

एलावचस० गाहा । व्याख्या—स्थूलभद्रस्यापि द्वावेव प्रधानशिष्यौ । तद्यथा—एलापत्यसगोत्रो महागिरिः वशिष्यसगोत्रः सुहस्ती च । यत आह—एलापत्यसगोत्रं वन्दे महागिरिं सुहस्तिनं च । तत्र सुहस्तिनः सुस्थित-सुप्रतिकुद्धा- 15 दिक्रमेणाऽवलिका यथा दसासु [अ० ८ सू० २१०] तथव द्रष्टव्या, न तयेहाधिकारः, महागिर्यावलिकयेहाधिकारः । तत्र महागिरेवहुल-बलिस्सहौ कौशिकसगोत्रौ यमलभ्रातरौ द्वौ प्रधानशिष्यौ वभूवतुः । तयोरपि बलिस्सहः प्रावचनीय आसीत्, अत आह—ततः कौशिकगोत्रं बहुलस्य सदृशव्यसं यमलत्वात्, वन्द इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

हारियगोतं साईं च वंदिमो हारियं च सामज्जं ।
वंदे कोसियगोतं संदिलुं अज्जजीयधरं ॥ २६ ॥

हारिय० गाहा । व्याख्या—बलिस्सहशिष्यं हारीतसगोत्रं स्वातिं च वन्दे । तथा स्वातिशिष्यं ‘हारीतं च’ हारीत-सगोत्रमेव स्थामार्यम् । [इयामार्य]शिष्यं च वन्दे कौशिकसगोत्रं शाण्डिल्यम् । किम्भूतम्? आर्यजीतधरं आराद् यतं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्थम्, जीतमिति-सूत्रम्, जीतं मर्यादा व्यवस्था स्थितिः कल्य इति पर्यायाः, मर्यादादिकारणं च सूत्रमिति भावनीयम्, धारयतीति धरः, आर्यजीतस्यः धरः आर्यजीतधरः तम् । अन्ये तु व्याचक्षते—किल शाण्डिल्यस्य शिष्यः आर्यसगोत्रो जीतधरनामा स्फुरिसासीदिति गाथार्थः ॥ २६ ॥

तिसमुद्खायकिति दीव-समुद्देसु गहियपेयालं ।
वंदे अज्जसमुहं अकुखुभियसमुदगंभीरं ॥ २७ ॥

तिसमुह० गाहा । व्याख्या—शाण्डिल्यशिष्यं वन्दे, आर्यसमुदमिति क्रिया । किम्भूतम्? ‘त्रिसमुद्रख्यात-कीति’ पूर्व-दक्षिण-उपराख्यः समुद्राः उत्तरस्तु हिमवान् वैताढ्यो वेति, अत्रान्तरे प्रथितकीर्तिमित्यर्थः । ‘द्वीप-

समुद्रेषु गृहीतप्रमाणं' अतिशयेन द्वीपसागरप्रज्ञित्विज्ञायकमिति भावः । अक्षुभितसमुद्रवद् गम्भीरो अक्षुभितसमुद्र-गम्भीरः अतस्तमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

भणगं करगं ज्ञासगं पभावगं णाण-दंसणगुणाणं ।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपासगं धीरं ॥ २८ ॥

५ भणगं० गाहा । व्याख्या—आर्यसमुद्रशिष्यं वन्दे आर्यमङ्गुमिति योगः । किम्भूतम् ?—‘भणकं’ कालिकादि-सूत्रार्थं भणतीति भणः, स एव प्राकृतशैल्या भणकस्तम् । ‘कारकं’ कालिकादिसूत्रोक्तमेवोपधिप्रत्युपेक्षणादिक्रियाकलापं करोतीति कारकस्तम् । ‘ध्यातारं’ धर्मध्यानं ध्यायतीति ध्याता तम् । इहौघतः कारकमित्युक्ते प्रधानस्य-लोकाङ्गताख्यापनार्थं ध्यानस्य ध्यातारमिति विशेषाभिधानम् । यत इत्थम्भूतोऽत आह-प्रभावकं ‘ज्ञान-दर्शन-गुणानां’ यथावस्थितपदार्थीवबोधादीनाम्, एकग्रहणात् तज्जातीयग्रहणात् चरणपरिग्रहः । श्रुतसागरपासगं धीर-
10 मिति गाथार्थः ॥ २८ ॥

णाणमिमि दंसणमिमि य तव विणए णिच्चकालमुज्जुतं ।
अज्जाणंदिलखमणं सिरसा वंदे पसण्णमणं ॥ २९ ॥

णाणमिमि० गाहा । व्याख्या— आर्यमङ्गुशिष्यं आर्यनन्दिलक्षणं शिरसा वन्दे प्रसन्नमनस्तम् । किम्भूतम् ?—ज्ञाने दर्शने च तपसि विनये च, अनेन चरणमाह । नित्यकालं ‘उद्युक्तं’ अपमादिनमिति गाथार्थः ॥ २९ ॥

१५ वङ्गदृष्ट वायगवंसो जसवंसो अज्जाणागहत्थीणं ।
वागरण-करण-भंगिय-कम्मप्पयडीपहाणाणं ॥ ३० ॥

वङ्गदृष्ट० गाहा । व्याख्या—‘वङ्गदृष्टां’ वृद्धिमुपयातु । कोऽसौ ? ‘वाचकवंशः’ तत्र विनेयेभ्यः पूर्वगतं सूत्र-मन्यच वाचयन्तीति वाचकाः तेषां वंशः-भाविष्युरुपर्वप्रवाहः । किम्भूतः ? यशोवंशः, अनेन विषक्षव्यवच्छेदमाह । तथाहि-अलमयशःप्रधानस्य संसारहेतोः परममुनिविधृतलिङ्गविडम्बकस्य वृद्धयेति । केषां सम्बन्धिसम्भूतः ? आर्य-
20 नन्दिलक्षणशिष्याणां आर्यनागहस्तिनाम् । किम्भूतनाम् ? ‘व्याकरण-करण-भङ्गिक-कर्मप्रकृतिप्रधानानां’ तत्र व्या-करणं-प्रश्नव्याकरणं शब्दग्राह्यतं वा, करणं-पिण्डविशुद्धयादि, उक्तं च—

पिण्डविसोहो ४ समिती ५ भावण १२ पडिमा १२ य इंदियणिरोहो ५ ।

पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३ अभिग्रहा ४ चेत्र करणं तु ॥ १ ॥ [ओघनि. गा. ३]

भङ्गिकाः—चतुर्भङ्गिकाद्यास्तच्छ्रुतं वा, कर्मप्रकृतिः प्रतीता; एतेषु प्रखणामधिकृत्य प्रधानानामिति
25 गाथार्थः ॥ ३० ॥

जच्चंजणधाउसमप्पहाण मुहीय-कुचलयनिहाणं ।
वङ्गदृष्ट वायगवंसो रेवङ्गक्षतणामाणं ॥ ३१ ॥

जच्चंजणधाउसमप्पहाण० गाहा । व्याख्या— जात्यश्वासावङ्गनधातुश्चेति समासः, तत्समा प्रभा-देहच्छाया येषां ते तथाविधास्तेषाम् । मा भूदत्यन्तकृष्णसम्पत्ययस्तत आह—‘मुद्रिका-कुचलयनिभानां’ पक्षसरसद्राक्षा-नीलोत्पल-

निभानामित्यर्थः । रत्नविशेषः कुबलयमित्यन्ये, तथाऽप्यविरोधः । वर्जतां वाचकवंशः । केषाम् ? आर्यनागहस्ति-शिष्याणां 'रेवतिनक्षत्रनाम्नां' रेवतिवाचकानामिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

अयलपुरा णिकखंते कालियसुयआणुओगिए धीरे ।
बंभदीवग सीहे वायगपयमुतमं पते ॥ ३२ ॥

अयलपुरा० गाहा । व्याख्या-अचलपुराद् निष्कान्तान् । कालिकश्रुतानुयोगेन नियुक्ताः कालिकश्रुतानु- ५
योगिकास्तान्, यद्वा कालिकश्रुतानुयोग एषां विद्यत इति समासस्तान् कालिकश्रुतानुयोगिनः । 'धीरान्' स्थि-
रान् । 'ब्रह्मदीपिकान् सिद्धान्' ब्रह्मदीपिकाशाखोपलक्षितान् सिद्धाचार्यनि रेवतिवाचकशिष्यान् । वाचकपदं तत्कालापेक्षया
'उत्तमं' प्रधानं प्राप्तानिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

जेसि इमो अणुओगो पयरइ अज्जा वि अङ्गभरहमि ।
बहुनगरनिग्यजसे ते वंदे खंदिलायरिए ॥ ३३ ॥

- जेसि० गाथा । व्याख्या-येषामयमनुयोगः प्रचरति अद्याप्यर्द्धभरते वैताढचादारतः । बहुनगरेषु निर्गतं-
प्रसिद्धं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गतयशसः तान् वन्दे सिद्धाचकशिष्यान् स्कन्दिलाचार्यान् ।

कहं पुण तेसिं अणुओगो ?, उच्यते, बारससंबच्छरिए महन्ते दुष्प्रभक्खे काले भस्त्राः
फिडियाणं गहण-गुणण-उण्प्येहाऽभावतो सुन्ते विष्पणद्वे पुणो सुभिक्खे काले जाते महुराए महन्ते
समुदए खंदिलायरियप्पमुहसंघेण 'जो जं संभरइ' त्ति एवं संघडितं कालियमुयं । जम्हा एयं महुराते 15
कयं तम्हा माहुरा वायणा भन्नति । सा य खंदिलायरियसम्पत त्ति काउं तस्संतिओ अणुओगो भण्णति ।

अन्ने भण्णति जहा— सुयं पो णद्वं, तम्मि दुष्प्रभक्खकाले जे अन्ने पहाणा अणुओगधरा ते
विणद्वा । एगे खंदिलायरिए संघरे । तेण महुराए पुणो अणुओगो पवत्तिओ त्ति माहुरा वायणा भन्नइ ।
तस्संतिओ य अणुओगो भण्णइ त्ति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

ततो हिमवंतमहंतविक्रमं धीपरकममणंतं ।

सज्जायमणंतधरं हिमवंतं वंदिमो सिरसा ॥ ३४ ॥

तत्तो० गाहा । व्याख्या- ततः स्कन्दिलाचार्यशिष्यं हिमवन्तं वन्दे शिरसेति क्रिया । किम्भूतम् ? 'हिमवन्महा-
विक्रमं' हिमवत इव महाविक्रमः-विहारव्याप्त्यादिलक्षणो यस्य स तथाविष्पत्यम् । "धीपरकममणंतं" ति अन-
न्तशृतिपराक्रमम्, प्राकृतशैलयो तु अन्यथोपन्यासः, अनन्तः धृतिप्रधानः पराक्रमः-कर्मशत्रुजयो यस्य स तथा- 25
विष्पत्यम् । "सज्जायमणंतधरं" ति 'अनन्तस्वाध्यायधरं' धरतीति धरः, अनन्तगम-पर्यायत्वादमन्तं-सूत्रम्, तद्वि-
षयः स्वाध्यायस्तस्य धर इति समाप्तः तमिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

कालियसुयअणुओगस्स धारए धारए य पुव्वाणं ।

हिमवंतखमासणे वंदे णागज्जुणायरिए ॥ ३५ ॥

कालिय० गाहा । व्याख्या- कालिकश्रुतानुयोगस्य धारकान् । धारकांश्च 'पूर्वाणां' उत्पादादीनाम् । हिम- 30
वक्षमाश्रमणान् वन्दे । तथैतच्छिष्यानेव वन्दे नागार्जुनाचार्यानिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ किम्भूतान् ?—

मिउ-मदवसंपणे अणुपुर्विव वायगत्तणं पते ।
ओहसुयसमायरए णागज्जुणवायए वंदे ॥ ३६ ॥

मिउ० गाहा । व्याख्या - मृदु-मार्दवसम्पन्नान्, उपलक्षणलान्मृदुतस्य कान् [सम्पन्नान्] ? क्षमा-मार्दवा-५५-
र्जव-सन्तोषसम्पन्नानित्यर्थः । ‘आनुपूर्वा’ वयः-पर्यायकालगोचरया वाचकवं प्राप्तान् ।

५ ऐदंयुगीनानामपि सामाचारीप्रदर्शनपरमेतत्, न चापुष्टं द्वितीयषदमाश्रित्यैदंयुगीनाना-
मपि युज्यते कालोचितानुपूर्वीं विहाय कच्चिदप्याचार्यत्वाद्यारोपणम्, महापुरुषाणां गौतमादीनामा-
शातनाप्रसङ्गात्, कृतं प्रसङ्गेन, संसार एव दण्डो भगवदाज्ञावितथकारिणामिति ।

‘ओघश्रुतसमाचरकान्’ ओघश्रुतं-उत्सर्गश्रुतं तत् समाचरन्ति ये ते तथाविधास्तान् नागार्जुनवाचकान्
वन्दे इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

१० वरकणगतविय-चंपयविमउलवरकमलगब्भसरिणे ।
भवियजणहिययदइए दयागुणविसारए धीरे ॥ ३७ ॥
अदृढभरहप्पहाणे बहुविहसज्ज्ञायसुमुणियपहाणे ।
अणुओइयवरवसहे णाइलकुलवंसणंदिकरे ॥ ३८ ॥
भूअहिययप्पगब्भे वंदे हं भूयदिण्णमायरिए ।
१५ भवभयवोच्छेयकरे सीसे णागज्जुणरिसीणं ॥ ३९ ॥ [विसेसयं]

वरकणग० गाहा । अडू० गाहा । भूअहियय० गाहा । व्याख्या-इदं गाथात्रयमपि प्रायो निगदसि-
द्धयेव । नवरम्-‘भव्यजनहृदयदियतान्’ भव्यजनहृदयबलभान् ॥ तथा सुविज्ञातबहुविधस्याव्यायप्रधानान्,
बहुविध आचारादिभेदात् स्वाध्यायः । अनुयोजिता यथोचिते वैयाहृत्यादौ वरवृषभाः-सुसाधवो यैस्तान् । नागेन्द्र-
कुलवंशनन्दिकरानिति, प्रमोदकरानित्यर्थः ॥ २० ‘भूतहितप्रगल्भान्’ अनेकधा सञ्चहितनिपुणानिति भावः ।
वन्देऽहं भूतदिनाचार्यानिति, अत्रानुस्वारोऽलाक्षणिकः । ‘भवभयव्यवच्छेदकरान्’ इति सदुपदेशादिना संसार-
भयव्यवच्छेदकरणशीलान् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

सुमुणियणिज्ञा-ऽणिच्चं सुमुणियसुत्त-उत्थधारयं णिच्चं ।
वंदे हं लोहिच्चं सब्भावुभावणातच्चं ॥ ४० ॥

सुमुणिय० गाहा । व्याख्या-भूतदिनाचार्यशिष्यं “वंदे हं लोहिच्चं” इति क्रिया । किम्भूतम् ? सुष्ठु विज्ञातं
२५ नित्या-उनित्यं येन स तथाविधस्तम् । किं विज्ञातम् ?, विशेषणान्यथाऽनुपत्तेः वस्तु इति गम्यते, यथा ‘सवत्सा
धेनुः’ इत्युक्ते गौः, वडवाया विशेषणायोगादिति । तच्च वस्तु सचेतना-उचेतनम् । तत्र सचेतनमात्मा, चेतनला-
घपेक्षया नित्यः, नारक-तिर्यङ्ग-नरा-उमरपर्यायापेक्षया चानित्यः । एवमचेतनमध्यव्यादि विज्ञातव्यम्, तथाहि-
परमाणुरजीवल-भूर्चत्वादिभिर्नित्यः, वर्णादिभिर्दर्चणुकादिभिस्त्वनित्य इति । उक्तं च—

र्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यतमथ च न विशेषः । सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥ १ ॥

अत्र वहु वक्तव्यम्, तच्च नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयात्, गमनिकाभावप्रधानोऽयमारम्भ इति । अनेन न्याय-वेदित्वमाह । ‘सुविज्ञातसूत्रा-ऽर्थधारकम्’ इत्यनेन त्वोघत एव स्वभ्यस्तसूत्रा-ऽर्थधारकमिति । ‘सद्गावोद्गावनातथ्यम्’ इत्यनेन सम्यक्प्ररूपकत्वमाहेति गाथार्थः ॥ ४० ॥

अत्थ-महत्थक्खाणी सुसमणवक्खाणकहणणेवाणी ।
पयतीए महुखाणी पयओ पणमामि दूसगणी ॥ ४१ ॥

अतथमहत्थक्खाणी० गाहा । व्याख्या-लोहित्यशिष्यं ‘प्रयतः’ सन् अनुत्सृष्टप्रयत्नपरः सन्नित्यर्थः; प्रणमामि दुष्यगणिनमिति क्रिया । किम्भूतम्? ‘अर्थ-महार्थखानिं’ खानिरिव खानिः, अर्थ-महार्थानां खानिः अर्थ-महार्थखानिः तम् । तत्र भाषाभिवेया अर्थाः, विभाषा-वार्तिकगोचरा महार्था इति । सुश्रमणव्याख्यानकथने निर्वृतिर्यस्य स तथाविधस्तम् । तत्र व्याख्यानं-प्रतीतम्, कथनं-संशये सति विनेयप्रश्नोत्तरकालभावि व्याकरणम्, अथवा व्याख्यानम्-अनुयोगः, कथनं-ओघतो धर्मस्य, धर्मकथेत्यर्थः । ‘प्रकृत्या’ स्वभावेन ‘मधुरवाचं’ १० मधुरगिरमिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

सुकुमाल-कोमलतले तेसि पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पादे पावयणीणं पाडिच्छगसएहि पणिवइए ॥ ४२ ॥

सुकुमालकोमल० गाहा । निगदसिद्धा ॥ ४२ ॥ एवमावलिकाक्रमेण महाशुरुखाणां स्तवमभिधाय साम्प्रतं सामान्यैव श्रुतधरनमस्कारं प्रतिपिपादयिषुराह —

जे अणे भगवंते कालियसुयआणुओगिए धीरे ।
ते पणमिऊण सिरसा णाणस्स परूपणं वोच्छं ॥ ४३ ॥
॥ थेरावलिया सम्मता ॥

जे अन्ने भगवंते० गाहा । व्याख्या-‘ये चान्ये’ अतीता भाविनश्च ‘भगवन्तः’ श्रुतरत्नोपपेतत्वात् समग्रैश्वर्यादिमन्त इत्यर्थः । कालिकश्रुतानुयोगिनः ‘धीराः’ सत्त्ववन्तस्तान् प्रणम्य ‘शिरसा’ उत्तमाङ्गेन ‘ज्ञानस्य’ २० आभिनिवोधिकादेः प्ररूपणं वक्ष्ये । क एवमाह? दूष्यगणिशिष्यो देववाचक इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

इदं च पञ्चप्रकारं ज्ञानम्, एतत्प्रतिपादकं चाध्ययनं योग्येभ्य एव विनेयेभ्यो दीयते, नायोग्येभ्य इत्यतो योग्या-ऽयोग्यविभागोपदर्शनार्थमेव तावदिदमाह —

[सुन्तं ७]

सेलघण १ कुडग २ चालणि ३ परिपूणग ४ हंस ५ महिस ६ मेसे ७ य ।

मसग ८ जल्दग ९ बिराली १० जाहग ११ गो १२ भेरि १३ आभीरी ॥ ४४ ॥

सा समासओ तिविहा पण्णता, तं जहा-जाणिया १ अजाणिया २ दुवियड्ढा ३ ।

७. सेलघण० गाहा । व्याख्या-आह-शुभाध्ययनप्रदानाधिकारे समभाव्यवस्थितानां सर्वसत्त्वहितायो-धतानां महाशुरुखाणामलं योग्या-ऽयोग्यविभागनिरीक्षणेन, न हि परहितार्थमिह महादानोद्यता महीया-

सोऽर्थिगुणमपेक्ष्य प्रदानक्रियायां प्रवर्त्तनते दयालव इति, अत्रोच्यते, ननु यत एव शुभाव्ययनप्रदानाधिकारे
समभावव्यवस्थिताः सर्वसन्चहितायोधता महापुरुषाश्च गुरवः अत एव योग्या-अयोग्यविभागोपदर्शनं न्यायम्,
मा भूदयोग्यप्रदाने तत्सम्यग्नियोगाक्षमार्थिजनानर्थ इति, “न खलु तत्त्वतोऽनुचितप्रदानेनाऽप्यासहेतुनाऽ-
विवेकिनमर्थिजनमनुयोजयन्तोऽप्यनवगतपरार्थसम्पादनोपाया भवन्ति दयालवः” इत्यवधूय मिथ्या-
५ भिमानमालोच्यतामेतदिति । आह—क इवायोग्यप्रदाने दोषः ? इति, उच्यते, स हचिन्त्यविन्तामणिकल्पमनेकभ-
वशतसहस्रोपात्तानिष्टुष्टाष्टकर्मराशिजनितदौर्गत्यविच्छेदकमणीदमयोग्यत्वादवाप्य न विधिवदासेवते, लाघवं चास्य
समापादयति, ततो विधिसमासेवकः कल्याणमिव महदकल्याणमासादयति । उक्तं च —

आमे घडे निहितं जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धंतरहस्यं अप्याहारं विणासेइ ॥ १ ॥

[] इत्यादि ।

- १० अतोऽयोग्यदाने दातुकृतमेव वस्तुतस्तस्य तदकल्याणमित्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः-तत्राधिकृतगाथां
प्रपञ्चत आकृत्यकानुयोगे व्याख्यास्यामः । इह पुनः स्थानाशून्यार्थं भाष्यगाथाभिर्व्याख्यायत इति —
‘उल्लेखण न सको’ गज्जइ इय मुग्गसेलओ रन्ने । तं संवृग्मेहो सोउं तस्सोवरि पटइ ॥ १ ॥
‘रविओ’ चि ठिओ मेहो ‘उल्लो मि ? ण व ?’ चि गज्जइ य सेलो । ‘सेलसमं गाहेस्स’ निविज्जइ गाहगो एवं ॥ २ ॥
आयरिए सुत्तम्मि य परिवाओ, सुत्त-अत्थपलिमंथो । अन्नेसिं पि य हाणी, पुडा वि न दुद्या बंझा ॥ ३ ॥
१५ बुडे वि दोणमेहे ण कण्ठभोमाउ लोइए उदगं । गहण-धरणासमत्ये इय देयमछिचिकारिम्मि ॥ ४ ॥
भाविय इयरे य कुडा, अपसत्थ-पसत्थभाविया दुविहा । पुष्काईहि पसत्था, सुर-तेल्लाईहि अपसत्था ॥ ५ ॥
वम्मा य अवम्मा वि य, पसत्थ वम्मा य होति अगेज्जा । अपसत्थ अवम्मा वि य, तप्पडिवकखा भवे गेज्जा ॥ ६ ॥
कुप्पवयण-ओसन्नेहि भाविया एवमेव भावकुडा । संविग्गेहि पसत्था वम्माऽवम्मा य तह चेव ॥ ७ ॥
जे पुण अभाविया खलु ते चतुधा, अधविमो गमो अन्नो । छिद्दुकुड भिन्न खंडे सगले य परुवणा तेसि ॥ ८ ॥
२० सेले य छिह्न चालिणि मिहो कहा सोउमुडियाण तु । छिह्नाऽह ‘तत्थ विट्ठो सुमरिसु, सरामि जेदाणि’ ॥ ९ ॥
‘एगेण विसइ वीषण णीइ कणेण’ चालणी आह । ‘धन्न त्थ’ आह सेलो ‘जं पविसति नीति वा तुज्ज्ञ’ ॥ १० ॥
तावसखउरकडिणयं चालणिपडिवकिख ण सवइ दवं पि । परिपूणगम्मि य गुणा गलंति, दोसा य चिर्दंति ॥ ११ ॥
सब्बन्नुप्पामन्ना दोसा हु न संति जिणमते केई । जं अणुवउत्तकहण, अपत्तमासज्ज व हवेज्जा ॥ १२ ॥
अंवत्तणेण जीहाए कूचिया होइ खीरमुदगम्मि । हंसो मोत्तूण जलं आवियइ पयं, तह सुसीसो ॥ १३ ॥
२५ सयमवि न पियइ महिसो, ण य जूहं पियइ लोलियं उदगं । विग्गह-विकहाहि तहा अथकपुञ्जाहि य कुसीसो ॥ १४ ॥
अवि गोपयम्मि वि पिए सुदिओ तणुयन्नेण तोडस्स । न करेइ कलुसतोयं मेसो, एवं सुसीसो वि ॥ १५ ॥
मसउव्व तुदं जच्चादिएहि निच्छुब्भए कुसीसो उ । जलुगा व अदूमितो पियइ सुसीसो वि सुयणाणं ॥ १६ ॥
छहेउं भूमीए खीरं जह पियइ दुटुमज्जारी । परिसुट्टियाण पासे सिक्खइ एवं विणयमंसी ॥ १७ ॥
पाउं थोवं थोवं खीरं पासाइं जाहओ लिहइ । एमेव जियं काउं पुच्छइ मझमं, न खिज्जै ॥ १८ ॥
३० अणो दोज्जिहि कलं, णिरत्थयं किं वहामि से चारिं ? । चउचरणगवी उ मता, अवन्न हाणी य बडुगाणं ॥ १९ ॥

मा मे होज्ज अश्णो, गोवज्जा, मा पुणो व न दलिज्जा । वयमवि दोज्जामो पुणो, अणुग्रहो अष्टदृढे वि ॥ २० ॥
 सीसा पडिच्छगाणं भरो चि, ते वि य हु सीसगभरो चि । ण करेति सुच्छहाणो, अष्टथ वि दुलभं तेसि ॥ २१ ॥
 कोगुदिया १ संगामिय २ उब्भूतियगा ३ उ तिन्धि भेरीओ । कण्ठसाऽऽसी उ तया, असिवोवसमी चउत्थीउ ॥ २२ ॥
 सक्षपसंसा, गुणगाहि केसवा, णेमिवंद, सुणदंता । आसरयणस्स हरणं, कुमारभंगे य, पुयजुज्जं ॥ २३ ॥
 णेहि जिओ मि ति अहं, असिवोवसमीइ संपयाणं च । छम्मासियघोसणया पसमइ, ण य जायए अणो ॥ २४ ॥ ५
 आगंतु वाधिखोभे, महिङ्गहि मोह्लेण, कंथ, दंडणता । अडम आराहण, अन्न भेरि, अन्नस्स ठवणं च ॥ २५ ॥
 मुक्कं तया अगहिते, दुषरिमाहियं कयं तया, कलहो । पिष्टण, अझिर, त्रिकिय गतेसु चोरा य, ऊणग्वं ॥ २६ ॥
 मा णिण्हव इय दातुं, उवजुंजिय देहि, किं विचिंतेसि ? । विचामेलियदाणे किलम्मसी तं, चडहं चेव ॥ २७ ॥
 भणिया जोग्गा-उजोग्गा सीसा गुरवो य, तत्थ दोण्हं पि । वेयालियगुण-दोसो, जोगो जोगस्स भासेज्जा ॥ २८ ॥

[विशेषा. गा. १४५५-८२, कल्पभा. गा. ३३५-६१] १०

एवं तावद् विभागतो योग्या-उयोग्यविनेयविभागोपदर्शनं कूल्वा साम्प्रतं सामान्येन पर्षदं प्रलृपयन्नाह—

सा समासओ तिविहा पञ्चत्तेत्यादि स्फुत्रम् । अस्य व्याख्या—‘सा’ पर्षत् ‘समासतः’ संक्षेपेण ‘त्रिविधा’ त्रिप्रकारा ‘प्रज्ञप्ता’ प्रलृपिता । कैः ? तीर्थकरणधरैरिति गम्यते । ‘तद्यथा’ इत्युदाहरणोपन्यासार्थः । ‘ज्ञिका’ इति, अत्र “ज्ञा अवबोधने” इत्यस्य “इगुपथज्ञाप्रीकिरः कः” [पा. ३. १. १३५] इति कप्रत्ययः, “आतो लोप इटि च किङ्गति” [पा. ६. ४. ६४] इत्याकारलोपः; परगमनम्, टाप्, जानार्ताति ज्ञा, कप्रत्ययः, “प्रत्ययस्थात् १५ कात् पूर्वस्थात् इदाप्यसुपः” [पा. ७. ३. ४४] इति इत्यम्, ‘ज्ञिका’ परिज्ञानवती । न ज्ञिका ‘अज्ञिका’ तद्विलक्षणा । ‘दुर्विद्धा’ मिथ्यावलेपगर्भा । तत्थिमा जाणिया —

गुण-दोसविसेसण्ण, अणभिग्नाहिया य कुस्तुति-मण्डु । एसा जाणगपरिसा, गुणतत्त्वां अगुणवज्जा ॥ १ ॥

[कल्पभा. गा. ३६५]

इमा तु अयाणिया —

20

पगतीमुद्ध अयाणिय, मिगछावय-सीह-कुकुडयभूया । रयणमिव असंठविया, सुहसन्नप्पा गुणसमिदा ॥ २ ॥

[कल्पभा. गा. ३६७]

इमा पुण दुवियडिड्या —

किंचिम्मत्तग्नाही १ पलुवग्नाही २ य तुरियग्नाही ३ य । दुवियडिड्या उ एसा भणिया तिविहा भवे परिसा ॥ ३ ॥

[कल्पभा. गा. ३६९] २५

साम्प्रतमिष्टदेवतास्तवादिसम्यादितसकलसौविहित्यो देववाचकोऽधिकृताध्ययनविषयभूतस्य ज्ञानस्य प्रलृपणां
 कुर्वन्निदभाव —

c. णाणं पंचविहं पण्णसं, तं जहा-आमिणिओहियणाणं १ सुयणाणं २ ओहिणाणं ३
 मणपञ्जवणाणं ४ केवलणाणं ५ ।

३०३

८. णाणं पञ्चविहं पण्णन्तं इत्यादि सूत्रम् । अस्य व्याख्या-ज्ञातिः ज्ञानम्, “कृत्यल्पुटो बहुलम्” [पा. ३. ३. ११३] इतिवचनाद् भावसाधनः, संविदित्यर्थः । ज्ञायते वाऽनेनेति ज्ञानम्, तदावरणक्षयोपशमादेव । ज्ञायतेऽस्मिन्निति क्षयोपशमे सति ज्ञानम् । आत्मैव विशिष्टक्षयोपशमयुक्तः जानातीति वा ज्ञानं तदेव, स्वविषयसंवेदनरूपत्वात् तस्य । ‘पञ्चविध’ मित्यत्र पञ्चेति सहचावाचकः, विधानं विधेति, अत्र “हुधाव् धारण-पोषणयोः” [पा. धातु. १०९२] इत्यस्यानुबन्धलोपे कृते विपूर्वस्य स्थियां वर्तमानायां “षिद्धिदादिभ्योऽङ्गः” [पा. ३. ३. १०४] इति वर्तमाने “आतशोपसर्गे” [पा. ३. १. १३६] इत्यनेन चाकारलोपे कृते परगमने च “अजायदष्टाप्” [पा. ४. १. ४] इति टाप् प्रत्ययः, अनुबन्धलोपः, परगमनं विधा, पञ्च विधा अस्येति समाप्तः “हस्तो नपुंसके प्रातिपदिकस्य” [पा. १. २. ४७] इति वर्तमाने “गोस्थियोरूपसर्जनस्य” [पा. १. २. ४८] इत्यनेन हस्तत्वम्, सुभम् भावः ‘पञ्चविध’ पञ्च-प्रकारमिति, एतदेवमनवद्यम्, कुच्छार्व्याव्यपोहार्थं चैतदेवं निर्दर्शितमित्यलं प्रसङ्गेन । ‘प्रज्ञाप्तं’ प्रलृपितम् । कैः?—
अर्थतस्तीर्थकरैः सूत्रतो गणधरैरिति । उक्तं च—

अत्थं भासइ अरहा, सुन्तं गंथंति गणहरा णिउणं । सासणस्स हियद्वाए तओ सुन्तं पवत्तइ ॥१॥

[आव. नि. गा. ९२] इति ।

अनेन स्वमनीषिकाव्यपोहमाह । अथवा ‘प्राज्ञाप्तं’ प्राज्ञात्-तीर्थकरादासमिति-प्राप्तं गौतमादिभिः । अथवा १५ प्राज्ञैराप्तं प्राज्ञाप्तं गौतमादिभिः । प्रज्ञया वाऽसं प्रज्ञाद्वाऽसं प्रज्ञासम्, सर्वैरेव संसारिभिरिति । तथाहि-न प्रज्ञाविकलैरिदमवाप्यत इति भावनीयम् । ‘तद्यथा’ इति उदाहरणोपन्यासार्थः । आभिनिवोधिकज्ञानं १ श्रुतज्ञानं २ अवधिज्ञानं ३ मनःपर्यायज्ञानं ४ केवलज्ञानं ५ चेति ।

तत्राऽर्थाभिषुंखो नियतो बोधोऽभिनिवोधः, स एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादानादाभिनिवोधिकम् । अभिनिवोधे वा भवं तेन वा निर्वृतं तन्मयं तत्प्रयोजनं वेत्याभिनिवोधिकम् । अभिनिवुध्यते वा तदित्याभिनिवोधिकं-अत्रग्रहादि-२० रूपं मतिज्ञानमेव, तस्य स्वसंविदितरूपत्वाद् अभेदोपचारादित्यर्थः । अभिनिवुध्यते [वा]ऽनेनेत्याभिनिवोधिकम्, तदावरणकर्मक्षयोपशम एव । अभिनिवुध्यते�स्मिन्निति वा क्षयोपशमे सति आभिनिवोधिकम् । आत्मैव वा अभिनिवोधोपयोगपरिणामानन्यता-दभिनिवुध्यत इत्याभिनिवोधिकम् । आभिनिवोधिकं च तज्ज्ञानं चाभिनिवोधिकज्ञानम् १ ।

तथा श्रूयते इति श्रुतं-शब्द एव, भावश्रुतकारणत्वात्, कारणे कार्योपिचारादिति भावार्थः । श्रूयते वा २५ अनेनेति श्रुतम्, तदावरणक्षयोपशम इति हृदयम् । श्रूयतेऽस्मादिति वा श्रुतम्, तदावरणक्षयोपशम एव । श्रूयतेऽस्मिन्निति वा क्षयोपशमे सति श्रुतम् । आत्मैव श्रुतोपयोगपरिणामानन्यत्वाच्छृणोतीति श्रुतम् । श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् २ ।

तथाऽवधीयतेऽनेनेत्यवधिः । अवधीयत इति-अधोऽधो विस्तृतं परिच्छिद्यते मर्यादया वेति अवधिः, अवधि-ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम एव, तदुपयोगहेतुत्वादित्यर्थः । अवधीयतेऽस्मादित्यवधिः, तदावरणकर्मक्षयोपशम एव । ३० अवधीयतेऽस्मिन्निति वेत्यवधिः, भावार्थः पूर्ववदेव । अवधानं वा अवधिः, विषयपरिच्छेदनमित्यर्थः । अवधिश्वासो ज्ञानं च अवधिज्ञानम् ३ ।

तथा मनःपर्यायज्ञानमित्यत्र परि-सर्वतोभावे, अयनं अयः गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अयः पर्ययः,

पर्ययनं पर्यय इत्यर्थः, मनसि मनसो वा पर्ययो मनःपर्ययः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, स एव ज्ञानं मनःपर्यय-ज्ञानम् । अथवा मनसः पर्याया मनःपर्यायाः, [पर्यायाः-] धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनादिप्रकारा इत्यनर्थान्तरम्, तेषु ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, तेषां वा सम्बन्धे ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्, इदं चार्द्धत्रीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोगत-द्रव्यालम्बनमेवेति भावार्थः ४ ।

तथा केवलम्-असहायं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षम् । शुद्धं वा केवलम्, आवरणमल्कलङ्काङ्करहितम् । सकलं वा ५ केवलम्, तत्प्रथमतयैवाशेषतदावरणाभावतः सम्पूर्णेत्पत्तेः । असाधारणं वा केवलम्, अनन्यसद्वशमिति हृदयम् । ज्ञेयानन्तत्वादनन्तं वा केवलम्, यथावस्थिताशेषभूत-भवद्-भाविभावस्वभावभासीति भावना । केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानम् ५ ॥

आह-एषां ज्ञानानामित्यपुन्यासे किं प्रयोजनम् ? इति, उच्यते, इह स्वामि-काल-कारण-विषय-परोक्षत्व-साधम्यात् तद्भावे च शेषज्ञानभावादादावेव मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोरूपन्यास इति । तथाहि-य एव मतिज्ञानस्य स्वामी १० स एव श्रुतज्ञानस्य, “जत्थ मतिषाणं तथ सुयणाणं” [सुच्च ४४] इति वचनात् । तथा यावान् मतिज्ञानस्य स्थिति-कालस्तावानेवेतरस्य, प्रवाहापेक्षया अतीता-उनागत-वर्तमानः सर्व एव, अप्रतिपत्तैकजीवापेक्षया च षट्खण्डिसाग-रोपमाण्यधिकानीति । उक्तं च भाष्यकारेण—

दो वारे विजयाइसु गयस्स, तिन्नउच्चुते अहव ताइ । अइरेगं नरभवियं, ज्ञाणाजीवाण सव्वदं ॥१॥

[विशेषा. गा. ४३६] १५

यथा मतिज्ञानं क्षयोपशमहेतुकं तथा श्रुतज्ञानमपि । यथा च मतिज्ञानमादेशतः सर्वद्रव्यादिविषयमेवं श्रुतज्ञानमपि । यथा मतिज्ञानं परोक्षं एवं श्रुतज्ञानमपीति । तथा मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोरेव अवध्यादिज्ञानभावादिति । आह-एवमपि मतिज्ञानमादौ किमर्थम् ? इति, उच्यते, मतिपूर्वकत्वाद् विशिष्टमत्यंशरूपत्वाङ्गा श्रुतस्याऽदौ मति-ज्ञानमिति । उक्तं च—

मतिपुर्वं जेण सुयं तेणाऽदीए मती, विसिङ्गो वा । मतिभेदो चेव सुयं, तो मतिसमण्ठरं भणियं ॥१॥ २०

[विशेषा. गा. ८६]

इति पर्यामं विस्तरेण ।

तथा काल-विषय-स्वामि-लाभसाधम्यान्मति-श्रुतज्ञानानन्तरमवधिज्ञानस्योपन्यासः । तथाहि-यावानेव मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोः स्थितिकालः प्रवाहापेक्षयाऽप्रतिपत्तैकसत्त्वाभारापेक्षया च तावानेवावधिज्ञानस्यापि अतः स्थितिसाधम्यम् । तथा यथैव मतिज्ञान-श्रुतज्ञाने विषयज्ञाने भवत एवमिदं मिथ्यादेष्विभज्ञानं भवतीति विष- २५ यसाधम्यम् । तथा य एव मतिज्ञान-श्रुतज्ञानयोः स्वामी स एवावधिज्ञानस्यापि भवतीति स्वामिसाधम्यम् । तथा विभज्ञानिनस्तिदशादेः सम्यग्दर्शनावाप्तौ युग्मदेव ज्ञानत्रयलाभसम्भवालाभसाधम्यम् ।

तथा छञ्चस्थ-विषय-भावा-उद्यक्षसाधम्यादवधिज्ञानानन्तरं मनःपर्यायज्ञानस्योपन्यासः । तथाहि-यथा-उवधिज्ञानं छञ्चस्थस्य भवति एवं मनःपर्यायज्ञानमपि छञ्चस्थस्यैवेति छञ्चस्थसाधम्यम् । तथा यथाउवधिज्ञानं रूपिद्रव्यविषयमेवं मनःपर्यायज्ञानमपि सामान्येनेति विषयसाधम्यम् । तथा यथाउवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे तथा ३० मनःपर्यायज्ञानमपीति भावसाधम्यम् । तथा यथाउवधिज्ञानं प्रत्यक्षमेवं मनःपर्यायज्ञानमपीत्यव्यक्षसाधम्यम् ।

तथा मनःपर्यायज्ञानानन्तरं केवलज्ञानस्योपन्यासः, तस्य सकलज्ञानोत्तमत्वात् । तथाऽप्रमत्तयतिस्वामिसा-

धर्म्यात्, तथाहि—यथा मनःपर्यायज्ञानमप्यमत्त्यतेरेव भवति एवं केवलज्ञानमप्यप्रमत्तभावयतेरेवेति साधर्म्यम् । तथाऽवसानलाभाच्च, यो हि सर्वज्ञानानि समाप्तादयति स खल्वन्त एवेदमाप्नोतीति भावना । विषययाभावसाधर्म्याच्च, तथाहि—यथा मनःपर्यायज्ञानं विपर्ययज्ञानं न भवति एवं केवलज्ञानमपीति साधर्म्यम् । अलं विस्तरेणोति सूत्रार्थः ॥

९. तं समाप्तो दुविहं पण्णतं, तं जहा—पञ्चकर्त्रं च परोक्तं च ।

९. तं समाप्तो दुविहं पन्नतमित्यादि सूत्रम् । अस्य व्याख्या—‘तत्’ पञ्चप्रकारं ज्ञानं ‘समाप्ततः’ सङ्क्षेपेण ‘द्विविधम्’ इति द्वे विद्वे अस्येति ‘द्विविधं’ द्विप्रकारं ‘प्रज्ञसं’ प्रलिपितम् । ‘तद्यथा’ इति उदाहरणोपन्यासार्थम् । प्रत्यक्षं च परोक्षं च । तत्र प्रत्यक्षमित्यत्र जीवोऽक्षः । कथम्? “अशु व्योम्सौ” [पा. धातु. १२६५] इत्यस्य ज्ञानात्मनाऽशुतेऽर्थानित्यक्षः, व्याप्नोतीत्यर्थः, “अश भोजने” [पा. धातु. १५२४] इत्यस्य वाऽश्वाति १० सर्वार्थानिति अक्षः, पालयति भुद्भक्ते चेत्यर्थः, तमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्, आत्मनोऽपरनिमित्तमत्याधीतीन्द्रियमिति भावार्थः । ‘चशब्दः’ स्वगतानेकभेदप्रदर्शनपरः । विचित्रतां चास्योत्तरत्र वक्ष्यामः । ‘परोक्षं च’ इत्यत्र अक्षस्य—आत्मनः द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च पुद्गलमयत्वात् पराणि वर्तन्ते, पृथगित्यर्थः, तेभ्योऽक्षस्य यद् ज्ञानमुत्पद्यते तत् परोक्षम्, परनिमित्तत्वात्, धूमादग्निज्ञानवत् । अथवा परैः उक्षा—सम्बन्धनं विषय-विषयिभावलक्षणमस्येति परोक्षम् । चशब्दः पूर्ववत् । एवमन्यत्राप्युत्प्रेक्ष्य चशब्दार्थो वक्तव्य इति सूत्रार्थः ॥

१५ एवं भेदद्वये उपन्यस्ते सति अनयोः सम्यक् स्वरूपमनवगच्छाह चोदकः—

१०. से किं तं पञ्चकर्त्रं? पञ्चकर्त्रं दुविहं पण्णतं, तं जहा—इंदियपञ्चकर्त्रं च णोइं-दियपञ्चकर्त्रं च ।

१०. से किं तं पञ्चकर्त्रं? इत्यादि सूत्रम् । अस्य व्याख्या—सेशब्दो मागधेशीप्रसिद्धो निषातोऽथशब्दार्थे वर्तते, स च प्रक्रियादिवाचकः । यथोक्तम्—“अथ प्रक्रिया-प्रश्ना-ऽनन्तर्य-भङ्गोपन्यास-प्रतिवचन-समुच्चयेषु” २० इहोपन्यासार्थः । ‘किम्’ इति परिप्रश्ने । ‘तत्’ भागुयदिष्टं प्रत्यक्षमिति सूत्रार्थः ॥ एवं चोदकेन प्रश्ने कृते सति न्यायप्रदर्शनार्थमाचार्यशोदकोक्तानुवादारेण निर्वचनमभिधातुकाम आह—

पञ्चकर्त्रं दुविहं पन्नतमित्यादि सूत्रम् । एवमन्यत्रापि यथायोगं प्रश्न-निर्वचनसूत्राणां पातनिका कार्येति । प्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञसम् । तद्यथा—इन्दियप्रत्यक्षं च नोऽन्द्रियप्रत्यक्षं च । इन्द्रियाणां प्रत्यक्षं इन्द्रियप्रत्यक्षम् । इहेन्द्रः—स्वरूपतो ज्ञानाद्यैर्व्ययुक्तत्वादात्मा, तस्येदमिन्द्रियम् । तत्र द्विधा—द्रव्येन्द्रियं च भावेन्द्रियं च । तत्र २५ पुद्गलैर्वाहसंस्थाननिर्वृत्तिः कदम्बपुष्पाधाकृतिविशिष्टोपकरणं च द्रव्येन्द्रियम्, “निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्” [तत्वा. २. १७] इति वचनात् । श्रोत्रेन्द्रियादिविषया सर्वात्मप्रदेशानां तदावरणक्षयोपशमलविधरूपयोगश्च भावेन्द्रियम्, “लङ्घयुपयोगी भावेन्द्रियम्” [तत्वा. २. १८] इति वचनात् । इन्द्रियप्रत्यक्षं न भवतीति नोऽन्द्रिय-प्रत्यक्षम्, नोशब्दः सर्वप्रतिषेधे ॥

११. से किं तं इंदियपञ्चकर्त्रं? इंदियपञ्चकर्त्रं पञ्चविहं पण्णतं, तं जहा—सोइंदिय-३० पञ्चकर्त्रं १ चक्रिंखदियपञ्चकर्त्रं २ घाणिंदियपञ्चकर्त्रं ३ रसणेंदियपञ्चकर्त्रं ४ फासिंदियपञ्चकर्त्रं ५ ।

१ “व्याज्ञौ सज्जाते च” इति पाणिनिधातुपाठे ॥

से तं इंदियपञ्चकर्वं ।

११. से किं तदिन्द्रियप्रत्यक्षम् ? इन्द्रियप्रत्यक्षं पञ्चविधं प्रज्ञस्म् । तद्यथा—श्रोत्रे-निद्रियप्रत्यक्षमित्यादि । श्रोत्रेन्द्रियस्य श्रोत्रेन्द्रियप्रधानं वा प्रत्यक्षं श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षम्, श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तमित्यर्थः । एवं शेषेष्वपि वक्तव्यम् । एतचोपचारतः प्रत्यक्षम्, न परमार्थतः । कथं ज्ञायते ? इति चेत्, सूत्रप्रामाण्यात् । वक्ष्यते च—“परोक्षं दुविहं पञ्चतं, तंजहा-आभिनिवोहियणाणपरोक्षं च सुयणाणपरोक्षं च” [सुत्तं ४३] । ५ न च मति-श्रुताभ्यामिन्द्रिय-मनोनिमित्तमन्यदस्ति यत् प्रत्यक्षमञ्जसा भवेत्, भावे च पष्टज्ञानप्रसङ्गाद् विरोध इति, तस्मात् परोक्षमेवेदं तत्त्वत इति ।

आह—इह लोके ‘लिङ्गं परोक्षम्’ इति प्रतीतमिति, उच्यते, इह यदिन्द्रिय-मनोभिवीर्यलिङ्गप्रत्ययमुत्पद्यते तदेकान्तेनैवेन्द्रियाणामात्मनश्च परोक्षम्, परनिमित्तत्वात्, धूमादग्निज्ञानवदिति, अतः परोक्षमिति प्रतीतिः । यत् पुनः साक्षादिन्द्रिय-मनोनिमित्तं तत् तेषामेव प्रत्यक्षम्, अलिङ्गत्वात्, आत्मनोऽवध्यादिवत्, न त्वात्मनः, १० आत्मनस्तु तत् परोक्षमेव, परनिमित्तत्वात्, लैङ्गिकवत् । इन्द्रियाणामपि तदुपचारतः प्रत्यक्षम्, न परमार्थतः, कथम् ?, अनेतत्त्वादिति, अत्र बहु वक्तव्यं तत्त्वान्यत्र वक्ष्यामः, मा भूत् प्रथमग्रन्थं एव प्रतिपत्तिगौरवमित्यलं विस्तरेण ।

आह—स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणीन्द्रियाणीति क्रमः, अयमेव च ज्यायान्, पूर्वपूर्वलाभ एदोत्तरोत्तर-लाभात्, अतः किमर्थमुत्क्रमः ?, उच्यते, पथानुपूर्व्यादिन्यायज्ञापनार्थं स्पष्टसंवेदनद्वारेण सुखप्रतिपत्त्यर्थं चेति । १५

इह मनोज्ञानमपीन्द्रियज्ञानतुल्ययोग-क्षेममेव द्रष्टव्यम्, तथा चाभिनिवोधिकज्ञानप्ररूपणायां प्रवक्ष्यत इति । “से तं इंदियपञ्चकर्वं” तदेतदिन्द्रियप्रत्यक्षम् ॥

१२. से किं तं णोइंदियपञ्चकर्वं ? णोइंदियपञ्चकर्वं तिविहं पण्णतं, तं जहा-ओहि-णाणपञ्चकर्वं १ मणपञ्जावणाणपञ्चकर्वं २ केवलणाणपञ्चकर्वं ३ ।

१२. से किं तं णोइंदियपञ्चकर्वं ? इत्यादि । अथ किं तद्वोइन्द्रियप्रत्यक्षम् ? नोइन्द्रियप्रत्यक्षं विविधं २० प्रज्ञस्म्, तद्यथा—अवधिज्ञानप्रत्यक्षमित्यादि ॥

१३. से किं तं ओहिणाणपञ्चकर्वं ? ओहिणाणपञ्चकर्वं दुविहं पण्णतं, तं जहा-भवपञ्चतियं च ख्योवसमियं च । दोन्हं भवपञ्चतियं, तं जहा-देवाणं च णेरतियाणं च । दोन्हं ख्योवसमियं, तं जहा-मणुस्साणं च पञ्चेदियतिरिक्तजोणियाणं च ।

१३. से किं तं इत्यादि सूत्रम् । अथ किं तदवधिज्ञानप्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञस्म् । तद्यथा— २५ भवप्रत्ययं च १ क्षायोपशमिकं च २ । तत्र भवन्त्यस्मिन् कर्मवशनर्त्तिनः प्राणिन इति भवः, नारकादिजन्मेति भावः, भव एव प्रत्ययः—कारणं यस्य तद् भवप्रत्ययम् १ । ‘चः’ पूर्ववत् । तथा क्षयश्चोपशमश्च क्षयोपशमौ, ताभ्यां निर्वृत्तं क्षायोपशमिकम् २ । तत्र यद् येषां भवति तद् तेषामुपर्दश्यन्नाह—

दोण्हमित्यादि । ‘द्वयोः’ जीवसमूहयोः भवप्रत्ययम् । तद्यथा—देवानां नारकाणां च । तत्र दीव्यन्तीति देवाः, निरूपमक्रीडामनुभवन्तीत्यर्थः, तेषाम् । तथा नरान् कायन्तीति नरकाः, योग्यतया शब्दयन्तीत्यर्थः, तेषु ३०

भवा नारकास्तेषाम् । अत्राह—नन्ववधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्तते, देवनारकभवश्चौदयिकः, तत् कथं तद् भवप्रत्ययम् ? इति, उच्यते, क्षायोपशमिकमेव तत्, किन्तु स देवनारकभवे अनश्यम्भावी, पक्षिणां गगनगमनलब्धिनिमित्वादित्यतो भवप्रत्यय इति । उक्तं च—

उदयन्वयन्वयोवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया । दद्वं खेतं कालं भवं च भावं च संपत्प ॥१॥१॥

५

[विशेषा. गा. ५७५, धर्मसं. गा. ९४९]

तथा द्वयोः क्षायोपशमिकम्, तद्यथा—मनुष्याणां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनीनां च । न चैषामवश्यन्तया भवतीत्यतः सत्यपि क्षायोपशमिकत्वे भवप्रत्ययाद् भिन्नमिदमिति २ । तत्त्वतस्तु सर्वमेव क्षायोपशमिकमिति ॥ अधुना क्षयोपशमस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

१४. को हेऽख्योवसमियं ? ख्योवसमियं तयावरणिज्ञाणं कम्माणं उदिष्णाणं
१० खण्णं अणुदिष्णाणं उवसमेणं ओहिणाणं समुपज्जति । अहवा गुणपडिवण्णस्स
अणगारस्स ओहिणाणं समुपज्जति ।

१४. को हेऽइत्यादि । ‘को हेतुः’ किनिमित्तं—किनिषयं क्षायोपशमिकम् ? यद्वा किंकारणं क्षायोपशमिकम् ? उच्यते इत्यध्याहारः । अत्र निर्वचनमभिधातुकाम आह—क्षायोपशमिकं ‘तदावरणीयानाम्’ अवधिज्ञानावरणीयानां कर्मणां ‘उदीर्णनां’ उदयवलिकाप्राप्तानां ‘क्षयेण’ प्रलयेन ‘अनुदीर्णनां च’ आत्मनि व्यवस्थितानां १५ ‘उपशमेन’ उदयनिरोधेन अवधिज्ञानमुत्पद्यते इति सम्बन्धः, यत एवमतः कर्मदिया-अनुदयविषयम् । अथवा येन तदावरणीयानां कर्मणां उदीर्णनां क्षयेणानुदीर्णनामुपशमेनावधिज्ञानमुत्पद्यते तेन क्षायोपशमिकमित्युच्यते इति ।

स च क्षयोपशमो विशिष्टगुणप्रतिपत्तिमन्तरेण १ तथा गुणप्रतिपत्तितश्च २ भवति । तत्रान्तरेण—यथाऽऽकाशे धनधनपटलाच्छादितमूर्त्तिर्दिवसकरमण्डलस्य कथञ्चिदुपजातरन्वेण विनिर्गतास्तिमिरनिचयप्रलयहेतवः किरणाः स्वावपातदेशास्पदं दद्व्यमुद्योतयन्ति तथा प्रकृतिभास्वरस्याऽत्मनो मिथ्यासादिजनितज्ञानावरणीयादिकर्ममल्प-२० ठलतिमिरतिरस्कृतस्वभावस्यानादौ संसारे परिभ्रमतो यथाप्रवृत्त्योपजातावधिज्ञानावरणक्षयोपशमविवरस्यावधिज्ञानालोकः प्रसाधयति खकार्यमिति १ । गुणप्रतिपत्तिस्तु मूलगुणादिपत्तिर्भवति । यत आह—

अथवा इत्यादि । ‘अथवा’ इति प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थम्, अन्तरेण प्रतिपत्तिमित्यस्मादिदं प्रकारान्तरमेव । गुणाः—मूलगुणाद्यस्तैः प्रतिपन्नः—गृहीतो गुणप्रतिपन्न इति, अनेन अतिशयपात्रतामाह, यतः पात्राश्रयिणो गुणाः । उक्तं च—

२५ नोदन्वानर्थितामेति न चाभ्योभिन्नं पूर्यते । आत्मा तु पात्रतां नेयः पात्रमायान्ति सम्पदः ॥१॥ []

अथवा प्राकृतशैल्या पूर्वापरनिपातकरणात् प्रतिपन्नगुणस्य ‘अनगारस्य’ न गच्छन्तीत्यगाः—वृक्षाः, तैः कृतमगारं—गृहम्, नास्यागारं विद्यते इत्यनगारः, परित्यक्तदद्व्य-भावशृह इत्यर्थः, तस्य प्रशस्ताध्यवसायस्य तदावरणकर्मक्षयोपशमे सत्यवधिज्ञानं समुत्पद्यते ॥ २ ॥

१५. तं समाप्तो छविवहं पण्णत्तं, तं जहा—आणुगामियं १ अणाणुगामियं २
३० वद्वामाणयं ३ हायमाणयं ४ पडिवाति ५ अपडिवाति ६ ।

१५. तं समासतो इत्यादि । 'तद्' अवधिज्ञानं 'समासतः' सङ्क्षेपेण 'षड्विधं' पट्टपकारं 'प्रज्ञम्' प्रख्य-
तम् । तद्यथा—'आनुगामुकं' अनुगमनशीलमानुगामुकम्, अवधिज्ञानिनं लोचनवद् गच्छन्तमनुगच्छतीति भावार्थः १ ।
अनानुगामुकं नावधिज्ञानिनं गच्छन्तमनुगच्छति, सङ्कलाप्रतिबद्धप्रदीपवदिति हृदयम् २ । वर्धते वर्द्धमानम्, तदेव
वर्द्धमानकम्, संज्ञायां कन्, उत्पत्तिकालादासभ्य प्रवर्द्धमानम्, महेन्वननिवन्धनोत्पद्यमानानलज्जालाकलापवदिति
भावना ३ । 'हीयमानकं' हीयते हीयमानम्, तदेव हीयमानकम्, कुत्सायां कन्, उदयसमयसमन्तरमेव हीय-
मानं दग्धेन्वनप्राययुमध्यवजार्चिर्वतवदित्यर्थः ४ । 'प्रतिपाति' प्रतिपत्तनशीलं प्रतिपाति, कथञ्चिदापादितजात्यमणि-
प्रभाजालवदिति गर्भार्थः ५ । 'अप्रतिपाति' न प्रतिपाति अप्रतिपाति, क्षार-मृतपुट्याकाद्यापाद्यमानजात्यमणिकर-
णनिकरवदित्यभिपायः । आह—आनुगामुका-उनानुगामुकमेदद्य एव शेषेदानां वर्द्धमानकादीनामन्तर्भावात् किम-
र्थमुपन्यासः ? इति, उच्यते, सत्यप्यन्तर्भावे तद्रिकल्पद्यादेव तेषामपरिच्छित्तेः, तथाहि—नाऽनुगामुकमनानुगा-
मुकं चेत्युक्ते वर्द्धमानकादयो गम्यन्त इति, अज्ञातज्ञापनार्थं च शास्त्रप्रवृत्तिरित्यलं प्रसङ्गेन ॥ १०

१६. से किं तं आणुगामियं ओहिणाणं ? आणुगामियं ओहिणाणं दुविहं पण्णतं,
तं जहा—अंतगयं च मज्जगयं च ।

१६. से किं तमाणुगामियमित्यादि । अथ किं तदानुगामुकमवधिज्ञानम् ? आनुगामुकमवधिज्ञानं द्विविधं
प्रज्ञम्, तद्यथा—अन्तगतं च १ मध्यगतं च २ । इहानतः—पर्यन्तो भाष्यते, वनान्तवत्, गतं स्थितमित्यनर्थान्त-
रम्, अन्ते गतं 'अन्तगतं' अन्ते स्थितम् । तच्च फड्हकावधिलादात्मप्रदेशान्ते, सर्वात्मप्रदेशक्षयोपशमभावतो वा
औदारिकशरीरान्ते, एकदिग्पलम्भाद्वा तदुद्योतितक्षेत्रान्ते गतमन्तगतम् । इह चाऽत्मप्रदेशान्तगतमध्यते, सक-
लजीवोपयोगे सत्यपि साक्षादेकदेशैनैव दर्शनात्; औदारिकशरीरान्तगतमपि, औदारिकशरीरैकदेशैनैव दर्शनाच्च;
यथोक्तक्षेत्रान्तगतं लब्धिपतस्तदन्तव्येतरिति भावना १ । चशब्दः पूर्ववत् । 'मध्यगतं' इह मध्यः प्रसिद्ध एव दण्डा-
दिमध्यवत्, मध्ये गतं 'मध्यगतं' मध्ये स्थितम् । तच्च सर्वत्र फड्हकविशुद्धेरात्ममध्ये सर्वात्ममध्ये, सर्वात्मनो
वा क्षयोपशमयोगाविशेषेऽपि औदारिकशरीरमध्योपलब्धेः तन्मध्ये, सर्वदिग्पलम्भाद्वा तत्प्रकाशितक्षेत्रमध्ये गतं २०
मध्यगतम् । अत्र चात्ममध्यगतमभिधीयते, सर्वात्मोपयोगे सत्यपि मध्य एव फड्हकसङ्घावात् साक्षान्मध्यमागेनो-
पलब्धेः; औदारिकशरीरमध्यगतमपि, औदारिकशरीरमध्यमागेनैवोपलब्धेः; प्रस्तुतक्षेत्रमध्यगतं पुनरवधिज्ञानिनस्तत्र
मध्ये भावादिति भावार्थः । चशब्दः पूर्ववत् ॥

१७. से किं तं अंतगयं ? अंतगयं तिविहं पण्णतं, तं जहा—पुरओ अंतगयं १
मग्गओ अंतगयं २ पासतो अंतगयं ३ । २५

१८. से किं तं पुरतो अंतगयं ? पुरतो अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उकं वा
चुडलिअं वा अलायं वा मणि वा जोइं वा पदीवं वा पुरओ काउं पणोल्लेमाणे पणोल्लेमाणे
गच्छेज्जा । से तं पुरओ अंतगयं १ ।

१७—१८. से किं तमित्यादि प्रायः सुगमम् । नवरं उल्का—दीपिका । चुडली—पर्यन्तज्ज्वलिता तृणपू-
लिका । अलातम्—उल्मुकम् । मणिः—पद्मरागादिः । प्रदीपशिखादि ज्योतिः, मण्डिकाद्याधारोऽप्निः । प्रदीपः—
प्रतीतः । 'पुरतः' अग्रतो हस्तदण्डादौ गृहीत्वा “पणोल्लेमाणे पणोल्लेमाणे” त्ति प्रेरयन प्रेरयन ‘गच्छेद्’

यायात् “से तं” तदेतत् पुरतोऽन्तगतम् । अयमत्र भावार्थः—स हि गच्छन् उल्कादिभ्यः सकाशात् पुरत एव पश्यति, नान्यत्र, एवं यतोऽवधिज्ञानाद् विविधशयोपशमनिमित्तत्वाद् देशपुरत एव पश्यति, नान्यत्र, तत् पुरतोऽन्तगतमभिधीयते इत्येतावतांशेन वृष्टान्त इत्येवं सर्वत्र योजयम् १ ॥

१९. से किं तं मग्गओ अंतगयं ? मग्गओ अंतगयं से जहाणामए केइ पुरिसे
५ उकं वा चुडलियं वा अलायं वा मणि वा जोइं वा पईवं वा मग्गओ काउं अणुकड्डेमाणे अणुकड्डेमाणे गच्छेज्जा । से तं मग्गओ अंतगयं २ ।

२०. से किं तं पासओ अंतगयं ? पासओ अंतगयं से जहाणामए केइ पुरिसे उकं वा चुडलियं वा अलायं वा मणि वा जोइं वा पईवं वा पासओ काउं परिकड्डेमाणे परिकड्डेमाणे गच्छेज्जा । से तं पासओ अंतगयं ३ । से तं अंतगयं ।

१० १९-२०. से किं तमित्यादि निगदसिद्धम् । नवरं “अणुकड्डेमाणे अणुकड्डेमाणे” ति अनुर्कर्षन् अनुर्कर्षन् २ । एवं “परिकड्डेमाणे परिकड्डेमाणे” ति परिकर्षन् परिकर्षन् ३ ॥

२१. से किं तं मज्जगयं ? से जहानामए केइ पुरिसे उकं वा चुडलियं वा अलायं वा मणि वा जोइं वा पईवं वा मत्थए काउं गच्छेज्जा । से तं मज्जगयं ।

२१. अथ किं तन्मध्यगतमित्यादि निगदसिद्धमेव । नवरं ‘मस्तके’ शिरसि कृता गच्छेत् तदेतन्मध्यगत-
१५ मिति । एतदुक्तं भवति—स तेन मस्तकस्थेन सर्वत्र तत्पकाशितमर्थं पश्यति, परमेवं यतोऽवधिज्ञानात् तदुद्योतिता-र्थात्मगमस्तन्मध्यगतमित्येतावतांशेन वृष्टान्त इति ॥ इह व्याख्यानार्थं सम्यगनवगच्छाह चोदकः—

२२. अंतगयस्स मज्जगयस्स य को पइविसेसो ? पुरओ अंतगएणं ओहिनाणेण पुरओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाणि जाणइ पासइ, मग्गओ अंतगएणं ओहिनाणेण मग्गओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाणि जाणइ पासइ,
२० पासओ अंतगएणं ओहिनाणेण पासओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइ जाणइ पासइ, मज्जगएणं ओहिनाणेण सब्बओ समंता संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइ जाणइ पासइ । से तं आणुगामियं ओहिनाणेण ।

२२. अंतगतस्स य इत्यादि सूत्रसिद्धं यावत् “मज्जगतेण”मित्यादि । मध्यगतेनावधिज्ञानेन ‘सर्वतः’ सर्वासु दिग्बिदिक्षु ‘समन्तात्’ सर्वैरात्मप्रदेशैर्विशुद्धफल्कैर्वा सहृद्येयानि वा असहृद्येयानि वा योजनानि जानाति
२५ पश्यति । अथवा ‘स मन्ता’ अवधिज्ञानयेव गृह्यते, सहृद्येयानि चेत्यत्र सहृद्यायन्त इति सहृद्येयानि—एकादीनि शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तानि गृह्यन्ते, तत् ऊर्ध्वमसहृद्येयानि, तदेतदानुगामुकमवधिज्ञानमिति १ ॥

२३. से किं तं अणाणुगामियं ओहिनाणेण ? अणाणुगामियं ओहिनाणेण से जहा-

णामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइट्टाणं काउं तस्सेव जोइट्टाणस्स परिपेरंतेहि परिपेरंतेहि परिघोलेमाणे परिघोलेमाणे तमेव जोइट्टाणं पासइ, अण्णत्थ गए ण पासइ, एवमेव अणाणुगामियं ओहिणाणं जथेव समुप्पज्जइ तथेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा जोयणाइ जाणइ पासइ, अण्णत्थ गए ण पासइ । से तं अणाणुगामियं ओहिणाणं २ ।

5

२३. से किं तमित्यादि प्रकटार्थमेव । नवरं ‘ज्योतिःस्थानं’ अस्तिस्थानं कृत्वा तस्यैव ज्योतिःस्थानस्य पर्यन्तेषु, किमेकदिग्मतेषु ? नेत्याह- परिः-सर्वतोभावे, ततश्च परिपर्यन्तेषु परिपर्यन्तेषु ‘परिवूर्णन्’ परिवृमन् इत्यर्थः, तदेव ‘ज्योतिःस्थानं’ ज्योतिःप्रकाशितं क्षेत्रमित्यर्थः पश्यति, अन्यत्र गतो न पश्यति, तदुपलम्भभावात्, तदावरणक्षयोपशमस्य तत्क्षेत्रसम्बन्धसापेक्षत्वात्, एवमेव अनानुगामुकमवधिज्ञानं यत्रैव क्षेत्रे व्यवस्थितस्य सतः समुत्पद्यते तत्रैव व्यवस्थितः सन् सह्येयानि वाऽसह्येयानि वा योजनानि सम्बद्धानि वा असम्बद्धानि १० वा जानाति पश्यति, नान्यत्र, तत्क्षेत्रसम्बन्धसापेक्षत्वादवधिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य । तदेतदनानुगामुकम् २ ॥

२४. से किं तं वद्धमाणयं ओहिणाणं ? वद्धमाणयं ओहिणाणं पसत्थेषु अज्ञवसाणट्टाणेषु वद्धमाणस्स वद्धमाणचरित्स्स विसुज्ज्ञमाणस्स विसुज्ज्ञमाणचरित्स्स सब्बओ समंता ओही वद्धइ ।

जावतिया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स ।
ओगाहणा जहन्ना ओहीखेत्तं जहन्नं तु ॥ ४५ ॥

15

सब्बबहुअगणिजीवा णिरंतरं जत्तियं भरेज्जंसु ।
खेत्तं सब्बदिसागं परमोही खेत्तनिद्वो ॥ ४६ ॥

अंगुलमावलियाणं भागमसंखेज्ज, दोसु संखेज्जा ।
अंगुलमावलियंतो, आवलिया अंगुलपुहत्तं ॥ ४७ ॥

20

हृथमिमि मुहुत्तंतो, दिवसंतो गाउयमिमि बोद्धव्वो ।
जोयण दिवसपुहत्तं, पक्खंतो पण्णवीसाओ ॥ ४८ ॥

भरहमिमि अद्धमासो, जंबुदीवमिमि साहिओ मासो ।
वासं च मणुयलोए, वासपुहत्तं च रुयगमिमि ॥ ४९ ॥

संखेज्जमिमि उ काले दीव-समुद्धा वि होंति संखेज्जा ।
कालमिमि असंखेज्जो दीव-समुद्धा उ भइयव्वा ॥ ५० ॥

25

काले चउण्ह बुड्डी, कालो भइयब्बु खेत्तबुड्डीए ।
 बुड्डीए दब्ब-पज्जव भइयब्बा खेत्त-काला उ ॥ ५१ ॥
 सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरयं हवइ खेत्तं ।
 अंगुलसेढीमेत्ते ओसपिणिओ असंखेज्जा ॥ ५२ ॥

५ से तं वद्धमाणं ओहिणाणं ३ ।

२४. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् वर्द्धमानकम् ? ‘वर्द्धमानकं’ वर्द्धमानमेव वर्द्धमानकं प्रशस्तेष्व-ध्यवसायस्थानेषु वर्तमानस्य वर्तमानचारित्रस्य । इहोघतो द्रव्यलेश्योपरज्जितं चित्तमध्यवसायस्थानमुच्यते, अस्य चानवस्थितत्वात् तद्रव्यसाचिव्ये सति विशेषभावाद् बहुत्वमिति । तत्र ‘प्रशस्तेषु’ इत्यनेनापशस्तकुण्ठलेश्यादि-द्रव्योपरज्जितव्यवच्छेदमाह । अध्यवसायस्थानेषु वर्तमानस्य, प्रशस्ताध्यवसायस्येत्यर्थः; ‘सर्वतः’ समन्तादवधिः १० परिवर्द्धत इति योगः, अनेनाविरतसम्यग्वट्टेरपि वर्द्धमानक उक्तो वेदितव्यः । वर्तमानचारित्रस्येत्यनेन तु देशविरत-सर्वविरतयोरिति । ‘विशुध्यमानस्य’ तदावरणकर्ममलविगमादुत्तरोत्तरं शुद्धिमनुभवतः अविरतसम्यग्वट्टेरेव, अनेनावधेः शुद्धिजन्यत्वमाह, विशुध्यमानचारित्रस्य देशसर्वविरतस्य सर्वतः समन्तादवधिः परिवर्द्धत इति, ततः परिवर्द्धत इत्युक्तम् ॥ अथ सर्वजगन्योऽयं कियत्प्रमाणो भवति ? इति प्रश्नसम्भवे क्षेत्रतः प्रतिपादयन्नाह—
 जावइया० गाहा । व्यास्त्वा—‘यावती’ यावत्प्रमाणा, आहारयतीत्याहारकः, त्रिसमयं आहारकः त्रिसमया-हारकः, त्रीन् वा समयानिति तस्य । सूक्ष्मनामकमोदयात् सूक्ष्मस्तस्य । पनकश्चासौ जीवश्च पनकजीवः, वनस्पति-विशेष इत्यर्थः, तस्य । अवगाहन्ते यस्यां प्राणिनः सा अवगाहना, ततुरित्यर्थः । ‘जघन्या’ सर्वस्तोका । अवधेः क्षेत्रं अवधिक्षेत्रम् । ‘जघन्य’ सर्वस्तोकम् । तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, तस्य चैवं प्रयोगः—अवधिक्षेत्रं जघन्यमेतावदेवेति । अत्र च सम्प्रदायसमधिगम्योऽयमर्थः—
 योजनसहस्रमानो मत्स्यो मृत्वा स्वकायदेशे यः । उत्पद्यते हि॑ सूक्ष्मः पनकत्वेनेह स ग्राह्यः ॥ १ ॥
 २० संहत्य चाऽद्यसमये स ह्यायामं करोति च प्रतरम् । सहृद्यातीताख्याङ्गुलविभागवाहत्यमानं तु ॥ २ ॥
 स्वकृतनुपृथुत्वमात्रं दीर्घत्वेनापि जीवसामर्थ्यात् । तमपि द्वितीयसमये संहत्य करोत्यसौ सूचिम् ॥ ३ ॥
 सहृद्यातीताख्याङ्गुलविभागविष्कम्भमाननिर्दिष्टाम् । निजतनुपृथुत्वदैर्घ्यां तृतीयसमये तु संहत्य ॥ ४ ॥
 उत्पद्यते च पनकः स्वदेहदेशे स सूक्ष्मपरिणामः । समयत्रयेण तस्याऽवगाहना यावती भवति ॥ ५ ॥
 २५ तावज्जघन्यमवधेरालम्बनवस्तुभाजनं क्षेत्रम् । इदमित्थमेव मुनिगणसुसम्प्रदायात् समवसेयम् ॥ ६ ॥
 अत्र कथिदाह—किमिति महान् मत्स्यः ? किं वा तस्य तृतीयसमये निजदेहदेशे समुत्पादः त्रिसमयाहारकत्वं वा कल्पयते ? इति, अत्रोच्यते, स एव हि महामत्स्यश्चिभिः समयैरात्मानं सङ्क्षिप्तं प्रयत्नविशेषात् सूक्ष्मावगाहनो भवति, नान्यः; प्रथम-द्वितीयसमययोश्चातिसूक्ष्मः, चतुर्थादिषु चातिस्थूरः, त्रिसमयाहारक एव च तद्योग्य इत्यतस्तद्यग्रहणमिति । अन्ये तु व्याचक्षते—त्रिसमयाहारक इति आयामविष्कम्भ संहारसमयद्वयं सूचिसंहरणोत्पादसमयश्वैते त्रयः समयाः, विग्रहाभावाच्चाऽहारक एतेष्वित्यत उत्पादसमय एव त्रिसमयाहारकः सूक्ष्मः पनकजीवो
 ३० जघन्यावगाहनश्च, अतस्तप्रमाणं जघन्यमवधिक्षेत्रमिति, एतच्चायुक्तम्, त्रिसमयाहारकत्वस्य पनकजीवविशेषणत्वात्, मत्स्यायाम-विष्कम्भसंहरणसमयद्वयस्य च पनकसमयायोगात् त्रिसमयाहारकत्वाद्यविशेषणानुपपत्तिप्रसङ्गात् । अलं

१. हि पनकः सूक्ष्मत्वेनेह मलयगिरिवृत्तौ ॥

प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥४५॥ एवं तावज्जघन्यमवधिक्षेत्रमुक्तम् । इदानीमुत्कृष्टविभागमभिधातुकाम आह—

सर्वबहुअगणिजीवा० गाहा । व्याख्या— सर्वेभ्यः—विवक्षितकालावस्थायिभ्योऽनलजीवेभ्य एव बहवः
सर्वबहवः, न भूत-भविष्यद्वयो नापि शेषजीवेभ्यः । कुतः ? असम्भवात् । अग्रयश्च ते जीवाश्च अग्निजीवाः, सर्व-
बहवश्च ते अग्निजीवाश्च सर्वबहवग्निजीवाः । निरन्तरमिति क्रियाविशेषणम् । ‘यावद्’ यावत्यरिमाणं ‘भृतवन्तः’
व्याप्तवन्तः ‘क्षेत्रम्’ आकाशम् । एतदुक्तं भवति—नैसन्तर्येण विशिष्टसूचिरचनया यावद् भृतवन्त इति । भूतकाल- 5
निर्देशश्च ‘अजितस्वामिकाल एव प्रायः सर्वबहवोऽनलजीवा भवन्त्यस्यामवसर्पिण्याम्’ इत्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थम् ।
इदमनन्तरोदितविशेषणं क्षेत्रमेकदिकमपि भवति अत आह—सर्वदिकम्, अनेन सूचीपरिभ्रमणप्रमितमेवाह । परम-
शासाववधिश्च परमावधिः क्षेत्रम्—अनन्तरव्याप्तिं प्रभूतानलजीवमितमङ्गीकृत्य निर्दिष्टः क्षेत्रनिर्दिष्टः प्रतिषादितो
गणधरादिभिरिति, ततश्च पर्यायेण परमावधेरेतावत् क्षेत्रमित्युक्तं भवति । अथवा सर्वबहवग्निजीवा निरन्तरं यावद्
भृतवन्तः क्षेत्रं सर्वदिकं एतावति क्षेत्रे यानि अवस्थितानि द्रव्याणि तत्परिच्छेदसामर्थ्ययुक्तः परमावधिः क्षेत्रम- 10
ङ्गीकृत्य निर्दिष्टः, भावार्थस्तु पूर्ववदेव । अयमक्षरार्थः । इदानी सम्प्रदायिकः प्रतिषाद्यते—तत्र सर्वबहवग्निजीवा
वादराः प्रायोऽजितस्वामितीर्थकरकाले भवन्ति, तदारम्भकपुरुषवाहुल्यात्, सूक्ष्माश्चोत्कृष्टदिनस्त्रैवावरुद्यन्ते,
ततश्च सर्वबहवो भवन्ति, तेषां च बुद्ध्या पोदाऽवस्थानं कल्प्यते—एकैकक्षेत्रप्रदेशे एकैकजीवावगाहनया सर्वतश्च-
तुरस्ते घनः प्रथमम् १, स एव जीवः स्वावगाहनया द्वितीयम् २, एवं प्रतरोऽपि द्विभेदः ३-४, श्रेण्यपि द्विभेदा
५-६, तत्राऽऽद्याः पञ्च प्रकारा अनादेशाः, क्षेत्रस्याल्पत्वात् क्वचित् समयविरोधाच्च, षष्ठ्यप्रकारस्तु सूत्रादेश इति । 15
ततश्चासौ श्रेणी अवधिज्ञानिनः सर्वासु दिक्षु शरीरपर्यन्तेन भ्राम्यते, सा चासङ्गेयेयानलोके लोकमात्रान् क्षेत्रवि-
भागान् व्याप्तिं एतावदवधिक्षेत्रमुत्कृष्टमिति । सामर्थ्यमङ्गीकृत्यैवं प्रख्यते, एतावति क्षेत्रे यदि द्रष्टव्यं भवति
पश्यति, न त्वलोके द्रष्टव्यमस्तीति गाथार्थः ॥४६॥ एवं तावज्जघन्यमुत्कृष्टं चावधिक्षेत्रमभिहितम् । इदानीं
विमध्यमप्रतिपिपादयिषया एतावत्क्षेत्रोपलम्भे चैतावत्कालोपलम्भः तथा एतावत्कालोपलम्भे चैतावत्क्षेत्रोपलम्भ
इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय चेदं गाथाचतुष्टयं जगाद् शास्त्रकारः—

अंगुलमावलिग्याणं० गाहा । हस्थमिमि० गाहा । भरहमिमि० गाहा । संखेज्जमिमि० गाहा । आसां
व्याख्या—‘अङ्गुल’ क्षेत्राधिकारात् प्रमाणाङ्गुलं गृह्णते, अवध्यधिकाराच्चोच्छ्रयाङ्गुलमित्येके । आवलिका—
असङ्गेयसमयसङ्गतोपलक्षितः कालः, उक्तं च—“असंखेयाणं समयाणं समुद्यसमितिसमागमेण एगा आवलिग
न्ति त्रुच्छै” [अनुयो० सूत्रं १३८ पत्रं १७८-२] अङ्गुलं च आवलिका च अङ्गुला-ऽऽवलिके तयोरङ्गुला-ऽऽवलि-
कयोर्भागमसङ्गेयं पश्यति अवधिज्ञानी । एतदुक्तं भवति—क्षेत्रमङ्गुलासङ्गेयभागमात्रं पश्यन् कालत आवलिका- 25
या असङ्गेयमेव भागं पश्यति अतीतमनाशतं चेति । क्षेत्र-कालदर्शनमुपचारेणोच्यते, अन्यथा हि क्षेत्रव्यवस्थ-
तानि दर्शनयोग्यानि द्रव्याणि तत्पर्यायांश्च विवक्षितकालान्तर्यात्तिनः पश्यति, न तु क्षेत्र-कालौ, मूर्त्तद्रव्यालम्बनत्वात्,
एवं सर्वत्र भावना द्रष्टव्या । क्रिया च गाथाचतुष्टयेऽप्यध्याहार्या । तथा ‘द्वयोः’ अङ्गुला-ऽऽवलिकयोः सङ्गेयौ
भागौ पश्यति, अङ्गुलसङ्गेयभागमात्रं क्षेत्रं पश्यन्नावलिकायाः सङ्गेयभागमेव पश्यतीत्यर्थः । तथा अङ्गुलं
पश्यन् क्षेत्रत आवलिकान्तः पश्यति, भिन्नामावलिकामित्यर्थः । तथा कालत आवलिकां पश्यन् क्षेत्रतोऽङ्गुलपृ- 30
थक्त्वं पश्यति, पृथक्त्वं हि द्विप्रभृतिरानवभ्यः । इति प्रथमगाथार्थः ॥४७॥

द्वितीयगाथाव्याख्या—‘हस्ते’ इति हस्तविषयः क्षेत्रतोऽवधिः कालतो मुहूर्तान्तः पश्यति, भिन्न-

मुहूर्तमित्यर्थः, अवध्यवधिमतोरभेदोपचारादवधिः पश्यतीत्युच्यते । तथा कालतः ‘दिवसान्तः’ भिन्नदिवसं पश्यन् क्षेत्रतः ‘गच्छूते’ इति गच्छूतविषयो वोद्धव्यः । तथा योजनविषयः क्षेत्रतोऽवधिः कालतो दिवसपृथक्त्वं पश्यति । तथा ‘पक्षान्तः’ भिन्नं पक्षं पश्यन् कालतः पञ्चविंशतिं योजनानि पश्यतीति द्वितीयगाथार्थः ॥ ४८ ॥

तृतीयगाथाव्याख्या—‘भरते’ इति क्षेत्रतो भरतविषयेऽवधौ कालतः अर्द्धमास उक्तः । एवं जम्बूदीप-
५ विषये चावधौ साधिको मासः । वर्षं च मनुष्यलोकविषयेऽवधाविति, मनुष्यलोकः खल्वर्द्दतीयद्वीप-समुद्रपरि-
माणः । वर्षपृथक्त्वं च खल्वार्घ्यबाह्यद्वीपविषयेऽवधाववगन्तव्यमिति तृतीयगाथार्थः ॥ ४९ ॥

चतुर्थगाथाव्याख्या—सङ्घच्यायत इति सङ्घच्येयः, स च संवत्सरलक्षणोऽपि भवति । तुशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि? सङ्घच्येयो वर्षसहस्रात् परतोऽपि गृह्यत इति, तस्मिन् सङ्घच्येये कलनं कालः तस्मिन् काले अवधे-
गोचरे सति क्षेत्रतस्तस्यैवावधेगोचरतया द्वीपाश्र समुद्राश्र द्वीप-समुद्रा अपि भवन्ति सङ्घच्येयाः । अपिशब्दाद् महा-
१० नेकोऽपि तदेकदेशोऽपीति । तथा ‘कालेऽसङ्घच्येये’ पल्योपमादिलक्षणेऽवधेविषये सति तस्यैवासङ्घच्येयकालपरिच्छे-
दकस्यावधेः क्षेत्रतः परिच्छेद्यतया द्वीप-समुद्रास्तु भाज्याः कदाचिदसङ्घच्येया एव । यदा इह कस्यचिन्मनुष्यस्या-
सङ्घच्येयद्वीप-समुद्रविषयोऽवधिरुत्पद्यत इति, कदाचिन्महान्तः सङ्घच्येयाः, कदाचिदेकदेशः ख्ययमभूरमणतिरथोऽवधि-
विज्ञेयः, ख्ययमभूरमणविषयमनुष्यबाह्यावधेवां, योजनापेक्षया च सर्वपक्षेष्वसङ्घच्येयमेव क्षेत्रमिति गाथार्थः ॥ ५० ॥
एवं तावत् परिस्थूरन्यायमझीकृत्य क्षेत्रवृद्धया कालवृद्धया च क्षेत्रवृद्धिः प्रतिपादिता । साम्प्रतं
१५ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया यस्य वृद्धौ यस्य वृद्धिर्भवति यस्य वा न भवत्यमुमर्थमभिधित्सुराह —

कालेऽ गाहा । व्याख्या—‘काले’ अवधिज्ञानगोचरे वर्द्धमाने ‘चतुर्णा’ द्रव्यादीनां वृद्धिर्भवति । कालस्तु
‘भाज्यः’ विकल्पयितव्यः क्षेत्रस्य वृद्धिः क्षेत्रवृद्धिः तस्यां क्षेत्रवृद्धौ सत्याम्, कदाचिद् वर्द्धते कदाचिन्नेति । कुतः? क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात्, कालस्य च सूक्ष्मत्वात् । द्रव्य-पर्यायो तु वर्द्धते । सप्तम्यन्तता चास्य —

ए होइ अयारंते परम्प्रम बीयाए बहुसु पुलिंगे । तइयाइसु छडी-सत्तमीण एकम्प्रम महिलत्थे ॥ १ ॥

20

[]

अस्मालक्षणात् सिद्धेति । एवमन्यत्रापि प्राकृतशैल्या इष्टविभक्त्यन्तता पदानामवगन्तव्येति । तथा वृद्धौ च
द्रव्यं च पर्यायश्च द्रव्य-पर्यायो तयोर्वृद्धौ सत्यां ‘भाज्यौ’ विकल्पनीयौ क्षेत्र-कालावेष, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्,
कदाचिदनयोर्वृद्धिर्भवति कदाचिन्नेति, द्रव्य-पर्याययोः सकाशात् परिस्थूरत्वात् क्षेत्र-कालयोर्गति भावार्थः । द्रव्य-
२५ वृद्धौ तु पर्याया वर्द्धन्त एव, पर्यायवृद्धौ च द्रव्यं भाज्यम्, द्रव्यात् पर्यायाणां सूक्ष्मत्वाद् एकस्मिन् भावे
क्रमवर्त्तिनामपि च वृद्धिसम्भवात् कालवृद्धयभावो भावनीय इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ अत्र कथिदाह—जघन्य-मध्य-
मोत्कृष्टभेदभिन्नयोरवधिज्ञानसम्बन्धिनोः क्षेत्र-कालयोरङ्गुला-उवलिकाऽसङ्घच्येयभागोपलक्षितयोः परस्परतः प्रदेश-
समयसङ्घर्षया परिस्थूर-सूक्ष्मत्वे सति कियता भागेन हीना-उधिकल्पम्? इति, अत्रोच्यते, सर्वत्र प्रतियोगिनः
खल्वावलिकाऽसङ्घच्येयभागादेः कालादसङ्घच्येयगुणं क्षेत्रम् । कुत एतत्? अत आह—

सङ्घमो य० गाहा । व्याख्या—सूक्ष्मश्च-शूक्ष्मश्च भवति कालः, यस्मादुत्पलपत्रशतभेदे समयाः प्रतिपत्र-
३० मसङ्घच्येयाः प्रतिपादिताः । तथापि ततः कालात् सूक्ष्मतरं भवति क्षेत्रम् । कुतः?, यस्मादङ्गुलश्रेणिमाने क्षेत्रे प्रदेश-
परिमाणं प्रतिपदेशं समयगणनया अवसर्पिण्यः असङ्घच्येयास्तीर्थकृद्धिः प्रतिपादिताः । एतदुक्तं भवति—अङ्गुलश्रे-
णिमात्रक्षेत्रप्रदेशाग्रमसङ्घच्येयवसर्पिणीसमयराशिपरिमाणमिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

से तं इत्यादि, तदेतद् वर्तमानकं अवधिज्ञानमिति ३॥

२५. से किं तं हायमाणयं आहिणाणं ? हायमाणयं ओहिणाणं अप्पसत्थेहि अज्ञावसायद्वाणेहि वट्माणस्स वट्माणचरित्स्स संकिलिस्समाणस्स संकिलिस्समाणच-रित्स्स सब्बओ समंता ओही परिहायति । से तं हायमाणयं ओहिणाणं ४ ।

२६. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् हीयमानकम् ?, हीयमानं कथञ्चिद्वासं सद् अप्रशस्तेष्वभ्य-५ वसायस्थानेषु वर्तमानस्य सतोऽविरतसम्यग्वर्षेः, 'वर्तमानचारित्रस्य' देशविरतादेः, 'संकिलश्यमानस्य' वश्यमा-नकर्मसंसर्गादुत्तरोत्तरं संकलेशमासादयत अविरतसम्यग्वर्षेरेव, 'संकिलश्यमानचारित्रस्य' देशविरतादेः, सर्वतः समन्तादवधिः परिक्षीयते । तदेतद् हीयमानकमवधिज्ञानमिति ४॥

२७. से किं तं पडिवाति ओहिणाणं ? पडिवाति ओहिणाणं जणं जहणेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं वा संखेज्जतिभागं वा वालगं वा वालगपुहतं वा लिक्खं वा लिक्खपुहतं १० वा जूयं वा जूयपुहतं वा जवं वा जवपुहतं वा अंगुलं वा अंगुलपुहतं वा पायं वा पायपुहतं वा वियर्थिं वा वियत्थिपुहतं वा रथणं वा रथणिपुहतं वा कुच्छिं वा कुच्छिपुहतं वा धणुयं वा धणुयपुहतं वा गाउयं वा गाउयपुहतं वा जोयणं वा जोयणपुहतं वा जोयणसयं वा जोयणसय-पुहतं वा जोयणसहस्रं वा जोयणसहस्रपुहतं वा जोयणसतसहस्रं वा जोयणसतसहस्रपुहतं वा जोयणकोडिं वा जोयणकोडिपुहतं वा जोयणकोडाकोडिं वा जोयणकोडाकोडिपुहतं १५ वा उक्कोसेण लोगं वा पासित्ता णं पडिवएज्जा । से तं पडिवाति ओहिणाणं ५ ।

२८. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् प्रतिपात्यवधिज्ञानम् ?, प्रतिपात्यवधिज्ञानं "जन्म"मिति 'यद्' अवधिज्ञानं 'जघन्येन' सर्वस्तोकतयाऽङ्गुलस्यासङ्घचेयभागमात्रं वा, उत्कर्षेण सर्वपञ्चुतया यावद् 'लोकं दृष्टा' लोकमुपलभ्य तथाविधक्षयोपशमजन्यत्वात् प्रतिपतेत् न भवेदित्यर्थः, तदेतत् प्रतिपात्यवधिज्ञानमिति क्रिया । शेषं प्रायो निगदसिद्धम् । नवरं 'पृथक्त्वमिति' द्विप्रभृतिः आ नक्तम्य इति सिद्धान्तपरिभाषा । तथा हस्तद्वयं कुक्षिरुच्यते । २० चत्वारो हस्ता धनुरिति । "से त"मित्यादि तदेतत् प्रतिपात्यवधिज्ञानम् ५॥

२९. से किं तं अपडिवाति ओहिणाणं ? अपडिवाति ओहिणाणं जेणं अलोगस्स एगमवि आगासपदेसं पासेज्जा तेण परं अपडिवाति ओहिणाणं । से तं अपडिवाति ओहिणाणं ६ ।

३०. से किं तमित्यादि । अथ किं तदप्रतिपात्यवधिज्ञानम् ?, "जेणं" ति 'येन' अवधिज्ञानेनालोकस्य २५ सम्बन्धिनमेकमप्याकाशप्रदेशम्, अपिशब्दाद् बहून् वा 'पश्येत्' शक्त्यपेक्षयोपलभेत, एतावत्क्षयोशमप्रभवं यत् 'तत् ऊर्ध्वमिति' तत् आरभ्याप्रतिपाति आ केवलप्राप्तेरवधिज्ञानमिति । अयमत्र भावार्थः-एतावत्क्षयोपशमस-म्यासात्मा विनिहतप्रधानप्रतिपक्षयोथसङ्गात इव नरपतिर्न पुनः कर्मशत्रुणा परिभूयते, किं तर्हि ? समासादितैताव-दालोक एवाप्रतिनिदृतः शेषमपि कर्मशत्रुं विनिर्जित्याऽमोति केवलराज्यश्रियमिति । लोका-ऽलोकविभागस्त्वयम्-

जीवादीनां द्वचिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं हालोकाख्यम् ॥१॥

[]

“से त्त”मित्यादि तदेतदप्रतिपात्यवधिज्ञानमिति ६ ॥ व्याख्याताः पद् भेदाः । साम्प्रतं द्रव्यादिविषयापेक्षया भेदतोऽवधिज्ञानमेव निरूपयन्नाह—

२८. तं समासओ चउच्चिवहं पण्णतं, तं जहा-दब्बओ खेत्तओ कालओ भावओ । तथ दब्बओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अणंताणि रुविदब्बाइं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं सब्बाइं रुविदब्बाइं जाणइ पासइ १ । खेत्तओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अलोए लोयमेत्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ २ । कालओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं ३ । जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असंखेज्जाओ उसपिणीओ अवसपिणीओ अतीतं च अणागतं च कालं जाणइ पासइ ३ । भावओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अणंते भावे जाणइ पासइ, उक्कोसेण वि अणंते भावे जाणइ पासइ, सब्बभावाणमणंतभागं जाणइ पासइ ४ ।

२८. तं समासओ इत्यादि । ‘तद्’ अवधिज्ञानं ‘समासतः’ सङ्क्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञम् । तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावत इति । तत्र द्रव्यतः “ण”मिति वाक्यालङ्कारे अवधिज्ञानी जघन्येनानन्तानि १५ द्रव्याणि तैजस-भाषाद्रव्याणामपान्तरालवर्तीनि, यत उक्तम्—“तेया-भासाद्रव्याण अंतरा एत्थ लभइ पद्धत्त्वां ।” [आव. नि. गा. ३८] चिति । उत्कृष्टतः सर्वरूपद्रव्याणि वादर-सूक्ष्मभेदमिन्नानि जानाति विशेषाकारेण, पश्यति सामान्याकारेण । आह-आदौ दर्शनं ततो ज्ञानमिति क्रमः तत् किमर्थमेनं परित्यज्य प्रथमं जानातीत्युक्तम् ?, अत्रोच्यते, इहाश्रधिज्ञानाधिकारात् प्राधान्यरूपाणनार्थमादौ जानातीत्युक्तम्, अवर्धिदर्शनस्य त्वदधि-विभज्जसाधारणत्वात् पश्यतीति । अथवा सर्वा एव लब्धयः साक्षारोपयोगोपयुक्तस्योत्पद्यन्त इति, अवघेश्व लवित्यव-२० दित्यस्यार्थस्य रूपाणनार्थमादौ जानातीत्याह, ततः क्रमेणोपयोगप्रवृत्तेः पश्यतीति १ । क्षेत्रतोऽवधिज्ञानी जघन्येनाहुगुलस्यासङ्घचेयभागम्, उत्कृष्टतोऽसङ्घचेयानि ‘अलोके’ केवलाकाशास्तिकाये शक्तिमपेक्ष्य लोकप्रमाणानि खण्डानि जानाति पश्यति २ । कालतोऽवधिज्ञानी जघन्येनाऽऽवलिकासङ्घचेयभागं उत्कृष्टतोऽसङ्घचेया अवसर्पिष्युत्सर्पिणीरतीतं चानागतं च कालं जानाति पश्यतीति, भावार्थः प्राक् प्रतिपादित एव ३ । भावतोऽवधिज्ञानी जघन्येनानन्तानन्तान् ‘भावान्’ पर्यायान्, आधारद्रव्यानन्तत्वात्, न तु प्रतिद्रव्यमिति, उत्कृष्टतोऽप्यनन्तान् २५ भावान् जानाति पश्यति, तेऽपि चोत्कृष्टप्रदिनः ‘सर्वभावानां’ सर्वपर्यायाणामनन्तभाग इति ४ ॥ इत्थमवधिज्ञानं भेदतोऽप्यभिधाय साम्प्रतं सङ्ग्रहगाथामाह—

२९. ओही भवपञ्चतिओ गुणपञ्चतिओ य वण्णिओ एसो ।

तस्य य बहू विष्पा, दब्बे खेत्ते य काले य ॥ ५३ ॥

२९. ओही भव० इत्यादि । अस्य व्याख्या-अवधिर्भवप्रत्ययो गुणप्रत्ययश्च ‘वर्णितः’ व्याख्यातः ‘एषः’ ३० अनन्तरम् । पाठान्तरं वा वर्णितो द्विविधः । ‘तस्य’ द्विविष्यापि बहवो विकल्पाः । ‘द्रव्ये’ इति द्रव्यविषयाः

परमाणु-द्रव्यणुकादिद्रव्यभेदात् । ‘क्षेत्रतः’ इति क्षेत्रविषया अङ्गुलासङ्घचेयभागादिविशिष्टक्षेत्रभेदात् । ‘कालतः’ इति कालविषयाः आवलिकासङ्घचेयभागाद्युपलक्षितकालभेदात् । चशब्दाद् भावविषयात्, वर्णाद्यनेकप्रकारत्वाद् भावानामिति गाथार्थः ॥५३॥ एवं तावदवधिज्ञानमभिधाय साम्प्रतं ये बाह्यावधयो ये चाभ्यन्तरावधयो भवन्ति तानुषदर्शयन्नाह—

०ेरतिय-देव-तिथंकरा य ओहिस्सञ्चाहिरा होंति ।
पासंति सव्वओ खलु सेसा देसेण पासंति ॥५४॥

से तं ओहिणाणं ।

गेरइय० गाहा । व्याख्या—नारकाश देवाश तीर्थकराशेति समाप्तः । चशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, अस्य च व्यवहितः प्रयोग इति दर्शयिष्यामः । एते नारकादयः ‘अवधेः’ अवधिज्ञानस्य न बाह्या अवाह्या भवन्ति । इदमत्र हृदयम्—अवध्युपलब्धक्षेत्रस्यान्तर्वर्तन्ते, सर्वतोऽवभासकत्वात्, प्रदीपवत्, अबाह्यावधय एव भवन्ति, नैषां 10 बाह्यावधिर्भवतीत्यर्थः । तथा पश्यति ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु एव दिक्षु च, खलुशब्दोऽप्येकारार्थः, स चावधारणे, सर्वास्वेव दिक्षिति । आह—‘अवधेरबाह्या भवन्ति’ इत्यस्मादेव सर्वत इत्यस्य सिद्धत्वात् सर्वतोग्रहणमतिरिच्यते? इति, अत्रोच्यते, नन्वभ्यन्तरत्वे सत्यपि न सर्वे सर्वतः पश्यन्ति, दिगन्तरालादर्शनाद्, अवधेर्विचित्रत्वात्, अतो नातिरिच्यत इति । ‘शेषाः’ तिर्यग्-नराः ‘देशेनेति’ एकदेशेन पश्यन्ति, अत्रेष्टोऽवधारणविधिः, शेषा एव देशतः पश्यन्ति, न तु देशत एवेति गाथार्थः ॥ अथवाऽन्यथा व्याख्यायते—एवं तावदवधिज्ञानमभिधाय साम्प्रतं ये 15 नियतावधयो ये चानियतावधयो भवन्ति तान् प्रतिपादयन्नाह—

नेरइय० गाहा । व्याख्या—नारका देवास्तीर्थकरा एवाक्षेरबाह्या भवन्ति । किमुक्तं भवति?—नियतावधयो भवन्ति, नियमेनैषामवधिर्भवतीत्यर्थः, तेन चावधिना पश्यन्ति सर्वत एव, न पुनर्देशतोऽपि । अत्राऽह—‘पश्यन्ति सर्वत एव’ इत्येतावदेवास्तु, ‘अवधेरबाह्या भवन्ति’ इत्येतत् त्वनर्थकम्, नियतावधित्वस्थार्थसिद्धत्वात्, तथा चोक्तम्—“द्वयोर्भवप्रत्ययः, तद्यथा—देवानां च नारकाणां च” [सुत्त १३] इति, अतोऽर्थगम्यम्यवैषां नियतावधि- 20 त्वम्, तीर्थकृतामपि प्रसिद्धतरपारभविकावधिसमन्वागमादेव नियतावधित्वसिद्धिरिति, अत्रोच्यते, नियतावधित्वे सिद्धेऽपि न सर्वकालावस्थायित्वसिद्धिरित्यतस्तप्रदर्शनार्थम् ‘अवधेरबाह्या भवन्ति’ इति सदाऽवधिज्ञानवन्तो भवन्ति इति ज्ञापनार्थत्वाददुष्टम् । यदेवं तीर्थकृतां सर्वकालावस्थायित्वं विरुद्ध्यत इति, न, छब्दस्थकालस्यैव विवक्षितत्वात्, अलं विस्तरेण । शेषं पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

“से तं ओहिणाणं” ति तदेतदवधिज्ञानम् ॥

३०. [१] से कि तं मणपञ्जवणाणं? मणपञ्जवणाणे णं भंते! कि मणुस्साणं उपज्जइ अमणुस्साणं? गोयमा! मणुस्साणं, णो अमणुस्साणं । [२] जइ मणु-स्साणं कि सम्मुच्छिमणुस्साणं गब्भवकंतियमणुस्साणं? गोयमा! णो सम्मुच्छिम-मणुस्साणं, गब्भवकंतियमणुस्साणं । [३] जइ गब्भवकंतियमणुस्साणं कि कम्मभूम-गगब्भवकंतियमणुस्साणं अकम्मभूमगगब्भवकंतियमणुस्साणं अंतरदीवगगब्भवकंतियमणु- 30

संखेज्जवासाउयकम्भभूमगगबभवकंतियमणुस्साणं अणिड्विपत्तअपमत्तसंजयसम्महिडि-
पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्भभूमगगबभवकंतियमणुस्साणं ? गोयमा ! इड्विपत्तअपमत्तसंजय-
सम्महिडि पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्भभूमगगबभवकंतियमणुस्साणं, णो अणिड्विपत्तअपम-
त्तसंजयसम्महिडि पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्भभूमगगबभवकंतियमणुस्साणं मणपञ्जवणाणं
समुप्पञ्जाइ ।

5

३०. से किंतं मणपञ्जवणाणमित्यादि । अथ किं तद् मनःपर्यायज्ञानम् ?, इदं प्रान्निरुपितशब्दार्थमेव । साम्प्रतमुत्पत्ति-स्वामिमार्गणाद्वारेण चिन्त्यते । तथा चाह—“मणपञ्जवणाणे णं भंते” इत्यादि । मनःपर्यायज्ञानं “ण”मिति वाक्यालङ्कारे, ‘भदन्त !’ इति गुर्वामन्त्रणम्, ‘किम्’ इति परिमश्ने, मनुष्याणामुत्पद्यत इति प्रकटार्थम्, अमनुष्याणामुत्पद्यत इति । अमनुष्याः-देवादयः । अत्रेदं निर्बचनम्—“गौतम ! मणुस्साण”मित्यादि । आह—किमिदं अकाण्ड एव गौतमामन्त्रणम् ? ननु देववाचकरचितोऽयं ग्रन्थ इत्युच्यते, सत्यम्, किन्त्वेते पैर्वसूत्रालापका 10 एवार्थवशाद् विरचिताः, “जावइया तिसमयाहारगस्से” [आव. नि. गा. ३०] त्यादिनिर्युक्तिगाथासूत्रवद् इत्यतो न दोषः, तत्र च गौतमप्रश्न-भगवन्निर्वचनरूप एव ग्रन्थ इति । पुनरप्याह-ननु गौतमोऽपि सूत्रतः प्रवचनपणेतत्वात् चतुर्दशपूर्वधरत्वात् सकलप्रज्ञापनीयभावपरिज्ञानयुक्तत्वात् सर्वज्ञकल्य एत, उक्तं च—

संखातीते वि भवे साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा । ण य णं अणाइसेसी विवाणई एस छउमत्थो ॥ १ ॥

[आव. नि. गा. ५९०] 15

ततः किमर्थं पृच्छति ?, अत्रोच्यते, कुतश्चिदभिप्रायात्, जानान एव स्वशिष्येभ्यो वा प्रलप्य तत्सम्प्रत्यय-निमित्तम्, सूत्ररचनाकल्यतो वेति न दोषः, कृतं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः—गौतमेन पृष्ठो भगवानाह-गौतम ! मनुष्याणामुत्पद्यते, नान्येषाम्, विशिष्टचारित्रप्रतिपत्त्यभावात् । एवमन्यत्रापि भावना कार्येति । सम्मुच्छिममनुष्या गर्भंव्युत्क्रान्तिकमनुष्यवान्तादिसमुद्भवाः । उक्तं च—“कहि णं भंते ! सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति ? गोयमा ! अंतोमणुस्सखेते पण्यालीसाए जोयणसयसहस्रेसु अङ्गाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पञ्चससु कम्भभूमीसु 20 तीसाए अकम्भभूमीसु छप्पन्नाते अंतरदीवएसु गवभवकंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा [पूर्णसु वा] सोणिएसु वा सुकेसु वा सुकपोगलपरिसाडेसु वा विगय[जीव]कलेवरेसु वा थी-पुरिसंजोगेसु वा गामणिद्वमणेसु वा णगरणिद्वमणेसु वा सच्चेसु चेव अमुडाणेसु वा, एत्थ णं सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए असन्नी मिच्छहिड्वी अन्नाणी सब्बाहिं पञ्जत्तीहिं अपञ्जत्तगा अंतोमुहुत्तद्वाउया चेत्र कालं करंति । [प्रज्ञा० पदं १ सूत्रं ३६ पत्रं ५०-१] भरताद्याः पञ्चदश 25 कर्मभूमयः । हैमवताद्याद्विशदकर्मभूमयः । त्रीणि योजनशतानि लवणजलविजलमध्यमधिलङ्घ्य हिमवच्छिखरिपादप्रतिष्ठिता एकोरुकाद्याः पट्टपञ्चाशदन्तर्दीपा भवन्ति । कर्मभूमौ जाताः कर्मभूमिजा इत्येवमक्षरगमनिका कार्या । सह्येयवर्षायुषः-पूर्वकोट्यादिजीविनः । असह्येयवर्षायुषः-पल्योपमादिजीविन इति ।

इह पर्याप्तिनाम-शक्तिः, सा च पुद्गलद्वयोपचयादुत्पद्यते । सा पुनः पट्टपकारा, तथा-आहारपर्याप्तिः १
शरीरपर्याप्तिः २ इन्द्रियपर्याप्तिः ३ ग्राणापानपर्याप्तिः ४ भाषापर्याप्तिः ५ मनःपर्याप्तिश्वेति ६ । तत्र पर्याप्तिः- 30

१ ‘पूर्वसूत्रालापका’ शानप्रवादाख्यपूर्वसत्का आलापका इत्यर्थः ॥

क्रियापरिसमाप्तिः । आत्मनः शरीरेन्द्रिय-प्राणापान-ब्राह्मनोयोग्यदलिकद्रव्याहरणक्रियापरिसमाप्तिराहारपर्याप्तिः १। गृहीतस्य शरीरतया संस्थापनक्रियापरिसमाप्तिः शरीरपर्याप्तिः, संस्थानरचनाघटनमित्यर्थः २। त्वगा-दीन्द्रियनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः ३। प्राणापानक्रियायोग्यद्रव्यग्रहणशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः ४। भाषायोग्यद्रव्यग्रहण-निसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिः भाषापर्याप्तिः ५। मनस्त्वयोग्य-५ द्रव्यग्रहण-निसर्गशक्तिनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिर्मनःप्रर्याप्तिरित्येके । आसां युगपदारब्धानामपि क्रमेण परिसमाप्तिः, उत्तरोत्तरस्त्रिमतरत्वात् । अत्र चाऽऽद्याश्रतस्य एकेन्द्रियाणाम्, पञ्च विकलेन्द्रियाणाम्, पद् संज्ञिनाम् । उक्तं च—
आहार सरीरिन्द्रिय पञ्जती आणुपाण भास मणे । चत्तारि पंच छ पिय एग्मिदिय-विग्ल-सञ्चीणं ॥ १ ॥

[बृहत्सं. गा. ३४९]

तत्र पर्याप्तकनामकमोर्दयाद् निष्पद्माननिष्पद्मपर्याप्तिमन्तः पर्याप्ताः, “अर्शआदिभ्यः” [गा. ५-२-१२७]

१० इत्यच् मत्वर्थीयः, त एव पर्याप्तकाः । एवमपर्याप्तकनामकमोर्दयादनिष्पद्मपर्याप्तियोगादपर्याप्ताः, त एवापर्याप्तका इति । सम्यग्-अविपरीता दृष्टिर्येषां ते तथा । मिथ्या-विपरीता दृष्टिर्येषां ते तथा । सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यस्तु प्रतिपत्त्यभिसुखा अन्तर्मुहूर्तमात्रं भवन्ति, न तु परित्यागाभिसुखाः । यत उक्तम्—

मिच्छन्ना संकंती अविरुद्धा होइ सम्म-मीसेसु । मीसाओ वा दोसु वि, सम्मा मिच्छं, न एुण मीसं ॥ १ ॥

[कल्पभा. गा. ११४]

१५ संयताः—सकलचारित्रिणः । असंयताः—अविरतसम्यग्वृष्ट्यः । संयतासंयताः—देशविरतिमन्तः श्रावकाः । प्रमत्तसंयताः—गच्छवासिनः, कचिदनुपयोगसम्भवात् । अप्रमत्तसंयतास्तु—जिनकलिकादयः, सततोपयोगात्; अथवा गच्छवासिनः तन्निर्गताश्च परिणामविशेषतः प्रमत्ताश्चाप्रमत्ताश्चावगत्व्या इति । आमधौषध्यादिलिङ्गलक्षणा क्रज्जयः, तासामन्यतरभासियोगात् प्रापद्यः अवधिक्रज्जिभावाद्वा । अन्ये त्वयिक्रज्जौ नियममभिद्यति । इह च सर्वत्रैव मनुष्यादिषु विधाने सत्यर्थतो गम्यमानस्यापि विपक्षनिषेधस्याभिधानमन्युत्पन्नविनेयजनानुग्रहार्थमदुष्टमेवेति । २० तथाहि—सर्वपार्षदं हीदं शास्त्रम्, त्रिविधाश्च विनेया भवन्ति, तथाथा—उद्घटितज्ञाः १ मध्यमबुद्धयः २ प्रपञ्चधिय-३ श्रेत्यलं विस्तरेण । स्थितमेतत्—प्रापद्यप्रमत्तसंयतानामुत्पद्यते ॥

३१. तं च दुविहं उपज्ञाइ, तं जहा-उज्जुमती य विजुलमती य ।

३१. एतच्चोत्पद्यमानं द्विधोत्पद्यते, तथाथा—क्रज्जुमतिश्च विपुलमतिश्च । मननं मतिः, संवेदनमित्यर्थः, क्रज्जी—सामान्यग्राहिणी मतिः क्रज्जुमतिः, ‘घटोऽनेन चिन्तितः’ इत्यध्यवसायनिवन्धनमनोद्रव्यप्रतिपत्तिरित्यर्थः । २५ एवं विपुला—विशेषग्राहिणी मतिर्विपुलमतिः, ‘घटोऽनेन चिन्तितः, स च सौर्वणः पाटलिपुत्रकोऽव्यतनो महान्’ इत्याद्यव्यवसायहेतुभूतमनोद्रव्यविज्ञमिरिति भावार्थः । अस्यां व्युत्पत्ती स्वतन्त्रं ज्ञानमेव गृह्णत इति । अथवा क्रज्जी—सामान्यग्राहिणी मतिरस्य सोऽयं क्रज्जुमतिः, तद्वानेव गृह्णते । एवं विपुला—विशेषग्राहिणी मतिरस्येति विपुलमतिः, तद्वानेव । भावार्थः प्राग्वद्, उत्तरत्र वा वक्ष्यामः ॥

३२. तं समासओ चउविहं पण्णतं, तं जहा-दब्वओ खेत्तओ कालओ भावओ ।

३० तत्य दब्वओ णं उज्जुमती अणंते अणंतपदेसिए खंधे जाणइ पासइ, ते चेव विजुलमती

१ दोषिण वि, ण उ सम्मा परिणमे मीसं इति कल्पमाण्ये ॥

अब्भहियतराए जाणति पासति । खेत्तओ णं उज्जुमती अहे जाव इमीसे रथणप्पभाए पुढीवीए उवरिमहेड्हिलाइं खुड्हागपयराइं उड्हुं जाव जोतिसस्स उवरिमितले तिरियं जाव अंतोमणु-स्सखिते अड्हाइज्जोसु दीव-समुद्देसु सण्णीणं पंचेदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगते भावे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमती अड्हाइज्जोहि अंगुलेहि अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं खेत्तं जाणति पासति । कालओ णं उज्जुमती जहणेण पलिओ-⁵ वमस्स असंखेज्जतिभागं उकोसेण पि पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं अतीयमणागयं वा कालं जाणति पासति, तं चेव विउलमती अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धतरागं विति-मिरतरागं जाणइ पासइ । भावओ णं उज्जुमती अणंते भावे जाणइ पासइ सञ्चभा-वाणं अणंतभागं जाणइ पासइ, तं चेव विउलमती अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धत-¹⁰ रागं वितिमिरतरागं जाणइ पासइ ।

इ२. तं समासतो इत्यादि । तत् समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञम्, तथा-द्रव्यतः १ क्षेत्रतः २ कालतो ३ भावतः ४ । तत्र द्रव्यतः “णं” इति पूर्ववत्, क्रुजुमतिः ‘अनन्तान्’ अपरिमितान् ‘अनन्तप्रदेशकान्’ अनन्तपरमाण्वात्मकानित्यर्थः, ‘स्कधान्’ विशिष्टैकपरिणामपरिणामान् सठिज्ञभिः पञ्चेन्द्रियैः पर्यामूर्कैर्द्धरुतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्त्तिभिर्मनस्त्वेन परि-णामितानित्यर्थः, ‘जानीते’ इति मनःपर्यायज्ञानावरणक्षयोपशमस्य पडुत्वात् साक्षात्कारेण विशेषभूयिष्ठपरिच्छेदा-जानीत इत्युच्यते । तदालोचितं पुनर्थं घटादिलक्षणमध्यक्षतो न जानाति, किन्तु तत्परिणामान्यथाऽनुपपत्त्या-¹⁵ ऽनुमानतः पश्यतीत्युच्यते । उक्तं च भाष्यकारेण—“जाणति बज्ज्ञेऽनुमाणाओ” [विशेषा. गा. ८१४] चिः । इत्थं चैतदज्ञीकर्त्तव्यम्, यतो मूर्च्छद्रव्यालम्बनमेवेदम्, मन्तारस्त्वमूर्च्छमपि धर्मास्तिकायादिकं मन्येरन्, न च तदनेन साक्षात्कर्तुं शक्यते । तथा चतुर्विधं च चक्षुर्दर्शनादि दर्शनमुक्तम्, अतो भिन्नालम्बनमेवेदमवसेयम्, तत्र च दर्शन-सम्भवात् पश्यतीत्यपि न दुष्टम्, एकप्रमात्रपेक्षया तदनन्तरभावित्वाच्चोपन्यस्तमिति । ओघतो वा एकविधक्षयो-पश्मलब्धौ विविधोपयोगसम्भवाद् विशेष-सामान्यार्थाधेक्षया जानाति पश्यति चेत्यदुष्टमित्यलं विस्तरेण । तानेव ²⁰ विपुलमतिः अस्यधिकतरान् स्कन्धान् द्रव्यार्थतया वर्णादिभिश्च जानाति पश्यति च १ । क्षेत्रत क्रुजुमतिः अधो यावदस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या उपरिमाधस्त्यानि भुलुकप्रतरपरिज्ञानार्थमिमं पण्णविज्ञति—

तिरियलोकस्स उड्हा-उहमटारसजोयणसतियस्स बहुमज्जे एत्थं असंखेज्जंगुलभागमेत्ता लोगागासपतरा अलो-गेण संखेदिया सञ्चयुड्हागतरा खुड्हागपतर त्ति भश्नति, ते य सञ्चतो रज्जुप्पमाणा । तेसिं [जे] बहुमज्जे दो खुड्हाग-²⁵ पतरा तेसिं [पि] बहुमज्जे जंबुदीवे रथणप्पभपुढीवहुसमभूमिभागे मंदरस्स बहुमज्जे एत्थऽद्वपएसो रुयगो, जत्तो दिसि-विदिसिविभागो पवत्तो, एयं तिरियलोयमज्जं । एयातो तिरियलोयमज्जातो रज्जुप्पमाणखुड्हागपतरेर्हितो उवरि-तिरियं असंखेयंगुलभागबुड्ही, उवरिहुत्तो वि अंगुलअसंखेयभागरोहो चेव, एवं तिरियमुवरि च अंगुलासंखेयभागबु-ड्हीए ताव लोगबुड्ही णेयव्वा जाव उड्हलोयमज्जं, ततो पुणो तेणेव कमेणं संवद्वो कायव्वो जाव उवरिम-लोगंतो रज्जुप्पमाणो, तत्तो उड्हलोगमज्जातो उवरि हेट्वा य कमेण खुड्हागपतरा भाणियव्वा जाव रज्जुप्पमाणा खुड्हागपयर त्ति । तिरियलोयमज्जरज्जुप्पमाणखुड्हागपतरेर्हितो वि हेट्वा अंगुलस्स असंखेयभागबुड्ही तिरियं, अहो-³⁰

अवगाहेण वि अंगुलस्स असंखेयभागो चेव, एवमहोलोगो वडेयव्वो जाव अहोलोगांतो सचरज्जूओ, सचरज्जु-पतरेहितो वि उवर्दिं कमेण खुड्हागपयरा भाणियव्वा जाव तिरियलोयमज्ज्ञा रज्जुपमाणा खुड्हागपयर त्ति ।

एवं खुड्हागपरूपे कते इमं भन्नइ—“उवरिम” त्ति तिरियलोयमज्ज्ञाओ अहो जाव जोयणसयाणि ताव इमीसे रयणप्पभाए पुढ्वीते उवरिमखुड्हागपतर त्ति भन्नंति, तदधो अधोलोगे जाव अहोलोगिया गाम त्ति 5 एए हेड्हिमखुड्हागपयर त्ति भन्नंति, रिजुमती अहो ताव पस्सति त्ति भणियं होइ । अहवा अहोलोगस्स उवरिमा खुड्हागपयरा तिरियलोगस्स य हेड्हिमा खुड्हागपयर त्ति ते जाव पश्यतीत्यर्थः । अने भणंति—“उवरिम” त्ति अधोलोगोवरि जे ते उवरिमा, के य ते ?, उच्यते, सञ्चतिरियलोगवत्तिणो तिरियलोगस्स वा अहो नवजोयण-सतवत्तिणो, ताण चेव जे हेड्हिमा ते जाव पश्यतीत्यर्थः, इमं च ण घडति, अहोलोइयसाममणपज्जवणाणसंभव-बाहल्लत्तणओ (? संभवपाहणत्तणओ) । उक्तं च—

10 इहाधोलौकिका ग्रामा न तिर्यग्लोकवर्त्तिनः । मनोगतांस्त्वसौ भावान् वेत्ति तद्वर्त्तिनामपि ॥१॥

[]

अलं प्रसङ्गेन । एवमूर्ध्वं यावज्ज्योतिश्वकस्योपरितलम्, तिर्यग् यावद् ‘अन्तोमनुष्यक्षेत्रे’ मनुष्यलोकान्त इत्यर्थः । शेषं सुगमं यावत् “सण्णीणं पंचिदियाणं” इत्यादि । तत्र संज्ञिनोऽपान्तरालगतावपि तदायुष्कसंवेदनादभिधीयन्त एव, न तैरिहाधिकार इत्यतः पञ्चेन्द्रियग्रहणम्, तेऽपि चोपपातक्षेत्रपासां अपि मनःपर्याप्त्या अपर्याप्तका 15 अपि भण्यन्ते, न च तैरपीहाधिकार इत्यतः पर्याप्तकग्रहणमिति । स्वरूपकथनं वा सञ्ज्ञिनां पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तकानामिति । अथवा संज्ञिनो हेतुवादोपदेशेन विकलेन्द्रिया अपि भण्यन्ते, तद्वयवच्छेदार्थं पञ्चेन्द्रियग्रहणम्, तेऽप्यपर्याप्तका अपि भवन्ति अतः पर्याप्तकग्रहणमिति । “तं चेवे” त्यादि, इह क्षेत्राधिकारस्यैव प्राधान्यात् ‘तदेव’ मनोल-ब्धिसमन्वितजीवाधारं क्षेत्रमभिगृह्णते । विषुलमितिः अर्द्धं तृतीयस्य येषु तान्यर्द्धतृतीयानि तैरभ्यधिकतरम्, प्रभूत-तरमित्यर्थः, तदेव प्राकृतशैल्या अभ्यधिकतरकम्, एवं शेषेष्वपि द्रष्टव्यम् । तत्रैकदिशमप्यधिकतरं भवत्यतः 20 सर्वतोऽभ्यधिकतरमिति प्रतिपादनार्थमाह—‘विपुलतरं’ विस्तीर्णतरम्, अथवाऽयाम-विष्कम्भावाश्रित्याभ्यधिकतरम्, बाहल्यमाश्रित्य विपुलतरम् । तथा ‘विशुद्धतरं’ निर्मलतरमित्यर्थः, यथा चन्द्रकान्तादिप्रकाशकद्रव्यं विमलविमल-तरविशेषाद् विमलप्रकाशितद्रष्टुः सकाशाद् विमलतरप्रकाशितद्रष्टा विशुद्धतरं पश्यति, एवं विष्कम्भितोदयमनः-पर्यायज्ञानावरणस्य कारणभेदतो मन्दमन्दतरविशेषभावाद् ऋजुमतेः सकाशाद् विपुलमतिर्विशुद्धतरमिति, उप-शान्तावरणविशेषादपि ज्ञानस्य विशेष इत्येतावतांशेन दृष्टान्तः । तथा तदावरणक्षयोपशमविशेषाच्च ‘वितिमिरतरं’ 25 निर्मलतरम् । अथवा प्रावृद्धतदावरणकर्मक्षयोपशमस्य प्रधानलाद् विशुद्धतरम्, बध्यमानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषाच्च वितिमिरतरम्, बध्यमानाभावाच्च वितिमिरतरमित्यन्ये । अथवैकार्थिका एवैते शब्दाः नानादेशजानां विनेयानां कस्यचित् कश्चित् प्रसिद्धो भवतीत्युपन्यस्ताः । क्षेत्रं “तात्स्थ्यात् तद्वयपदेशः” इति जानाति पश्यति । शेषं निगदसिद्धं यावत्—

३३. मणपज्जवणाणं पुण जणमणपरिच्छितियथपायडणं ।

30 माणुसखेत्तणिबद्धं गुणपच्चायं चरित्वओ ॥ ५५ ॥

से तं मणपज्जवणाणं ।

३३. मणपञ्जव० गाहा । व्याख्या—मनःपर्यायज्ञानं प्राप्तिरूपितशब्दार्थम् । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । इदं हि रूपिनिबन्धन-क्षायोपशमिक-प्रत्यक्षादिसाम्येऽपि सत्यवधिज्ञानात् स्वाभ्यादिभेदेन विशिष्टमिति स्वरूपतः प्रतिपादयन्नाह-जायन्त इति जनाः, तेषां मनांसि जनमनांसि, जनमनोभिः परिचिनिततः जनमनःपरिचिनिततः, जनमनःपरिचिनिततश्चासावर्थथेति समासः, तं प्रकटयति-प्रकाशयति जनमनःपरिचिनिततार्थप्रकटनम् । मात्रुष-क्षेत्रम्-अर्द्धत्रीयद्विपस्मुदपरिमाणं तन्निबद्धम्, न तद्बहिर्व्यवस्थितप्राणिमनःपरिचिनिततार्थविषयं प्रवर्जत इत्यर्थः । ५ गुणाः-क्षान्त्यादयः त एव प्रत्ययाः-कारणानि यस्य तद् गुणप्रत्ययम् । चारित्रमस्यास्तीति चारित्रवान् तस्य चारित्रवत् एवेदं भवति । एतदुक्तं भवति-अप्रमत्तसंयतस्य आमदौषःयादिक्रदिप्राप्तस्य चेति गाथार्थः ॥५५॥

“से तं मणपञ्जवणाणं” तदेतन्मनःपर्यायज्ञानमिति ॥

३४. से किं तं केवलणाणं ? केवलणाणं दुविहं पण्णतं, तं जहा-भवत्यकेवलणाणं च सिद्धकेवलणाणं च ।

३४. से किं तं केवलणाणं ? इत्यादि । अथ किं तत् केवलज्ञानम् ?, केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञसम्, तद्यथा-भवस्थकेवलज्ञानं च सिद्धकेवलज्ञानं च । भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिन इति भवः, भवो गतिर्जन्मेति पर्यायाः, भवे तिष्ठतीति भवस्थः, तस्य केवलज्ञानं भवस्थकेवलज्ञानम् । “पिधौ संराद्दो” [पा. धातु. ११९२] “राध साध संसिद्धो” [पा. धातु. १२६३-६४] “पिधू शावे माङ्गल्ये च” [पा. धातु. ४८] सिद्ध्यति स्म सिद्धः, यो येन गुणेन निष्पन्नः-परिनिष्ठितः, न पुनः साधनीयः, सिद्धौदनवत्, स सिद्धः । स च कर्मसिद्धादिभेदादनेकविधः । उक्तं च— १५

कम्मे सिष्पे य विज्ञा य मंते जोगे य आगमे । अत्थ जत्ता अभिष्पाए तवे कम्मक्खए इ य ॥१॥

[आव. नि. गा. ५२७]

इह कर्मक्षयसिद्धेनाधिकारः, स चाशेषकर्मांशक्षयात् कर्मक्षयसिद्धः । सितध्वंसित्वाद्वा सिद्धः, “सि वर्ण-बन्धनयोः” [] इति । सितं-वद्मष्टप्रकारं कर्म तद् ध्वंसितुं शीलमस्येति सितध्वंसी सिद्धः, तस्य केवलज्ञानं सिद्धकेवलज्ञानम् ॥

३५. से किं तं भवत्यकेवलणाणं ? भवत्यकेवलणाणं दुविहं पण्णतं, तं जहा-सजो-गिभवत्यकेवलणाणं च अजोगिभवत्यकेवलनाणं च ।

३५. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् भवस्थकेवलज्ञानम् ?, भवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञसम् । तद्यथा-सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च अयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च । इह युज्यन्त इति योगाः कायादयः, उक्तं च-“काय-चाङ्-मनःकर्म योगः” [तत्त्वा. ६.१] । तत्रौदारिकादिशरीरयुक्तस्याऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काय- २५ योगः । तथौदारिक-वैक्रिया-ऽहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्व्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः । तथौदारिक-वैक्रिया-ऽहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्व्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो भनोयोगः । तद् यथासम्भवं योगोऽस्य विद्यत इति सयोगी, सयोगी चासौ भवस्थश्च सयोगिभवस्थः, तस्य केवलज्ञानं सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् । एवं न योगी अयोगी, स च भवस्थश्च तस्य केवलज्ञानं अयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्, शैलेश्यवस्थागतस्येत्यर्थः ॥

३६. से किं तं सजोगिभवत्यकेवलणाणं ? सजोगिभवत्यकेवलणाणं दुविहं पण्णतं, ३०

तं जहा-पद्मसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च अपद्मसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च, अहवा चरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च अचरिमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च । से तं सजोगिभवत्थकेवलणाणं ।

३६. अथ किं तत् सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् ?, सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-प्रथमस-
५ मयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च अप्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च । तत्र प्रथमसमयः-तत्प्रथमतयोत्पत्ति-समय एव गृह्णते, न प्रथमोऽप्रथमः-द्वितीयादयः सर्वं एव शैलेश्यवस्थाप्राप्तेरप्रथमसमया इति । अथवेत्यन्यथा प्रतिपाद्यते-“चरमसमये” त्यादि, तत्र चरमः-सयोगिकालान्त्यसमयः, न चरमोऽचरमः, प्रश्नानुपूर्व्या चरमादार-भ्य सर्वं एव केवलप्राप्तेरचरमा इति । “से त” मित्यादि निगमनम् ॥

३७. से किं तं अजोगिभवत्थकेवलणाणं ? अजोगिभवत्थकेवलणाणं दुविहं पण्णतं,
१० तं जहा-पद्मसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च अपद्मसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च, अहवा चरिमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च अचरिमसमयअजोगिभवत्थकेवलणाणं च । से तं अजोगिभवत्थकेवलणाणं ।

३७. से किं तमित्यादि । अत्रापि शैलेश्यवस्थाभावि केवलज्ञानमधिकृत्यैव मेव भावनीयम् । अलं विस्त-
रेण । “से त” मित्यादि निगमनम्, तदेतद् भवस्थकेवलज्ञानम् ॥

१५ ३८. से किं तं सिद्धकेवलणाणं ? सिद्धकेवलणाणं दुविहं पण्णतं, तं जहा-अणंतरसिद्ध-
केवलणाणं च परंपरसिद्धकेवलणाणं च ।

३८. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् सिद्धकेवलज्ञानम् ?, सिद्धकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं च परम्परसिद्धकेवलज्ञानं च । तत्र शैलेश्यवस्थापर्यन्तवर्त्तिसमयसमाप्तिसिद्धत्वस्य तस्मिन्नेव समये यत् केवलज्ञानं तदनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम् । ततो द्वितीयादिसमयेष्वनन्तामप्यनागताद्वां परम्पर-
२० सिद्धकेवलज्ञानमिति ॥

३९. से किं तं अणंतरसिद्धकेवलणाणं ? अणंतरसिद्धकेवलणाणं पण्णरसविहं पण्णतं,
तं जहा-तिथसिद्धा १ अतिथसिद्धा २ तिथगरसिद्धा ३ अतिथगरसिद्धा ४ सयंबुद्ध-
सिद्धा ५ पत्तेयबुद्धसिद्धा ६ बुद्धबोहियसिद्धा ७ इत्थिलिंगसिद्धा ८ पुरिसिद्धा ९
णपुंसगलिंगसिद्धा १० सलिंगसिद्धा ११ अणलिंगसिद्धा १२ गिहिलिंगसिद्धा १३ एगसिद्धा
२५ १४ अणेगसिद्धा १५ । से तं अणंतरसिद्धकेवलणाणं ।

४०. से किं तमित्यादि प्रश्नसूत्रस्य निर्वचनम्-अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं पञ्चदशविधं प्रज्ञप्तम्, सिद्धान-
मेवानन्तरभवगतोपाधिभेदेन पञ्चदशभेदभिन्नत्वात् । पञ्चदशभेदभिन्नतामेव दर्शयन्नाह-‘तद्यथा-तीर्थसिद्धाः’
इत्यादि । तत्र येनेह जीवा जन्म-जरा-मरणसलिलं मिथ्यादर्शना-ज्विरतिगम्भीरं विचित्रदुःखगणकरिमकरं राग-
द्वेषपवनपक्षोभितमनन्तसंसारसागरं तरन्ति तत् तीर्थमिति, तच्च यथावस्थितसकलजीवा-जीवादिपदार्थप्रलयकं

अत्यन्तानन्दधा-उन्न्याविज्ञातचरणक्रियाधारं अचिन्त्यशक्तिसमन्विताविसंबाद्युद्गुपकल्पं चतुर्भिंशदतिशयसमन्वितपरमगुरुप्रणीतं प्रवचनम्, एतच सङ्घः प्रथमगणधरो वा, तथा चोक्तम्—“तित्थं भंते तित्थं ? तित्थकरे तित्थं ?, गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थकरे, तित्थं पुण चाउव्यणो समणसंधो पढमगणहरो वा” [भग. श. २३. उ. ८ सू. ६८२] इत्यादि, ततश्च तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धास्ते तीर्थसिद्धाः १ । ‘अतीर्थसिद्धाः’ तीर्थान्तरसिद्धा इत्यर्थः, श्रूयते च—“जिणंतरे साहुद्वोच्छेऽओ” [आव. नि. गा. ३६५] च्चि, तत्रापि जातिस्मरणादिनाऽवासापवर्गमार्गाः ५ सिध्यन्त्येव; मरुदेविप्रभृतयो वाऽतीर्थसिद्धाः, तदा तीर्थस्यानुत्पन्नत्वात् २ । ‘तीर्थकरसिद्धाः’ तीर्थकरा एव ३ । ‘अतीर्थकरसिद्धाः’ अन्ये सामान्यकेवलिनः ४ । स्वयं बुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते स्वयम्बुद्धसिद्धाः ५ । प्रत्येकबुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते प्रत्येकबुद्धसिद्धा इति ६ ।

अथ स्वयम्बुद्ध-प्रत्येकबुद्धयोः कः प्रतिविशेषः ? इति, उच्यते, बोध्युपधि-श्रुत-लिङ्गकृतो विशेषः । तथाहि-
स्वयम्बुद्धा वाह्यप्रत्ययमन्तरेणैव बुध्यन्ते, प्रत्येकबुद्धास्तु न तद्विरहेण । श्रूयते च वाह्यवृषभादिप्रत्ययसापेक्षा करक- 10
ण्हवादीनां प्रत्येकबुद्धानां बोधिरिति । उपधिस्तु स्वयम्बुद्धानां द्वादशविधिः पात्रादिः, प्रत्येकबुद्धानां तु नवविधिः
प्रावरणवर्जः । स्वयम्बुद्धानां पूर्वाधीतश्रुतेऽनियमः, प्रत्येकबुद्धानां तु नियमतो भवत्येव । लिङ्गप्रतिपत्तिः स्वयम्बु-
द्धानामाचार्यसंविधावपि भवति, प्रत्येकबुद्धानां तु देवता प्रयच्छतीत्यलं विस्तरेण ।

‘बुद्धबोधितसिद्धाः’ बुद्धाः—आचार्यस्तैवोर्धिताः सन्तो ये सिद्धास्त इह गृह्यन्ते ७ । एते च सर्वेऽपि
केचित् स्त्रीलिङ्गसिद्धाः ८ केचित् पुलिङ्गसिद्धाः ९ केचिन्पुंसकलिङ्गसिद्धा १० इति । आह-तीर्थकरा अपि स्त्रीलि- 15
ङ्गसिद्धा भवन्ति ?, भवन्तीत्याह, यत उक्तं सिद्धप्राप्तते—“सञ्चत्योवा तित्थगरीसिद्धा, तित्थगरितित्ये णोतित्थ-
सिद्धा संखेज्जगुणा, तित्थगरितित्ये णोतित्थगरिसिद्धाओ यो संखेज्जगुणाओ, तित्थगरितित्ये णोतित्थगरसिद्धा
संखेज्जगुणा” [गा. १०० वृत्तौ] इति, न तु नपुंसकलिङ्गः । प्रत्येकबुद्धास्तु पुलिङ्गा एव । ‘स्वलिङ्गसिद्धाः’ द्रव्यलिङ्गं
प्रति रजोहरण-गोच्छकधारिणः ११ । ‘अन्यलिङ्गसिद्धाः’ परिवाजकादिलिङ्गे सिद्धाः १२ । गृहिलिङ्गसिद्धा मरुदेवी-
प्रभृतयः १३ । ‘एकसिद्धाः’ इति एकस्मिन् समये एक एव सिद्धः १४ । ‘अणेगसिद्धाः’ इति एकस्मिन् समये 20
यावद् अष्टशतं सिद्धम् । यत उक्तम्—

बत्तीसा १ अडयाला २ सटी ३ बावत्तरी ४ य बोद्धवा । चुलसीती ५ छमठई ६ दुरहिय ७ अट्ठुचरसंयं ८ च ॥१॥
[बृहत्सं. गा. ३३३]

अत्राऽह चोदकः—ननु सर्वं एवैते भेदास्तीर्थसिद्धा-उतीर्थसिद्धभेदद्वयान्तर्भाविनः, तथाहि-तीर्थसिद्धा एव
तीर्थकरसिद्धाः, अतीर्थकरसिद्धा अपि तीर्थसिद्धा वा स्युः अतीर्थसिद्धा वेति, एवं शेषेष्वपि भावनीयमिति, अतः 25
किमेभिः ? इति, अत्रोच्यते, अन्तर्भावे सत्यपि पूर्वभेदद्वयादेवोत्तरोत्तरभेदाप्रतिपत्तेः, अज्ञातज्ञापनार्थं च भेदाभि-
धानमिति । “से त” मित्यादि निगमनम् ॥

४०. से किं तं परंपरसिद्धकेवलणाणं ? परंपरसिद्धकेवलणाणं अणेगविहं पण्णत्तं, तं
जहा—अपदमसमयसिद्धा दुसमयसिद्धा तिसमयसिद्धा चउसमयसिद्धा जाव दससमयसिद्धा
संखेज्जसमयसिद्धा असंखेज्जसमयसिद्धा अणंतसमयसिद्धा, से तं परंपरसिद्धकेवलणाणं । ३०
से तं सिद्धकेवलणाणं ।

४०. से किं तं परंपर इत्यादि । न प्रथमसमयसिद्धाः अप्रथमसमयसिद्धाः, परम्परसिद्धविशेषणप्रथम-
समयवर्त्तिनः, सिद्धतद्वितीयसमयवर्त्तिन इत्यर्थः । त्र्यादिषु तु द्विसमयसिद्धादयः प्रोच्यन्ते । यद्वा सामान्येनापथ-
मसमयसिद्धा अभिधानविशेषतो द्विसमयादिसिद्धाभिधानमिति । शेषं प्रकटार्थं यावत्—

४१. तं समासओ चउच्चिहं पण्णत्तं, तं जहा-दब्बओ खेत्तओ कालओ भावओ ।

५ तथ दब्बओ णं केवलणाणी सब्बदब्बाइं जाणइ पासइ । खेत्तओ णं केवलणाणी
सब्बं खेत्तं जाणइ पासइ । कालओ णं केवलणाणी सब्बं कालं जाणइ पासइ ।
भावओ णं केवलणाणी सब्बे भावे जाणइ पासइ ।

४२. तं समासतो इत्यादि । तदिति सामान्येन केवलज्ञानमसिगृहते । द्रव्यतः केवलज्ञानी 'सर्वद्रव्याणि'
धर्मास्तिकायादीनि साक्षाज्ञानाति पश्यति । क्षेत्रतः केवलज्ञानी 'सर्वं क्षेत्रं' लोका-उलोकभेदभिन्नं साक्षाज्ञानाति
१० पश्यति । [ग्र. १०००] इह च धर्मास्तिकायादिसर्वद्रव्यग्रहणे सत्यप्याकाशास्तिकायस्य क्षेत्रत्वेन रूढलाद् भेदे-
नोपन्यासः । कालतः केवलज्ञानी 'सर्वं कालं' अतीता-उनागत-वर्त्तमानभेदभिन्नं साज्ञाज्ञानाति पश्यति । भावतः
केवलज्ञानी 'सर्वान्' जीवा-उजीवगतान् भावान् गति-कषायाद्युरुल्पुलक्षणादीन् साक्षाज्ञानाति पश्यति ॥

इह च केवलज्ञान-दर्शनोपयोगचिन्तायां क्रमोपयोगादौ सूरीणामनेकविधा विप्रतिपत्तिः, अतः सङ्क्षेपतो
विनेयजनानुग्रहाय तत्प्रदर्शनं क्रियत इति । तत्र—

१५ कैर्द्धं भण्णति, जुगबं जाणइ पासइ य केवली णियमा ।
अन्ने एगंतरियं इच्छंति सुओवदेसेण ॥१॥
अन्ने ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवर्दिंदस्स ।

जं चिय केवलनाणं तं चिय से दंसणं बिंति ॥२॥ [विशेषणवती गा. १५३-५४]

गाथाद्वयम् । अस्य व्याख्या-'केचन' सिद्धसेनाचार्यादयः भण्णति । किम् ? 'युगपद' एकस्मिन्नेव काले
२० जानाति पश्यति च । कः ? केवली, न त्वन्यः, 'नियमाद्' नियमेन । 'अन्ये' जिनमदगणिकमाश्रमग्रभृतयः एका-
न्तरितं जानाति पश्यति चेत्येवमिच्छन्ति 'श्रुतोपदेशेन' यथाश्रुतागमानुसारेणेतर्थः । 'अन्ये तु' वृद्धाचार्याः 'न'
नैव 'विष्वक्' पृथक् तदर्शनमिच्छन्ति 'जिनवरेन्द्रस्य' केवलिन इत्यर्थः । किं तर्हि ?, यदेव केवलज्ञानं तदेव
"से" तस्य केवलिनो दर्शनं ब्रुवते, क्षीणावरणस्य देशज्ञानाभावात्, केवलदर्शनाभावादिति भावना । अयं
गाथाद्वयार्थः ॥१॥२॥ साम्प्रतं युगपदुपयोगवादिमतप्रदर्शनायाह—

२५ जं केवलाइं सादी-अपज्जवसियाइं दो वि भणियाइं ।
ता बिंति केइ, जुगबं जाणइ पासइ य सब्बन्नु ॥३॥ [विशेषणवती गा. १९३]

यस्मात् केवलज्ञान-दर्शने साध्यर्थवसिते द्वे अपि भणिते ततः ब्रुवते 'केचन' सिद्धसेनाचार्यादयः । किम् ?
'युगपद' एकस्मिन् काले जानाति पश्यति च । कः ? सर्वज्ञ इति गाथार्थः ॥३॥

इहराऽदी-णिधणत्तं मिच्छाऽवरणकर्खयो ति व जिणस्स ।

३० हयरेतरावरणता अहवा निकारणावरणं ॥४॥ [विशेषणवती गा. १९४]

१ केवलज्ञान-केवलदर्शनयुगपदुपयोगवादसम्मता एता एव चतुर्विंशतिगाथाः श्रीहस्तिरसूत्रादैर्घ्यमसङ्ग्रहण्यां गा. १३३६
तः १३५९ गाथात्वेनाऽस्ततः सन्ति ।

‘इतरथा’अन्यथा ‘आदि-निधनत्वं’ सादि-पर्यवसानत्वम्, केवलज्ञान-दर्शनयोरुत्पत्त्यनन्तरमेव केवलज्ञानोपयोग-काले केवलदर्शनाभावात्, एवं केवलदर्शनोपयोगकालेऽपि केवलज्ञानाभावात् । तथा मिथ्याऽवरणक्षय इति वा जिनस्य, न हप्तनीतावरणो द्वौ प्रदीपी क्रमेण प्रकाश्यं प्रकाशयत इत्यभिप्रायः । तथा इतरेतरावरणता, आवरणे क्षीणेऽप्यन्यतमभावे अन्यतमाभावादिति भावना । अथवा ‘निष्कारणावरणम्’ इति अकारणमेव अन्यतरो-पयोगकालेऽन्यतरस्याऽवरणम्, तथा च सति सर्वदैष भावा-उभावप्रसङ्गः । तथा चोक्तम्—5

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कल्पसम्भवः ॥ १ ॥

[प्रमाणवार्तिके ३-३४] इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

तह य असत्त्वन्तुत्तं असत्त्वदरिसितणप्पसंगो य ।

एगंतरोवओगे जिणस्स दोसा बहुविहीया ॥ ५ ॥ [विशेषणवती गा. १९५]

व्याख्या-तथा च सति असर्वज्ञत्वमसर्वदर्शित्प्रसङ्गश्च । पाक्षिकं वा असर्वज्ञत्वम्—यदा सर्वज्ञो न तदा 10 सर्वदर्शी, दर्शनोपयोगाभावात्; एवं यदा सर्वदर्शी न तदा सर्वज्ञः, ज्ञानोपयोगाभावात् । एवमेकान्तरोपयोगेऽन्युप-गम्यमाने सति ‘जिनस्य’ केवलिनो दोषा बहुविधा इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ एवं परेणोक्ते सत्यागमत्राद्याह—

भण्णति, भिन्नमुहूर्तोवयोगकाले वि तो तिणाणिस्स ।

मिच्छा छावद्वी सागरोवमादं खओवसमो ॥ ६ ॥ [विशेषणवती गा. २०२]

व्याख्या-यदुक्तम् ‘इतरथाऽदिनिधनत्वम् इति तदस्त्’ इति दर्शयति-उपयोग-उन्नयोगकालापेक्षयैव 15 साद्यपर्यवसितत्वात् केवलज्ञान-दर्शनयोरित्यभिप्रायः, न चानार्षमिदम्, कथम्? भण्यते—अन्यथा हि भिन्नमुहूर्तो-पयोगकालेऽपि मत्यादीनां तत्त्विज्ञानिनः मिथ्या षट्खण्ठिः सागरोपमाणि क्षयोपशमः, प्रतिपादितश्च सूत्रे, न च युगपदेव मत्याद्युपयोगः; एवं क्षायिकोपयोगेऽपि भविष्यति, जीवस्वाभाव्यादिति गाथाभिप्रायः ॥ ६ ॥

न च क्षयकार्येणावश्यमनवरतमेव भवितव्यमिति दर्शयन्नाह—

अह ण वि एवं ता सुण, जहेव खीणंतराइओ अरहा ।

संते वि अंतरायक्त्वयम्मि पंचप्पगारम्मि ॥ ७ ॥

सततं न देति लहति व भुंजति उवभुंजई व सत्त्वन्न् ।

कञ्जम्मि देति लभति व भुंजति व तहेव इहईं पि ॥ ८ ॥

किञ्च—दितस्स लभंतस्स य भुंजंतस्स व जिणस्स एस गुणो ।

खीणंतराइयत्ते जं से विघ्नं न संभवइ ॥ ९ ॥

उबउत्तस्सेमेव य णाणम्मि व दंसणम्मि व जिणस्स ।

खीणावरणगुणोऽयं, जं कसिणं मुणइ पासइ वा ॥ १० ॥ [विशेषणवती गा. २०३-६]

चो०-पासंतो वि न जाणइ, जाणं व ण पासती जह जिर्णिदो ।

एवं न कदाइ वि सो सत्त्वन्न् सत्त्वदरिसी य ॥ ११ ॥ [विशेषणवती गा. २१५]

व्याख्या-पश्यन्नपि न जानाति जानन् वा न पश्यति यदि जिनेन्द्रः, एवं न कदाचिदप्यसौ सर्वज्ञः सर्वदर्शी 30 च, युगपदन्यतरोपयोगकालेऽन्यतरोपयोगाभावादिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ सिद्धान्तवाद्याह—

जुगवमजाणतो वि हु चउहि वि णाणेहिं जह व चउणाणी ।

भण्णइ, तहेव अरहा सच्चन्दू सच्चदरिसी य ॥ १२ ॥ [विशेषणवती गा. २१६]

इयं तु निगदसिद्धैव । नवरं क्षायिकभावमाश्रित्येति गाथार्थः ॥ १२ ॥ एुनरप्याह—

तुल्ले उभयावरणक्लयम्मि पुच्छतरमुब्भवो कस्स ? ।

दुविहुवयोगाभावे जिणस्स जुगवं ति चोदेति ॥ १३ ॥ [विशेषणवती गा. २१७]

व्याख्या-तुल्ये 'उभयावरणक्षये' केवलज्ञान-दर्शनावरणक्षये 'पूर्वतरं' प्रथमतरं 'उद्दूवः' उत्पादः कस्य ? । यदि ज्ञानस्य स किंनिबन्धनः ? इति वाच्यम् . तदावरणक्षयनिबन्धन इति चेत्, दर्शनेऽपि तुल्य इति तस्याप्युद्धवभ्रसङ्गः; एवं दर्शनेऽपि वाच्यम्, अतः स्वावरणक्षयेऽपि दर्शनाभाववद् ज्ञानस्याप्यभावभ्रसङ्गः विषययो वा । एवं द्विविधो-पयोगाभावे 'जिनस्य युगपत्' इति चोदयति । अयं गाथार्थः ॥ १३ ॥ अत्र सिद्धान्तवाद्याह—

10 भण्णति, ण एस नियमो, जुगवुप्पन्नेण जुगवमेवेह ।

होयव्वं उवओगेण, एत्य सुण ताव दिट्ठंतं ॥ १४ ॥

जह जुगवुप्ततीय वि सुन्ते सम्मत्त-मति-सुतादीणं ।

णाथि जुगवोवयोगो सच्चेसु, तहेव केवलिणो ॥ १५ ॥

भणियं पि य पन्नत्ती-पन्नवणादीसु, जह जिणो समयं ।

15 जं जाणती न पासइ तं अणुरयणप्यभादीणं ॥ १६ ॥

[विशेषणवती गा. २१८-२० विशेषा. गा. ३११२]

इदं गाथात्रयमपि प्रकटार्थम् ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ अथुना ये केवलज्ञान-दर्शनाभेदवादिनस्तन्मतमुपन्यस्यन्नाह—

जह किर खीणावरणे देसन्नाणाण संभवो न जिणे ।

उभयावरणादीते तह केवलदंसणस्सावि ॥ १७ ॥ [विशेषणवती गा. १५५]

निगदसिद्धा ॥ १७ ॥ सिद्धान्तवाद्याह—

20 देसन्नाणोवरमे जह केवलणागसंभवो भणिओ ।

देसहंसणविगमे तह केवलदंसणं होउ ॥ १८ ॥

अह देसणाण-दंसणविगमे तुह केवलं मयं णाणं ।

ण मतं केवलदंसणमिच्छामेत्तं णणु तवेयं ॥ १९ ॥ [विशेषणवती गा. १५६-५७]

भण्णइ, जहोहिणाणी जाणइ पासइ य भासितं सुन्ते ।

25 न य णाम ओहिदंसण-णाणेगत्तं, तह इमं पि ॥ २० ॥ [विशेषणवती गा. १७८]

जह पासइ तह पासतु, पासति सो जेण दंसणं तं से ।

जाणति य जेण अरहा तं से णाणं ति वत्तव्वं ॥ २१ ॥ [विशेषणवती गा. १९२]

स्वपक्षसमर्थनायैव सिद्धान्तवाद्याह—

णाणम्मि दंसणम्मि य एत्तो एगतरयम्मि उवउत्तो ।

30 सच्चस्स केवलिस्सा जुगवं दो णतिथ उवओगा ॥ २२ ॥

[विशेषणवती गा. २२९ विशेषा. गा. ३०९६]

उबओगो एगयरो पणुवीसतिमे सते सिणायस्स ।
भणिओ वियडत्थो च्चिय छहुहेसे विसेसेउ ॥ २३ ॥

[विशेषणवती गा. २३२ विशेषा. गा. ३१२०]

गाथाद्यमपि निगदसिद्धम् । नवरं भगवत्यां पञ्चविंशतितमे शतेऽधिकारोपलक्षिते “सिणायस्स” ति ‘स्नात-कस्य’ केवलिनः ॥ २२ ॥ २३ ॥ सिद्धान्तवादेवानुद्वतत्त्वमागमभक्तिं च परां ख्याययन्नाह—

5

कस्स व णाणुमतभिणं जिणस्स जदि होज दो बि उबओगा ? ।
णूणं ण होति जुगवं, जेण णिसिद्धा सुते बहुसो ॥ २४ ॥

[विशेषणवती गा. २४६ विशेषा. गा. ३१३२]

निगदसिद्धैवेति ॥ २४ ॥ अलं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः—

४२. अह सब्बदव्यपरिणामभावविणन्त्तिकारणमण्टं ।

10

सासयमण्डिवाती एगविहं केवलणाणं ॥ ५६ ॥
केवलणाणेऽत्थे णाउं जे तथ्य पण्णवणजोग्गे ।
ते भासइ तित्ययरो, वइजोग तयं हवइ सेसं ॥ ५७ ॥
से चं केवलणाणं । से चं पच्चक्खणाणं ।

४२. अह० गाहा । व्याख्या—इह मनःपर्यायज्ञानानन्तरं सूत्रक्रमोदेशतः शुद्धिलाभतथं प्राक् केवलज्ञानमुक्तं 15 तदुपन्यस्यत इत्यतस्तदर्थोऽयमथशब्दः । उक्तं च—“अथशब्दः प्रक्रिया-प्रभा-ऽनन्तर्य-मङ्गलोपन्यास-प्रतिवचन-समुच्चयेषु” [] सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि-जीवा-ऽजीवलक्षणानि तेषां परिणामाः—प्रयोग-विश्रसोभयाख्या उत्पादादयः सर्वद्रव्यपरिणामास्तेषां भावः—सत्ता स्वलक्षणमित्यनर्थान्तरं तस्य विशेषेण ज्ञापनं विज्ञप्तिः विज्ञानं वा विज्ञप्तिः तत्र भेदोपचारात् तस्या विज्ञप्तेः—परिच्छित्तेः कारणं सर्वद्रव्य-परिणामभावविज्ञप्तिकारणम्, अथवा विज्ञप्तिरेव कारणं विज्ञप्तिकारणम्, अत एव सर्वक्षेत्र-कालविषयं तत्, 20 क्षेत्रादीनामपि द्रव्यत्वात् । तच ज्ञेयानन्तत्वादनन्तम् । शश्वद्भावाच्छाश्रवतम्, सदोपयोगादिति भावार्थः । प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति, न प्रतिपाति अप्रतिपाति, सदाऽवस्थितमित्यर्थः । आह—यच्छाश्रवतं तदप्रतिपात्येवातः किं विशेषेन? इति, उच्यते—मा भूद् यावद् भवति तावच्छाश्रवतमनवरतमेव भवतीति प्रतिपत्तिः, न पुनरवध्यादिवदन्यथेत्यतो विशेषणमित्यनवरतं भवति सर्वकालं चेति । अथवैकपदव्यभिवारेऽपि विशेषण-विशेष्यभावो भवतीति ज्ञापनार्थम् । तथाहि—शाश्रवतमप्रतिपात्येव, अप्रतिपाति तु शाश्रवतमशाश्रवतं वा, अप्रतिपात्यवधेरप्यशाश्रवतत्वादिति । ‘एकविधिं’ 25 एकमकारम्, आवरणाभावात् क्षयस्यैकरूपत्वात् । केवलं—मत्यादिनिरपेक्षम्, केवलं च तज्ज्ञानं चेति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

इह ‘तीर्थकृत् समुपज्ञातकेवलः सत्त्वानुग्रहार्थं देशनां करोति, तीर्थकरनामकमोदयात्, ततथं ध्वनेर्द्रव्य-श्रुतरूपत्वात् तस्य च भावश्रुतपूर्वकत्वात् श्रुतज्ञानसम्भवादनिष्ठापतिः’ इति मा भून्मतिमोहोऽव्युत्पन्नबुद्धीनामित्य-तस्तद्विनिवृत्त्यर्थमाह—

केवल० गाहा । व्याख्या—इह तीर्थकरः केवलज्ञानेन ‘अर्थान्’ धर्मास्तिकायादीन् भूर्चा-ऽभूर्चान् 30 अभिलाष्या-ऽनभिलाष्यान् ‘ज्ञात्वा’ विनिश्चित्य, केवलज्ञानेनैव ज्ञात्वा, न तु श्रुतज्ञानेन, तस्य क्षायोपशमिकत्वात्,

केवलिनश्च तदभावात्, सर्वशुद्धौ देशशुद्धयभावादित्यर्थः । ये 'तत्र' तेषामर्थानां मध्ये प्रज्ञापनं प्रज्ञापना तस्या योग्याः प्रज्ञापनायोग्याः तान् 'भाषते' तानेव वक्ति, नेतरानिति । प्रज्ञापनीयानिति न सर्वानेव भाषते, अनन्त-
त्वात्, आयुषः परिमितत्वात्, किं तर्हि ?, योग्यानेव, गृहीतृशक्त्यपेक्षया, यो हि यावतां योग्यस्तानिति । तत्र केवल-
ज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिः प्रोच्यमानस्तस्य भगवतो वाग्योग एव भवति, न श्रुतम्, नामकर्मादियनिबन्धन-
त्वात्, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्, स च श्रुतं भवति शेषम् । 'शेषमिति' अप्रधानम् । एतदुक्तं भवति—श्रोतृणां
श्रुतप्रन्थानुसारिभावश्रुतनिबन्धनत्वात् 'शेषं' अप्रधानं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । अन्ये त्वं पठन्ति—“वइजोग सुयं हवइ
तेसि” स वाग्योगः श्रुतं भवति 'तेषां' श्रोतृणाम्, भावश्रुतकारणत्वादित्यभिप्रायः । अथवा वाग्योगः 'श्रुतं'
द्रव्यश्रुतमेवेति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

“से तं” इत्यादि निगमनम् । तदेतत् केवलज्ञानम् । तदेतत् प्रत्यक्षम् ॥ एवं मत्यक्षे प्रतिपादिते सति
१० परोक्षस्वरूपमनवगच्छन्नाह चोदकः—

**४३. से किं तं परोक्षणाणं ? परोक्षणाणं दुविहं पण्णतं, तं जहा—आभिणिबोहि-
यणाणपरोक्षं च सुयणाणपरोक्षं च ।**

४३. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् परोक्षम् ?, परोक्षं द्विविधं प्रज्ञाप्तम्, तद्यथा—आभिनिबोधिक-
ज्ञानपरोक्षं च श्रुतज्ञानपरोक्षं च । 'चौ' पूर्ववत् । अनयोश्चेत्थं क्रमोपन्यासे प्रयोजनमुक्तमेव ॥

१५ साम्रतं स्वाम्यभेदप्रतिपादनायाह—

**४४. जत्याऽभिणिबोहियणाणं तत्थ सुयणाणं, जत्थ सुयणाणं तत्थाऽभिणिबोहिय-
णाणं । दो वि एयाइं अण्णमण्णमणुग्याइं तह वि पुण एत्याऽयस्त्रिया णाणतं पण्णवेति—
अभिणिबुज्ज्ञाइ त्ति आभिणिबोहियं, सुणतीति सुतं ।**

“मतिपुञ्चयं सुयं, ण मती सुयपुञ्चिया । ”

४४. जत्थ आभिणिबोहियणाणमित्यादि । 'यत्र' पुरुषे इन्द्रिय-नोइन्द्रियक्षयोपशमे वा आभिनिबोधिक-
ज्ञानं 'तत्रैव' पुरुषादौ श्रुतज्ञानम्, तथा यत्र श्रुतज्ञानं तत्राऽभिनिबोधिकज्ञानम् । आह—यत्राभिनिबोधिकज्ञानं तत्र
श्रुतज्ञानमित्युक्ते यत्र श्रुतज्ञानं तत्राऽभिनिबोधिकज्ञानमिति गम्यत एवेत्यतः किमनेनोक्तेन ? इति, अत्रोच्यते,
नियमतो न गम्यत इत्यतो नियमार्थम् । तथा चाह—

“दो वि एयाइ” इत्यादि । 'द्वे अध्येते' आभिनिबोधिक-श्रुते 'अन्योन्यानुगते' परस्परं प्रतिबद्धे ।
२५ स्यादेतद्—एवं सत्यभेद एवास्त्वनयोरित्याशङ्कचाह—“तह वि पुणो” इत्यादि । तथापि पुनराचार्याः 'नानात्वं'
भेदं 'प्रज्ञापयन्ति' प्रख्ययन्ति । कथम् ? लक्षणभेदात्, दृष्टशान्योन्यानुगतयोरप्येकाकाशस्थयोर्धर्मा-धर्मास्तिकाय-
योर्लक्षणभेदाद् भेद इति । तत्र यो हि गतिपरिणामपरिणतयोर्जीव-पुद्गलयोर्गत्युपष्टम्भेतुर्जलमिव ज्ञप्तस्य स खल्व-
सद्गृह्येयप्रदेशात्मकोऽमूर्त्तो धर्मास्तिकाय इति, तथा यः स्थितिपरिणामपरिणतयोर्जीव-पुद्गलयोरेव स्थित्युपष्टम्भ-
हेतुर्विवक्षया क्षितिरिति ज्ञप्तस्य स खल्वसद्गृह्येयप्रदेशात्मकोऽमूर्त्त एवाधर्मास्तिकाय इति, एवमाभिनिबोधिक-श्रुतयो-
३० रपि लक्षणभेदाद् भेदः । तथा चाह—

“अभिणिबुज्ज्ञइ” इत्यादि । अभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकम्, आत्मनः परिणामविशेषः । एवं श्रृणो-
तीति श्रुतम्, आत्मन एव परिणामविशेष इति । एतदुक्तं भवति—यदिन्द्रिय-मनोनिमित्तमात्मनो विज्ञानं श्रुतग्र-
न्थानुसारेणोपजायते तत् श्रुतम्, शेषमिन्द्रिय-मनोनिमित्तमाभिनिबोधिकमिति । इत्थं लक्षणभेदाद् भेदमभिधा-
याधुना प्रकारान्तरेण भेदमभिधित्सुराह—

“मतिपुञ्चं सुतं, ण मती सुयपुञ्चिया” “पृष्ठ पालन-पूरणयोः” [पाणिनिश्चातु० १४९०] इत्येतस्य पूर्यते 5
प्राप्यते पाल्यते वाऽनेन कार्यमिति पूर्व-कारणम्, मतिः पूर्वमस्येति मतिपूर्वं ‘श्रुतं’ श्रुतज्ञानम्, तथा चेदं मत्या
पूर्यते प्राप्यते पाल्यते वा, अन्यथा प्रणश्यतीत्यर्थः; न मतिः श्रुतपूर्वैत्यं महान् भेद इति । अत्राह-मति-श्रुतयो-
र्युगपदेव सम्यक्तवावाप्तौ भाव उक्तः, अज्ञानयोरपि विगमः, तत् कथं मतिपूर्वं श्रुतम् ? इति, किञ्च—मतिपूर्वकत्वेऽ-
भ्युपगम्यमाने सति मतिज्ञानभावेऽपि तत्काले श्रुतमज्ञानं प्राप्नोति, अनार्थं चेदमिति, अत्रोच्यते—ननु लिङ्घं प्रति
मति-श्रुते समकाले भवतः, न तूपयोगोऽनयोः समकाले इति मतिपूर्वं श्रुतम्, इह पुनः को भावार्थः ? श्रुतोप- 10
योगो मतिप्रभवः, यतो नासञ्चिन्त्य मत्या श्रुतग्रन्थानुसारि विज्ञानमुत्पद्यते । आह—एवं मतिरपि श्रुतपूर्वा भव-
त्येव, तथाहि—शब्दं श्रुत्वा या मतिरुत्पद्यते सा श्रुतपूर्वैति प्रतीतम्, अतो न विशेषः, यथा मतिपूर्वं श्रुतं तथा
मतिरपि श्रुतपूर्वैति, अत्रोच्यते—ननु सा द्रव्यश्रुतोऽद्वा वर्तते, इह तु ‘न मतिः श्रुतपूर्वा’ इति का भावना ? भावश्रुतात्
सकाशाद् मतिर्नास्तीति, यद्वा कार्यतया निषिद्ध्यते—न पुनः क्रमेण, क्रमेण तु श्रुतोपयोगात् च्युतस्य मत्यवस्थान-
मिष्यत एवेत्यलं प्रसङ्गेन । न चैतत् स्वमनीषिक्योच्यते, यतोऽभ्यधायि भाष्यकृता— 15

णाणाणऽणाणाणि य समकालाइ यतो मइ-सुयाइ । तो न सुयं मतिपुञ्चं, मतिणाणे वा सुयऽणाणां ॥ १ ॥

इह लद्धिमइ-सुयाइ समकालाइ, न तूपयोगो सिं । मतिपुञ्चं सुयमिह पुण सुतोपयोगो मतिप्रभवो ॥ २ ॥

सोऽण जा मती भे सा सुयपुञ्च चिं तेण ण विसेसो । सा दव्यसुयप्यभवा, भावसुयाओ मती नतिथ ॥ ३ ॥

कज्जतया, ण तु कमरो, कमेण को वा मतिं निवारेइ ? । जं तत्थात्रत्याणं चुतस्स सुत्तोवयोगाओ ॥ ४ ॥

[विशेषा. गा. १०७-१०] 20

इतश्च मति-श्रुतयोर्भेदः—भेदभेदात्; तथाहि—यद्यग्रहादिभेदादृष्टिर्विचिं भवित्वान्, अङ्गविष्टाद्यनेक-
भेदमिन्नं च श्रुतज्ञानम् । इन्द्रियोपयोगलाभतो लाभविभागतो वा । उक्तं च—

सोऽंदिओवलद्धी होइ सुतं, सेसयं तु मतिणाणं । मोत्तूणं दव्यसुयं अक्खरलंभो य सेसेसु ॥ १ ॥

[विशेषा. गा. ११७]

इतश्च भेदः—अनक्षरमपि मतिज्ञानम्, अक्षरानुगतं च श्रुतज्ञानमिति । अथवाऽत्मप्रत्यायकं मतिज्ञानम्, स्व-पर- 25
प्रत्यायकं श्रुतज्ञानम् । आवरणभेदाच्च भेद इत्यलमतिप्रसङ्गेन । इह च यथा मति-श्रुतयोः कार्य-कारणभेदान्मिथो
भेदस्तथा सम्यग्-मिष्यादर्शनपरिग्रहविशेषात् स्वरूपतोऽपि भेद इति दर्शयन्नाह—

४५. अविसेसिया मती मतिणाणं च मतिअण्णाणं च । विसेसिया मती सम्महिद्विस्स
मती मतिणाणं, मिच्छादिद्विस्स मती मतिअण्णाणं । अविसेसियं सुयं सुयणाणं च सुय-
अण्णाणं च । विसेसियं सुयं सम्महिद्विस्स सुयं सुयणाणं, मिच्छादिद्विस्स सुयं सुयअण्णाणं । 30

४५. अविसेसिता इत्यादि । अविशेषिता मतिः सामान्येनैव मतिज्ञार्णं मत्यज्ञानं च, सामान्येनोभय-
त्रायि मतिशब्दप्रवृत्तेः । ‘विशेषिता मतिः’ स्वामिविशेषेण सम्यग्वर्षेमतिर्मतिज्ञानम्, निश्चयनयदर्शनेन स्वकार्य-
प्रसाधकत्वात्; मिथ्यावृष्टेमतिः मत्यज्ञानम्, तत्कृतः स्वफलरहितत्वादित्यर्थः । एवं श्रुतस्त्रमपि व्याख्येयम् ।
आह-क्षयोपशमादिकारणाभेदे घटादिपरिच्छेदकार्याभेदे च कथं मिथ्यावृष्टेरज्ञाने ? इति, तथा च मिथ्यावृष्टेरसि-
५ क्षयोपशमादेव मति-श्रुतप्रवृत्तिः, तथोर्ध्वादिलक्षणाकारमेव घटादिसंवेदनमिति, अत्रोच्यते-मिथ्यावृष्टेरज्ञाने मति-
श्रुते, सदसतोरविशेषात्, उन्मत्तकवत् । उक्तं च भाष्यकारेण—

सदसदविसेसणाऽयो, भवहेतु जहिच्छिओवलंभायो । णाणफलाभावातो, मिच्छिद्विद्विस्स अन्धाणं ॥ १ ॥

[विशेषा. गा. ११५]

विनेयजनानुग्रहार्थमियं लेशतो व्याख्यायत इति-मिथ्यावृष्टिः कथञ्चित् सन्तमपि पुरुषे देवादिर्घम् न
१० प्रतिपद्यते, पुरुष एवेत्यभ्युपगमात्; तथा असन्तमपि घटादिर्घम् प्रतिपद्यते, अस्त्येवेत्यभ्युपगमात्; अतः
सदसतोरविशेष इति । अतश्च मिथ्यावृष्टेमति-श्रुते अज्ञाने, भवहेतुत्वाच्च, मिथ्यादर्शनवत् । इतश्चाज्ञानम्-यद्यच्छो-
पलब्धेः, उन्मत्तवत् । इतश्चाज्ञानम्-[ज्ञान]कलाभावात्, अन्यप्रदीपवत्, ज्ञानस्य हि फलं विरतिः, सा च मिथ्या-
वृष्टेन विद्यत इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ प्रकृतं प्रस्तुमः-इह मतिर्वृत्तं श्रुतमिति कृत्वा मतिज्ञानमेवाधिकृत्य प्रश्नस्त्रमाह—

४६. से किं तं आभिणिवोहियणाणं ? आभिणिवोहियणाणं दुविहं पण्णतं, तं जहा—
१५ सुयणिस्सियं च असुयणिस्सियं च ।

४६. से किं तमित्यादि । अत्र निर्बचनम्-द्विविधं प्रज्ञपतम्, तद्यथा-श्रुतनिश्रितं चाश्रुतनिश्रितं च । ‘चौ’
पूर्ववत् । श्रुतमिह सामायिकादि लोकबिन्दुसारान्तं द्रव्यश्रुतं शृणुते, तदनुसारेण श्रुतपरिक्षितमतेस्तदपेक्षमेव
चोत्पादकाले यदुत्पद्यते तत् श्रुतनिश्रितं अवग्रहादि । यत्पुनस्तदनपेक्षं तथाविधक्षयोपशमप्रभवमेव वर्तते तदश्रुत-
निश्रितं औत्पत्तिक्यादि । आह-इदमप्यवग्रहादिरूपमेव, सत्यम्, किन्तु श्रुतानुसारमन्तरेणोत्पत्तेभेदेनोक्तम् ॥

२० तत्राल्पतरवक्तव्यत्वादश्रुतनिश्रितमतिज्ञानप्रतिपादनायाह—

४७. से किं तं असुयणिस्सियं ? असुयणिस्सियं चउविहं पण्णतं, तं जहा—

उप्पत्तिया १ वेणइया २ कम्मया ३ पारिणामिया ४ ।

बुद्धी चउविहा वुत्ता पंचमा नोवलब्भइ ॥ ५८ ॥

पुब्वं अदिङ्गमसुयमवेइयतक्षणविसुद्धगहियत्था ।

२५ अव्वाहयफलजोगा बुद्धी उप्पत्तिया णाम ॥ ५९ ॥

भरहसिल १ पण्णिय २ रुक्खे ३ खुड्ग ४ पड ५ सरड ६ काय ७ उच्चारे ८ ।

गय ९ घयण १० गोल ११ खंभे १२

खुड्ग १३ मणिग १४ त्थि १५ पति १६ पुत्ते १७ ॥ ६० ॥

भरह सिल १ मिंद २ कुकुड ३ वालुय ४ हत्थी ५ [य] अगड ६ वणसंडे ७ ।

पायस ८ अइया ९ पते १० खाडहिला ११ पंच पियरो १२ य ॥ ६१ ॥
महुसित्थ १८ मुहि १९ यंके २० य णाणए २१ भिक्खु २२ चेडगणिहाणे २३ ।
सिक्खा २४ य अत्थसत्थे २५ इच्छा य महं २६ सतसहस्रे २७ ॥ ६२ ॥ १ ।

भरणित्थरणसमत्था तिवग्गसुत्तथगहियपेयाला ।

उभयोलोगफलवती विणयसमुत्था हवति बुद्धी ॥ ६३ ॥

णिमित्ते १ अत्थसत्थे २ य लेहे ३ गणिए ४ य कूव ५ अस्से ६ य ।

गद्भ ७ लक्खण ८ गंठी ९ अगए १० रहिए य गणिया य ११ ॥ ६४ ॥

सीया साडी दीहं च तणं अवसब्यं च कुंचस्स १२ ।

निवोदए १३ य गोणे घोडग पडणं च रुक्खाओ १४ ॥ ६५ ॥ २ ।

उवओगदिडुसारा कम्मपसंगपरिघोलणविसाला ।

साहुकारफलवती कम्मसमुत्था हवति बुद्धी ॥ ६६ ॥

हेरण्णिए १ करिसए २ कोलिय ३ डोए ४ य मुत्ति ५ घय ६ पवए ७ ।

तुण्णाग ८ वड्डती ९ पूतिए १० य घड ११ चित्तकारे १२ य ॥ ६७ ॥ ३ ।

अणुमाण-हेउ-दिडंतसाहिया वयविवागपरिणामा ।

हिय-णीसेसफलवती बुद्धी परिणामिया णाम ॥ ६८ ॥

अभए १ सेड्डि २ कुमारे ३ देवी (?वे) ४ उदिओदए हवति राया ५ ।

साहू य णंदिसेणे ६ धणदत्ते ७ साव(?वि)ग ८ अमच्चे ९ ॥ ६९ ॥

खमए १० अमच्चपुत्ते ११ चाणके १२ चेव थूलभदे १३ य ।

णासिक्कमुंदरीनंदे १४ वझे १५ परिणामिया बुद्धी ॥ ७० ॥

चलणाहण १६ आमंडे १७ मणी १८ य सप्पे १९ य खग्गि २० थूमि २१ दे २२ ॥ २०

परिणामियबुद्धीए एवमादी उदाहरणा ॥ ७१ ॥ ४ ।

से तं असुयनिस्सयं ।

४७. से किं तमित्यादि । अत्र-उप्पत्तिया० गाहा । व्याख्या-उत्पत्तिरेव प्रयोजनं यस्याः सा औत्पत्तिकी । आह-क्षयोपशमः प्रयोजनमस्याः, सत्यम्, किन्तु स खल्कन्तरज्जल्त्वात् सर्वबुद्धिसाधारण इति न विवक्ष्यते, न चान्य-च्छाद्य-स्वकर्माभ्यासादिकमपेक्षत इति । विनयः-गुरुशुश्रूषा स कारणमस्यासतत्प्रधाना वा वैनियिकी । अनाचार्यकं 25 कर्म, साचार्यकं शिल्पम्, नित्यव्यापारः कर्म, कादाचित्कं शिल्पम्, 'कर्मजेति' कर्मणो जाता कर्मजा । परि-समन्ताद्

नमनं परिणामः—सुदीर्घकालपूर्वापरार्थविलोकनादिजन्य आत्मधर्म इत्यर्थः, स कारणमस्यास्तत्प्रधाना वा पारिणामिकी । बुद्ध्यते अनयेति बुद्धिः, मतिरित्यर्थः, सा चतुर्विधोक्ता तीर्थकरण्यधरैः । किमिति ? यस्मात् पञ्चमी नोपलभ्यते केवलिनाऽपि, असत्त्वादिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ औत्पत्तिक्या लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

पुच्छ० गाहा । ‘पूर्व’मिति बुद्धशुत्पादात् प्राक् स्वयमदृष्टः अन्यतश्चाश्रुतः अवेदितः—मनसाऽप्यनालोचितः ५ तस्मिन्नेव क्षणे विशुद्धः—यथावस्थितः गृहीतः—अवधारितः अर्थः—अभिप्रेतपदार्थो यथा सा तथा । इहैकान्तिकमिह-परलोकाविरुद्धं फलान्तरावार्थितं चाव्याहतमुच्यते, फलं—प्रयोजनम्, अव्याहतं च तत् फलं च अव्याहतफलम्, योगोऽस्यास्तीति योगिनी, अव्याहतफलेन योगिनी अव्याहतफलयोगिनी । अन्ये पठति—‘अव्याहतफलयोगा’ अव्याहतफलेन योगोऽस्याः सा अव्याहतफलयोगा बुद्धिः औत्पत्तिकी नामेति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

साम्प्रतं विनेयजनानुग्रहायास्या एव स्वरूपप्रतिपादनार्थमुदाहरणानि प्रतिपादयन्नाह—

१० भरहसिलं पणिय० गाहा । भरह० गाहा । महुसित्थ० गाहा । आसामर्थः कथानकेभ्य एवावसेयः । तानि चावसरप्राप्तान्यपि गुरुनियोगात् ब्रूमः, किन्त्वावश्यके वक्ष्यामः ॥६०॥६१॥६२॥

अधुना वैनयिक्या लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

भरणित्थ० गाहा । व्याख्या—इहातिगुरु कार्ये दुर्निर्वहत्वाद् भर इव भरः, तन्निस्तरणे समर्था भरनिस्तरण-समर्था । त्रयो वर्गात्तिवर्गमिति लोकरूपेर्धमा-ईर्थ-कामाः, तदर्जनपरोपायप्रतिपादननिवन्धनं सूत्रम्, तदन्वाख्यानं त्वर्थः, १५ पेयालं—प्रमाणं सारो वा, त्रिवर्गसूत्रार्थयोर्गृहीतं प्रमाणं सारो वा यथा सा तथाविधा । अथवा त्रिवर्गः—त्रैलोक्यम् । आह—त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वे सति अश्रुतनिश्रितत्वं विरुद्ध्यते ? इति, न हि श्रुताभ्यासमन्तरेण त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं सम्भवति, अत्रोच्यते—इह प्रायोदृत्तिमङ्गीकृत्याश्रुतनिश्रितत्वमुक्तम्, अतः स्वल्पश्रुतनिश्रितभावेऽपि न कश्चिद् दोष इति । ‘उभयलोकफलवती’ ऐहिका-ऽस्मुभिमिकफलवती ‘विनयसमुत्था’ विनयोद्भवा भवति बुद्धिरिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ अस्या एव विनेयजनानुग्रहार्थमुदाहरणैः स्वरूपमुपर्दर्शयन्नाह—

२० गिभिसे० गाहा । सीता० गाहा । गाथाद्वयार्थः कथानकेभ्य एवावसेयः । तानि चोत्तरत्र वक्ष्यामः ॥६४॥६५॥ साम्प्रतं कर्मजाया बुद्धेलक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

उबयोग० गाहा । व्याख्या—उपयोजनमुपयोगः—विवक्षिते कर्मणि मनसोऽभिनिवेशः, सारः—तस्यैव कर्मणः परमार्थः, उपयोगेन दृष्टः सारो यत्येति समासः, अभिनिवेशोपलब्धकर्मपरमार्थत्वर्थः । कर्मणि प्रसङ्गः कर्मप्रसङ्गः, प्रसङ्गः—अभ्यासः, परियोलनं—विचारः, कर्मप्रसङ्ग-परियोलनाभ्यां विशाला कर्मप्रसङ्ग-परियोलनविशाला, अभ्यास-२५ विचारविस्तीर्णेति भावार्थः । साधु कृतमिति—सुष्ठु कृतमिति विद्वद्वयः प्रशंसा साधुकारः, तेन फलवतीति समासः, साधुकारेण वा शेषमपि फलं यस्याः सा तथा । ‘कर्मसमुत्था’ कर्मोद्भवा भवति बुद्धिरिति गाथार्थः ॥६६॥ अस्या अपि विनेयवर्गानुकम्पयोदाहरणैः स्वरूपमुपर्दर्शयन्नाह—

हेरणिए० गाहा । व्याख्या—अस्या अप्यर्थं वक्ष्यामः ॥६७॥ साम्प्रतं पारिणामिक्या लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—

अणुमाण० गाहा । व्याख्या—अनुमान-हेतु-दृष्टान्तैः साध्यमर्थं साधयतीति अनुमान-हेतु-दृष्टान्तसाधिका । इह ३० लिङ्गानभन्नुमानम्, स्वार्थमित्यर्थः, तत्प्रतिपादकं वचो हेतुः, परार्थमित्यर्थः । अथवा ज्ञापकमन्नुमानम्, कारको हेतुः । दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्तः । आह—अनुमानग्रहणादेव दृष्टान्तस्य गतखादलमुपन्यासेन, न, अनुमानस्य तत्त्वत एकलक्षणत्वात् । उक्तं च—“अन्यथाऽनुपप्रभत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ?” [] इत्यादि । साध्यो-

पमाभूतश्च दृष्टान्तः । उक्तं च—“यः साध्यस्योपमाभूतः स दृष्टान्तं इति कथयते” । कालकृतो देहावस्थाविशेषो वय इत्युच्यते, तद्विषयकेन परिणामः—पृष्ठाता यस्याः सा तथाविधा । हितम्—अभ्युदयस्तत्कारणं वा, निःश्रेयसं—मोक्षस्तान्निबन्धनं वा, हित-निःश्रेयसाभ्यां फलवती बुद्धिः पारिणामिकीति गाथार्थः । ॥६८॥

अस्या अपि शिष्यगणहितायोदाहरणैः स्वरूपं दर्शयन्नाह—

अभ्यए० गाहा । खमए० गाहा । चलणा० गाहा । आसार्थः कथानकेभ्य एवावसेयः । तानि चान्यत्र ५ वक्ष्यामः ॥६९॥७०॥७१॥ “से तं” इत्यादि, तदेतदश्रुतनिश्चितम् ॥

४८. से किं तं सुयणिमिस्यं मतिणाणं ? सुयणिमिस्यं मतिणाणं चउविहं पण्णत्तं, तं जहा—उगगहे १ ईहा २ अवाए ३ धारणा ४ ।

४८. से किं तमित्यादि । चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अवग्रह ईहा अपायो धारणा । अवग्रहणमवग्रहः, सामान्यमात्रानिर्देश्यार्थग्रहणमित्यर्थः । तथा ईहनमीहा, सदर्थपर्यालोचनवेष्ट्यर्थः । एतदुक्तं भवति—अवग्रहादु-
१० त्तीर्णः अपायात् पूर्वः सदभूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसदभूतार्थविशेषत्यागाभिमुखश्च प्रायो मधुरत्वादयः शङ्ख-
दिशब्दधर्मा अत्र घटन्ते, न खर-कर्कश-निष्ठुरतादयः शार्ङ्गदिशब्दधर्मा इति मतिविशेष ईहेति । तथा तदर्थार्थ-
वसायोऽपायः निर्णयोऽवगम इत्यनर्थान्तरम् । एतदुक्तं भवति—‘शङ्ख एवायम्, शार्ङ्ग एव वा’ इत्याद्यव-
धारणात्मकः प्रत्ययोऽपाय इति । तथा तदर्थविशेषधरणं धारणा, अविच्युति-स्मृति-वासनारूपा ॥

४९. से किं तं उगगहे ? उगगहे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थोगगहे य वंजणोगगहे य । १५

४९. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयमवग्रहः ? अवग्रहो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—अर्थावग्रहश्च
व्यञ्जनावग्रहश्च । अर्थयत इत्यर्थः, अर्थस्यावग्रहोऽर्थावग्रहः, सकलविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यार्थग्रहणमेकसामयिकमिति
भावार्थः । व्यञ्जयतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनम्, तच्चोपकरणेन्द्रियं शब्दादिपरिणितद्रव्यसङ्घातो वा,
ततश्च व्यञ्जनेन—उपकरणेन्द्रियेण व्यञ्जनानां—शब्दादिपरिणितद्रव्याणामवग्रहो व्यञ्जनावग्रहः । अर्थार्थावग्रहस्य तु
(?सु) लक्ष्यत्वात् सकलेन्द्रियार्थव्यापकत्वाच्च प्रथममुपन्यासः, ततो दुर्लक्ष्यत्वात् सकलेन्द्रियार्थव्यापकत्वाच्चेतरस्य ॥ २०

५०. से किं तं वंजणोगगहे ? वंजणोगगहे चउविहे पण्णत्ते, तं जहा—सोतिंदियवंज-
णोगगहे १ धारेंदियवंजणोगगहे २ जिर्बिंभदियवंजणोगगहे ३ फासेंदियवंजणोगगहे ४ । से
तं वंजणोगगहे ।

५०. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं व्यञ्जनावग्रहः ? इत्यत्र एवाऽश्रितो यथासम्भवमिति
सुश्लिष्टमेतदिति । प्रकृतमुच्यते—व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह इत्यादि सूत्रसिद्धम् । २५
आह—पञ्चेन्द्रिय-मनःसङ्घावे सति किमित्ययं चतुर्विधः ? इति, अत्रोच्यते, नयन-मनसोरपातकारित्वात्, अपाप्त-
कारित्वं च विषयकृतानुग्रहोपधातशून्यत्वात्, प्राप्तकारित्वे पुनरनल-जल-शूलाद्यालोकने दहन-क्लेदन-पाठनादयः
स्युः । अत्र च विषयदेशं गत्वा नु पश्यति, प्राप्तं चार्थं नाऽऽलम्बत इत्येतावत्विषयम्यते, मूर्तिमता पुनः प्राप्तेन
भवत एवानुग्रहोपधाती भास्करकिरणादिनेति । अन्यस्त्वाह—व्यवहितार्थानुपलब्धेरनुमानात् प्राप्तकारित्वं लोचन-
स्येति, एतदयुक्तम्, अनैकान्तिकत्वात्, रुचोऽब्रपटल-स्फटिकान्तरितोपलब्धेः । स्यादेतत्—नायना रक्षयो निर्गत्य ३०
दी० ७

तमर्थं गृह्णन्तीति दर्शने रश्मीनां तैजसत्वात् तेजोद्रव्यैरप्रतिस्खलनाददोष इति, एतदप्ययुक्तम्, महाज्ञालादौ प्रति-
स्खलनोपलब्धेरिति । अत्र बहु वक्तव्यं ततु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयात्, गमनिकामात्रमेतदिति ॥

५१. [१] से कि तं अथोग्गहे ? अथोग्गहे छविवहे पण्णते, तं जहा-सोइंदिय-
अंथोग्गहे १ चर्किंखदियअथोग्गहे २ घाणिंदियअथोग्गहे ३ जिब्बिमदियअथोग्गहे ४
५ फासिंदियअथोग्गहे ५ णोइंदियअथोग्गहे ६ । [२] तस्स णं इमे एगड्डिया णाणा-
घोसा णाणावंजणा पंच णामधेया भवंति, तं जहा-ओगिण्हणया १ उवधारणया २ सवणता
३ अवलंबणता ४ मेहा ५ । से तं उग्गहे ।

५२. [१] से कि तमित्यादि । अथ कोऽयमर्थावग्रहः ?, अर्थावग्रहः पड्डिवधः प्रज्ञातः, तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रि-
यार्थावग्रह इत्यादि सूत्रसिद्धं यावत्—

[२] १० तस्स णं इमे इत्यादि । ‘तस्य’ अवग्रहस्य ‘अमूनि’ वक्ष्यमाणानि “णं” पूर्ववद् अवग्रहसामान्या-
पेक्षयैकार्थिकानि नानाघोषाणि नानाव्यञ्जनानि पञ्च नामधेयानि भवन्ति । घोषाः-उदात्तादयः । कादीनि
व्यञ्जनानि । नामैव नामधेयम्, अवग्रहविशेषापेक्षया हु कथञ्चिद् भिन्नार्थानि । त्रिविधश्चावग्रहः-सामान्यावग्रहो
विशेषावग्रहः विशेषसामान्यार्थावग्रहश्चेति । तत्र भिन्नार्थता निदर्शयते—“तं जहा-ओगिण्हणते” त्यादि, अवगृहतेऽने-
नेति अवग्रहणम्, करणे ल्युट्, व्यञ्जनावग्रहप्रथमसमयप्रविश्वब्दादिद्रव्यादानपरिणाम इत्यर्थः, तद्वावः अव-
१५ ग्रहणता १ । धार्यतेऽनेनेति धारणम् । उप-सामीप्येन धारणं उपधारणम्, व्यञ्जनावग्रहद्रव्यादिसमयेष्वसानान्तं
प्रतिसमयमेव शब्दादिद्रव्यादान-धारणपरिणाम इति भावना, तद्वाव उपधारणता २ । श्रूयतेऽनेनेति श्रवणम्, एक-
सामयिकसामान्यार्थावग्रहावबोधपरिणाम इत्युक्तं भवति, तद्वावः श्रवणता ३ । अवलम्बत इत्यवलम्बनम्, “कृत्यल्युटो
बहुलम्” [पाणि. ३. ३. ११३] इतिवचनात् कर्मणि ल्युट्, तद्वावः अवलम्बनता, विशेषसामान्यार्थावग्रह इति
भावार्थः । तथाहि-उत्तरोत्तरधर्मजिज्ञासायां सत्यां शब्दादिज्ञानमेवावलम्बयेहादयः प्रवर्त्तन्ते, ‘किमयं शाङ्कः ? किं
२० वा शाङ्कः ? ’ इति, अतस्तदनन्तरमेवेहादिप्रवृत्तेविशेषसामान्यार्थावग्रहोऽवलम्बनमिति ४ । एवमुत्तरोत्तरधर्मजिज्ञासायां
सत्यां विशेषसामान्यार्थावग्रहेषु मर्यादिया धावतो मेधोच्यते, यावदधिगच्छति, यथा-शाङ्कः, स किं मन्दः ? किं वा
तारः ? इत्यादि ५ । यत्र व्यञ्जनावग्रहो नास्ति तत्राद्यमेदद्रव्याभाव इति । “से तं उग्गहे” सोऽयमवग्रहः ॥

५२. [१] से कि तं ईहा ? ईहा छविवहा पण्णता, तं जहा-सोतेंदियईहा १ चर्किंख-
दियईहा २ घाणेंदियईहा ३ जिब्बिमदियईहा ४ फासेंदियईहा ५ णोइंदियईहा ६ ।

[२] २५ तीसे णं इमे एगड्डिया णाणाघोसा णाणावंजणा पंच णामधेया भवंति, तं जहा-
आभोगणया १ मग्गणया २ गवेषणया ३ चिता ४ वीमंसा ५ । से तं ईहा ।

५३. [१] से कि तमित्यादि सूत्रं निगदसिद्धं यावत्—

[२] ३० ‘आभोगनता’ ईहार्थावग्रहसमयसमनन्तरमेव सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमालोचनमाभोगनमुच्यते, तद्वाव
आभोगनता १ । मृग्यतेऽनेन परिणामकरणेनेति मार्गणम्, सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव तदधर्वमन्य-व्यतिरेक-
धर्मान्वेषणमिति हृदयम्, तद्वावो मार्गणता २ । एवमन्विष्यतेऽनेनेति गवेषणम्, तत ऊर्ध्वं सद्भूतार्थविशेषाभिमुख-

मेव व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्माद्यासेनाऽलोचनमिति गर्भः, तद्वावो गवेषणता ३ । ततो मुहुर्मुहुः क्षयोपशम-
विशेषतः स्वधर्मानुगतसदभूतार्थविशेषविचिन्तनं चिन्ता ४ । विमर्षणं विमर्षः, क्षयोपशमविशेषादेवोर्व स्पष्टतरावबोधतः
सदभूतार्थविशेषाभिमुखमेव व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्मालोचनं विमर्षः, नित्या-जनित्यादिद्रव्यभावालोचन-
मित्यन्ये ५ । “ से तं ईहा ” ॥

५३. [१] से कि तं अवाए ? अवाए छविहे पण्ठते, तं जहा—सोइंदियावाए १ ५
चक्रिखदियावाए २ घाणेंदियावाए ३ जिबिंभदियावाए ४ फासेंदियावाए ५ णोइंदियावाए ६ ।

[२] तस्स णं इमे एगढ़िया णाणाघोसा णाणावंजणा पंच णामधेया भवंति, तं जहा—
आवटृणया १ पञ्चावटृणया २ अवाए ३ बुद्धी ४ विण्णाणे ५ । से तं अवाए ।

५३. [१] से कि तमित्यादि सूत्रसिद्धं यावद्—

[२] ‘आवर्तनता’ वर्त्यतेऽनेनेति वर्तनं-क्षयोपशमकरणमेव, ईहाभावनिवृत्त्यभिमुखस्यापायभावप्रतिपत्त्य- १०
भिमुखस्य चार्थविशेषावबोधविशेषस्य आ-भर्यादिया वर्तनमावर्तनम्, तद्वाव आवर्तनता १ । ततः प्रतिपत्त्याऽवर्तनं
प्रत्यावर्तनं, अर्थविशेष एव विवक्षितापायप्रत्यासन्नतरबोधविशेषणां मुहुर्मुहुर्वर्तनमित्यर्थः, तद्वावः प्रत्यावर्तनता २ ।
अप अयः अपायः, विशेषतः सङ्कलनेन निश्चयो निर्णयोऽवगम इत्यनर्थान्तरम्, सर्वथेहाभावान्निवृत्त्यस्यावधारणा-
वधारितमर्थमवगच्छतोऽपाय इति भावार्थः ३ । ततस्तमेवावधारितमर्थं क्षयोपशमविशेषात् स्थिरतया शुनः शुनः स्पष्ट-
तरमेव बुद्ध्यमानस्य बुद्धिः ४ । विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्, क्षयोपशमविशेषादवधारितार्थविषयमेव तीव्रतर्यारणाकरण- १५
मित्यर्थः ५ । “ से तं अवाए ” सोऽयमपायः ॥

५४. [१] से कि तं धारणा ? धारणा छविहा पण्ठता, तं जहा—सोइंदियधारणा १
चक्रिखदियधारणा २ घाणेंदियधारणा ३ जिबिंभदियधारणा ४ फासेंदियधारणा ५ णोइंदिय-
धारणा ६ । [२] तीसे णं इमे एगढ़िया णाणाघोसा णाणावंजणा पंच णामधेया
भवंति, तं जहा—धरणा १ धारणा २ ठवणा ३ पतिष्ठा ४ कोष्ठे ५ । से तं धारणा । २०

५४. [१] से कि तमित्यादि निगदसिद्धं यावद्—

[२] धरणा इत्यादि । अपायानन्तरमवगतार्थमविच्युत्या जघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहर्त्तमात्रं कालं धारयतो
धरणेति भृष्टते १ । ततस्तमेवार्थं उपयोगात् च्युतं जघन्येनानन्तर्मुहूर्तादुत्कृष्टतोऽसङ्गव्येयकालात् परतः स्मरतो धरणं
धारणोच्यते २ । स्थापनं स्थापना, ततोऽपायावधारितमर्थं पूर्वापिरालोचितं हृदि स्थापयतः स्थापना, मूर्त्तधटस्थापना-
वत्, वासनेत्यर्थः । अन्ये तु धारणा-स्थापनयोर्व्यत्ययेन स्वरूपमाचक्षते ३ । प्रतिष्ठापनं प्रतिष्ठा, अपायावधारितमेवार्थं २५
हृदि प्रमेदेन प्रतिष्ठापयतः प्रतिष्ठा भृष्टते, जले उपलप्तेष्यप्रतिष्ठावत् ४ । ‘कोष्ठकः’ इति अविनष्टसूत्रार्थवीज-
धारणात् कोष्ठकवद् धारणा कोष्ठक इति ५ । ईहाऽत्मनो ज्ञानस्वभावत्वाज्ञानावरणीयादिकर्ममलपटलाच्छादित-
स्वभावत्वात् गुरुवदनसमुत्थशब्दाद्यनेकविषयकारणापाद्यमानक्षयोपशमसामर्थ्यादवबोधः, ज्ञेयस्य चानन्तरमात्म-
कत्वात् कालक्षयोपशमविशेषतोऽवग्रहेहा-ज्ञायावबोधविशेषो भावनीयः, कथञ्चिदेकाधिकरणत्वात्, अन्यथा परिच्छेद-
प्रवृत्तिलक्षणसकललोकपसिद्धसंवयवहारोच्छेदप्रसङ्गे, गमनिकामात्रमेतत् ॥ ३०

अवग्रहादिकालप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

५५. उग्गहे एकसामइए, अंतोमुहुत्तिया ईहा, अंतोमुहुत्तिए अवाए, धारणा संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं ।

५६. उग्गहे० इत्यादि । अर्थावग्रह एकसामयिकः । आन्तमौहुर्तिकी ईहा । आन्तमौहुर्तिकोऽपायः । धारणा ५ सङ्ख्येयं वाऽसङ्ख्येयं वा कालं सृष्टि-वासनारूपा, सङ्ख्येयवर्षायुषां सङ्ख्येयमसङ्ख्येयवर्षायुषामसङ्ख्येयम् ॥

५६. एवं अद्वावीसतिविधस्स आभिषिवोहियणाणस्स वंजणोऽग्नहस्स परूपणं करिस्सामि पडिबोहगदिङ्गतेण मल्लगदिङ्गतेण य ।

५६. एवं अद्वावीसतिविधस्सेत्यादि । ‘एवं’ उक्तेन प्रकारेण अष्टाविंशतिविधस्य । कथमष्टाविंशतिविधम् ? चतुर्विधो व्यञ्जनावग्रहः, षड्विधोऽर्थावग्रहः, षड्विधा ईहा, षड्विधोऽपायः, षड्विधा धारणा । एवमष्टाविंशतिविध-१० स्याऽभिनिवोधिकज्ञानस्य सबन्धी यो व्यञ्जनावग्रहः तस्य ‘प्रूपणं’ प्रतिपादनं करिष्यामि । कथम् ? प्रतिबोधकट्टान्तेन मल्लकट्टान्तेन च ॥

५७. से किं तं पडिबोहगदिङ्गतेण ? पडिबोहगदिङ्गतेण से जहाणामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोधएज्ज ‘अमुगा ! अमुग !’ त्ति, तत्थ य चोयगे पञ्चवं एवं वयासी— किं एगसमयपविद्वा पोगला गहणमागच्छंति ? दुसमयपविद्वा पोगला गहणमागच्छंति ? जाव १५ दससमयपविद्वा पोगला गहणमागच्छंति ? संखेज्जसमयपविद्वा पोगला गहणमागच्छंति ? असंखेज्जसमयपविद्वा पोगला गहणमागच्छंति ? । एवं वदंतं चोयगं पण्णवगे एवं वया-सी—णो एगसमयपविद्वा पोगला गहणमागच्छंति, णो दुसमयपविद्वा पोगला गहणमा-२० गच्छंति, जाव णो दससमयपविद्वा पोगला गहणमागच्छंति, णो संखेज्जसमयपविद्वा पोगला गहणमागच्छंति, असंखेज्जसमयपविद्वा पोगला गहणमागच्छंति । से तं पडि- बोहगदिङ्गतेण ।

५७. से किं तमित्यादि । प्रतिबोधयतीति प्रतिबोधकः, स एव दृष्टान्तस्तेन । तद् यथानाम ‘कश्चिद्’ अनिर्दिष्टस्वरूपः पुरुषः ‘कश्चित्’ अन्यतममनिर्दिष्टस्वरूपमेव पुरुषं सुप्तं सन्तं “पडिबोधएज्ज” त्ति प्रतिबोधयेत् । कथम् ? ‘अमुक ! अमुक !’ इति । तत्र ‘चोदके’त्यादि । इह ज्ञानावरणकर्मादयतः कथितमपि सूत्रार्थमनवगच्छन् प्रश्नचोदनात् चोदकः, अविशिष्टस्योपशमभावतो वा अगृहीतशास्त्रगम्भीर्थः पूर्वापरविरोधचोदनात् चोदकः । यथाऽ-२५ वस्थितं सूत्रार्थं प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापकः, श्रौतार्थपेक्षया विरुद्धं पुनरुक्तसूत्रं वा अर्थतोऽविरुद्धमपुनरुक्तं प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापकः । तत्र चोदकः प्रज्ञापकं एवमुक्तवानिति, भूतकालनिर्देशः “अनादिमानागमः” इति रूपापनार्थः । ‘किमेकसमयपविष्टे’त्यादि सुगमं यावत् ‘एवं वदन्तं चोदकं प्रज्ञापकं एवमुक्तवान्’ । ‘नो एकसमयपविष्टे’त्यादि प्रकटार्थं यावद् ‘नो सङ्ख्येयसमयपविष्टः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति’ । नवरमयं प्रतिषेधः स्फुटशब्दविज्ञानग्राहता-

मधिकृत्य वेदितव्यः, शब्दविज्ञानजनकत्वे नेतृत्वः, अन्यथा सम्बन्धमात्रमधिकृत्य प्रथमसमयादारभ्य ग्रहणमागच्छ-
न्त्येव । “असंखेज्ज” इत्यादि, प्रतिसमयप्रवेशेनाऽऽदित आरभ्य असङ्घर्षयेयसमयैः प्रविष्टैरसङ्घर्षयेयसमयप्रविष्टाः,
न पुनर्विश्वाऽहोमिः पथिकगृहप्रवेशवदपान्तरालागमनसमयापेक्षयाऽसङ्घर्षयेयसमयप्रविष्टा इति, ‘पुद्गलाः’ शब्दद्व्यविशेषा
ग्रहणमागच्छन्ति, अर्थात्वग्रहज्ञानहेतवो भवन्तीति भावः । इह च चरमसमयप्रविष्टा एव ग्रहणमागच्छन्ति, तदन्ये
त्विन्द्रियशयोषशमोषकारिण इत्योत्तरो ग्रहणमुक्तमिति । असङ्घर्षयेयमानं चाच जघन्यमावलिकाऽसङ्घर्षयेयभागसम- 5
यतुल्यम्, उत्कृष्टं तु सङ्घर्षयेयावलिकासमयतुल्यम्, तच्च प्राणापानपृथक्त्वकालसमयमिति । उक्तं च—

वंजणवग्नहकालो आवलियाऽसंखभागमेत्तो उ । थोग्रो, उकोसो पुण आणापाणूपुहुतं ति ॥१॥

[]

“से तं” इत्यादि निगमनम् । सेयं प्रतिवोधकट्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहप्रलयणेति वाक्यशेषः ॥

५८. [१] से किं तं मल्लगदिङ्दुंतेण ? मल्लगदिङ्दुंतेण से जहाणामए केइ पुरिसे आवाग- 10
सीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेगं उदगबिंदुं पक्षिखवेज्जा से णड्हे, अण्णे पक्षिखत्ते से वि णड्हे,
एवं पक्षिखप्पमाणेसु पक्षिखप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू जणणं तं मल्लगं रावेहिति, होही
से उदगबिंदू जणणं तंसि मल्लगंसि ठाहिति, होही से उदगबिंदू जणणं तं मल्लगं भरेहिति,
होही से उदगबिंदू जणणं तं मल्लगं पवाहेहिति, एवामेव पक्षिखप्पमाणेहैं पक्षिखप्पमाणेहिं
अणंतेहिं पोगलेहिं जाहे तं वंजणं पूरितं होति ताहे ‘हुं’ ति करेति णो चेव णं जाणति 15
के वेस सदाइ ?, तओ ईहं पविसति तओ जाणइ अमुगे एस सदाइ, तओ अवायं
पविसइ तओ से उवगयं हवइ, तओ णं धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं
असंखेज्जं वा कालं ।

[२] से जहाणामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सहं सुणेज्जा तेणं सहे त्ति उग्गहिए, णो
चेव णं जाणइ के वेस सदाइ ?, तओ ईहं पविसइ ततो जाणति अमुगे एस सहे, ततो 20
णं अवायं पविसइ ततो से उवगयं हवति, ततो धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखेज्जं वा
कालं असंखेज्जं वा कालं । एवं अव्वत्तं रूवं, अव्वत्तं गंधं, अव्वत्तं रसं, अव्वत्तं फासं
पडिसंवेदेज्जा ।

[३] से जहाणामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पडिसंवेदेज्जा, तेणं सुमिणे त्ति
उग्गहिए ण पुण जाणति के वेस सुमिणे ? त्ति, तओ ईहं पविसइ तओ जाणति अमुगे 25
एस सुमिणे त्ति, ततो अवायं पविसइ ततो से उवगयं हवइ, ततो धारणं पविसइ तओ णं
धारेइ संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं । से तं मल्लगदिङ्दुंतेण ।

५८. [१] से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं मलुकदृष्टान्तः ?, मलुकदृष्टान्तो नाम तद् यथानाम कथित् पुरुषः ‘आयाकशिरसः’ आपाकः प्रतीतः तच्छ्रसश्च ‘मलुक’ शरावं गृहीत्वा, ‘इदं रूक्षं भवति’ इत्यतोऽस्य ग्रहणमिति, ‘तत्र’ मलुके एकं उदकबिन्दुं प्रक्षिपेत् स नष्टः, तत्रैव तद्भावपरिणतिमापन्न इत्यर्थः । शेषं सुगमं यावत् “जाणं तं मलुकं रावेहिति” आद्वतां नेष्यति, शेषं सुगमं यावत् “एवामेव” इत्यादि, अतिबहुत्वात् प्रतिसमयमनन्तैः ५ ‘पुद्गलैः’ शब्दपुद्गलैर्यदा तद् व्यञ्जनं पूरितं भवति तदा ‘हुं’ इति करोति, तमर्थं गृहातीत्युक्तं भवति । अत्र व्यञ्जनशब्देन त्रयमभिगृहते—द्रव्यं १ इन्द्रियं २ सम्बन्धो ३ वा । यदा द्रव्यं व्यञ्जनमधिक्रियते तदा ‘पूरित’-मिति प्रभूतीकृतम्, स्वप्रमाणमानीतम्, स्वविषयव्यक्तौ समर्थीकृतमित्यर्थः १ । यदा व्यञ्जनमिन्द्रियं तदा ‘पूरित’मित्याभृतम्, आभृतं व्याप्तमित्यर्थः २ । यदा तु द्रयोरपि सम्बन्धोऽधिक्रियते तदा ‘पूरित’मिति अङ्गाङ्गी-भावमानीतम्, अनुषक्तमित्यर्थः ३ । एवं यदा पूरितं भवति तदानीं तमर्थं गृहाति । किंविशिष्टम् ? नाम-जात्यादि-१० कल्पनारहितम्, तथा चाह—“णो चेव णं जाणादि के वेस सदादि ?” चिः, न पुनरेवं जानाति क एष शब्दादिर्थं इति, एकसामयिकत्वादर्थावग्रहस्य, अवार्थावग्रहात् पूर्वं सर्वे व्यञ्जनावग्रह इति । “ततो ईहं पविसति” इत्यादि सुगमं यावत् “संखेजं वा असंखेजं वा कालं” ति । अत्राह—सुप्तमङ्गीकृत्य युज्यतेऽयं न्यायः, जाग्रतस्तु शब्दश्रवणसमनन्तरमेव अवग्रहेहाव्यतिरेकेणापायज्ञानमुत्पद्यते, तथोपलभ्यात्, न चैतदनार्षम्, यत आह सूत्रकारः—“से जहाणामए” इत्यादि; अथवा यदुक्तम् “न पुनरेवं जानाति ‘क एष शब्दादिः ?’” किं तर्हि ? नाम-जात्यादि-१५ कल्पनारहितं गृहातीत्येतदयुक्तम्, यत एवमागमः—“से” इत्यादि, अथवा सुप्रतिवेषक-मलुकदृष्टान्ताभ्यां व्यञ्जनार्थावग्रहयोः सामान्येन स्वरूपमभिधाय अपुना मलुकदृष्टान्तेनैव प्रतिपादयन्नाह—

[२] से जहा इत्यादि, तद् यथानाम कथित् पुरुषः अव्यक्तं शब्दं शृणुयात् । ‘अव्यक्तमिति’ अनिर्देश्यस्वरूपं नामादिकल्पनारहितमिति, अनेनार्थावग्रहमाह, तस्य च श्रोत्रेन्द्रियसम्बन्धिनो व्यञ्जनावग्रहपूर्वकत्वाद् व्यञ्जनावग्रहं च । आह—न हैत्रैवं क्रम उपलभ्यते, किन्तुक्षेपेण शब्दापायज्ञानमेव वेद्यते, सूत्रेऽव्यक्तमिति शब्दविशेषणं कृतम-२० तोऽव्यक्तं सन्दिग्धं पुरुषादिशब्दभेदेन शब्दं शृणुयादिति, न्याय्यम्, तथा चोत्तरसूत्रमप्येतदेवाह—“तेणं सदे चिः उग्माहिते” ‘तेन’ श्रोत्रा शब्द इत्यवगृहीतं “णो चेव णं जाणति के वेस सदादि” न पुनरेवं जानाति—कः ‘एषः’ पुरुषादिसमुत्थानामन्यतमः शब्द इति, आदिशब्दाद् रसादिष्वप्ययमेव न्याय इति ज्ञापयति । “ततो ईहं पविसति” इत्याद्यपि सम्बद्धमिति, नैतदेवम्, उत्पलपत्रशतव्यतिभेददृष्टान्तेन कालभेदस्य दुर्लक्षत्वाद् अक्षेपेण शब्दापायज्ञानानुपत्तेः, यच्च ‘तेन शब्द इत्यवगृहीतम्’ इत्युक्तम्, अत्र ‘शब्दः’ इति भणति वक्ता सूत्रकार इति, करणनिर्देशात् शब्दमात्रं चाशेषविशेषविमुखम्, न तु शब्दबुद्ध्या, तस्यैवापायप्रसङ्गात्, अवग्रहादिश्वृतव्यतिरेकेण च मतिज्ञानानुत्पत्तेः, तथा चाह—“णो चेव ण”मित्यादि, न पुनरेवं जानाति क एष शब्दादिर्थः, सामान्यमात्रप्रतिभासनात् । आह च भाष्यकारः—

अव्यक्तमणिदेसं सरूप-णामादिकप्यणारहितं । जदि एवं जं ‘तेणं गहियं सदे’ चिः तं कह णु ? ॥१॥

‘सदे’ चिः भणति वक्ता, तम्मतं वा ण सद्बुद्धी(बुद्धी)ए । जदि होज्ज सद्बुद्धी तोऽवाओ चेव सो होज्जा ॥२॥

३० जति सद्बुद्धिभेत्तयमवग्नहे तव्यिसेसणमवाओ । णणु सदे णासदो ण य रूचादी विसेसोऽयं ॥३॥

थोवमियं णावायो तँव्येयाविकर्वणं अवाओ चिः । तव्येयाविकर्वाए णणु थोवमियं पि णावाओ ॥४॥

[विशेषा. गा. २५२-५५] इत्यादि ।

१ सामण्णमणिदेसं इति महाभाष्ये पाठो वर्तते ॥ २ संखाइविसेसणं अवाओ चिः महाभाष्ये पाठः ॥

अन्ये त्वाचार्या इदं सूत्रं विशेषसामान्यार्थावग्रहविषयं व्याचक्षते—‘अव्यक्तं’ अनिर्दीर्घितविशेषस्वरूपं अशब्द-
व्यवच्छेदेन शब्दं शृणुयात्, तेन शब्दं इति शब्दमात्रमवगृहीतम्, न पुनरेवं जानाति क एष शब्दः ?, शाङ्ख-शार्ङ्ग-
दीनामन्यतमः, आदिशब्दाद् रसादिपरिग्रहः, तत्राधीयमेव वार्तेति, युक्तियुक्ता चेयं व्याख्येति । ततः ‘ईहां प्रक्षिप्ति’
सदर्थपर्यालोचनां करोति, इह च दुरव्विवेचत्वाद् वस्तुनः अपदुत्ताच्च मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्यासङ्गातापाय एवेहो-
ययोगात् च्युतः पुनरप्यन्यमन्तर्मुहूर्चमीहते, एवमीहोपयोगाविच्छेदत एव प्रभूतानप्यन्तर्मुहूर्चनीहत इति सम्भवः, ५
ततः ‘जानाति’त्वादि वस्तुतः गतार्थं यावत् स्पर्शनेन्द्रियवक्तव्यता । उक्तं च भाष्यकारेण—

सेसेसु वि रुचादिसु विसेसु वि होइ सूत्रलक्खाई । पायं पच्चासन्नन्देगमीहादिवत्थूणि ॥१॥

थाणुपुरिसादि-कुट्टप्पलादि-संभितकरिलुमंसादी । सप्तोप्पलणालादि य समाणरुचादिविसयाई ॥२॥

एवं चिय सुमिणादिसु मणसो सदादिएसु विसेसु । होतिंदियवाचाराभावे वि अवगमाहादीया ॥३॥

[विशेषा. गा. २९२-९४] इत्यादि । १०

[३] से जहाणामए इत्यादि । इह प्रतिबोधप्रथमसमये ‘अव्यक्तम्’ अनिर्दीर्घितस्वरूपं स्वप्नं प्रतिसंबेद-
येत् तस्य तदाऽर्थावग्रहः, तत ऊर्ध्वमीहादय इति । अन्ये तु मनसोऽप्यर्थावग्रहात् पूर्वं व्यञ्जनावग्रहं मनोद्रव्यव्यञ्जन-
ग्रहणलक्षणं व्याचक्षते तत् पुनरयुक्तम्, अनार्षत्वात्, व्यञ्जनावग्रहस्य श्रोत्रादिभेदेन चतुर्विधत्वात् । शेषं प्रकटार्थम्
यावत् “से तं मल्लगदिङ्गतेण” । इह च सुखप्रतिपक्ष्यर्थं स्वप्नमधिकृत्य नोऽन्द्रियार्थावग्रहादयः प्रतिपादिताः, १५
अन्यथाऽन्यत्राधीन्द्रियव्यापाराभावे सति मनसा पर्यालोचयतोऽवगन्तव्या इति । अत्राऽऽह-क्रिमुक्तलक्षणमवग्रहादि-
क्रमं विहाय क्वचिदपि मतिज्ञानं नोत्पद्यते येनैवं क्रमः ? इति, अत्रोच्यते, नोत्पद्यते, तथाहि-नानवगृहीतमीहते,
न चानीहितमवगम्यते, न चानवगतं धार्यते इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ सर्वमेवेदं द्रव्यादिभिर्निरूपयन्नाह—

५९. तं समासओ चउविहं पण्णत्तं, तं जहा-दब्बओ खेतओ कालओ भावओ ।
तत्थ दब्बओ णं आभिणिवोहियणाणी आएसेणं सब्बदब्बाई जाणति ण पासति १ ।
खेतओ णं आभिणिवोहियणाणी आएसेणं सब्बं खेत्तं जाणइ ण पासइ २ । कालओ णं २०
आभिणिवोहियणाणी आएसेणं सब्बं कालं जाणइ न पासइ ३ । भावओ णं आभिण-
वोहियणाणी आएसेणं सब्बे भावे जाणइ ण पासइ ४ ।

६०. तं समासतो इत्यादि । द्रव्यत आभिणिवोधिकज्ञानी ‘आदेशः’ आदेशः-प्रकारः, स च सामान्यतो
विशेषतश्च, तत्र द्रव्यजातिसामान्यादेशेन ‘द्रव्याणि’ धर्मास्तिकायादीनि जानाति, विशेषतोऽपि यथा धर्मास्तिकायो
धर्मास्तिकायस्य देश इत्यादि, न पश्यति सर्वात्मना धर्मास्तिकायादीन्, शब्दादीस्तु योग्यदेशात्रस्थितान् २५
पश्यत्यपि, श्रुतादेशतो वा जानाति । एवं क्षेत्रादिष्वपि भावनीयम् । नवरं तान् न पश्यत्येव । तथा चोक्तं
भाष्यकारेण—

आदेसो चिं पगारो, ओहादेसेण सब्बदब्बाई । धर्मत्विकाऽयाई जाणइ, न उ सँब्बभावेण ॥ १ ॥

१ अन्ये इति नन्दिचूर्णिकृतः [पत्र ४०] ॥ २ “एवं रूपादिष्वपि विषयेषु सूप्तलक्षणाणि ईहादिवस्तूनि, प्रायः प्रस्यासन्न-
स्वात् स्थाणु-पुरुषादिना सादृश्यादित्वयः” इति स्वोपज्ञीका ॥ ३ अन्ये नन्दीचूर्णिकृतः [पत्र ४१] ॥ ४ सब्बमेपणं इति महा-
भाष्ये पाठः ॥

खेतं लोगा-उलोगं, कालं सबद्धमहव तिविधो वि । पंचोदइयादीए भावे जं नेयमेवतियं ॥ २ ॥
आदेसो चिं वं सुत्तं, सुतोवलद्देसु तस्स मतिणाणं । पसरइ, तव्भावणभाविणो वि सुत्ताणुसारेण ॥ ३ ॥
[विशेषा. गा. ४०३-५]

साम्प्रतं सङ्ग्रहगाथा उत्त्यन्ते । तत्र—

- ५ ६०. उग्गह ईहाऽवाओ य धारणा एव होति चत्तारि ।
आभिणिबोहियणाणस्स भेयवत्थू समासेण ॥ ७२ ॥
- अत्थाणं उग्गहणं तु उग्गहं, तह वियालणं ईहं ।
ववसायं तु अवायं, धरणं पुण धारणं विति ॥ ७३ ॥
- उग्गहो एकं समयं, ईहा-ऽवाया मुहुत्तमद्धं तु ।
१० कालमसंखं संखं च धारणा होति णायव्वा ॥ ७४ ॥
- पुडं सुणेति सदं, रूबं पुण पासती अपुडं तु ।
गंधं रसं च फासं च बद्ध-पुडं वियागरे ॥ ७५ ॥
- भासासमसेढीओ सदं जं सुणइ मीसयं सुणइ ।
वीसेढी पुण सदं सुणेति णियमा पराघाए ॥ ७६ ॥
- १५ ईहा अपोह वीमंसा मग्गणा य गवेसणा ।
सण्णा सती मती पण्णा सबं आभिणिबोहियं ॥ ७७ ॥
- से तं आभिणिबोहियणाणपरोक्खं ।

६०. उग्गह० गाहा । व्याख्या—‘अवग्रहः’ प्राग्निरूपितशब्दार्थः, तथा ईहाऽपायश, चशब्दः पृथग-
वग्रहादिस्वरूपस्वातन्त्र्यप्रदर्शनार्थः, अवग्रहादीनामीहादयः पर्याया न भवन्तीत्युक्तं भवति; समुच्चयार्थो वा, यदा
२० समुच्चयार्थस्तदा व्यवहितो द्रष्टव्यः, धारणा च । ‘एवकारः’ क्रमपरिदर्शनार्थः, एवमनेनैव क्रमेण भवन्ति
चत्वार्याभिनिबोधिकज्ञानस्य भिद्यन्त इति भेदाः विकल्पाः अंशा इत्यनर्थान्तरम्, त एव वस्तूनि भेदवस्तूनि ।
कथम् ? यतो नानवगृहीतमीश्वरे, न चानीहितमवग्रह्यते, न चानवगतं धार्यत इति । अथवा काका नीयते, एवं
भवन्ति चत्वार्याभिनिबोधिकज्ञानस्य भेदवस्तूनि ‘समासेन’ सङ्क्षेपेण विशिष्टावग्रहादिस्वरूपापेक्षया, न तु विस्तरत
इति, विस्तरतोऽष्टाविंशतिभेदभिन्नत्वात् तस्येति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

२५ इदानीमनन्तरोपन्यस्तानामवग्रहादीनां स्वरूपं प्रतिपिपादयिष्याऽऽह—

अत्थाण० गाहा । व्याख्या—तत्रार्थन्त इत्यर्थाः, अर्यन्ते—गम्यन्ते परिच्छिद्यन्त इति यावत्, ते च रूपादयः
तेषामर्थानां प्रथमदर्शनानन्तरं च ग्रहणं अवग्रहम्, श्रुतत इति योगः । आह—वस्तुनः सामान्य-विशेषात्मकतयाऽविशिष्ट-

त्वात् किमिति प्रथमं दर्शनं ततो ज्ञानम् ? इति, उच्यते, तस्य प्रबलावरणत्वाद् दर्शनस्य चाल्पावरणत्वादिति । ‘तथा’ इति आनन्दर्थे । विचारणं-पर्यालोचनम्, अर्थानामिति वर्तते, ईहनमीहा ताम्, ब्रुवत इति सम्बन्धः । विविधोऽवसायो व्यवसायः—निर्णयस्तं व्यवसायं च, अर्थानामिति वर्तते, अपायं ब्रुवत इति संसर्गः । धृतिर्धरणम्, अर्थानामिति वर्तते, परिच्छिन्नस्य वस्तुनः अविच्छिन्नति-स्मृति-वासनारूपम्, तद् धरणं पुनर्धारणां ब्रुवत इति, अनेन शास्त्रपारतन्त्र्यमाह, इत्थं तीर्थकरणघरा ब्रुवते । अन्ये त्वं पठन्ति—“अत्थाणं उग्रहणमिम उग्रहो” इत्यादि, ५ अत्राप्यर्थानामवग्रहणे सति ‘अवग्रहो नाम’ मतिविशेष इत्येवं ब्रुवते, एवमीहादिष्वपि योज्यम् । भावार्थस्तु पूर्ववदे-वेति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ इदानीमभिहितस्वरूपाणामवग्रहादीनां कालप्रमाणमभिधित्सुराह—

उग्रहो० गाहा । व्याख्या—इहाभिहितलक्षणोऽर्थावग्रहो यो जघन्यो नैश्चयिकः स खलवेकं समयं भवतीति सम्बन्धः । तत्र कालः परमनिकृष्टः समयोऽभिधीयते, स च प्रवचनप्रतिपादितोत्पलपत्रशतव्यतिभेदोदाहरणाज्जीर्णपटशास्टिकापाठनदृष्टान्ताचावसेय इति । तथा सांच्यवहारिकार्थावग्रह-व्यञ्जनावग्रहौ तु पृथक् पृथगन्तर्मुहूर्तकालं भवत इति १० ज्ञातव्यौ । ईहा चापायश्चेहापायौ, प्राकृतशैल्या बहुवचनम्, उक्तं च—

बहुवयणेण दुवयणं, छट्टिविभक्तीऽ भण्डार्थं चउत्थी । जह हत्था तह पाया, नमोऽत्थु देवाहिदेवाणं ॥ १ ॥

[]

तावीहा-ऽपायौ मुहूर्तार्द्धं ज्ञातव्यौ भवतः । तत्र मुहूर्तशब्देन घटिकाद्वयपरिमाणः कालोऽभिधीयते, तस्यार्द्धं मुहूर्तार्द्धम् । ‘तुशब्दः’ विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि ? व्यवहारापेक्षयैतन्मुहूर्तार्द्धमुक्तम्, तत्त्वतस्त्वन्तर्मुहूर्तमवसे- 15 यमिति । अन्ये त्वं पठन्ति—“मुहूर्तमंतं तु” मुहूर्तान्तस्तु, द्वे पदे, अयमर्थः—अन्तर्मध्यकरणे, ‘तुशब्दः’ एवकारार्थः, स चावधारणे, एतदुक्तं भवति—ईहा-ऽपायौ ‘मुहूर्तान्तः’ भिन्नं मुहूर्तं ज्ञातव्यौ भवतः, अन्तर्मुहूर्तमेवेत्यर्थः । कलनं कालः, तं कालम्, न विद्यते सङ्ख्या—इयन्तः पक्ष-मास-त्वयन-संवत्सरादय इत्येवम्भूता सङ्ख्या यस्यासाव-सङ्ख्यः, पल्योपमादिलक्षण इत्यर्थः, तं कालमसङ्ख्यम्, तथा सङ्ख्यायत इति सङ्ख्यः, इयन्तः पक्ष-मास-त्वयनादय इत्येवंसङ्ख्यप्रमित इत्यर्थः, तं सङ्ख्यं च, चशब्दादन्तर्मुहूर्तं च, ‘धारणा’ अभिहितलक्षणा भवति 20 ज्ञातव्या । अयमत्र भावार्थः—अपायोत्तरकालमविच्छिन्नतिरूपाऽन्तर्मुहूर्तं भवत्येव, स्मृतिरूपाऽपि, वासनारूपा तु तदावरणक्षयोपशमालया स्मृतिवारणाया वीजभूता सङ्ख्येयवर्षायुषां सत्त्वानां सङ्ख्येयकालं असङ्ख्येयवर्षायुषां पल्योपमादिजीविनां चासङ्ख्येयमिति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

इत्थमवग्रहादीनां स्वरूपमभिधायेदानीं श्रोत्रेन्द्रियादीनां प्राप्ता-ऽप्राप्तविषयतां प्रतिपिपादियिषुराह—

पुद्दं सुणेह० गाहा । व्याख्या—तत्र ‘स्पृष्टमिति’ आलिङ्गितम्, तनौ रेणुवत्, ‘शृणोति’ वृक्षाति । किम् ? ‘शब्दं’ 25 शब्दद्रव्यसङ्खातम् । कुतः ? तस्य दृश्मत्वाद् भावुकत्वात् प्रचुरद्रव्याकुलत्वात् श्रोत्रेन्द्रियस्यान्येन्द्रियगणात् प्रायः पदुतस्त्वात् १ । रूप्यत इति रूपम्, तद् रूपं पुनः ‘पश्यति’ वृक्षाति ‘अस्पृष्टं’ अनालिङ्गितम्, असम्बद्धमित्यर्थः । ‘पुनःशब्दः’ विशेषणार्थः, ‘तुशब्दस्तु’ एवकारार्थः, तत्त्वायमर्थः—अस्पृष्टमेव पश्यति, पुनःशब्दादस्पृष्टमपि योग्यदेशावस्थितम्, नायोग्यदेशावस्थितमधोलोकादि । कुतः ? अप्राप्तकारित्वात् परिमितदेशस्थविषयग्राहित्वाच्चक्षुष इति २ । [गन्ध्यते-]घ्रायत इति गन्धस्त्वम्, रस्यत इति रसस्तं च, स्पृश्यत इति स्पर्शस्तं च, ‘चशब्दौ’ पूरण-समुच्चयार्थौ, 30 ‘बद्धस्पृष्टमिति’ बद्धम्-आश्लिष्टं तोयवदात्मप्रदेशैरात्मीकृतमित्यर्थः, स्पृष्टं-पूर्ववत्, प्राकृतशैल्या चेत्यमुपन्यासः “बद्धपुद्दं” ति, अर्थतस्तु स्पृष्टं च बद्धं च स्पृश्वद्भमिति विज्ञेयम्, आलिङ्गितानन्तरमात्मप्रदेशैरागृहीतमित्यर्थः, दी० ८

गन्धादि स्तोकद्वयत्वादभावुकत्वाद् ग्राणादीनां चापद्वत्वाद् विनिश्चिनोतीत्येवं व्याघृणीयादिति गाथार्थः ३ ॥७५॥ इह ‘सृष्टं शृणोति शब्दम्’ इत्युक्तम्, तत्र किं शब्दप्रयोगोत्सृष्टान्येव केवलानि शब्दद्वयाणि गृह्णाति ? उतान्यानि तद्वावितानि ? आहोश्चिद् मिश्राणि ? इति चोदकाभिप्रायमाशङ्कय ‘न तावत् केवलानि, तेषां वासक-त्वात् तद्योग्यद्वयाकुलत्वाच्च लोकस्य, किन्तु मिश्राणि तद्वासितानि वा गृह्णाति’इत्यमुमर्थमभिधित्सुराह—

- ५ भासा० गाहा । व्याख्या-भाष्यत इति भाषा, वक्त्रा शब्दतयोत्सृज्यमाना द्रव्यसंहतिरित्यर्थः, तस्याः समश्रेणयो भाषासमश्रेणयः, समग्रहणं विश्रेणीच्यवच्छेदार्थम्, इह श्रेणयः क्षेत्रप्रदेशश्रेणयोऽभिधीयन्ते, ताथ सर्वस्यैव भाषामाणस्य षट्सु दिक्षु विद्यन्ते, याद्यस्यष्टा सति भाषाऽऽद्यसमय एव लोकान्तमनुधावतीति, ता इतः-भाषासमश्रेणीतः, इतो गतः प्राप्तः स्थित इत्यनर्थान्तरम् । एतदुक्तं भवति-भाषासमश्रेणिच्यवस्थित इति । शब्दतेऽनेनेति शब्दः-भाषात्वेन परिणतः पुद्गलराशिः तं शब्दम्, यं पुरुषोऽश्वादिसम्बन्धिनं ‘शृणोति’ गृह्णाति १० उपलभत इति पर्यायाः, यत्तदोन्नित्यसम्बन्धात् तं मिथं शृणोति । एतदुक्तं भवति-उत्सृष्टद्वयभावितापान्तराल-स्थशब्दद्वयमिश्रमिति । विश्रेणि पुनः इति इति वर्तते, ततश्चायमर्थो भवति-विश्रेणिच्यवस्थितः पुनः श्रोता शब्दं शृणोति नियमेन परायाते सति, यानि शब्दद्वयाण्युत्सृष्टद्वयाभिधाते वासितानि तान्येव, न पुनरुत्सृष्टानीति भावार्थः, कुतः ? तेषां अनुश्रेणिगमनात् प्रतिवाताभावाच्च । अथवा विश्रेणिस्थित एव विश्रेणिरभिधीयते, पदेऽपि पदावयवप्रयोगदर्शनात्, भीमसेनः सेनः सत्यभासा भासेति यथेति गाथार्थः ॥७६॥

- १५ साम्प्रतं विनेयगणसुखप्रतिपत्तये भतिज्ञानपर्यायशब्दानभिधित्सुराह—

ईहा० गाहा । व्याख्या-ईहनमीहा, सदर्थपर्यालोचनचेष्टत्यर्थः । अपोहनमपोहः, निश्चय इत्यर्थः । विर्मषणं विर्मषः, ईहा-प्रयायमध्यवर्तीं प्रत्ययः । तथाऽन्यथर्थमान्वेषणा मार्गणा । ‘चः’ समुच्चयार्थः । व्यतिरेकधर्मालोचना गवेषणा । तथा संज्ञानं सठज्ञा, व्यञ्जनावग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेष इत्यर्थः । स्मरणं सृष्टिः, पूर्वानुभूतार्थालम्बन-प्रत्ययः । मननं भतिः, कथश्चिदर्थपरिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्मालोचनरूपा बुद्धिरित्यर्थः । तथा प्रज्ञानं प्रज्ञा, विशिष्ट-२० क्षयोपशमजन्या प्रभूतवस्तुगतयथावस्थितधर्मालोचनरूपा संविदिति भावना । सर्वमिदमाभिनिवोधिकम्, भतिज्ञान-मित्यर्थः । एवं किञ्चिद्देवाद् भेदः प्रदर्शितः, तत्त्वतस्तु भतिवाचकाः सर्व एते पर्यायशब्दा इति गाथार्थः ॥७७॥ “से त”मित्यादि, तदेतदाभिनिवोधिकज्ञानमिति । साम्प्रतं प्राणुपन्यस्तसकलचरणक्रियाधार-श्रुतज्ञानस्वरूपजिज्ञासयाऽह—

६१. से किं तं सुयणाणपरोक्तं ? सुयणाणपरोक्तं चोदसविहं पण्णतं, तं जहा—
२५ अक्षवस्तुतं १ अणक्षवस्तुतं २ सण्णिसुयं ३ असण्णिसुयं ४ सम्ममुयं ५ मिच्छमुयं ६ सादीयं ७ अणादीयं ८ सपञ्जवसियं ९ अपञ्जवसियं १० गमियं ११ अगमियं १२ अंगपविद्वं १३ अणंगपविद्वं १४ ।

६१. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् श्रुतज्ञानम् ? श्रुतज्ञानसुपाधिभेदाच्चतुर्दशविधं प्रज्ञपत्तम्, तद्यथा-अक्षरश्रुतं १ अनक्षरश्रुतं २ संज्ञिश्रुतं ३ असंज्ञिश्रुतं ४ सम्यक्ष्रुतं ५ मिथ्याश्रुतं ६ सादि ७ अनादि ८ सपर्यवसितं ९ अपर्यवसितं ३० १० गमिकं ११ अगमिकं १२ अङ्गपविष्टं १३ अनङ्गपविष्टम् १४ । एतेषां च भेदानां स्वरूपं यथावसरं वक्ष्यामः ।

अक्षरश्रुता-उनक्षरश्रुतभेदद्वयान्तर्भावे सत्यपि शेषभेदानामुपन्यासोऽज्ञातज्ञापनार्थः, न च भेदद्वयादेवाच्युत्यन्नमतीनां शेषभेदावगम इति प्रतीतमेतत् । अलं विस्तरेण ॥ साम्यतमुपन्यस्तश्रुतभेदानां स्वरूपमनवगच्छन्नाय भेदमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—

६२. से किं तं अक्षरसुतं ? अक्षरसुतं तिविहं पण्णतं, तं जहा—सण्णक्षरं १ वंजण-
क्षरं २ लद्धिअक्षरं ३ । ५

६२. से किं तमित्यादि । अथ किं तदक्षरश्रुतम् ?, क्षर “सञ्चलने” [पाणिनिधातु. ८५१] न क्षरतीत्य-
क्षरम्, तच्च ज्ञानम्, चेतनेत्यर्थः, जीवस्वाभाव्यादनुपयोगेऽपि तत्त्वतो न प्रच्यवत इत्यर्थः, इत्थमभूतभावाक्षरकार्य-
कारणत्वादकाराद्यप्यक्षरमुच्यते । तत्राक्षरात्मकं श्रुतमक्षरश्रुतं द्रव्याक्षराण्यधिकृत्य, अथवाऽक्षरं च तत् श्रुतं चाक्षरश्रुतं
भावाक्षरमधिकृत्य । इदमक्षरश्रुतं त्रिविधं प्रज्ञम्, अक्षरस्यैव त्रिभेदत्वात् । त्रिभेदतामेव दर्शयन्नाह—सञ्ज्ञाक्षरं १
व्यञ्जनाक्षरं लब्ध्यक्षरम् ३ ॥ १०

६३. से किं तं सण्णक्षरं ? सण्णक्षरं अक्षरस्स संठाणा-४गिती । से तं सण्णक्षरं १ ।

६३. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् संज्ञाक्षरम् ?, सञ्ज्ञानं संज्ञा, सञ्ज्ञायते चा अनयेति संज्ञा,
तन्निवन्धनमक्षरं संज्ञाक्षरम्, इदं च ‘अक्षरस्य’ अकारादेः संस्थानस्याऽकृतिः संस्थानाकारः, यतस्तन्निवन्धनैवैतेष्व-
कारादिसंज्ञा प्रवर्तते इति । एतच्च ब्राह्म्यादिलिपीविधानादनेकविधम् । “से तं सञ्चक्षरं” तदेतत् संज्ञाक्षरम् १ ॥

६४. से किं तं वंजणक्षरं ? वंजणक्षरं अक्षरस्स वंजणाभिलावो । से तं वंजणक्षरं २ । १५

६४. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् व्यञ्जनाक्षरम् ?, व्यञ्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनम्,
व्यञ्जनं च तदक्षरं च व्यञ्जनाक्षरम्, तच्चेह सर्वमेव भाष्यमाणमकारादि हकारान्तम्, अर्थाभिव्यञ्जकत्वाच्छब्दस्य,
तथा चाह सूत्रकारः—‘अक्षरस्य’ अकारादेः ‘व्यञ्जनाभिलापः’ शब्दोच्चारणम् । “से त”मित्यादि, तदेतद्
व्यञ्जनाक्षरम् २ ॥

६५. से किं तं लद्धिअक्षरं ? लद्धिअक्षरं अक्षरलद्धीयस्स लद्धिअक्षरं समुप्यज्जइ, २०
तं जहा—सोऽदियलद्धिअक्षरं १ चक्षिखदियलद्धिअक्षरं २ धारेण्दियलद्धिअक्षरं ३ रसणि-
दियलद्धिअक्षरं ४ फारेण्दियलद्धिअक्षरं ५ णोऽदियलद्धिअक्षरं ६ । से तं लद्धिअक्षरं
३ । से तं अक्षरसुयं १ ।

६५. से किं तमित्यादि । अथ किं तलब्ध्यक्षरम् ?, लब्धिः—क्षयोपशमः उपयोग इत्यर्थः । “अक्षरल-
द्धीयस्स” इत्यादि, इहाक्षरे लब्धिर्यस्य सोऽक्षरलब्धिकस्तस्य, इन्द्रिय-मनुभयविज्ञानसमुत्पद्याद्यक्षरलब्धिसम- २५
न्वितस्येत्यर्थः, अनेन विकलेन्द्रियादिव्यवच्छेदमाह । ‘लब्ध्यक्षरं समुत्पद्यते’ कुतश्चिच्छब्दादेनिमित्तात् सञ्जातत-
दावरणकर्मक्षयोपशमस्य ‘लब्ध्यक्षरं समुत्पद्यते’ अक्षरोपलम्भः सञ्जायते । एतदुक्तं भवति—शब्दादिग्रहणसमन्वत-
मिन्द्रिय-मनोनिमित्तं श्रुतग्रन्थानुसारि शाह इत्याद्यक्षरानुषक्तं विज्ञानसमुत्पद्यते । तच्चानेकप्रकारम्, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रि-
यलब्ध्यक्षरमित्यादि । इह श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दश्रवणे सति शाहोऽयमित्याद्यक्षरद्वयलाभः श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तसाच्छौ-

त्रेन्द्रियलब्ध्यक्षरमिति, एवं क्षेषेष्वपि भावनीयम् । “से त”मित्यादि, तदेतलब्ध्यक्षरम् । “से त”मित्यादि, तदेतदक्षरात्मकं अक्षरं च तदिति वा श्रुतं चाक्षरश्रुतम् । अत्र संज्ञा-व्यञ्जनाक्षरे द्रव्यश्रुतम्, लब्ध्यक्षरं पुनर्भावश्रुतम् लब्ध्येविज्ञानरूपतात् ॥

६६. से किं तं अणक्षरसुयं ? अणक्षरसुयं अणेगविहं पण्णतं, तं जहा-

५ ऊससियं णीससियं णिच्छूदं खासियं च छीयं च ।

णिसंघियमणुसारं अणक्षरं छेलियादीयं ॥ ७८ ॥

से तं अणक्षरसुयं २ ।

६६. से किं तमित्यादि । अथ किं तदनक्षरश्रुतम् ? अनक्षरशब्दकारणं कार्यमनक्षरश्रुतं ‘अनेकविधं’ अनेकप्रकारं प्रज्ञातम् । तथा—

१० ऊससियं० गाहा । उच्छूवसनमुच्छूवसितम्, भावे निष्ठाप्रत्ययः । तथा निःश्वसनं निःश्वसितम् । निष्ठी-
वनं निष्ठशूतम् । कासनं कासितम् । ‘चशब्दः’ समुच्चयार्थः । क्षयणं क्षुतम् । ‘चशब्दः’ समुच्चयार्थं एव, अस्य व्यव-
हितः सम्बन्धः । कथम् ? सेष्टितं चानक्षरं श्रुतमिति वक्ष्यामः । निःसङ्घनं निःसङ्घितम् । अनुस्वारवदनुस्वारम्,
अक्षरमपि यदनुस्वारवदुच्चार्यते । ‘अनक्षर’मिति एतदुच्छूवसितादि अनक्षरश्रुतमिति । सेष्टनं सेष्टितम्, तत्
१५ सेष्टितं चानक्षरश्रुतमिति । इदं चोच्छूवसितादि द्रव्यश्रुतमात्रम्, ध्वनिमात्रत्वात् । अथवा श्रुतविज्ञानोपयुक्तस्य
जन्तोः सर्व एव व्यापारः श्रुतम्, तस्य तद्वावेन परिणतत्वात् । आह—यद्येवं किमित्युपयुक्तस्य चेष्टाऽपि श्रुतं
२० नोच्यते येनोच्छूवसिताद्येवोच्यते ? इति, अत्रोच्यते, रूढवा, अथवा श्रूयत इति श्रुतम्, अन्वर्यसंज्ञामधिकृत्योच्छू-
सिताद्येव श्रुतमुच्यते, न चेष्टा, तदभावादिति, अनुस्वारादयस्त्वर्थगमकत्वादेव श्रुतमिति ॥ ७८ ॥

“से त”मित्यादि, तदेतदनक्षरश्रुतम् ॥

६७. से किं तं सण्णिसुतं ? सण्णिसुतं तिविहं पण्णतं, तं जहा—कालिओवएसेणं १

२० हेऊवएसेणं २ दिष्टिवादोवदेसेणं ३ ।

६७. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् संज्ञिश्रुतम् ? संज्ञानं संज्ञा, साऽस्यास्तीति संज्ञी, तस्य श्रुतं संज्ञिश्रुतं
त्रिविधं प्रज्ञातम्, संज्ञिन एव त्रिभेदत्वात् । त्रिभेदतामेव दर्शयन्नाह, तथा—कालिक्युपदेशेन १ हेतूपदेशेन २
२५ दृष्टिवादोपदेशेन ३ ॥

६८. से किं तं कालिओवएसेणं ? कालिओवएसेणं जस्स णं अत्थ ईहा अपोहो
५२ मग्नणा गवेसणा चिता वीमंसा से णं सण्णि ति लब्धमइ, जस्स णं पात्थि ईहा अपोहो
मग्नणा गवेसणा चिता वीमंसा से णं असण्णीति लब्धमइ । से तं कालिओवएसेणं १ ।

६८. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं कालिक्युपदेशो ? ईहाऽदिपदलोपाद् दीर्घकालिकी कालिक्युच्यते,
संज्ञेति प्रकरणाद् गम्यते, उपदेशनमुपदेशः, कथनमित्यर्थः, दीर्घकालिक्याः सम्बन्धी दीर्घकालिक्याः वा मतेनोपदेशो
दीर्घकालिक्युपदेशः, स्तेन ‘यस्य’ प्राणिनः ‘अस्ति’ विद्यते ‘ईहा’ शब्दाद्यवग्रहणोत्तरकालमन्वय-व्यतिरेकधर्मा-

लोचनचेष्टत्यर्थः; तथा ‘अपोहः’ व्यतिरेकधर्मपरित्यागेनान्वयधर्माद्यासेनावधारणात्मकः प्रत्यय इति भावना, यथा शब्द इति; तथा ‘भार्गणा’ विशेषधर्मान्वेषणारूपा संविदित्यर्थः, यथा-शब्दः सन् किं शाह्वः किं वा शार्ङ्गः? इति; तथा ‘गवेषणा’ व्यतिरेकधर्मस्वरूपालोचना, यथा खरादय एवम्भूता इति; तथा ‘चिन्ता’ अन्वयधर्मपरिज्ञानाभिमुखा चेष्टा, यथा मधुरत्वादयस्त्वेवम्भूता इति; तथा ‘विमर्षः’ स्त्याज्यधर्मपरित्यागेनोपादेयधर्मग्रहणाभिसुख्यम्, यथा न शार्ङ्गः, प्राणोऽयं मधुरत्वादियोगाच्छाह्व इति; “से णं संज्ञीति लभ्यति” ति ‘सः’ प्राणी ५ “ण”मिति वाक्यालङ्कारे ‘संज्ञीति लभ्यते’ मनःपर्याप्त्या पर्याप्तः, अवग्रहादिमतिज्ञानसम्प्रत्यसमन्वित इत्यर्थः। अथवा यस्यास्ति ‘ईहा’ किमेतदिति चेष्टा, इदमित्यवगमोऽपोहः, अन्वगतार्थीभिलाषे तत्प्रार्थिना मार्गणा, तद्प्रार्थी च निषुणोपायतोऽन्वेषणं गवेषणा, प्रयुक्तमतिहतोपायस्योपायान्तरचिन्तनं चिन्ता, तद्विषय एतोपायालोचनात्मकः प्रत्ययो विमर्षः, संज्ञीति लभ्यते। अयं च गर्भव्युत्कान्तिकः पुरुषादिरौपपातिरूप देशादिरेव मनःपर्याप्ति-प्रयुक्तो विज्ञेयः, यथोक्तविशेषणकलापसमन्वितत्वात्, न पुनरन्यस्तद्विशेषणविकल इति। आह च—“जस्ते”त्यादि, १० यस्य नास्ति ईहाऽपोहो मार्गणा गवेषणा चिन्ता विमर्षः सोऽसंज्ञीति लभ्यते, अयं च सम्मुच्छिमपञ्चन्द्रियविकलेन्द्रियादिरैयः, अल्पमनोलघ्वित्वादभावाच्च । “से त”मित्यादि, सोऽयं कालिक्युपदेशेन १॥

६९. से किं तं हेऊवएसेण? हेऊवएसेण जस्ते णं अत्थ अभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती से णं सण्णीति लभ्यइ, जस्ते णं णत्थि अभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती से णं असणिण त्ति लभ्यइ । से तं हेऊवएसेण २ । १५

६९. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं हेतूपदेशेन?, हेतुः-कारणम्, उपदेशनं उपदेशः, हेतोरूपदेशः हेतूपदेशस्तेन, कारणोपदेशेनेत्यर्थः। ‘यस्य’ प्राणिनः ‘अस्ति’ विद्यतेऽभिसन्धारणम्-अव्यक्तेन विज्ञानेनाऽऽलोचनं तत्पूर्विका-तत्कारणिका करणशक्तिः-क्रियाशक्तिः, करणं-क्रिया शक्तिः-सामर्थ्यम्, अव्यक्तविज्ञानालोचन-निबन्धनचेष्टासामर्थ्यमिति भावना, स प्राणी “ण”मिति वाक्यालङ्कारे संज्ञीति लभ्यते, अयं च द्वीन्द्रियादिः सम्मुच्छिमपञ्चन्द्रियावसानो विज्ञेयः। तथाहि-कृम्यादयोऽपीष्टेष्वाहागादिषु प्रवर्तन्ते अनिष्टेभ्यश्च निवर्तन्ते स्वदेहप- २० रिपालनार्थं प्रायो वर्तमान एव, न चासञ्चिन्त्येष्टा-जनिष्टविषयप्रवृत्ति-निष्टिसम्भव इति संज्ञी । उक्तलक्षणविकल-स्वसंज्ञी, तथा चाह—“जस्ते”त्यादि, यस्य नास्ति अभिसन्धारणपूर्विका करणशक्तिः सोऽसंज्ञीति लभ्यते, अयं चैकेन्द्रियः पृथिव्यादिरवसेयः, मनोलघ्विरहितत्वात् ।

आह-यदि स्वल्पसंज्ञायोगाद् विकलेन्द्रियादयः संज्ञिन इध्यन्ते पृथिव्यादयः किं नेष्यन्ते? यतस्तेषामपि दशविधाः संज्ञा विद्यन्त एव, तथा चोक्तं परमगुरुभिः—“कति णं भंते! एर्गिदियाणं सम्भाओ वन्नत्ताओ?, गोयमा! २५ दस, तंजहा-आहारसन्ना १ भयसन्ना २ मेहुण० ३ परिग्नहसन्ना ४ कोह० ५ माण० ६ माया० ७ लोभ० ८ ओहसन्ना ९ लोहसन्ना य” १० [] त्ति । उपयोगमात्रमोघसंज्ञा, लोकसंज्ञा स्वच्छन्दविक-लिपता विश्वगमा लौकिकैराचरिता, तद्यथा—“अनपत्यस्य न सन्ति लोकाः” इत्यादि, अन्ये तु व्याचक्षते-ओघसंज्ञा दर्शनोपयोगः, लोकसंज्ञा ज्ञानोपयोग इति, अत्रोच्यते, इहौघसंज्ञा स्तोकत्वाद् आहारादिसंज्ञाश्चानिष्टत्वाश्चाधि-क्रियन्ते, यथा न कार्षणिगमात्रेण धनवानभिर्धीयते मूर्च्छिमात्रेण वा रूपवानिति, किन्तु यथा प्रभूतरत्नादिस- ३० भान्वितो धनवान् प्रशस्तमूर्तियुक्तश्च रूपवानभिर्धीयते; एवं महती शोभना च संज्ञा यस्यास्त्यसौ संज्ञीति, विशिष्ट-तरा च विकलेन्द्रियसंज्ञेत्यलं विस्तरेण । “से त”मित्यादि, सोऽयं हेतूपदेशेन २॥

७०. से किं तं दिद्वाओवएसेणं ? दिद्वाओवएसेणं सण्णिसुयस्स खओवसमेणं सण्णी लब्धति, असण्णिसुयस्स खओवसमेणं असण्णी लब्धति । से तं दिद्वाओवएसेणं ३ । से तं सण्णिसुतं ३ । से तं असण्णिसुतं ४ ।

७०. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं दृष्टिवादोपशेन ?, दृष्टिः दर्शनं, वदनं वादः, दृष्टीनां वादः दृष्टिवादः ५ तदुपदेशेन तन्मतापेक्षया संज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेन संज्ञीति लभ्यते, अयमत्र भावार्थः—संज्ञानं संज्ञा, तद्योगात् संज्ञी, तस्य श्रुतं संज्ञिश्रुतम्, इदं सम्यक्श्रुतमेव, अन्यथा संज्ञानाभावात्, न हि मिथ्यादृष्टेः संज्ञानमस्ति, हितात्महितप्रवृत्तिनिवृत्यभावाद् रागादिप्रवृत्तेः । उक्तं च—

तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते क्रिमाति रागगणः ।

तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ? ॥१॥

१० सम्यग्दृष्टिस्तु तन्मित्रहपरत्वाद् वीतरागसम एव । उक्तं च—

कलुसफलेण ण जुज्जइ किं चित्तं तत्य ? जं विगतराओ । संते वि जो कसाए णिगिष्ठती सो वि तचुल्लो ॥१॥

[विशेषा. गा. ३२६५] तीत्यादि ।

अलं प्रसङ्गेन । तदित्थम्भूतस्य संज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेन सता संज्ञीति लभ्यते, अयं च सम्यग्दृष्टिरेव क्षयोपशमिक्ज्ञानयुक्तो रागादिनिग्रहपरः । तदन्यस्त्वसंज्ञी, यत आह ग्रन्थकारः—असंज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेनासंज्ञीति १५ लभ्यते, “से त”मित्यादि, सोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन ३ । एवं संज्ञिनस्त्रिमेदभिन्नत्वात् श्रुतमपि तदुपाधिभेदात् त्रिविधमेवेति ।

अत्राह—कालिकयुपदेशेनेत्यादि क्रमः किमर्थम् ?, उच्यते, इह प्रायः सूत्रे यत्र कचित् संज्ञिग्रहणं तत्र दीर्घकालिकयुपदेशेन समनस्कसंज्ञिपरिग्रह इति प्रथमं तदुपन्यासः, अप्रधानत्वाचेतरयोः, अन्ते च प्रधानाभिधानमिति न्याय्यम् । “से त”मित्यादि, तदेतत् संज्ञिश्रुतम् ३ । असंज्ञिश्रुतं तु प्रतिपक्षाभिधानादेव प्रतिपादितम् । २० तदेतदसंज्ञिश्रुतम् ४ ॥

७१. [१] से किं तं सम्मसुतं ? सम्मसुतं जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाण-दंसणधरेहिं तेलोकणिरिक्षय-महिय-पूडपर्हिं तीय-पञ्चपण्ण-मणागयजाणएहिं सब्बण्णूहिं सब्बदरिसीहिं पणीयं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा—आयारो १ सूयगडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ विवाहपण्णत्ती ५ णायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अणुत्तरो २५ ववाइयदसाओ ९ पण्हावागरणाइ १० विवागसुतं ११ दिद्वाओ १२ ।

[२] इच्येयं दुवालसंगं गणिपिडगं चोहसपुव्विस्स सम्मसुतं, अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुतं, तेण परं भिण्णेसु भयणा । से तं सम्मसुतं ५ ।

७१. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् सम्यक्श्रुतम् ?, सम्यक्श्रुतं यदिदं पणीतमिति सम्बन्धः । तत्राशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, तथा चोक्तम्—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पद्वष्टिर्दिव्यो ध्वनिशामरमासनं च ।

भाषण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥१॥ [

तर्हद्विः, तत्र शुद्धद्व्यास्तिकनयमतानुसारिभिः अनादिशुद्धा एव मुक्तात्मानोऽभ्युपगम्यन्ते । यथोक्तम्—

ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥२॥

] इत्यादि । ५

वहवश्च कैश्चिदिष्यन्ते, तेऽपि च स्थापनादिशुद्धारेण पूजार्हत्वादर्हन्तो भृत्येव । अतो 'भगवद्विः' भगः—खलु
समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, यथोक्तम्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य पृणां भग इतीङ्गना ॥३॥

[]

भगो विद्यते येषां ते भगवन्तः तैर्भगवद्विः, न चानादिशुद्धानां समग्रं रूपमुपपद्धते, अशरीरित्वात्, शरीरस्य 10
च रागादिकार्यत्वात्, तेषां च तदभावादिति । स्वेच्छानिर्माणतः समग्रशरीरसम्भवात् तुल्यतामेवाशङ्ख्याऽऽह—
उत्पन्नज्ञान-दर्शनधरैः, न च तेऽनादिशुद्धाः उत्पन्नज्ञान-दर्शनधराः, “ज्ञानमप्रतिघं यस्ये”त्यादिवचनविरोधात्,
एवं शुद्धद्व्यास्तिकनयमतानुसारिपरिकल्पितमुक्तव्यवच्छेदार्थोऽयं ग्रन्थः । अधुना पर्यायास्तिकनयमतानुसारिपरि-
कल्पितमुक्तव्यवच्छेदार्थमाह—‘त्रैलोक्यनिरीक्षित-महित-पूजितैः’ निरीक्षिताश्च महिताश्च पूजिताश्चेति समाप्तः,
त्रैलोक्येन निरीक्षित-महित-पूजिता इति विग्रहः । विशेषणसाफल्यं पुनरित्थमवसेयम्—त्रैलोक्यग्रहणाद् भवन- 15
व्यन्तरन्नर-विद्याधर-ज्योतिष्क-वैमानिकपरिग्रहः, निरीक्षिताः—भक्तिनप्रैर्मनोरथदृष्टिभिर्दृष्टाः, महिता यथावस्थ-
तान्यासाधारणगुणोऽकीर्त्तनलक्षणेन भावस्तवेन, पूजिताः सुगम्भिरुष्प्रकर्मप्रक्षेपादिना द्रव्यस्तवेनेति । तत्र सुगता-
दयोऽपि पर्यायास्तिकनयमतानुसारिभिस्त्रैलोक्यनिरीक्षित-महित-पूजिता इष्यन्त एव । आह च स्तुतिकारः—

देवागम-नभोयान-चामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥४॥

] इत्यादि । २०

अत आह—‘अतीत-प्रत्युत्पन्ना-ऽनागतैः’ न चैकान्तक्षणिकवादिनां यथोक्तविशेषणसम्भवः, अतीता-ऽनागताभावात् ।
तथा चागमः—

ण णिहाणगया भग्ना, धुंजो णतिथ अणागते । णिव्युया णेव चिठ्ठुंति आरग्ने सरिसोवमा ॥५॥

असतां च ग्रहणायोगाद् इत्याध्यत्र वहु वक्तव्यम् न च तदुच्यते, गमनिकामावत्वादस्य प्रारम्भस्य । व्यवहार-
नयमतानुसारिभिस्तु कैश्चिदतीता-ऽनागतार्थग्राहिण इष्यन्त एव ऋषयः । यथोऽहुरेके— 25

ऋषयः संयतात्मानः फल-मूला-ऽनिलाशनाः । तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥६॥

अतीता-ऽनागतान् भावान् वर्तमानांश्च भारत ! । ज्ञानालोकेन पश्यन्ति त्यक्तसङ्गा जितेन्द्रियाः ॥७॥

] इत्यादि ।

अत आह—सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः, ते तु सर्वज्ञा न भवन्तीत्यभिप्रायः । एवं प्रधानोभयनयमतानुसारिपरिक-
लिपितमुक्तव्यवच्छेदेनेदं नीयते, अन्यथा वाऽविरोधेन नेतव्यमिति । प्रणीतम्—अर्थकथंद्वारेण प्रलिपितम् । किं 30

तत् ? 'द्वादशाङ्गं' श्रुतपरमपुरुषोत्तमस्याङ्गानीवाङ्गानि द्वादश अङ्गानि—आचारादीनि यस्मिस्तद् द्वादशाङ्गम् । गुणगणोऽस्यास्तीति गणी—आचार्यस्तस्य पिटकं—सर्वस्वं गणिपिटकम् । अथवा गणिशब्दः परिच्छेदवचनः, तथा चोक्तम्—आयारम्मि अहीए जं णातो होइ समणधम्मो उ । तम्हा आयारधरो भवति पठमं गणिटाणं ॥१॥

[आचाराङ्गनिर्युक्ति गा. १०]

- ५ परिच्छेदस्थानमित्यर्थः, ततश्च परिच्छेदसमूहो गणिपिटकम्, तद्यथा—आचार इत्यादि पाठसिद्धं यावद् दृष्टिवादः । अनङ्गप्रविष्टमावश्यकादि, ततोऽहंत्यपीतत्वाद् वस्तुत उक्तत्वादनुक्तमपि गृह्णते । इदं सर्वमेव द्रव्यास्तिकनयमतेन तदभिव्येष्यपञ्चास्तिकायभाववश्चित्यं सत् स्वाम्यसम्बन्धचिन्तायां द्वाराथोभयरूपं सम्यक्छ्रुतमेव भवति । स्वामिसम्बन्धचिन्तायां तु भाज्यम्, स्वामिपरिणामविशेषात्, कदाचित् सम्यक्छ्रुतं कदाचिद् विपर्ययः । तत्र सम्यद्वष्टे: प्रशमादिसम्यक्यरिणामोपेतत्वात् स्वरूपेण प्रतिभासनात् सम्यक्छ्रुतम्, पितौदयानभिभूतस्य शर्क-
१० रादिरिवेति, मिथ्याद्वष्टे: पुनरप्रशमादिमिथ्यापरिणामोपेतत्वाद् वस्तुनः स्वरूपेणाप्रतिभासनान्मिथ्याश्रुतम्, पितौदयाभिभूतस्याशर्करादिवदिति, देशतो दृष्टान्तः, अशर्करादित्वं च तं प्रति तत्कार्याकरणात्, तथाऽप्यभ्युपगमे चातिप्रसङ्गादित्यलं प्रसङ्गेन । श्रुतप्रमाणत एव सम्यक्यरिणामनियमनायाह—

[२] इच्छेदमित्यादि । इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं चतुर्दशपूर्विणः सम्यक्छ्रुतमेव, तथा अभिन्नदशपूर्विणोऽपि सम्यक्छ्रुतमेव । “तेण परं भिन्नेषु भयण” चि पश्चानुपूर्व्या ततः परं भिन्नेषु दशसु ‘भजना’ कदाचित् सम्यक्छ्रुतं कदाचिन्मिथ्याश्रुतम्, परिणामविशेषात् । एतदुक्तं भवति—आसन्नभव्योऽपि मिथ्याद्वष्टिः सम्पूर्णदशपूर्वरत्ननिधानं न प्राप्नोति, मिथ्यात्तपरिणामकलङ्कितत्वाद् दाखिद्यनिवन्धनपापकलङ्काङ्कितपुरुषवच्चिन्तामणिमिति । “से त”मित्यादि तदेतत् सम्यक्छ्रुतम् ॥

७२. [१] से किं तं मिच्छ्रुतं ? मिच्छ्रुतं जं इमं अण्णाणिएहि मिच्छ्रुदिद्वीहिं सच्छुद्बुद्धि-मतिवियप्पियं, तं जहा—भारहं रामायणं हंभीमासुखसं कोडल्यं सगभहियाओ २० खोडमुहं कप्पासियं नामसुहुमं कणगसत्तरी वइसेसियं बुद्धवयणं वेसितं कविलं लोगायतं सट्टितंतं मादरं पुराणं वागरणं णाडगादी, अहवा बावत्तरिकलाओ चत्तारि य वेदा संगोवंगा ।

[२] एयाइं मिच्छ्रुदिद्विस्स मिच्छ्रुतपरिणग्हियाइं मिच्छ्रुतं, एयाणि चेव सम्महिद्विस्स सम्पत्तपरिणग्हियाइं सम्मसुयं ।

[३] अहवा मिच्छ्रुदिद्विस्स वि सम्मसुयं, कम्हा ? सम्मतहेउत्तणओ, जम्हा ते २५ मिच्छ्रुदिद्विया तेहि चेव समएहैं चोइया समाणा केइ सपव्वदिद्वीओ वर्मेति । से तं मिच्छ्रुयं ६ ।

७२. से किं तमित्यादि । अथ किं तन्मिथ्याश्रुतम् ? मिथ्याश्रुतं यदिदमङ्गानिकैः । तत्राल्पज्ञानभावादधनवदशीलवद्वा सम्यद्वष्टयोऽप्यज्ञानिकाः प्रोच्यन्ते, अत आह—मिथ्याद्वष्टिभिः । किम् ? ‘स्वच्छन्दबुद्धि-मतिवि-

कलिपतं’ इहावग्रहे हे बुद्धिः, अपाय-धारणे मतिः, स्वच्छन्देन-स्वाभिप्रायेण स्वतः सर्वद्वयणीतार्थानुसारमन्तरेण बुद्धि-मतिभ्यां चिकलिपतं स्वच्छन्दबुद्धि-मतिविकलिपतम्, स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितमित्यर्थः । तद्यथा—‘भारत’ मित्यादि सूत्रसिद्धं यावत् ‘चत्वारश्च वेदासाङ्गोपाङ्गा’ । एतानि स्वरूपतोऽन्यथावस्त्वभिधानान्मिथ्याश्रुतमेव । स्वामिसम्बन्धचिन्तायां तु भाज्यानि । तथा चाह-

[२] मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वपरिगृहीतानि विपरीताभिनिवेशहेतुत्वान्मिथ्याश्रुतम् । एतान्येव सम्यग्दृष्टेः ५ सम्यक्त्वपरिगृहीतानि असारतादर्शनेन स्थिरतरसम्यक्त्वपरिणामहेतुत्वात् सम्यक्क्षुतम् ।

[३] अथवा मिच्छदिद्विस्स चि सम्यक्श्रुतम् इत्यादि, अथवा मिथ्यादृष्टेरप्येतानि सम्यक्श्रुतम्, कस्मात् ?, सम्यक्त्वहेतुत्वात् । तथा चाऽऽह—“जम्हा ते मिच्छदिद्वीया” इत्यादि, यस्मात् ते मिथ्यादृष्टयः “तेहि चेव समयेहि चोदिता समाण” ति तैरेव ‘समयैः’ सिद्धान्तैः पूर्वोऽपरविरोधारेण—‘यद्यतीन्द्रियार्थदर्शनं स्यात् कथं वेदार्थप्रतिपत्तिः ?’ इत्यादिना चोदिताः सन्तः केचन विवेकिनः सत्यक्यादय इव, किम् ?, “सप्तक्षदिद्वीओ १० वर्मेति” स्वप्नशब्दैस्त्यजन्तीत्यर्थः । “से त”मित्यादि, तदेतत् मिथ्याश्रुतम् ॥

७३. से किं तं सादीयं सप्तज्जवसियं ? अणादीयं अपज्जवसियं च ? इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडं विउच्छित्तिणयद्वयाए सादीयं सप्तज्जवसियं, अविउच्छित्तिणयद्वयाए अणादीयं अपज्जवसियं ।

७४. से किं तमित्यादि । सादि सर्वर्थवसितं अनाद्यर्थवसितं चाधिकारवशाद् युगपदुच्यते । अथ किं 15 तत् सादि ?, सह आदिना वर्तत इति सादि । इत्येतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं व्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयः व्यवच्छित्तिनयः, पर्यायास्तिक इत्यर्थः; तस्यार्थो व्यवच्छित्तिनयार्थः; तद्वावो व्यवच्छित्तिनयार्थता तया व्यवच्छित्तिनयार्थमावेन, पर्यायापेक्षयेत्यर्थः; किम् ? सादि सर्वर्थवसितम्, पर्यवसानं पर्यवसितम्, भावे निष्ठाप्रत्ययः, सह पर्यवसानेन सर्वर्थवसितम्, नारकादिभवापेक्षया एव जीव इति । तथा अव्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयः अव्यवच्छित्तिनयः, द्रव्यास्तिकनय इत्यर्थः; तस्यार्थो अव्यवच्छित्तिनयार्थः; तद्वावः अव्यवच्छित्तिनयार्थता तया अव्यवच्छित्ति- 20 नयार्थभावेन, द्रव्यापेक्षयेत्यर्थः; किम् ? अनादि अपर्यवसितम्, त्रिकालावस्थायित्वात्, जीववत् ॥

अधिकृतमेवार्थं द्रव्यादिचतुष्यमयिकृत्य प्रतिपादयन्नाह—

७४. तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा-दब्बओ खेत्तओ कालओ भावओ । तत्य दब्बओ णं सम्मसुयं एगं पुरिसं पडुच्च सादीयं सप्तज्जवसियं, बहवे पुरिसे पडुच्च अणादीयं अपज्जवसियं १ । खेत्तओ णं पंच भरहाइं पंच एखयाइं पडुच्च सादीयं सप्तज्जवसियं, पंच 25 महाविदेहाइं पडुच्च अणादीयं अपज्जवसियं २ । कालओ णं ओसप्पिणि उसप्पिणि च पडुच्च सादीयं सप्तज्जवसियं, णोओसप्पिणि णोउसप्पिणि च पडुच्च अणादीयं अपज्जवसियं ३ । भावओ णं जे जया जिणपण्णता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परुविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति ते तहा पडुच्च सादीयं सप्तज्जवसियं, स्वाओवसमियं

पुण भावं पञ्च अणादीयं अपज्जवसियं ४ ।

७४. तं समासतो इत्यादि । ‘तत्’ श्रुतज्ञानं ‘समासतः’ सङ्क्षेपेण चतुर्विंश्यं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः । तत्र द्रव्यतः “ण” मिति वाक्यालङ्कारे सम्यक्ष्युतं एकं पुरुषं प्रतीत्य सादि सर्प्यवसितम् । कथम् ?, सम्यज्ञवावासौ तत्प्रथमपाठतो वा सादि, पुनर्मिथ्यात्प्रासौ सति वा सम्यत्वे प्रमादन्त्वान-सुरलोकगमन-केवलो-५ त्पचिभावेऽभावात् सर्प्यवसितम् । वहून् पुरुषान् प्रतीत्य अनाधर्प्यवसितम्, सन्तानेन प्रवृत्तत्वात्, पुरुषत्वत् । तथा क्षेत्रतः पञ्च भरतानि पञ्च ऐरवतानि प्रतीत्य सादि सर्प्यवसितम् । कथम् ?, तेषु सुषमदुष्मादिकाले तीर्थकर-धर्म-सङ्खानां तत्प्रथमतयोन्पत्तेः सादि, एकान्तदुष्मादिकाले च तदभावे सर्प्यवसितम् । तथा महाविदेहादि प्रतीत्य प्रवाहरूपेण तीर्थकरादीनामव्यवच्छिरेनाधर्प्यवसितम् । कालतः “ण” मिति वाक्यालङ्कारे अवसर्पिणीं उत्सर्पिणीं च प्रतीत्य सादि सर्प्यवसितम्, कथम् ?, यतोऽन्तसर्पिण्यां तिसृष्टेव सुषमदुष्मा-दुष्मसुषमा-दुष्मास्त्विति, उत्स-१० पिण्यां द्वयोः दुष्मसुषमा-सुषमदुष्मयोरिति, न परतः, इत्यतः सादि सर्प्यवसितम् । अत्र कालचक्रं विश्वातिसाग-रोपमकोटीकोटिपरिमाणं विनेयजनानुग्रहार्थं प्रख्यते—

चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीउ संततीए उ । एगंतसूसमा खलु जिणेहिं सञ्चेहिं णिद्विषा ॥१॥

तीए पुरिसाणमायुं तिणिं य पलियाइं तह पमाणं च । तिन्नेव गाउयाइं आदीए भणंति समयण् ॥२॥

उवभोग-परीभोगा जम्मंतरसुक्यवीयजातातो । कप्पतरसमूहाओ होति किलेसं विणा तेसि ॥३॥

१५ ते पुण दसप्पगारा कप्पतरू समणसमयकेतूहिं । धीरेहि विणिद्विषा मणोरहापूरगा एए ॥४॥

मत्तंगया १ य भिंगा २ तुडियंगा ३ दीव ४ जोति ५ चित्तंगा ६ ।

चित्तरसा ७ मणियंगा ८ गेहागारा ९ अणियणा १० य ॥५॥

मत्तंगएसु मज्जं सुहपेज्जं १ भायणाणि भिंगेसु २ । तुडियंगेसु य संगयतुडियाणि बहुप्पगाराणि ३ ॥६॥

दीवसिहा जोतिसणामया य णिचं करेति उज्जोयं ४। ५। चित्तंगेसु य मछुं ६ चित्तरसा भोयणटाए ७ ॥७॥

२० मणियंगेसु य भूसणवराणि ८ भवणाणि भवणरुक्खेसुं ९ । आयन्नेसु य इच्छियवत्थाणि बहुप्पगाराणि १० ॥८॥

एएसु य अन्नेसु य नर-नारिणणां ताणमुवभोगा । भविय पुणबभवरहिया इय सब्बन्नू जिणा बिंति १ ॥९॥

तो तिनि सागरोवमकोडाकोडीउ वीयरागेहिं । सुसम त्ति समक्खात्या पवाहरूवेण धीरेहिं ॥१०॥

तीए पुरिसाणमायुं दोणिं य पलियाइं तह पमाणं च । दो चेव गाउयाइं आईए भणंति समयन्दू ॥११॥

उवभोग-परीभोगा तेसि पि य कप्पपादवेहितो । होति किलेसेण विणा नवरं ऊणाणुभावेहिं २ ॥१२॥

२५ तो सुसमदूसमाए पवाहरूवेण कोडिकोडीओ । अयराण दोणिं सिष्ठा जिणेहिं जियराण-दोसेहिं ॥१३॥

तीए पुरिसाणमाउं एगं पलियं तहा पमाणं च । एगं च गाउयं ती आदीए भणंति समयण् ॥१४॥

उवभोग-परीभोगा तेसि पि य कप्पपादवेहितो । होति किलेसेण विणा पायं ऊणाणुभावेहिं ॥१५॥

सुसमदूसमावसेसे पढमजिणो धम्मणायगो भयवं । उप्पघो कप्पपुझो सिप्पक्लादंसगो उसहो ३ ॥१६॥

तो दुसमसुसमूणा बायालीसाए वरिससहसेहिं । सागरकोडाकोडी एगेव जिणेहि पण्णसा ॥१७॥

३० तीए पुरिसाणमायुं पुञ्चपमाणेण तह पमाणं च । धणुसंखानिद्विं विसेससुन्तादो णायञ्च ॥१८॥

उवभोग-यरीभोगा पवरोसहिमाइएहि विणेया । जिष-घकि-वासुदेवा सर्वे य इमीएः वोलीणा ४ ॥१९॥

इगवीस सहस्राईं वासाणं दूसमा, इमीए य । जीवियमाणुवभोगादिया य दीसंति हायंता ५ ॥२०॥

एसो उ किलिङ्गतरा जीतपमाणादिएहि निहिं । अतिदूसम ति घोरा वाससहस्राईं इगवीसं ६ ॥२१॥

ओसपिणीए एसो कालविभागो जिणेहिं निहिं । एसो चिय पडिलोमं विज्ञेयुसपिणीए वि ॥२२॥

एतं तु कालचकं सिस्सजणाणुग्रहण्या भणियं । संखेवेण महत्थो विसेसमुन्नाओ णायब्बो ॥२३॥

5

“णोउस्स(ओस)पिणी”मित्यादि । नोअवसर्पिणीनोउत्सर्पिणीं च प्रतीत्य अनाद्यर्यवसितम्, महाविदेहेष्वेव कालस्यावस्थितत्वादिति भावः । भावतः “ण”मिति पूर्ववत् “ये” इत्यनिर्दिष्टनिर्देशे ये केचन ‘यदा’ पूर्वाङ्गादी जिनैः प्रज्ञसा जिनप्रज्ञप्ता: ‘भावाः’ पदार्थाः “आघविज्जांति” ति प्राकृतैव्यया आख्यायन्ते, सामान्य-विशेषाभ्यां कथयन्त इत्यर्थः; ‘प्रज्ञाप्यन्ते’ नामादिभेदाभिधानेन; ‘प्ररूप्यन्ते’ नामादिस्वरूपकथनेन, यथा—“पैर्यायानभिवेय”मित्यादि; ‘दर्शयन्ते’ उपमानमात्रतः, यथा गौस्तथा गवय इत्यादि; ‘निदर्शयन्ते’ हेतु-दृष्टान्तोपन्यासेन; ‘उपदर्शयन्ते’ उपनय- 10 निगमनाभ्यामिति सकलनयाभिधायतो वा ‘तान्’ भावान् ‘तदा’ तत्कालापेक्षया प्रतीत्य सादि सपर्यवसितम् । एतदुक्तं भवति—प्रज्ञापकोपयोग-स्वर-प्रयत्ना-उसनविशेषतः प्रतिक्षणमन्यथा चान्यथा चावस्थितेः सादि सपर्यव-सितम् । तथा चोक्तम्—

उवयोग-सर-पयत्ता आसणभेदादिया य पतिसमयं ।

भिन्ना पञ्चवाससा सादि सपज्जन्तं तम्हा ॥१॥ [विशेषा. गा. ५४७]

15

अथवा प्रज्ञापनीयभावापेक्षया गति-स्थति-द्वयणुकाघेकप्रदेशाद्यवगाहैकादिसमयस्थित्येकवर्णादिप्रतिपादनात् सादि सपर्यवसितम्, क्षायोपशमिकभावापेक्षया एनरनाद्यपर्यवसितम्, प्रवाहरूपेण तस्यानाद्यपर्यवसितत्वात् ॥

अथवाऽत्र चतुर्भुजिका-सादि सपर्यवसितं १ साद्यपर्यवसितं २ अनादि सपर्यवसितं ३ अनाद्यपर्यवसितम् ४ । तत्र प्रथमभङ्गकप्रदर्शनायाऽऽह—

७५. अहवा भवसिद्धीयस्स सुयं साईयं सपज्जवसियं, अभवसिद्धीयस्स सुयं अणा- 20 दीयं अपज्जवसियं ।

७६. “भवसिद्धीयस्स” इत्यादि । भवसिद्धिकः—भव्यस्तस्य ‘श्रुतं’ सम्यक्छ्रुतं सादि सपर्यवसितम्, उप-योगाद्यपेक्षया भावितमेव । द्वितीयभङ्गकस्तु शून्यः, प्ररूपणामात्रतो वा अभव्यस्य वर्तमानकालापेक्षया अनागता-द्वामधिकृत्य मिथ्याश्रुतमिति । तृतीयभङ्गस्तु सम्यक्त्वावाप्तौ भव्यस्य मिथ्याश्रुतम् । चतुर्थं भङ्गं पुनरूपदर्शयन्नाह—“अभव” इत्यादि, अभवसिद्धिकः—अभव्यस्तस्य ‘श्रुतं’ मिथ्याश्रुतं अनाद्यपर्यवसितम्, तस्य सदैव संसारवर्त्तित्वात् । 25 इह च श्रुतस्य प्रकान्तत्वात् तृतीय-चतुर्थभङ्गकद्वयेऽनादिश्रुतभाव उक्तः, अन्यथा मतेरप्येवमेव द्रष्टव्यम्, मति-श्रुत-योरन्योऽन्यानुगतत्वात् ॥ अत्राह—सोऽनादिज्ञानभावः किं जघन्यः ? उत विमध्यमः ? आहोश्चिदुत्कृष्टः ? इति, अत्रोच्यते, जघन्यो विमध्यमो वा, न तृत्कृष्टः । कथम् ? यतस्तस्येदं प्रमाणम्—

७६. सव्वागासपदेसग्गं सव्वागासपदेसेहि अणंतगुणियं पज्जवगगक्खरं णिष्पज्जह ।

७६. ‘सव्वागासपदेसग्ग’मित्यादि । सर्वं च तदाकाशं च सर्वाकाशम्, लोका-उलोकाकाशमित्यर्थः, 30

१ “यद् वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थं तदर्थनिरपेक्षम् । पर्यायानभिवेयं च नाम यादच्छिकं च तथा ॥१॥” इति सम्पूर्णः श्लोकः ॥

तस्य प्रदेशाः—प्रकृष्टा देशाः प्रदेशाः, निर्विभागा भागा इत्यर्थः, तेषामग्रं—परिमाणं सर्वाकाशभ्रदेशप्रम्, सर्वाकाश-प्रदेशैः, किम् ? ‘अनन्तगुणितं’ अनन्तशो गुणितं अनन्तगुणितम्, एकैकस्मिन्नाकाशभ्रदेशे अनन्तागुरुलघुपर्याय-भावात्, ‘पर्यायाग्राक्षरं’ पर्यायपरिमाणाक्षरं निष्पृष्टते, सर्वद्रव्य-पर्यायपरिमाणमिति भावार्थः। स्तोकत्वाचेह धर्मास्तिकायादयो नोक्ताः, अर्थतस्तु यहीता एव ॥

५ ७७. सब्बजीवाणं पि य णं अक्षवरस्स अणंतभागो णिच्छुग्धाडियओ, जति पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्तं पावेज्जा ।

सुदृढु वि मेहसमुदए होति पभा चंद-सूराणं ।

से तं सादीयं सपज्जवसियं । से तं अणादीतं अपज्जवसितं ७ । ८ । ९ । १० ।

७७. इह च ज्ञानमक्षरं गृह्णते, तथा तज्ज्ञेयम्, तथा अकारादि च, सर्वथाऽप्यविरोध इति । अस्य च १० सर्वजीवानामपि चाक्षरस्यानन्तभागः ‘नित्योद्घाटितः’ सदाऽप्राप्त इत्यर्थः । सुनरनन्तभागोऽप्यनेकविधः, तत्र सर्वजग्न्यश्वेतन्यमात्रम्, तत् पुनर्न कदाचिद्गुणवरणस्याप्यावियते, जीवस्तामाव्यात् । आह च ग्रन्थकारः—“जहुण” इत्यादि । यदि पुनः सोऽपि आव्रियेत, ततः किम् ?, ‘तेन जीवः अजीवतां प्राप्नुयात्’ ‘तेन’ आदृतेन ‘जीवः’ चैतन्यलक्षणः स्वलक्षणपरित्यागादजीवतां प्राप्नुयात्, न चैतद् हृष्टमिष्टं वा, सर्वस्य सर्वथा स्वभावातिरस्कारात् । अत्रैव दृष्टान्तमाह—“सुदृढु वी” त्यादि सुष्ठूवपि मेघसमुदये चन्द्र-सूर्यप्रभाजालतिरस्कारिणि सति भवति प्रभा चन्द्र-सूर्ययोः; १५. सर्वस्य सर्वथा स्वभावातिरस्कारादिति ।

अत्राह—“सञ्चागासप्तसंगं सञ्चागासपदेसेहि अणंतगुणियं पञ्जवग्गक्वरं निष्फज्जति” इत्यत्राविशेषितमेवा-क्षरमुक्तम्, अविशेषाभिधानाचेदं केवलमिति गम्यते, इह तु श्रुताधिकारादकारादि प्रकृतं यतः, तत् कथं केवल-पर्यायपरिमाणतुल्यं भवेत् ?, उच्यते, नन्वत्राप्यपर्यवसितश्रुताधिकाराद्येव गम्यते । अथ मतिः—“सब्बजीवाणं पि य णं अक्षवरस्स अणंतभागो णिच्छुग्धाडिओ” चिं सर्वजीवग्रहणात् तत् श्रुतम्, यतः समस्तद्वादशाङ्गविदां तत् समस्त- २० मिति, यद्येवं केवलस्यापि न सर्वजीवानामेवानन्तभागोऽवतिष्ठते, सर्वज्ञसङ्गावात्, अतो न तत् केवलाक्षरमपि, कस्यासावनन्तभागोऽस्तु ?, तथा अविशेषण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणाद् अपिशब्दाद्वा केवलिनो विहायान्येषां अनन्तभागो गम्यते, अत एव किं न श्रुतात्मकमक्षरमङ्गीकृत्य समस्तद्वादशाङ्गविदोऽपि विहायान्येषामनन्तभागो गम्यते ? तस्मात् स्व-परपर्यायभेदादुभयमप्यविरुद्धमिति, तथाऽप्यत्रापर्यवसितश्रुताधिकाराद्येव न्यायानुपाति ।

२५ तत् पुनरनन्तपर्यायम्—इह अ अ इत्यकार उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितः, स सानुनासिको निरनुनासिकश्च, एवं दीर्घः प्लुतः, एवं तावदष्टादशभ्रभेदं अर्वण् ब्रुवते, एवं यावतः केवल एव अकारो लभते सानुनासिकादीन् तथाऽन्यवर्णसहितो वा तेऽप्यस्य स्वपर्यायाः, ते चानन्ताः । कथम् ?, अभिलाप्यवाहनिमित्तभेदात्, तस्य च परमाणु-द्रव्यणकादिभेदेनानन्तत्वात्, ध्वनेश्च तथातथाभिधायकत्वपरिणामे सति तत्तदर्थप्रतिपादकत्वादिति, साङ्केतिकशब्दार्थसम्बन्धवादिमतमप्याकश्यके नैयाधिकारे विचारयिष्यामः, ततश्चैते स्वपर्यायाः, शेषास्तु सर्व एव घटादि-

१ अत्रार्थे पूज्यप्रवरस्वविहिताऽवश्यकबृहस्पृश्चेदुष्माकालदुष्मावविनष्टस्वाद् यत्किञ्चिचित्ततुष्टयर्थं सम्प्रत्युपलभ्यमानाऽऽगमो-द्वारकसुदापिता शिष्यविहिताख्याऽवश्यकलघुवृक्षरवलोकनीया [आव० नि. गा. ७५४-६० पञ्च २८२-८५] । तथाऽप्रार्थं विशेषावश्यकमद्वाभाष्यसत्काः २१८१ तः २२६३ गाथास्तद्वीकादिके चापि विलोकनीयमिति ॥

यर्यायाः परपर्याया इति, ते पुनः स्वपर्यायेभ्योऽनन्तगुणाः । आह—स्वपर्यायाणां तावत् पर्यायता युक्ता, घटादिपर्यायास्तु विभिन्नत्वाश्रितत्वात् कथं ‘तस्य’ इति व्यपदिश्यन्ते ?, उच्यते, स्वपर्यायविशेषणोपयोगात्, इह ये यस्य स्वपर्यायविशेषणतयोपयुज्यन्ते ते तस्य पर्यायतया व्यपदिश्यन्ते, यथा घटस्य रूपादयः, उपयुज्यन्ते चाकार-स्वपर्यायाणां विशेषणतया घटादिपर्यायाः, तानन्तरेण स्वपर्यायव्यपदेशाभावात्, तथा वस्तुस्थित्याऽपि च ५ घटादिपर्याया अभावरूपेणाकारस्य व्यवस्थितत्वाद् घटादिपर्यायाणां अकारपर्यायतायामविरोध इति । इयमत्र भावना—घटादिपर्यायाणामनन्तत्वात् तेभ्यश्चाकारस्य स्वभावभेदेन व्यावृत्तत्वात्, स्वभावभेदव्यावृत्तयनभ्युपगमे च घटादिपर्यायाणामेकत्वप्रसङ्गात्, अतः स्वभावभेदनिवन्धनत्वादकारपर्यायता तेषामिति, तस्मात् स्वपरपर्यायापेक्षया खल्वकारस्य सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्यधर्मताऽविरोध इति । न चेदमुत्सूक्तम्, यत आगमेऽप्युक्तम्—“जे एगं जाणति से सब्वं जाणति, जे सब्वं जाणति से एगं जाणति” [आचाराङ्गे श्रु० १ अ० ३ उ० ४ स० १] ति । १० अस्यायमर्थः—य एकं वस्तुपूलभते सर्वपर्यायैः स सर्वमुपलभते, कक्षैकं सर्वपर्यायैरूपलभते ? य एव सर्वं सर्वथोपलभते इति, अतः सर्वमजानानो नाकारं सर्वथोपलभते इति, ततश्चास्मात् सूत्रात् सर्वमेव वस्तु सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्यधर्मकम्, इह त्वक्षराधिकारादक्षरमुक्तमिति, इतर्थैतदकाराद्येव प्रतिपत्तव्यम्, अस्मिन्नेवाधिकारे ‘अक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितः’ इत्युपन्यस्तत्वात्, केवलस्य चाविभागसम्पूर्णत्वेन निकृष्टानन्तभागासम्भवात्, अवधेरप्यसहजेयमकृति-भेदभिन्नत्वात्, मनःपर्यायज्ञानस्याप्योघत ऋजु-विपुलभेदभिन्नत्वात्, पारिशेष्यादकारादिश्रुताक्षरस्य निबन्धनज्ञान-स्यैवासावित्यलं प्रसङ्गेन । “से ते” इत्यादि निगमनद्वयमपि निगदसिद्धम् ॥ १५

७८. से किं तं गमियं ? गमियं दिद्विवाओ । अगमियं कालितं सुयं । से तं गमियं । से तं अगमियं ११ । १२ ।

७८. से किं तमित्यादि । अथ किं तद् गमिकम् ? । इहाऽऽदि-मध्या-उत्सानेषु किञ्चिद् विशेषतः पुनस्त-त्सूत्रोच्चारणलक्षणो गमः, यथाऽऽदिविशेषे तावत् “इह छज्जीवणिके”त्यादि, [दशवै० अ. ४ सू. १-३] गमा अस्य विद्यन्ते इति “अत इनि ठनौ” [पा. प. २. १२५] इति गमिकम् । इदं च प्रायोदृत्या हृषिवादे, तस्यैव गमवहुलत्वात् । २० अगमिकं तु प्रायो गाथाद्यसमानग्रन्थत्वात् कालिकश्रुतमाचारादि । “से त”मित्यादि निगमनद्वयं कण्ठच्यम् ॥

७९. अहवा तं समासओ दुविहं पण्णतं, तं जहा-अंगपविद्वं अंगवाहिरं च ।

७९. तं समासतो दुविहं पन्नतं ‘तद्’ गमिका-उगमिकं अथवा ‘तद्’ ओघश्रुतमहृद्यपदेशानुसारि ‘समासतः’ सङ्क्षेपेण द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अङ्गपविष्टं अङ्गवाहं च । अत्राह—पूर्वमेव चतुर्दशभेदोदेशाधिकारे अङ्गपविष्टं च अङ्गवाहं चेत्युपन्यस्तम्, किमर्थं पुनः ‘तत् समासतः’ इत्याद्युपन्यासेन तदेवोदिश्यते ? इति, अत्रोच्यते, २५ सर्वभेदानामेवाङ्गा-उन्नपविष्टभेदद्वयान्तर्भावेनाहृत्पर्णीतत्वेन च प्राधान्यव्यापनार्थमिति । तत्र—

पाददुग्ं २ जंगो २ रु २ गातहुयगं च २ दो य बाहूओ २ ।

गीवा १ सिरं च १ पुरिसो बारसअंगो सुयविसिष्टो ॥१॥ []

श्रुतपुरुषस्याङ्गेषु प्रविष्टम्, अङ्गभावव्यवस्थितमित्यर्थः । अथवा—

गणधरक्यमंगगयं जं कत येरेहिं वाहिरं तं तु ।

नियतं वंगपविद्वं अणिययसुय वाहिरं भणियं ॥१॥ []

तत्राल्पतरवक्तव्यत्वादङ्गवाहमधिकृत्य प्रभस्त्रमाह—

८०. से कि तं अंगवाहिरं ? अंगवाहिरं दुविहं पण्णतं, तं जहा-आवस्सगं च आव-
स्सगवइरितं च ।

८०. से कि तमित्यादि । अथ कि तदञ्जवाहम् ?। श्रुतेषुरुषाद् व्यतिरिक्तं अञ्जवाहं द्विविधं प्रज्ञप्तम्,
तदथा-आवश्यकं च आवश्यकव्यतिरिक्तं च ॥

८१. से कि तं आवस्सगं ? आवस्सगं छविहं पण्णतं, तं जहा-सामायियं १ चउ-
वीसत्थओ २ वंदणयं ३ पडिकमणं ४ काउस्सगो ५ पचकस्वाणं ६ । से तं आवस्सयं ।

८१. से कि तमित्यादि । अथ कि तदावश्यकम् ? अवश्यक्रियानुष्टानादावश्यकम्, गुणानां वा आ-अभि-
विधिना वश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकं षड्विधं प्रज्ञप्तम्, तदथा-सामायिकमित्यादि ।

सावज्जोगविरती १ उक्तित्तण २ गुणवयो य पडिवत्ती ३ ।

१० स्खलियस्स णिंदणा ४ वणतिगिच्छ ५ गुणधारणा ६ चेव ॥१॥ [अनुयोग. पत्रं ४३-१]

अधिकारणाथा । एतदनुसारेण आवश्यकपिण्डाथो वक्तव्यः । “से त”मित्यादि तदेतदावश्यकम् ॥

८२. से कि तं आवस्सयवइरितं ? आवस्सयवइरितं दुविहं पण्णतं, तं जहा-कालियं
च उक्कालियं च ।

८२. से कि तमित्यादि । अथ कि तदावश्यकव्यतिरिक्तम् ?। आवश्यकव्यतिरिक्तं द्विविधं प्रज्ञप्तम्,
१५ तदथा-कालिकं चोत्कालिकं च । यदिह दिवस-निशिप्रथम-पश्चिमपौरुषीद्वय एव पठयते तत् कालेन निर्वृत्तं कालि-
कम् । यत् पुनः कालवेलावर्जं पठयते तदुत्कालिकम् ॥ तत्राल्पतरवक्तव्यतादुत्कालिकमधिकृत्य प्रशस्त्रव्रमाह —

८३. से कि तं उक्कालियं ? उक्कालियं अणेगविहं पण्णतं, तं जहा-दसवेयालियं १
कपियाकपियं २ चुलकप्पसुतं ३ महाकप्पसुतं ४ ओवाइयं ५ रायपसेणियं ६ जीवाभिगमो
७ पण्णवणा ८ महापण्णवणा ९ पमायप्पमादं १० नंदी ११ अणुओगदाराइ १२ देविंदत्थओ
२० १३ तंदुलवेयालियं १४ चंदावेज्ञायं १५ सूरपण्णती १६ पोरिसिमंडलं १७ मंडलप्पवेसो १८
विज्ञाचरणविणिच्छओ १९ गणिविज्ञा २० ज्ञाणविभत्ती २१ मरणविभत्ती २२ आयवि-
सोही २३ वीयरायसुतं २४ संलेहणासुतं २५ विहारकपो २६ चरणविही २७ आउरपच्चकस्वाणं
२८ महापच्चकस्वाणं २९ । से तं उक्कालियं ।

८३. से कि तमित्यादि । अथ कि तदुत्कालिकम् ?। उत्कालिकमनेकविधं प्रज्ञप्तम्, तदथा-दशवैकालिकं
२५ प्रतीतम् १ । कल्पा-उक्लपप्रतिपादकं कल्पाकल्पम् २ । तथा कल्पनं कल्पः—स्थविरकल्पादिः, तत्प्रतिपादकं श्रुतं
कल्पश्रुतम्, तत् पुनर्द्विभेदम्—चुलकप्पसुयं महाकप्पसुयं, एकमल्पग्रन्थमल्पार्थं च, द्वितीयं महाग्रन्थं महार्थं च
३ । ४। शेषभेदाः प्रायो निगदसिद्धास्तथापि लेशतोऽप्रसिद्धतरान् व्याख्यास्यामः—जीवादीनां प्रज्ञापनं प्रज्ञापना ।
बृहत्तरा महाप्रज्ञापना ९ । प्रमादा-प्रमादस्वरूप-भेद-फल-विषाक-प्रतिपादकमध्ययनं प्रमादाप्रमादम् । प्रमा-

दस्वरूपं महाकर्मन्धनमभवाविद्यातदुःखानलज्जालाकलापपरीतमशेषमेव संसारवासगृहं पश्यस्तन्मध्यवर्त्थयि सति
तश्चिर्गमनोपाये वीतरागप्रणीतधर्मचिन्तामणी यतो विचित्रकर्मोद्यसाचिव्यजनितात् परिणामविशेषादपश्यश्चित्
तद्व्यमविगणय्य विशिष्टप्रलोकक्रियाविमुख एवाऽस्ते सत्त्वः स खलु प्रमाद इति । तद्वेदाः मधादयः, तत्का-
रणत्वात् । उक्तं च—

मज्जं विसय कसाया णिहा विगहा य पंचमी भणिया ।

एए पंच प्रमाया जीवं पादंति संसारे ॥१॥ []

5

एतस्य च पञ्चप्रकारस्यापि प्रमादस्य फलविपाको दारणः । उक्तं च—

अयो विषमुपभोक्तुं क्षमं भवेत् क्रीडितुं हुताशेन । संसारवन्धनगैर्ने तु प्रमादः क्षमः कर्तुम् ॥१॥

अस्यामेव हि जातौ नरमुपहन्याद् विषं हुताशो वा । आसेवितः प्रमादो हन्याज्जन्मान्तरशतानि ॥२॥

यन्न प्रयान्ति पुरुषाः स्वर्गं, यज्ञं प्रयान्ति विनिषातम् । तत्र निमित्तमनार्यः प्रमाद इति निश्चितमिदं मे ॥३॥ 10

संसारवन्धनगतो जाति-जरा-व्याधि-मरणदुःखार्त्तः । यन्नोद्विजते सत्त्वः स शप्तराधः प्रमादस्य ॥४॥

आज्ञाप्यते यदवशः तुल्योदर-पाणि-पाद-वदनेन । कर्म च करोति बहुविष्मेतदपि फलं प्रमादस्य ॥५॥

इह हि प्रमत्तमनसः सोन्मादवदनिभृतेन्द्रियाश्वपलाः । यत् कृत्यं तदकृत्वा सततमकार्येष्वभिपतन्ति ॥६॥

तेषामभिपतितानामुद्भ्रान्तानां प्रमत्तहृदयानाम् । वर्द्धन्त एव दोषाः वनतरन इवाम्बुसेकेन ॥७॥

द्वाऽप्यालोकं नैव विश्रम्भतव्यं, तीरं नीताऽपि भ्राम्यते वायुना नौः ।

15

लङ्घना वैराग्यं भ्रष्टयोगः प्रमादाच्चित्रं व्याहृतो ब्रह्मदत्तो नरेशः ॥८॥ [] इत्यादि ।

एवं प्रतिपक्षद्वारेणाप्रमादस्वरूपादयो वाच्या इति १० । “नंदी”त्यादि सुगमम् । सूर्यप्रज्ञसिः सूर्यचरित-
प्रज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपदतौ सा सूर्यप्रज्ञसिः १६ । पौरुषीमण्डलं पुरुषः-शङ्कुः शरीरं वा, तस्मामिष्वन्ना पौरुषी ।
इथमत्र भावना-यदा सर्वस्य वस्तुनः स्वप्रमाणा छायोपजायते तदा पौरुषीति, एतच्च पौरुषीमानं उत्तरायणान्ते
दक्षिणायनादी चैकं दिनं भवति, तत ऊर्ध्वमण्डगुलस्याष्टावेकषष्ठिभागा दक्षिणायने वर्द्धन्ते उत्तरायणे च इसन्तीति, 20
एवं यत्र पौरुषी मण्डले मण्डलेऽन्याऽन्या प्रतिपाद्यते तदध्ययनं पौरुषीमण्डलम् १७ । मण्डलप्रवेशः यत्र हि
चन्द्र-सूर्ययोर्दक्षिणोत्तरेषु मण्डलेषु मण्डलान्मण्डलप्रवेशो व्यावर्ण्यते तदध्ययनं मण्डलप्रवेश इति १८ । विद्या-
चरणविनिश्चयः विद्येति-ज्ञानम्, तच्च दर्शनसहचरितम्, अन्यथा ज्ञानाभावात्, चरणं-चारित्रम्, एतेषां फल-
विनिश्चयप्रतिपादको ग्रन्थः विद्याचरणविनिश्चय इति १९ । ‘गणिविद्या’ गुणगणोऽस्यास्तीति गणी, स चाऽचार्यः,
तस्य विद्या-ज्ञानं गणिविद्या, तत्राविशेषोऽप्ययं विशेषः—

25.

जोतिस-णिमित्तणां गणिणो पव्वावणादिकज्जेसु ।

उवयुज्जइ तिहि-करणादिजाणणद्वाग्रहा दोसो ॥१॥ []

20 ।

ध्यानविभक्तिः ध्यानानि-आर्त्तध्यानादीनि, तेषां विभजनं यस्यां ग्रन्थपदतौ सा ध्यानविभक्तिः २१ ।
मस्त्वानि-प्राणत्वागलक्षणानि अनुसमयादीनि वर्तन्ते, यथोक्तम्—“अणुसमयं संतरं चे”त्यादि, एतेषां विभजनं यस्यां
सा मरणविभक्तिः २२ । आत्मनः—जीवस्याऽलोचना-प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिप्रकारेण विशुद्धिः—कर्मविगमलक्षणा 30

प्रतिपाद्यते यत्र तदध्ययनं आत्मविशुद्धिः २३ । वीतरागश्रुतं सरागव्ययोहेन वीतरागस्वरूपं प्रतिपाद्यते यत्राध्ययने तद् वीतरागश्रुतम् २४ । संलेखनाश्रुतं द्रव्य-भावसंलेखना प्रतिपाद्यते यत्र तदध्ययनं संलेखना-श्रुतम् । तत्र द्रव्यसंलेखनोत्तर्गतः—

चत्तारि विचित्राइं विगतीणिज्जूहियाइं चत्तारि । संबच्छरे य दोन्नि उ एगंतरियं च आयामं ॥१॥

- ५ णातिविगिद्वो य तत्रो छम्मासे परिमिथं च आयामं । अष्टे वि य छम्मासे होति विगिद्वं तत्रोकमम् ॥२॥
वासं कोडीसहियं आयामं काउमाणुपुञ्चीए । गिरिकंदरं तु गंतुं पादवगमणं अह करेति ॥३॥

[]

भावसंलेखना तु क्रोधादिकषायप्रतिपक्षाभ्यास इति २५ । विहारकल्पः विहारः, तस्य कल्पः—व्यवस्था स्थविरकल्पादीनामुच्यते यत्र ग्रन्थेऽसौ विहारकल्पः २६ । चरणविधिः चरणं-त्रतादि, तथा चोक्तम्-१० “वय समणधम्म०” गाहा [ओघनि. भा. गा. २], एतत्प्रतिपादकमध्ययनं चरणविधिः २७ । आतुरप्रत्याख्यानं आतुरः-क्रियातीतो ग्लानः, तस्य प्रत्याख्यानम् । एत्थ विद्यी-गिलाणं किरियातीतं गाउं गीयत्था पचकखावेंति दिणे दिणे दव्वद्वासं करेन्ता सन्तः, अंते य सव्वदव्वदायण्याए भत्ते वेरम्मं जणेत्ता भत्ते णित्तज्ञहस्स भवचरिमपचकखाणं कारेति, एयं जत्थ अज्ञयणे सवित्थरं वणिज्जति तदज्ञयणं आउरपचकखाणं २८ । महा-प्रत्याख्यानं महच्च तत् प्रत्याख्यानं चेति समासः, एसित्थ भावत्थो-थेरकप्पेण जिणकप्पेण वा विहरेत्ता अंते १५ थेरकप्पिया वारस वासे संलेहं करेत्ता जिणकप्पिया पुण विहारेणेव संलीढा तहा वि जहाजुतं संलेहं करेत्ता निव्वाघातं सवेद्वा चेव भवचरिमं पचकखंति, एयं सवित्थरं जत्थज्ञयणे वणिज्जइ तमज्ञयणं महापचकखाणं २९ । एयाणि अज्ञयणाणि जहा अभिधाणत्थाणि तहा वणियाणि । “से त”मित्यादि निगमनम्, तदेतदुक्तालिकम् । उपलक्षणं चैतदित्सुक्तमुक्तालिकम् ॥

८४. से किं तं कालियं ? कालियं अणेगविहं पण्णतं, तं जहा-उत्तरज्ञयणाइ १
२० दसाओ २ कप्पो ३ ववहारो ४ णिसीहं ५ महाणिसीहं ६ इसिभासियाइ ७ जंबुदीवपण्णती ८ दीवसागरपण्णती ९ चंदपण्णती १० खुड्डियाविमाणपविभत्ती ११ महल्लियाविमाणपविभत्ती १२ अंगचूलिया १३ वग्गचूलिया १४ विवाहचूलिया १५ अरुणोववाए १६ वरुणोववाए १७ गरुलोववाए १८ धरणोववाए १९ वेसमणोववाए २० देविदोववाए २१ वेलंधरोववाए २२ उद्धाणसुयं २३ समुद्धाणसुयं २४ नागपरियावणियाओ २५ निख्यावलियाओ २६ कप्पि-२५ याओ २७ कप्पवर्दिसियाओ २८ पुणियाओ २९ पुण्फचूलियाओ ३० वण्हीदसाओ ३१ ।

८५. से किं तमित्यादि । अथ किं तत् कालिकम् ? । कालिकमनेकविधं प्रज्ञम् । तद्यथा-उत्तराध्ययनानि उत्तराणि-प्रधानानि रुद्ध्या चोक्तराध्ययनानि १ । दशोत्थादि प्रायो निगदसिद्धम् । निशीथवद् निशीथम्, इदं प्रतीतमेव ५ । अस्मादेव ग्रन्था-अर्थाभ्यां महत्तरं महानिशीथम् ६ । जम्बूदीपप्रज्ञसिः ८ । इहाऽत्तरलिकाप्रविष्टे-तरविमानप्रविभजनं यत्राध्ययने तद् विमानप्रविभक्तिः, तच्चकमलग्रन्थार्थं तथाऽन्यन्महाग्रन्थार्थम् अतः ३० क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्तिर्महतीविमानप्रविभक्तिरिति ११ । १२ । अङ्गचूलिका अङ्गस्य-आचारादे-

श्रूलिका अङ्गचूलिका, यथाऽऽचारस्यानेकविधा । इहोक्ता-उनुकार्थसङ्ग्रहात्मिका चूलिका १३ । वर्गचूलिका इह वर्गः—अध्ययनादिसमूहः, यथाऽन्तकृदशास्त्रष्ट वर्गा इत्यादि, तेषां चूलिका वर्गचूलिका १४ । व्याख्या—भगवतीति, अस्याश्रूलिका व्याख्याचूलिका १५ । अरुणोपपातः इहारुणो नाम देवस्तत्समयनिबद्धो ग्रन्थस्तदुपपातहेतुः अरुणोपपातः, जाहे तमज्ज्ययणं उवउत्ते समाणे समणे परियटेति ताहे से अरुणे देवे समयनिबद्धतणओ चलियासणे संभमुव्यंतलोयणे पुत्तावही वियाणियद्वे हृषपद्वे चल-चवलकुंडलधरे दिव्याए जुतीए दिव्याए विभू- ५ ईए दिव्याए गतीए जेणामेव से भगवं समणे तेणामेव उवागच्छति, उवागच्छता भत्तिभरोणयवयणे विमुकवरकुमवासे ओवयति, ओवतिता ताहे से समणस्स पुरतो ठिच्चा अंतद्विए कयंजलिए उवउत्ते संवेगविमुक्त्वाण-ज्ञवसाणे सुणेमाणे चिदृइ, समत्ते य भणइ—सुसज्जाइयं सुसज्जाइयं, वरं वरेहि चि, ततो से इहलोगणिपिवासे सम- १० तिण-मणि-मुत्ता-लेद्वु-कंचणे सिद्धिवृणिबमराणुरायचित्ते समणे पडिभणइ—य मे वरेण अद्वो चि, ततो से अरुणे देवे अधिगतरजातसंवेगे पयाहिणं करेत्ता वंदित्ता णमंसित्ता पडिगच्छइ १६ । एवं वरुणोववादादिसु वि भाणि- यवं । उत्थानश्रुतं अध्ययनम्, तं पुण सिंगणाइयकज्जेसु जस्सेगकुलस्स वा गामस्स वा जाव रायहाणीए वा स चेव समणे कयसंकप्पे आमुरुते अप्पसञ्चे अप्पसञ्चलेसे विसभासणत्ये उवउत्ते समाणे उद्वाणसुअज्ज्ययणं परियटेति एकं दो तिन्नि वा वारे, ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणी वा ओहयमणसंकप्पे विलवंते दुयं दुयं पहावंते उद्वेति, उव्वसति चि बुत्तं भवति २३ । तथा समुत्थानश्रुतं अध्ययनम्, तं पुण समत्ते कज्जे तस्सेव कुलस्स वा गामस्स वा जाव रायहाणीए वा स चेव समणे कयसंकप्पे तुद्वे पसणे पसणलेसे समसुहासणत्ये उवउत्ते समाणे १५ समुद्वाणसुतज्ज्ययणं परियटेति एकं दो तिन्नि वा वारे, ताहे से कुले वा जाव रायहाणी वा पहडुचित्ते पसन्नमणे कलयलं कुणमाणे मंदाए गतीए सललियं आगच्छइ, आगच्छता समुद्वेति, आवासेति चि बुत्तं भवतीत्यर्थः, एवं कयसंकप्पस्स परियटेन्तस्स पुच्चुद्वितं समुद्वेति २४ । णागपरियावणियाओ नागपरिज्ञा, नाग चि—नागकुमाराः तस्मयणिवद्वमज्ज्ययणं, से जया समणे उवउत्ते परियटेति तदाऽकयसंकप्पस्स वि ते णागकुमारा तत्थत्था चेव तं समणं परियाणंति वंदंति नमंसंति बहुमाणं च करेति, सिंगणादियकज्जेसु य वरदा भवन्तीत्यर्थः २५ । णिर- २० यावलियाओ जासु आवलियपविद्वेतरे य णिरया तगामिणो य णर-तिरिया पसंगओ वन्निज्जंति २६ । कण्ठियाऽ चि सौधर्मीसाणकप्पेसु जाणि कण्ठिविमाणाणि ताणि कण्ठिविमाणाणि, तेसु य देवीओ जा जेण तवो- विसेसेण उववन्ना इङ्गिं च पत्ता एवं वन्निज्जंति जासु ताओ कण्ठिविमाणाणि बुच्चंति २८ । तथा पुणियाऽ चि इह यासु ग्रन्थपद्विषु गृह्यासमुकुलनपरित्यागेन प्राणिनः संयमभावपुणिताः सुखिताः, पुनः संयमभावप- २५ रित्यागतो दुःखावासिमुकुलिताः, पुनस्तत्यरित्यागादेव पुणिताः प्रतिपाद्यन्ते ताः पुणिता उच्यन्ते २९ । अविकृतार्थविशेषप्रतिपादिकास्तु पुष्पचूला इति ३० । तथा अन्धकवृणिनराधिपवक्तव्यताविषया अन्धकवृणिदशा उच्यन्ते ३१ ॥

८५. एवमाइयाइं चउरासीतीपइण्णगसहस्साइं भगवतो अरहओ सिरिसहस्स आइतिथ- ३० यरस्स, तहा संखेज्जाणि पइण्णगसहस्साणि मज्जिमगाणं जिणवराणं, चोद्दस पइण्णगसह- स्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स । अहवा जस्स जत्तिया सिस्सा उपत्तियाए वेणतियाए कम्मयाए पारिणामियाए चउविहाए बुद्धीए उववेया तस्स तत्तियाइं पइण्णगसहस्साइं, पत्तेय- दी० १०

बुद्धा वि तत्त्विया चेव । से तं कालियं । से तं आवस्सयवद्विरितं । से तं अणंगपविद्वं ।

८५. एवमाइयाहं इत्यादि । ‘एवमादीनि’ सर्वथा कियन्त्याख्यास्यन्ते ? चतुरशीतिप्रकीर्णकसहस्राणि भगवतोऽर्हतः श्रीऋषभस्याऽदितीर्थकररस्य, तथा सङ्ग्रह्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि मध्यमानां—अजितादीनां पार्श्वपर्यन्तानां जिनवराणाम्, तीर्थकराणामित्यर्थः; एतानि च यावन्ति तानि प्रथमानुयोगतोऽवसेयानि, तथा चतुर्दश प्रकीर्णकसह-
५ स्त्राणि अर्हतः, कस्य ?, वर्द्मानस्वामिनः । अयमत्र भावार्थः—भगवतो उसहस्स चउरासीति समणसाहस्रीतो होत्था, पृथग्ज्ञायणाणि य सव्वाणि कालिय-उक्तालियाणं चउरासीतिसहस्राणि । कथम् ? यतो ताणि चउरासीति-
१० समणसहस्राणि अरहंतमग्नोवदिष्टे जं सुयमणुसरिता किंचि णिज्जूहते ताणि सव्वाणि पतिष्ठगाणि, अहवा सुयमणु-
सारतो अप्पणो वयणकोसल्लेण जं धम्मदेसणादिसु भासंते तं सब्बं पद्मनगं । जम्हा अणंतगम-पञ्जवं सुत्तं दिष्टं,
१५ तं च वयणं णियमा अन्नयरगमाणुवाती, तम्हा तं पद्मनगं । एवं चउरासीतिपद्मनगसहस्राणि भवंतीत्यर्थः । एएण
विद्विणा मज्जिमतित्यगराणं संखेज्जाहं पद्मनगसहस्राणि । समणस्स वि भगवत्तो महावीरस्स जम्हा चोद्दस समण-
साहस्रीओ उक्तोसिया समणसंपया तम्हा चोद्दस पद्मनगज्ञायणसहस्राणि भवंति । एत्थ पुण एगे आयरिया एवं
पञ्चविंति—किल एतं चुलसीइसहस्रादिगं उसभादिजिणवराणं समणपरिमाणं पद्माणसुत्तणिज्जूहणसमत्थसमणे पदुच्च
भणियं, सामन्नसमणा पुण बहुतरा तकाले । अन्ने भणंति—उसभादीणं भवत्थाणं संचराणं एतं चुलसीतिसहस्रादिगं
पमाणं, पवाहेण पुणो एगतित्येमु बहुगा दद्व्या, तत्थ जे पमाणभूयसुत्तणिज्जूहणसमत्था अन्नकालिगा वि ते एत्थ
२० अहिगया, एए ते सुप्पसिद्धपद्मनगणिज्जूहगा चेव दद्व्या । यत आह—“अथवे”त्यादि, ‘अथवा’ इति प्रकारान्तर-
प्रदर्शनम्, यस्य ऋषभादेस्तीर्थकृतः यावन्तः शिष्या औत्पत्तिकथा वैनयिकया कर्मजया पारिणामिकया च चतुर्विंश्या
बुद्ध्या उपरेताः—समन्विताः तस्य तावन्त्येव प्रकीर्णकसहस्राणि, प्रत्येकबुद्धा अपि तावन्त एव । अत्रैके व्याचक्षते—
२५ किल प्रत्येकबुद्धव्यान्येव तान्यवगन्तव्यानि, प्रकीर्णकप्रमाणेन प्रत्येकबुद्धप्रमाणप्रतिपादनात् । स्यादेतत्,
प्रत्येकबुद्धानां शिष्यभावो विरुद्ध्यत इति, एतदप्यसत्, तेषां प्रत्येकबुद्धत्वादाचार्यमेवाधिकृत्य शिष्यभावस्य निषि-
द्धत्वात्, तीर्थकरप्रणीतशासनप्रतिपन्नत्वेन तु तच्छिष्यभावो न विरुद्ध्यत इति । अन्ये पुनरित्थमभिदधति—सामान्येनेह
प्रकीर्णकस्तुल्यत्वात् प्रत्येकबुद्धानामत्राभिधानम्, न तु नियोगतः प्रत्येकबुद्धव्यानि प्रकीर्णकानीत्यलं विस्तरेण ।
“से त”मित्यादि, तदेतत् कालिकम्, तदेतदावश्यकव्यतिरिक्तम्, तदेतदनङ्गपविष्टमिति ॥

८६. से किं तं अंगपविद्वं ? अंगपविद्वं दुवालसविहं पण्णतं, तं जहा—आयारे ? सूय-
गडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ वियाहपण्णती ५ णायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगड-
२० दसाओ ८ अणुत्तरोववाइयदसाओ ९ पण्हावागरणाहं १० विवागसुतं ११ दिड्वाओ १२ ।

८७. से किं तमित्यादि । अथ किं तदङ्गपविष्टम् ?, अङ्गपविष्ट द्वादशविहं प्रङ्गसम्, तद्यथा—आचारः
सूत्रकृतमित्यादि ॥

८८. से किं तं आयारे ? आयारेण समणाणं णिगमंथाणं आयार-गोयर-विणय-वेणइय-
सिक्खा-भासा-अभासा-चरण-करण-जाया-माया-वित्तीओ आघविज्जंति । से समासओ पंच-
३० विहे पण्णते, तं जहा—णाणायारे १ दंसणायारे २ चरित्यायारे ३ तवायारे ४ वीरियायारे ५ ।
आयारे णं परिता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा,

संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से एं अंगद्वयाए पढ़मे अंगे, दो सुयकसंधा, पणुवीसं अज्ञयणा, पंचासीती उद्देसणकाला, पंचासीती समुद्देसणकाला, अद्वारस पयसहस्राइं पदगेण, संखेज्जा अक्षरा, अणंता गमा, अणंता पञ्जवा, परिता तसा, अणंता थावरा । सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपणता भावा आघविज्जंति पण-विज्जंति परुविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंनाया, ५ एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरुवणा आघविज्जइ । से तं आयारे ।

८७. से किं तमित्यादि । अथ किं तदाचारस्तु ?, यदा अथ कोऽयमाचारः ? । आचरणमाचारः, आचर्यत इति वा आचारः, शिष्टाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति भावार्थः, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्याचार एवोच्यते । अनेन चाऽचारेण करणभूतेन श्रमणानामाचारादि आख्यायत इति योगः । अथवा आचारे “ण”-मिति वाक्यालङ्कारे “श्रमणानां” प्राणिन्लूपितशब्दार्थीनां ‘निर्ग्रन्थानां’ बाह्य-उभ्यन्तरग्रन्थरहितानाम्, आह-श्रमणा १० निर्ग्रन्था एव भवन्ति विशेषणं किमर्थम् ?, उच्यते, शाक्यादिव्यवच्छेदार्थम् । उक्तं च—“निगंथ सक तावस गेरुय आजीव वंचहा समणा ।” [पिण्डनि. गा. ४४५] तत्राऽचारः-ज्ञानाद्यनेकभेदभिन्नः, गोचरः-मिक्षाग्रहणविधि-लक्षणः, विनयः-ज्ञानादि, वैनियिक-फलं कर्मक्षयादि, शिक्षा-ग्रहण-उसेवनाभेदभिन्ना, विनेयशिक्षेत्यन्ये, विनेयः-शिष्यः, भाषा-सत्या १ असत्यामृषा २ च, अभाषा-असत्या १ सत्यामृषा २ च, चरण-व्रतादि, करण-पिण्डविशुद्धयादि, “जाता-माता-वित्तीओ” त्ति यात्रा-संयमयात्रा, मात्रा-तदर्थमेवाहारमात्रा, वर्तनं वृत्तिः विवि- १५ धैरभिग्रहविशेषैरिति, आचारश्च गोचरश्चेत्यादि इन्द्रः क्रियते, ततश्चाऽचार-गोचर-विनय-वैनियिक-शिक्षा-भाषा-उभाषा-चरण-करण-यात्रा-मात्रा-वृत्तय आख्यायन्ते । इह च यत्र क्वचिदन्यतरोपादाने अन्यतरगतार्थाभिधानं तत् सर्वं तत्प्राभान्यख्यापनार्थमेवावसेयम् । “से समासतो” इत्यादि, ‘सः’ आचारः ‘समासतः’ सङ्क्षेपतः पञ्चविधः प्रश्नसः, तद्यथा-ज्ञानाचार इत्यादि । तत्र ज्ञानाचारः—

काले १ विणए २ बहुमाणे ३ उवहाणे ४ तहा अनिष्टहवणे ४ । २०

वंजण ६ अथ ७ तदुभए ८ अद्विहो णाणमायारो ॥१॥ [दशवै. नि. गा. १८६]

दर्शनाचारः—

णिस्संकिय १ णिक्कस्विय २ णिवितिगिञ्चा ३ अमूदिद्वी ४ च ।

उववृह ५ थिरीकरणे ६ वच्छल्ल ७ पभावणे ८ अद्व ॥२॥ [दशवै. नि. गा. १८४]

अतिसेस १ इँडिह २ आयरिय ३ वादि ४ धम्मंकधि ५ खमग ६ णेमित्ती ७ । २५

विज्ञा राया-गणसम्मया ८ य तित्थं पभावेति ॥३॥ [निशीथभा. गा. ३३]

चारित्राचारः—

पणिहाणजोगजुत्तो पंचर्हि समितीहिं तिहि य गुत्तीहि ।

एस चरित्तायारो अद्विहो होति नायव्वो ॥४॥ [दशवै. नि. गा. १८७]

तपाचारः—

बारसविहम्मि वि तवे सर्विभतर-वाहिरे जिणुवदिडे ।

अगिलाए अणाजीवी णायव्वो सो तवायारो ॥५॥ [दशवै. नि. गा. १८८]

वीर्याचारः—

अणिगृहियब्लविरिथो परकमइ जो जहुत्तमाउत्तो ।

जुंजति य जहाथामं णायव्वो वीरियायारो ॥६॥

[दशवै. नि. गा. १८९]

“आयारे णं परित्ता वायणा” आचारे “ण”मिति वाक्यालङ्कारे ‘परित्ता’ सङ्ख्येयाः, आधन्तोपलब्धे-
५ रनन्ता न भवन्तीत्यर्थः, काः ?, ‘वाचना’ सूत्रा-४र्थप्रदानलक्षणाः, अवसर्पिणीकालं वा प्रतीत्य “परित्त” त्ति । सङ्ख्येयानि ‘अनुयोगद्वाराणि’ उपक्रमादीनि, अध्ययनानामेव सङ्ख्येयत्वात् प्रज्ञापकव्रचनगोचरत्वात् । “संखे-
ज्जा वेढा” “वेढा” छन्दोविशेषाः । “संखेज्जा मिलोगा” “श्लोकाः” प्रतीता अनुष्टुप्छन्दसा । “संखेज्जाओ
णिज्जुत्तीओ” निर्युक्तानां युक्तिर्निर्युक्तयुक्तिरिति वाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिरिति, एताथ निक्षेपनिर्युक्त्याद्याः
सङ्ख्येया इति । “संखेज्जाओ पडिवत्तीओ” द्रव्यादिपदार्थाभ्युपगमाः प्रतिपत्तयः, प्रतिमाद्यभिग्रहविशेषा वा ।
१० “से ण”मित्यादि “सः” आचारः “ण”मिति वाक्यालङ्कारे ‘अङ्गार्थतया’ अङ्गार्थत्वेन, अर्थग्रहणं परलोकचिन्तां
प्रति सूत्रादर्थस्य गरीयस्त्वरूपापनार्थम्, सूत्रार्थोभयरूपो वाऽयमिति रूपापनार्थम्, प्रथमङ्गम्, स्थापनामधिकु-
त्याऽऽध्यमङ्गमित्यर्थः । द्वौ ‘श्रुतस्कन्धौ’ अध्ययनसमुदायलक्षणो । पञ्चविंशतिरध्ययनानि, तद्यथा—

सत्थपरिन्ना १ लोगविजयो य २ सीतोसणिज्ज ३ सम्मतं ४ ।

आवंति ५ धुब ६ विमोहो ७ महापरिन्नो८वहाणसुयं ९ ॥१॥ पढमो सुयकखंधो ॥

१५

पिंडेसण १ सेज्जिररिया ३ भासज्जाया य ४ वत्थ ५ पाएसा ६ ।

उग्रहपडिमा ७ सत्त य सत्तिक्या १४ भावण १६ विमुत्ती १६ ॥२॥

[आवश्यकसङ्ख्येयी. हारि. वृत्ति पत्र ६६०-१]

एवमेतानि निशीथवर्जनानि पञ्चविंशतिरध्ययनानि । तथा पञ्चाशीत्युदेशनकालाः, कथम् ? उच्यते, अङ्गस्य
श्रुतस्कन्धस्याध्ययनस्योद्देशकस्य च एतेषां चतुर्णामप्येक एव, एवं सत्थपरिन्नाए सत्त उद्देसणकाला ७, लोग-
२० विजयस्स छ फा, सीओसणिज्जस्स चउरो टूक, सम्मतस्स चउरो टूक, लोणसारस्स छ फु, धुतस्स पंच ना,
विमोहज्जयणस्स अट्ठ ह, महापरिन्नाए सत्त ग्र, उवहाणसुतस्स चउरो टूक, पिंडेसणाए एकारस ११, सेज्जाए
तिन्नि ३, इरियाए तिन्नि ३, भासज्जाए दोन्नि २, वत्थेसणाए दोन्नि २, पाएसणाए दोन्नि २, उग्रहपडिमाए
दोन्नि २, सत्तिक्याए सत्त ७, भावणाए एको १, विमुत्तीए एको १, एवमेए संपिंडिया पंचासीई भवन्ति ।
एत्थ संग्रहाह—

२५ सत्त य छ चउ चउरो छ पंच अट्ठेव सत्त चउरो य । एकार ति ति य दो दो दो दो सत्तेक एको य ॥१॥

एवं समुदेसणकाला वि भाणियव्वा । अष्टादश पदसहस्राणि पदाग्रेण, इह यत्रार्थोपलब्धिस्तत् पदम् । चोदक
आह-जदि दो सुतकखंधा पणुवीसं अज्ञायणाणि अट्ठारस पदसहस्राणि पदग्रेणं भवन्ति तो जं भणियं “णव वंभ-
चेरमङ्गो अट्ठारसपदसहस्रित्तो वेओ । ” [आचा. नि. गा. ११] त्ति एवं विरुज्जह ? आचार्य आह-णणु एत्य वि
भणियं “हवह य सपंचचूलो वहु वहुअयरो पयग्रेण ॥ ” [आचा. नि. गा. ११] त्ति, इह सुतालावयपदेहिं सहितो
३० वहू वहुअयरो य वत्कन्ध्य इत्यर्थः, अथवा दो सुयकखंधा पणुवीसं अज्ञायणाणि एवं आयारभासहितस्स आयारस्स पमाणं
भणियं, अट्ठारस पयसहस्राणि पुण पठमसुयकखंधस्स णववंभचेरमतियस्स पमाणं, विचित्रत्थवद्वाणि य सुत्ताणि,
गुरुवदेसतो तेसिं अत्थो जाणियव्वो । “संखेज्जा अक्खरा” सङ्ख्येयान्यक्षराणि, वेढादीनां सङ्ख्येयत्वात् ।

“अणंता गमा” इह गमा अर्थगमा गृह्णन्ते, अर्थपरिच्छेदा इत्यर्थः, ते चानन्ताः, एकस्मादेव सूत्रात् तत्त्वदर्म-विशिष्टानन्तरधर्मात्मकवस्तुप्रतिपत्तेः । अन्ये तु व्याचक्षते—अभिधाना-उभित्रेयवशतो गमा इति, ते चानन्ताः, ते पुनरनेन विधिना अवसेयाः, तद्यथा-सुयं मे आउसं ! तेण भगवया, आउसंतेण भगवया, सुयं मे आउसंपदा, सुयं मे आउसं तहिं, सुयं मे आउसं, आउसं सुयं मे, आसुयं मया, तं सुयं मया, आ तथा सुयं मया, आ तहिं सुयं मया आ, एवमादिभिर्भूयमानं किलानन्तरगममिति । “अणंता पञ्जवा” स्व-परमेदभिन्नाः अक्षरार्थपर्याया ५ इत्यर्थः । “परित्ता तसा” त्रस्यन्तीति ‘त्रसा’ द्वीन्द्रियाद्यस्ते च परित्ताः । “अणंता थावरा” बनस्पतिकायसहिताः परिगृह्णन्ते । “सासय-कड-णिवद्ध-णिकाइय” त्ति शाश्वता द्रव्यार्थतयाऽविच्छेदेन प्रवृत्तेः, कृताः पर्यायार्थतया प्रति-समयमन्यत्वावाप्तेः, निवद्वाः सूत्र एव, निकाचिता निर्युक्ति-सङ्ग्रहणि-हेतूदाहरणादिभिः । “जिणपञ्चता” जिनैः प्रज्ञप्ताः ‘भावाः’ पदार्थाः “आघविज्जंती”त्यादि ध्रुवगण्डिका पूर्ववत् । साम्यतमाचाराङ्ग्रहणफलप्रतिपादनायाऽह—“से एव”मित्यादि, ‘सः’ इत्याचाराङ्ग्राहकोऽभिसम्बध्यते, “एवंआय” चिं अस्मिन् भावतः सम्यग्याते सति १० एवमात्मा भवति, तदुक्तक्रियापरिणामात्मार्थतिरेकात् स एव भवतीत्यर्थः । एवं क्रियासारमेव ज्ञानमिति रुया-पनार्थ क्रियापरिणाममभिधायाधुना ज्ञानमधिकृत्याह—“एवंआय” चिं इदमधीत्य एवंज्ञाता भवति यथैवेहोक्तमिति । “एवंविज्ञाय” चिं एवं विविधो विशिष्टो वा ज्ञाता विज्ञाता एवंविज्ञाता भवति, तन्त्रान्तरीयज्ञात्रम्यः प्रधानतर इत्यर्थः । एवं चरण-करणपर्वतया आघविज्जतीत्यादि । निगमनवाक्यं भावितार्थमेव ॥

८८. से किं तं सूयगडे ? सूयगडेण लोए सूइज्जइ, अलोए सूइज्जइ, लोया-उलोए १५ सूइज्जइ, जीवा सूइज्जंति, अजीवा सूइज्जंति, जीवा-उजीवा सूइज्जंति, ससमए सूइज्जइ, परसमए सूइज्जइ, ससमय-परसमए सूइज्जइ । सूयगडे णं आसीतस्स किरियावादिसयस्स, चउरासीईए अकिरियवादीणं, सत्तट्टीए अण्णाणियवादीणं, बत्तीसाए वेणइयवादीणं, तिण्हं तेसट्टाणं पावादुयसयाणं वूहं किचा ससमए ठविज्जइ । सूयगडे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जा ओणिज्जुत्तीओ, संखेज्जा ओ २० पडिवत्तीओ । से णं अंगट्टाए विहए अंगे, दो सुयक्खंधा, तेवीसं अज्ञायणा, तेत्तीसं उद्देसणकाला, तेत्तीसं समुद्देसणकाला, छत्तीसं पदसहस्राणि पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पञ्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिवद्ध-णिकाइया जिणपण्णता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परुविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उव-दंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविणाया, एवं चरण-करणपर्वतया आघविज्जइ । २५ से तं सूयगडे २ ।

८९. से किं तं सूयगडे ? । “सूत्र सूचायाम्” []सूचनात् सूत्रम्, सूत्रेण कृतं सूत्रकृतं रुद्धयोन्यते । तत्र लोक्यते अनेन वाऽस्मिन् वा लोकः । सूच्यत इत्यादि निगदसिद्धयावत् ‘आसीतस्स किरिया-वादिसतस्स’ अशीत्यधिकस्य क्रियावादिशतस्य व्यूहं कृत्वा स्वसमयः स्थाप्यत इति योगः । एवं शेषपदेष्वपि क्रिया योजनीयेति । तत्र न कर्त्तारं विना क्रियासम्भव इति तामात्मसमवायिनों वदन्ति ये तच्छीलाश्च ते ३०

क्रियावादिनः । ते पुनरात्माद्यस्तिवप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेनाशीत्यथिकशतसङ्ख्या त्रिज्ञेयाः—जीवा-उजीवा-
५३-श्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-पुण्य-पाप-मोक्षाख्यान् नव पदार्थान् विरचय्य परिषाट्चा जीवपदार्थस्याधः स्व-परभेदाखु-
पन्यसनीयौ, तयोरधो नित्या-उनित्यभेदौ, तयोरप्यथः कालेश्वरा-उत्तम-नियति-स्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीयाः,
पुनश्चैवं विकल्पाः कर्तव्याः—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत इत्येको विकल्पः । विकल्पार्थश्चायम्—विद्यते
५ खल्खात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालवादिनः । उत्तेनैवाभिलापेन द्वितीयो विकल्प ईश्वरकारणिः, तृतीयो विकल्पः
आत्मवादिनः “पुरुष एवेदं सर्वम्” [ऋगेदम्. ३० सू. १०] इत्यादि, नियतिवादिनश्चतुर्थविकल्पः, पञ्चमविकल्पः
स्वभाववादिनः । एवं स्वत इत्यजहता लब्धाः पञ्च विकल्पाः । परत इत्यनेनापि पञ्चैव लभ्यन्ते । नित्यतापरित्यागेन
चैते दश विकल्पाः । एवमनित्यत्वैनापि दशैव, एते विशतिर्जीवपदार्थेन लब्धाः, अजीवादिष्वप्यष्टस्वेवमेव प्रतिपदं
विशतिर्जीविकल्पानाम्, अतो विशतिर्जीव गुणा शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनामिति ।

१० ‘चउरासीईते अकिरियावादीणं’ चतुरशीतेरक्रियावादिनाम्, क्रिया पूर्ववत्, न हि कस्यचिदनवस्थितस्य
पदार्थस्य क्रिया समस्ति, तद्वावे चावस्थितेरभावादित्येवंवादिनोऽक्रियावादिनः । तथा चाऽऽहुरेके—

क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, अस्थितानां कुतः क्रिया ? ।

भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते ॥१॥ [] इत्यादि ।

एते चाऽत्मादिनास्तिवप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन चतुरशीतिर्द्रष्टव्याः—एतेषां हि पुण्या-उपुण्यविवर्जि-
१५ तपदार्थसप्तकन्यासस्तथैव, जीवस्याधः स्व-परविकल्पभेदद्वयोपन्यासः, असच्चादात्मनो नित्या-उनित्यभेदौ न स्तः,
कालादीनां तु पञ्चानां पष्ठी यद्यच्छा न्यस्यते, पञ्चाद् विकल्पाभिलापः—नास्ति जीवः स्वतः कालत इत्येको विक-
ल्पः, एवमीश्वरादिभिरपि यद्यच्छावसानैः, सर्वे च पद् विकल्पाः । तथा नास्ति जीवः परतः कालत इति पदेव
विकल्पाः, एकत्र द्वादश, एवमजीवादिष्वपि पद्मु प्रतिपदं द्वादश विकल्पाः, एवं द्वादश सप्तगुणाश्चतुरशीति-
विकल्पा नास्तिकानामिति ।

२० ‘सत्त्वाए अन्नाणियवादीणं’ ति सप्तष्टिर्ज्ञानिकवादिनाम्, क्रिया प्राप्नवत् । तत्र कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदे-
षामस्तीत्यज्ञानिकाः । नन्वेवं लघुत्वात् प्रक्रमस्य प्राप्त बहुत्रीहिणा भवितव्यम् ततश्चाज्ञाना इति स्यात्, नैष दोषः,
ज्ञानान्तरमेवाज्ञानाम्, मिथ्यादर्शनसहचरितत्वात्, ततश्च जातिशब्दत्वात् गौरखरवदरण्यमित्यादिवदज्ञानिकत्वमिति ।
अथवा अज्ञानेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा अज्ञानिकाः, असञ्चिन्त्यकृतबन्धवैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः । ते चामुनो-
पायेन सप्तष्टिर्ज्ञितव्याः—तत्र जीवादीन् नव पदार्थान् पूर्ववद् व्यवस्थाप्य पर्यन्ते चोत्पत्तिमुपन्यस्याधः सप्त सदा-
२५ दयः उपन्यसनीयाः, सत्त्वं १ असत्त्वं २ सदसत्त्वं ३ अवाच्यत्वं ४ सदवाच्यत्वं ५ असदवाच्यत्वं ६ सदसदवाच्य-
त्वमिति ७ च, एकैकस्य जीवादेः सप्त सप्त विकल्पाः, त एते नव सप्तकाः त्रिष्टिः, उत्पत्तेस्तु चत्वार एवाद्या विक-
ल्पाः, तद्यथा—सच्चमसत्त्वं सदसत्त्वं अवाच्यत्वं चेति, त्रिष्टिमध्ये प्रक्षिप्ताः सप्तष्टिर्ज्ञानिकत्वमिति । को जानाति जीवः
सन् ? इत्येको विकल्पः, ज्ञातेन वा किम् ?, एवं असदादयोऽपि वाच्याः, उत्पत्तिरपि किं सतोऽसतः सदसतोऽ-
वाच्यस्य ? इति को वा जानातीत्येतत् ?, न कथिदपीत्यभिप्रायः ।

३० “बत्तीसाए वेणद्यवादीणं” द्वात्रिंशतो वैनयिकवादिनाम्, क्रिया पूर्ववत् । तत्र विनयेन चरन्ति विनयो वा
प्रयोजनमेषाभिति वैनयिकाः, एते चानवधृतलिङ्गा-उत्तम-शास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन द्वात्रिंशदवग-
न्तव्याः—सुर-नृपति-ज्ञाति-यति-स्थविरा-उत्तम-मातृ-पितृणां प्रत्येकं कायेन वाचा मनसा दानेन च देश-कालोपयन्नेन

विनयः कार्य इति, एते चत्वारो भेदाः सुरादिष्टस्तु स्थानेषु, एकत्र मेलिता द्वात्रिंशदिति । सर्वसङ्ख्यां प्रतिपादयन्नाह—“तिष्ठं तेसद्वाण”मित्यादि, त्रयाणां त्रिषष्ठ्यधिकानां ‘प्रावादुकशतानां’ विचित्रैकैनव्यमतावलम्बिनां प्रवादिशतानामित्यर्थः ‘ब्यूं’ प्रतिक्षेपं कृत्वा ‘स्वसमयः’ स्वसिद्धान्तः स्थाप्यते । शेषं किञ्चिद् व्याख्यातं किञ्चित् सुगममिति यावत् “से तं सूयगडे” त्ति कण्ठस्थम् २ ॥

८९. से कि तं गणे ? गणेण जीवा गविज्जंति, अजीवा गविज्जंति, जोवा-जीवा^५ गविज्जंति, लोए गविज्जइ, अलोए गविज्जइ, लोया-लोए गविज्जइ, ससमए गविज्जइ, परसमए गविज्जइ, ससमय-परसमए गविज्जइ । गणे णं टंका कूडा सेला सिहरिणो पब्भारा कुंडाइं गुहाओ आगरा दहा णदीओ आघविज्जंति । गणे णं एगाइयाए एगुत्तरियाए बुड्डीए दसद्वाणगविवड्डियाणं भावाणं परूपणया आघविज्जंति । गणे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जु-^{१०} त्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगद्वयाए तइए अंगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्ञयणा, एकवीसं उद्देसणकाला, एकवीसं समुद्देसणकाला, बावत्तरि पदसहस्राइं पयग्गेण, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गपा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूपविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवं-^{१५} विणाया, एवं चरण-करणपरूपणा आघविज्जइ । से तं गणे ३ ।

९०. से कि तमित्यादि । अथ कि तत् स्थानम् ?, तिष्ठन्त्यस्मिन् प्रतिपाद्यतया जीवादय इति स्थानम् । तथा चाह—“ठाणे ण”मित्यादि, स्थानेन स्थाने वा जीवाः स्थाप्यन्ते, व्यवस्थितस्वरूपभृत्यादनयेति हृदयम् । शेषं प्रायो निगदसिद्धमेव । नवरम्—“टंक” त्ति छिन्नतडं टंकं । “कूड” त्ति पब्बतोवरि, जहा वेयड्डसोवरि नव सिद्धायणादिया कूडा । “सेल” त्ति हिमवंतादिया सेला । “सिहरिणो” त्ति सिहरेण सिहरिणो त्ति, ते य २० वेयड्डाइया । “पब्भार” त्ति जं कूडं उवरि अंवखुज्जयं तं पब्भारं, जं वा पब्बयस्स उवरिभागे इत्थिकुंभागिती कुड्हं णिभायं तं पब्भारं भन्नइ । “कुंड” त्ति गंगादीणि कुण्डानि । “गुह” त्ति तिमिसादिया गुहा । “आगर” त्ति रुप्प-मुवन्न-रयणादिउपतिष्ठाणा आगरा । “दह” त्ति पोंडरीयादीया दहा । “णदीउ” त्ति गंगा-सिधुमादीओ । शेषं शुणार्थं यावन्निगमनमिति ३ ॥

९०. से कि तं समवाए ? समवाएणं जीवा समासिज्जंति, अजीवा समासिज्जंति,^{२५} जीवा-जीवा समासिज्जंति, लोए समासिज्जति, अलोए समासिज्जति, लोया-लोए समासिज्जति, ससमए समासिज्जति, परसमए समासिज्जति, ससमय-परसमए समासिज्जति । समवाए णं एगाइयाणं एगुत्तरियाणं गणगसयविवड्डियाणं भावाणं परूपणा आघविज्जंति । दुवालसंगस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समासिज्जंति । समवाए णं परित्ता

वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जु-
त्तीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ । से ण अंगद्वयाए चउथे
अंगे, एगे सुयक्खंधे, एगे अज्ञायणे, एगे उद्देसणकाले, एगे समुद्देसणकाले, एगे चोयाले
पदसयसहस्रे पदग्गेण, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा,
अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपणन्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति
परुविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविणाया,
एवं चरण-करणपरुवणा आघविज्जंति । से तं समवाए ४ ।

९०. से किं तमित्यादि । अथ कोऽयं समवायः ?, सम् अव अयः समवायः, सम्यगधिकपरिच्छेद
इत्यर्थः, तद्देतुकश्च ग्रन्थोऽपि समवायः । तथा चाऽह-समवायेन समवाये वा जीवाः समाश्रीयन्ते, अविपरीतस्व-
१० रूप-गुणभूषिता बुद्ध्या अङ्गीक्रियन्ते इत्यर्थः । अथवा जीवाः ‘समस्यन्ते’ कुप्ररूपणाभ्यः सम्यकप्ररूपणायां क्षिप्यन्ते,
शेषं निगदसिद्धमा निगमनम् । नवरम्—“एगादियाण”मित्यादि, अत्रैकाद्येकोचरं स्थानशतं भवति, यथा—“एगे
आया” इत्यादि । शेषं स्त्रवसिद्धं यावन्निगमनमिति ४ ॥

९१. से किं तं वियाहे ? वियाहेण जीवा वियाहिज्जंति, अजीवा वियाहिज्जंति,
जीवा-अजीवा वियाहिज्जंति, लोए वियाहिज्जंति, अलोए वियाहिज्जंति, लोया-अलोए
१५ वियाहिज्जंति, ससमए वियाहिज्जंति, पस्समए वियाहिज्जंति, ससमय-परस्मए वियाहि-
ज्जंति । वियाहे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा
सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।
से ण अंगद्वयाए पंचमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, एगे सातिरेगे अज्ञायणसते, दस उद्देसग-
२० सहस्राइं, दस समुद्देसगसहस्राइं, छत्तीसं वागरणसहस्राइं, दो लक्खा अडासीति पयसह-
स्साइं पयग्गेण, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता
थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपणन्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परु-
विज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविणाया,
एवं चरणकरणपरुवणा आघविज्जइ । से तं वियाहे ५ ।

९२. से किं तमित्यादि । अथ केयं व्याख्या ?, व्याख्यानं व्याख्या । तथा चाह-व्याख्यायां जीवादयो
२५ व्याख्यायन्ते । इह सयं चेव अज्ञायणसञ्च । शेषं प्रकटार्थं यावत् “से तं वियाहे” ति निगमनम् ५ ॥

९३. से किं तं णायाधम्मकहाओ ? णायाधम्मकहासु णं णायाणं णगराइं उज्जाणाइं
चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोग-पर-
लोगिया रिद्धिविसेसा भोगपरिचागा पव्वज्जाओ परियागा सुयपरिग्हा तवोवहाणाइं संले-

हणाओ भन्तपञ्चक्षाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपञ्चायाईओ पुण्योहिलाभा
अंतकिरियाओ य आघविज्जंति । दस धम्मकहाणं वग्गा । तथं णं एगमेगाए धम्मकहाए
पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयासयाइं, एगमेगाए
उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइओवक्खाइयासयाइं, एवमेव सपुब्बावरेणं अङ्गुष्ठाओ कहाण-
गकोडीओ भवंति त्ति मक्खायं । णायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा,
संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुतीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ,
संखेज्जाओ पडिवतीओ । से णं अंगड्याए छट्टे अंगे, दो सुयक्खंधा, एगूणवीसं णात-
ज्जयणा, एगूणवीसं उद्देसणकाला, एगूणवीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्राइं पय-
गोणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पञ्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा,
सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परुविज्जंति
दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविणाया, एवं
चरण-करणपरुवणा आघविज्जति । से तं णायाधम्मकहाओ ६ ।

९२. से किं तमित्यादि । अथ कास्ताः ज्ञातार्थमकथाः ? । ज्ञातानि-उदाहरणानि तत्प्रथाना धर्मकथाः
ज्ञातार्थमकथाः । आह च—“णायाधम्मकहासु णं” इत्यादि, ज्ञातानां-उदाहरणभूतानां नगरादीन्यारूप्यायन्ते ।
“दस धम्मकहाणं वग्गा” इत्यादि, एथ भावणा-एगूणवीसं णायज्जयणाणि, णाय त्ति-आहरणा, दिढंतिओ
उवणिज्जति जेहऽस्थो वा ताणि णाताणि-अज्जयणा, एए पढमसुयखंधे । अहिंसादिलक्खणस्स धम्मस्स कहाओ धम्म-
कहाओ, धम्मियाओ वा कहाओ धम्मकहाओ, अक्खाणग त्ति बुच्चं भवति, एयाणि वितियसुयखंधे । पढम-वितिय-
सुयखंधभणियाणं णायाधम्मकहाणं नगरादिया भन्नंति । वितियसुयखंधे दस धम्मकहाणं वग्गा, “वग्गो” त्ति समूहो,
तच्चिसेसणविसिद्धा दस अज्जयणा चेव ते दुष्क्वा, एगूणवीसं णाया, दस धम्मकहाओ । तथं णातेसु आदिमा
दस णाता णाया चेव, ण तेसु अक्खादियादिसंभवो, सेसा णव णाया, तेसु पुण एकेके णाते पंच पंच चत्तालाइं
अक्खाइयासयाइं, एथ वि एकेकाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयसयाइं, तथ वि एकेकाए उवक्खाइयाए
पंच पंच अक्खाइयोवक्खाइयसयाइं । एवमेयाइं संपिंडियाइं किं संजायं ?—

इगवीसं कोडिसयं लक्खा पश्चासमेव वोद्धवा ।

एवं ठिते समाणे अधिगतसुत्तस्स पत्थावो ॥१॥ []

तं जहा-दस धम्मकहाणं वग्गा, तथं णं एगमेगाए धम्मकहाए पंच पंच अक्खाइयसयाइं, एगमेगाए
अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयसयाइं, एगमेगाए उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइयोवक्खाइयसयाइं । एवमेयाइं
संपिंडियाइं किं संजातं ?—

पणुवीसं कोडिसयं एथ य समलक्खणाइगा जम्हा । णवणायगसंबद्धा अक्खाइयमाइया तेण ॥१॥

ते सोहिज्जंति फुडं इमाओ रासीओ वेगलाणं तु । पुणरुत्तवज्जियाणं पमाणमित्तं विणिद्दुं ॥२॥

सोधिए य समाणे अदुद्गाओ कहाणगकोडीओ चेव हवंति, अत एवाह—“एवमेव सपुच्चावरेण” भणिय-
पगारेण गुणण-सोहणे कते त्ति वृत्तं भवति, “अदुद्गाओ कहाणयकोडीओ भवंतीति मवत्वायं” प्रकटार्थमिति, एवं
गुरवो व्याचक्षते । अन्ये पुनरन्यथा, तदभिप्रायं पुनर्वयमतिगम्भीरत्वान्नान्नान्नामः, परमार्थं त्वत्र विशिष्टश्रुतविदो
विदन्तीत्यलं प्रसङ्गेन । शेषं सुगमं यावत् “संखेज्जा पदसहस्रा पदगोणं” ते य किल पंच लक्खा छावत्तरिं च
५ सहस्रा पदगोणं, अहवा सुचालावयपयग्गेण संखेज्जा पदसहस्रा भवंति, एवं सब्बत्थ भावेयव्यं । शेषं सूत्रसिद्धं
यावश्चिगमनमिति ६ ॥

९३. से किं तं उवासगदसाओ ? उवासगदसासु णं समणोवासगाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोग-परलोइया रिद्धिविसेसा भोगपरिच्चाया परियागा सुयपरिगद्धा तवोवहाणाइं सील-
१० व्यय-गुण-वेरमण-पञ्चक्षाण-पोसहोववासपडिवज्जणया पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपञ्चक्षाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपञ्चायाईओ पुणबोहिलाभा अंत-
किरियाओ य आघविज्जंति । उवासगदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगदुयाए सत्तमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्ञयणा,
१५ दस उद्देसणकाला, दस समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पदसहस्राइं पयग्गेण । संखेज्जा अवखरा, अणंता गमा, अणंता पञ्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिवद्ध-
णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परुविज्जंति दंसिज्जंति णिद-
सिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरुवणा आघविज्जति । से तं उवासगदसाओ ७ ।

२० ९३. से किं तमित्यादि । उपासकाः-श्रावकाः तद्वत्क्रियाकलापनिवद्धा दशाः-दशाध्ययनोपलक्षिताः उपासकदशाः । तथा चाह—“उवासगदसासु णं” इत्यादि सूत्रसिद्धं यावत् “संखेज्जा पदसहस्रा पदगोणं” ते च किल एकारस लक्खा बावन्नं च सहस्रा पयग्गेण ति । शेषं कण्ठयमा निगमनमिति ७ ॥

९४. से किं तं अंतगडदसाओ ? अंतगडदसासु णं अंतगडाणं णगराइं उज्जाणाइं चेतियाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोग-परलोगिया
२५ रिद्धिविसेसा भोगपरिच्चागा पञ्चज्जाओ परियागा सुतपरिगद्धा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपञ्चक्षाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपञ्चायाईओ पुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति । अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोग-
दारा, संखेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगह-

णीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगद्वयाए अट्टमे अंगे, एगे सुयकंखंधे, अट्ट वग्गा, अट्ट उद्देसणकाला, अट्ट समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पदग्गेण, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परुविज्जंति दंसिज्जंति णिंदंसि-ज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरुवणा ५ आघविज्जंति । से तं अंतगडदसाओ ८ ।

९४. से किं तमित्यादि । अन्तः-विनाशः, स च कर्मणस्तत्फलभूतस्य वा संसारस्य कृतो यैस्तेऽन्तकृतः, ते च तीर्थकरादयः, तेषां दशाः प्रथमवर्गे दशाध्ययनानीति तत्सङ्ख्यया अन्तकृदशा इति । तथा चाऽऽह—“अंत-कडदसासु ण”मित्यादि पाठसिद्धं यावत् “अंतकिरियाओ” त्ति भवापेक्षया अन्त्याश्च ताः क्रियाश्चेति समासः, ताश्च शैलेश्वरस्थाद्या शृणन्ते । शेषं प्रकटार्थं यावत् “अटु वग्गा” एत्थ “वग्गो” चिसमूहो, सो य अंतगडाणं अज्ञयणाणं १० वा । सव्वाणि अज्ञयणाणि जुगं उदिसंति, अतो भणियं—“अटु उद्देसणकाला” इच्चादि । “संखेज्जा पदसहस्सा पयग्गेण” ते य किल एवतिया—तेवीसं लक्खा चउरो य सहस्सा पदग्गेण ति । शेषं सूत्रसिद्धं यावन्निगमनमिति ९॥

९५. से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ? अणुत्तरोववाइयदसासु णं अणुत्तरोववाइयाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्म-यरिया इहलोग-परलोगिया रिद्धिविसेसा भोगपस्त्विगा पब्जपस्त्विगा सुतपस्त्विगहा १५ तवोवहाणाइं पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपञ्चकखाणाइं पाओवगमणाइं अणुत्तरो-ववाइयते उववत्ती सुकुलपञ्चायादीओ पुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति । अणुत्तरोववाइयदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगद्वयाए णवमे अंगे, एगे सुयकंखंधे, तिण्ण वग्गा, तिण्ण उद्देसणकाला, तिण्ण २० समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेण, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवां, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परुविज्जंति दंसिज्जंति णिंदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरुवणा आघविज्जइ । से तं अणु-त्तरोववाइयदसाओ ९ ।

९६. से किं तमित्यादि । उत्तरः-प्रधानः, नास्योत्तरो विद्यत इति अनुत्तरः, उपपतनमुपपातः, जन्मे-त्वर्थः, अनुत्तरः-प्रधानः संसारेऽन्यस्य तथाविद्यस्याभावाद् उषातो येषामिति समासः, तद्वक्तव्यताप्रतिवद्धा दशः-दशाध्ययनोपलक्षिता अनुत्तरोपपातिकदशः । तथा चाऽऽह—“अणुत्तरोववाइयदसासु ण”मित्यादि सूत्रसिद्धं

यावत् “तिन्नि वर्ग” ति इहाध्ययनसमूहो वर्गः, वर्गे वर्गे दशाध्ययनानि । वर्गश्च युगपदेवोद्दिश्यत इत्यत आह—“तिन्नि उद्देसणकाला” इत्यादि । “संखेज्जा पदसहस्रा पदग्रेण” ते य किल छायालीसं लक्खा अद्य य सहस्र स्ति । शेषं प्रकटार्थं यावन्निनगमनमिति ९ ॥

९६. से किं तं पण्हावागरणाइँ ? पण्हावागरणेषु णं अद्दुत्तरं पसिणसयं, अद्दुत्तरं
^५ अपसिणसयं, अद्दुत्तरं पसिणा-पसिणसयं, अणे वि विविधा दिव्वा विज्ञा-
 तिसया नाग-सुवण्णेहि य सद्दि दिव्वा संवाया आघविज्जंति । पण्हावागरणाणं परित्ता
 वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जु-
 त्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगद्वयाए दसमे अंगे,
 एगे सुयक्खंधे, पण्यालीसं अज्ज्वयणा, पण्यालीसं उद्देसणकाला, पण्यालीसं समुद्देसण-
^{१०} काला, संखेज्जाइँ पदसहस्राइँ पदग्रेण, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा,
 परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति
 पण्णविज्जंति परुविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया, एवं-
 णाया, एवंविण्णाया, एवं चरण-करणपरुवणा आघविज्जइ । से तं पण्हावागरणाइँ १० ।

९७. से किं तमित्यादि । प्रश्नः—प्रतीतः, तन्निर्वचनं व्याकरणम्, बहुत्वाद् बहुवचनम् । प्रश्नव्याकरणेषु
^{१५} “अटोत्तरं पसिणसयं” इत्यादि । अंगुष्ठ-बाहुपसिणादियाओ पसिणाओ । जे पुण विज्ञा-मंता विधीष जविज्ञमाणा
 अणुच्छिया चेव सुभा-उसुभं कहेति एता अपसिणातो । तहा अंगुष्ठपसिणभावं च पडुच्च साधेति जा विज्ञाओ ताओ
 पसिणापसिणाओ त्ति । अथवा अणंतरं जा कहिति ता पसिणा, परंपरं पसिणापसिण त्ति, तं पुण विज्ञाकहितं
 तस्स परंपरं भजति । अन्ने य दिव्वा विचित्रा विज्ञातिसया । शेषं निगदसिद्धं यावत् “संखेज्जा पदसहस्रा
 पदग्रेण” ते य किल बाणउतिलक्खा सोल्स य सहस्र स्ति । शेषं गतार्थं यावदन्त इति १० ॥

^{२०} ९७. से किं तं विवागसुतं ? विवागसुते णं सुकड-दुकडाणं कम्माणं फल-विवागा
 आघविज्जंति । तत्थ णं दस दुहविवागा, दस सुहविवागा ।

से किं तं दुहविवागा ? दुहविवागेषु णं दुहविवागाणं णगराइँ उज्जाणाइँ वणसंडाइँ
 चेइयाइँ समोसरणाइँ रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोइय-परलोइया
 रिद्धिविसेसा निर्यगमणाइँ दुहपरंपराओ संसारभवपवंचा दुकुलपच्चायाईओ दुलहबोहियत्तं
^{२५} आघविज्जंति । से तं दुहविवागा ।

से किं तं सुहविवागा ? सुहविवागेषु णं सुहविवागाणं णगराइँ उज्जाणाइँ वणसंडाइँ
 चेइयाइँ समोसरणाइँ रायाणो अम्मा-पियरो धम्मकहाओ धम्मायरिया इहलोइय-परलोइया
 रिद्धिविसेसा भोगपरिच्छागा पञ्चज्जाओ परियागा सुतपरिग्रहा तवोवहाणाइँ संलेहणाओ

भृत्यपञ्चकस्वाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुहपरंपराओ सुकुलपञ्चायादीओ पुणबो-
हिलाभा अंतकिस्थियाओ य आघविज्जंति ।

विवागसुते णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुयोगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा
सिलोगा, संखेज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ ।
से णं अंगद्वयाए एकारसमे अंगे, दो सुयकसंधा, वीसं अज्ञयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीसं ५
समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पदसहस्राइं पदगोणं, संखेज्जा अक्षरा, अणंता गमा, अणंता
पञ्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णता भावा आघ-
विज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवंआया,
एवंणाया, एवंविणाया, एवं चरण-करणपरूपणा आघविज्जति । से तं विवागसुतं ११ ।

२७. से किं तमित्यादि । विपचनं विपाकः, शुभा-शुभकर्मपरिणाम इत्यर्थः, तत्प्रतिषादकं श्रुतं विपाक- १०
श्रुतम् । शेषमा निगमनं सूत्रसिद्धमेव । नवरम्—“संखेज्जा पदसहस्रा पदगोणं” एते य एगा पट्कोडी चुलसीइं च
लक्खा बत्तीसं च सहस्र ति ११ ॥

२८. से किं तं दिद्विवाए ? दिद्विवाए णं सब्बभावपरूपणा आघविज्जति । से समा-
सओ पंचविहे पण्णते, तं जहा-परिकम्मे १ सुत्ताइं २ पुब्वगए ३ अणुओगे ४ चूलिया ५ ।

२९. से किं तमित्यादि । दृष्ट्यः-दर्शनानि, कदनं चादः, दृष्टीनां चादो दृष्टिवादः । दृष्टीनां वा पातो १५
यत्रासौ दृष्टिपातः, सर्वेनयदृष्ट्य एवेहाऽरुप्यायन्त इत्यर्थः । तथा चाऽऽह-दृष्टिवादेन दृष्टिपातेन दृष्टिवादे दृष्टिपाते
वा सर्वभावपरूपणा आरुप्यायते । “से समासओ पंचविहे पन्नते” इत्यादि । सर्वमिदं प्रायो व्यवच्छिन्नं तथापि
लेशतो यथागतसम्प्रदायं किञ्चिद् व्याख्यायत इति ॥

३०. से किं तं परिकम्मे ? परिकम्मे सत्तविहे पण्णते, तं जहा-सिद्धसेणियापरिकम्मे
१ मणुस्ससेणियापरिकम्मे २ पुद्दुसेणियापरिकम्मे ३ ओगादसेणियापरिकम्मे ४ उवसंपञ्जण- २०
सेणियापरिकम्मे ५ विष्णजहणसेणियापरिकम्मे ६ चुतअच्चुतसेणियापरिकम्मे ७ ।

३१. से किं तं सिद्धसेणियापरिकम्मे ? सिद्धसेणियापरिकम्मे चोहसविहे पण्णते,
तं जहा-माउगापयाइं १ एगद्वियपयाइं २ अद्वापयाइं ३ पादो ४ आमासपयाइं ५ केउभूयं ६
रासिबद्धं ७ एगगुणं ८ दुगुणं ९ तिगुणं १० केउभूयपडिग्गहो ११ संसारपडिग्गहो १२ नंदा-
वत्तं १३ सिद्धावत्तं १४ । से तं सिद्धसेणियापरिकम्मे १ ।

३२. से किं तं मणुस्ससेणियापरिकम्मे ? मणुस्ससेणियापरिकम्मे चोहसविहे पण्णते,
तं जहा-माउगापयाइं १ एगद्वियपयाइं २ अद्वापयाइं ३ पादो ४ आमासपयाइं ५ केउभूयं ६

रासिवद्धं ७ एगगुणं ८ दुगुणं ९ तिगुणं १० केउभूयपडिग्गहो ११ संसारपडिग्गहो १२ णंदावत्तं १३ मणुस्सावत्तं १४ । से तं मणुस्ससेणियापरिकम्मे २ ।

१०२. से किं तं पुट्टसेणियापरिकम्मे ? पुट्टसेणियापरिकम्मे एकारसविहे पण्णते, तं जहा-पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिवद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६ तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० पुट्टावत्तं ११ । से तं पुट्टसेणियापरिकम्मे ३ ।

१०३. से किं तं ओगाढसेणियापरिकम्मे ? ओगाढसेणियापरिकम्मे एकारसविहे पण्णते, तं जहा-पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिवद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६ तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० ओगाढावत्तं ११ । से तं ओगाढसेणियापरिकम्मे ४ ।

१०४. से किं तं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ? उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे एकारसविहे पण्णते, तं जहा-पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिवद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६ तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० उवसंपज्जणावत्तं ११ । से तं उवसंपज्जणसेणियापरिकम्मे ५ ।

१०५. से किं तं विष्पजहणसेणियापरिकम्मे ? विष्पजहणसेणियापरिकम्मे एगारस-
१५ विहे पण्णते, तं जहा-पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिवद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६ तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० विष्पजहणावत्तं ११ । से तं विष्पजहणसेणियापरिकम्मे ६ ।

१०६. से किं तं चुयमचुयसेणियापरिकम्मे ? चुयमचुयसेणियापरिकम्मे एगारसविहे पण्णते, तं जहा-पाढो १ आमासपयाइं २ केउभूयं ३ रासिवद्धं ४ एगगुणं ५ दुगुणं ६ तिगुणं ७ केउभूयपडिग्गहो ८ संसारपडिग्गहो ९ णंदावत्तं १० चुयमचुयावत्तं ११ । से तं चुयमचुयसेणियापरिकम्मे ७ ।

९९-१०६. तत्र सूत्रादिग्रहणयोग्यतासम्पादनसमर्थानि परिकर्माणि, गणितपरिकर्मवत् । तं च परिकम्म-
सुयं सिद्धसेणियादिपरिकम्ममूलभेदतो सत्तविहं, उत्तरभेदतो तेरासीतिविहं माउगपदाति । एवं च सबं मूलत्तर-
भेदं सुत्तत्थतो वोच्छिन्नं, यथागतसम्प्रदायं चा वाच्यम् ॥

१०७. [इच्चेइयाइं सत्त परिकम्माइं, छ ससमइयाइं, सत्त आजीवियाइं,] छ चउक्णइ-
याइं, सत्त तेरासियाइं । से तं परिकम्मे १ ।

१०७. एएसि परिकर्माणं छ आदिमा य परिकर्मा ससमइया चेव, गोसाल्यपत्रतियआजीवगपासंडि-
सिद्धंतमण्ठं पुण चुयअचुयसेणियापरिकर्मसहिया सत्त पन्नचिज्जंति । इयाणि परिकर्मे णयचित्ता—तत्थ गेगमो
दुविहो, संगहितो असंगहितो य, संगहिओ संगहं पविष्टो, असंगहिओ ववहारं, तम्हा संगहो ववहारो उज्जुसुत्तो
सद्वादिया य एको एवं चउरो णया । एतेहिं चउहिं णएहिं छ ससमइयाइं परिकर्माइं चित्तिज्जंति, अतो भैणियं—छ
चउकणयाइं भवंति । ते चेव आजीविया तेरासिया भणिया । कम्हा? उच्यते, जम्हा ते सब्बं जगत् व्यात्मकमिच्छन्ति,
यथा जीवोऽजीवो जीवाजीवो, लोए अलोए लोयालोए, संते असंते संतासंते एवमादि । णयचित्ताए ते तिविहं
णयमिच्छंति, तंजहा—दव्वट्टितो पज्ववट्टितो उभयट्टिओ, अओ भणियं—“सत्त तेरासिय”त्ति, सत्त परिकर्माइं
तेरासियपासंडत्था तिविहाए णयचित्ताए चिन्तयन्तीत्यर्थः । “से तं परिकर्मे”त्ति निगमनम् ॥

१०८. से किं तं सुत्ताइं? सुत्ताइं बावीसं पण्णत्ताइं, तं जहा—उज्जुसुतं १ परिणयापरि-
णयं २ बहुभंगियं ३ विजयत्रस्यं ४ अणंतरं ५ परंपरं ६ मासाणं ७ संजूहं ८ संभिण्णं ९ १०
आयच्चायं १० सोवत्थिपण्णं ११ णंदावत्तं १२ बहुलं १३ पुद्वापुद्वं १४ वेयावचं १५ एवंभूयं १६
भूयावत्तं १७ वत्तमाणुपयं १८ समभिरुद्वं १९ सब्बओभद्वं २० पण्णासं २१ दुष्परिग्महं २२ ।

इच्चेयाइं बावीसं सुत्ताइं छिणच्छेयणइयाइं ससमयसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं १, इच्चेयाइं
बावीसं सुत्ताइं अच्छिणच्छेयणइयाइं आजीवियसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं २, इच्चेयाइं बावीसं
सुत्ताइं तिगणइयाइं तेरासियसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं ३, इच्चेयाइं बावीसं सुत्ताइं चउकणइयाइं १५
ससमयसुत्तपरिवाडीए सुत्ताइं ४, एवामेव सपुव्वावरेणं अद्वासीतिं सुत्ताइं भवंतीति मक्खायं ।
से तं सुत्ताइं २ ।

१०८ से किं तं सुत्ताइं? सुत्ताइं उज्जुसुयादियाइं बावीसं भवंति । इह सर्वद्रव्य-पर्याय-नयाद्यर्थ-
सूचनात् सूत्राणि । अमून्यपि च सूत्रार्थतो व्यवच्छिन्नान्येव, यथागतसम्प्रदायतो वा वाच्यानि । एतानि चेव बावीसं
सुत्ताइं विभागतो अद्वासीतिं हवंति, कथम्? उच्यते, “इच्चेयाइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नच्छेदणइयाइं, ससमयसुत्तपरि-
वाडीए” त्ति सुत्तं, एत्थं जो णओ सुत्तं छिन्नं छेदेण इच्छइ सो छिन्नच्छेदणओ, जहा—“धम्मो मंगलमुक्तुं”
[दशवै. अ. १ गा. १] ति सिलोगो सुत्तत्थओ पत्तेयं छेदनयठिओ ण वितियादिसिलोए अवेक्खइ, प्रत्येकं कलिपत-
पर्यन्त इत्यर्थः । एयाणि एवं बावीसं ससमयसुत्तपरिवाडीए सुत्ताणि ठियाणि । तथा—“इच्चेयाइं बावीसं सुत्ताइं
अच्छिन्नच्छेदणइयाइं आजीवियसुत्तपरिवाडीए” त्ति सुत्तमेव, इह जो णओ सुत्तं अच्छिन्नं छेदेण इच्छइ सो अच्छि-
च्छेदणयो, जहा—“धम्मो मंगलमुक्तुं” [दशवै० अ. १ गा. १] ति सिलोगो, एस चेव अत्थओ वितियादि-
सिलोगमवेक्खमाणो त्ति वितियादिया य पढमं ति, अन्योऽन्यसापेक्षा इत्यर्थः । एयाणि बावीसं आजीवियगोसाल-
यवत्तियपासंडपरिवाडीए अक्खररस्यणविभागट्टियाणि वि अत्थतो अन्नोन्नमवेक्खमाणाणि हवंति । “इच्चेयाइं” इत्यादि
सुत्तं, तत्थ “तिकणइयाइं” ति नयत्रिकाभिप्रायतश्चिन्त्यन्त इत्यर्थः, वैराशिकाश्राजीविका एवोच्यन्ते । तथा
“इच्चेताइं” इत्यादि सूत्रम्, एत्थ “चउकणइयाइं” ति नयचतुष्काभिप्रायतश्चिन्त्यन्त इति भावना । “एवमेवे”त्यादि
सूत्रम्, एवं चउरो बावीसाओ अद्वासीतिं सुत्ताइं भवंति । “से तं सुत्ताइं” ति निगमनवाक्यम् ॥

१०९. से किं तं पुव्वगते ? पुव्वगते चोदसविहे पण्णते, तं जहा—उप्पादपुब्बं १ अग्नेणीयं २ वीरियं ३ अत्थिणत्थिष्पवातं ४ नाणण्पवातं ५ सच्चप्पवादं ६ आयप्पवादं ७ कम्मप्पवादं ८ पञ्चक्खाणं ९ विज्जणुप्पवादं १० अवंजं ११ पाणाउं १२ किरियाविसालं १३ लोगविंदुसारं १४ । उप्पायस्स णं पुव्वस्स दस वत्थू चत्तारि चुल्यवत्थू पण्णता ५ १ । अग्नेणीयस्स णं पुव्वस्स चोदस वत्थू दुवालस चुल्यवत्थू पण्णता २ । वीरियस्स णं पुव्वस्स अद्व वत्थू अद्व चुल्यवत्थू पण्णता ३ । अत्थिणत्थिष्पवायस्स णं पुव्वस्स अद्वास वत्थू दस चुल्यवत्थू पण्णता ४ । नाणण्पवादस्स णं पुव्वस्स बारस वत्थू पण्णता ५ । सच्च-प्पवायस्स णं पुव्वस्स दोण्णि वत्थू पण्णता ६ । आयप्पवायस्स णं पुव्वस्स सोलस वत्थू पण्णता ७ । कम्मप्पवायस्स णं पुव्वस्स तीसं वत्थू पण्णता ८ । पञ्चक्खाणस्स णं पुव्वस्स १० वीसं वत्थू पण्णता ९ । विज्जणुप्पवादस्स णं पुव्वस्स पणस्स वत्थू पण्णता १० । अवंजस्स णं पुव्वस्स बारस वत्थू पण्णता ११ । पाणाउस्स णं पुव्वस्स तेस वत्थू पण्णता १२ । किरियाविसालस्स णं पुव्वस्स तीसं वत्थू पण्णता १३ । लोगविंदुसारस्स णं पुव्वस्स पणु-वीसं वत्थू पण्णता १४ ।

दस १ चोदस २ अद्व ३ ड्वारसेव ४ बारस ५ दुवे ६ य वत्थूणि ।

१५ सोलस ७ तीसा ८ वीसा ९ पणस्स १० अणुप्पवायम्मि ॥ ७९ ॥

बारस एकारसमे ११ बारसमे तेसेव वत्थूणि १२ ।

तीसा पुण तेसमे १३ चोदसमे पण्णवीसा उ १४ ॥ ८० ॥

चत्तारि १ दुवालस २ अद्व ३ चेव दस ४ चेव चुल्यवत्थूणि ।

आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चुल्या णत्थि ॥ ८१ ॥

२० से तं पुव्वगते ३ ॥

१०९. से किं तं पुव्वगते इत्यादि । कम्हा पुव्वगतं ?, उच्यते, जम्हा तित्थगरो तित्थपन्त्तणकाले गणधराणं सच्चसुत्ताधारत्तणतो पुब्बं पुव्वगयसुत्तत्यं भासइ तम्हा पुव्व ति भणिया, गणधरा पुण सुत्तरयणं करेन्ता आयारादिकमेण रएंति ठवेंति य । अन्नायरियमतेण पुण पुव्वगयसुत्तत्थो पुब्बं अरहया भासिओ, गणधरेहि वि पुव्वगयसुयं चेव पुब्बं रइयं, पञ्चा आयारादि । चोदक आह—णु पुव्वावरविरुद्धं, कम्हा ? जम्हा आयारणि-२५ ज्जुत्तीए भणियं—“सच्चेसिं आयारो०” [गा. ८] गाहा, सत्यमुक्तम्, किन्तु सा ठवणा, इमं पुण अक्खररयणं पदुच्च भणियं, पूर्वे पूर्वाणि कुतानीत्यर्थः । ताणि य उप्पायपुव्वादीणि चोदस पुव्वाणि पञ्चत्ताणि । फटमं उप्पायपुब्बं, तत्थ सच्चदव्वाणं पञ्चवाण य उप्पायभावमंगीकाउं पञ्चवाण कया, तस्स य पयपरिमाणं एगा पयकोडी १ । वितियं अग्नेणीयं, तत्थ वि सच्चदव्वाण पञ्चवाण य सच्चजीवाजीविसेसाण य अग्नं-परिमाणं वञ्जिज्जति ति अग्नेणीयं,

तस्य पदपरिमाणं छष्टुर्ति पदसयसहस्राणि २ । ततियं वीरियपवायं, तत्थ वि अजीवाणं जीवाणं सकम्पेतरं वीरियं पवयइ त्ति वीरियपवायं, तस्य विसत्तरि य पदसयसहस्राणि ३ । चतुर्थं अतिथिष्ठियपवायं, जं लोए जहा वा अतिथ जहा वा गतिथ अथवा सियवादाभिष्पततो तदेवास्ति नास्तीत्येवं प्रवदति इति अतिथिष्ठियपवायं भणियं, तं पि पदपरिमाणतो सर्व्वं पदसयसहस्राणि ४ । पञ्चमं णाणपवादं ति, तम्मि मतिणाणादिपंचकस्स गाहयंपरुवणा जम्हा कया तम्हा णाणपवायं, तम्मि पदपरिमाणं एगा पदकोडी एगपदूणा ५ । छटुं सच्चपवायं, सच्चं-संज्ञमो सच्चवयणं वा, ५ तं सच्चं जत्थ सभेयं सपदिवकसं च वन्निज्जइ तं सच्चपवायं, तस्य पदपरिमाणं एगा पयकोडी छप्याहिया ६ । सत्तमं आयपवायं आय त्ति-आत्मा, सोऽणेगहा जत्थ णयदरिसणेहिं वन्निज्जइ तं आयपवायं, तस्य वि पदपरिमाणं छब्बीसं पदकोडीओ ७ । अटुमं कम्मपवायं, णाणावरणादियं अटुविहं कम्मं पयति-ठिति-अणुभाग-पदेसादिएहिं भेदेहिं अन्नेहिं य उत्तरुत्तरभेदेहिं जत्थ वन्निज्जइ तं कम्मपवायं, तस्य वि पदपरिमाणं एगा पयकोडी असीर्ति च पयसस्सा भवंति ८ । णवमं पचक्खाणं, तम्मि सब्बपचक्खाणसखं वन्निज्जति त्ति अतो पचक्खाणपवायं, तस्स य पदपरिमाणं १० चउरासीर्ति पयसयसहस्रा भवंति ९ । दसमं विजगुप्पवायं, तत्थ अणेगे विज्ञातिसया वणिया, तस्स य पदपरिमाणं एगा पयकोडी दस पयसयसहस्रा १० । एकारसमं अवंजं, ति, वंजं णाम-णिष्कलं, ण वंशमवंशं, सफलमित्यर्थः, सब्बे णाण-तव-संजमजोगा सफला वन्निज्जंति अप्पसत्था य पमादादिया सब्बे असुहफला वन्निया अतो अवंशं, तस्य वि पयपरिमाणं छब्बीसं पदकोडीओ ११ । बारसमं पाणाडं, तत्थ वि आउं-प्राणविधानं सब्बं सभेयं अन्ने य पाणा वन्निता, तस्य पयपरिमाणं एगा पयकोडी छप्पन्नं च पदसयसहस्राणि १२ । तेरसमं किरियाविसालं, तत्थ काय- १५ किरियादियादओ विसाल त्ति-सभेया संजमकिरियाओ छं-किरियाविहाणा य, तस्य य पयपरिमाणं णव कोडीओ १३ । चोदसमं लोगविदुसारं, तं च इमम्मि लोए सुअलोए वा विंदुमित्र अक्खरस्स सब्बुत्तमं सब्बक्खरस- न्निवायपरि (? द्वित)त्तणओ लोगविन्दुसारं भणियं, तस्य य पयपरिमाणं अद्वेरस पयकोडीओ १४ । से तं पुञ्चगते ॥

११०. से किं तं अणुओगे ? अणुओगे दुविहे पण्णते, तं जहा-मूलपदमाणुओगे य गंडियाणुओगे य ।

११०. से किं तमित्यादि । अनुरूपः अनुरूलो वा योगोऽनुयोगः, द्वृत्स्य निजेनाभिघेयेन सार्द्धमनुरूपः सम्बन्ध इत्यर्थः । स च द्विविधः प्रज्ञसः, तद्यथा-मूलपथमाणुयोगश्च गणिकानुयोगश्च ॥

१११. से किं तं मूलपदमाणुओगे ? मूलपदमाणुओगे णं अरहंताणं भगवंताणं पुञ्च- भवा देवलोगगमणाइं आउं चवणाइं जम्मणाणि य अभिसेया रायवरसिरीओ पञ्चज्ञाओ, तवा य उग्गा, केवलनाणुप्याओ तिथ्यपवत्तणाणि य सीसा गणा गणधरा य अज्जा य २५ पवत्तिणीओ य, संघस्स चउविहस्स जं च परिमाणं, जिण-मणपज्जव-ओहिणाणि-समत्तसुय-णाणिणो य वादी य अणुत्तरगती य उत्तरवेउविणो य मुणिणो जत्तिया, जत्तिया सिद्धा, सिद्धिपहो जह य देसिओ, जच्चिरं च कालं पादोवगओ, जो जहिं जत्तियाइं भत्ताइं छेयइत्ता अंतगडो मुणिवरुत्तमो तमरओघविष्यमुक्तो मुक्खसुहमणुत्तरं च पत्तो, एते अन्ने य एवमादी भावा मूलपदमाणुओगे कहिया । से तं मूलपदमाणुओगे ।

१११. से कि तमित्यादि । इैकवक्तव्यताप्रणयनान्मूलं तावत् तीर्थकराः, तेषां प्रथमः—सम्यक्त्वावाप्ति-
लक्षणपूर्वभवादिगोचरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः । तथा चाह—“मूलपदमाणुयोगे ण” मित्यादि शूत्रसिद्धं यावत्
“से तं मूलपदमाणुयोगे” ।

११२. से कि तं गंडियाणुओगे? गंडियाणुओगे ण कुलगरगंडियाओ तित्थगरगंडियाओ
५ चकवट्टिगंडियाओ दसारगंडियाओ बलदेवगंडियाओ वासुदेवगंडियाओ गणधरगंडियाओ
भद्रबाहुगंडियाओ त्वोकम्मगंडियाओ हस्तिंसगंडियाओ ओसप्पिणिगंडियाओ उस्सप्पिणि-
गंडियाओ चित्तंतरगंडियाओ अमर-ण-तिस्ति-नियगइगमणविविहपस्तियद्वणेसु एवमाइयाओ
गंडियाओ आघविज्जंति । से तं गंडियाणुओगे । से तं अणुओगे ४ ।

११३. से कि तमित्यादि । इैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगता गण्डिका उच्यन्ते, तासामनुयोगः—अर्थकथन-
१० विधिः गण्डिकानुयोगः । तथा चाह—“गंडियाणुयोगे ण” मित्यादि । तत्थ कुलगरगंडियासु कुलगराणं विमलवाहणा-
दीणं पुव्वजम्म-णामादि कहिज्जइ । एवं सेसामु वि अभिधाणकसतो भावेयव्वं, जाव “चित्तंतरगंडियाओ” चित्राः—
अनेकार्था अन्तरे—ऋषभा-उजिततीर्थकरान्तरे गण्डिकाः—एकवक्तव्यतार्थिकारानुगताः, ततश्च ता अन्तरगण्डिकाश्च
चित्रान्तरगण्डिकाः । एतदुक्तं भवति—ऋषभा-उजिततीर्थकरान्तरे तद्वंशजभूपतीनां शेषगतिगमनव्युदासेन शिवगति-
गमना-उगुच्चरोपपातप्राप्तिप्रतिपादिकाश्चित्रान्तरगण्डिका इति । एयासि पर्खणे पुव्वायरिएहि इमो विही दिट्ठो—
१५ आदिच्चजसार्दिणं उसमस्स पउप्पण नरवतीणं । सगरसुताण सुबुद्धी इणमो संखं परिकहेइ ॥१॥

चोदस लक्खा सिद्धा णिवतीणिको य होति सञ्चटे । एकेकट्टाणे पुण पुरिसजुगा होतउसंखेज्जा ॥२॥
पुणरवि चोदस लक्खा सिद्धा णिवतीण दोन्नि सञ्चटे । गुणठाणे वि असंखा पुरिसजुगा होति णायव्वा ॥३॥
जाव य लक्खा चोदस सिद्धा पश्चास होति सञ्चटे । पश्चासट्टाणे वि तु पुरिसजुगा होतउसंखेज्जा ॥४॥
एगुच्चरा उ ठाणा सञ्चटे णेय जाव पश्चासा । एवेकेकगठाणे पुरिसजुगा होतउसंखेज्जा ॥५॥१।
२० विवरीयं सञ्चटे चोदस लक्खा उ णिव्वुतो एगो । स चेव य परिवाडी पश्चास जाव सिद्धीए ॥६॥२।
तेण पर दुलक्खादी दो दो ठाणा य समग वच्चंति । सिवगति-सञ्चट्टेहिं इणमो तेसि विही होइ ॥७॥
दो लक्खा सिद्धीए दो लक्खा नरवतीण सञ्चटे । एवं तिलक्ख चउ पंच जाव लक्खा असंखेज्जा ॥८॥३।
सिवगति-सञ्चट्टेहिं चित्तंतरगंडिया ततो चउरो । एगा एगुच्चरिया १ एगादिविउच्चरा वितिया २॥९॥
ततिएगादितिउच्चर ३ तिगमादिविउच्चरा चउत्थेयं ४ । पढमाए सिद्धिको दोन्नि य सञ्चट्टसिद्धम्मि ॥१०॥
२५ ततो तिन्नि नरिंदा सिद्धा चत्तारि होति सञ्चटे । इय जाव असंखेज्जा सिवगति-सञ्चट्टसिद्धेहिं १॥११॥
ताहे विउच्चराए सिद्धिको तिन्नि होति सञ्चटे । एवं पंच य सत्त य जाव असंखेज्ज दो वि त्ति २॥१२॥
एग चउ सत्त दसगं जाव असंखेज्ज होति दो वि त्ति । सिवगति-सञ्चट्टेहिं तिउच्चराए मुणेयव्वा ३॥१३॥
ताहे—तियगाइविउच्चराए अउणतीसं तु तितग ठावेतुं । पढमे णत्थि उ खेवो सेसेसु इमो भवे खेवो ॥१४॥
दुग पण णवगं तेरस सत्तरस दुवीस छ च अट्टेव । बारस चोदस तह अट्टवीस छव्वीस पणुवीसा ॥१५॥

एकारस तेवीसा सियाल सतरि सतहचरी तह य । इग दुग सत्त्वासीई एगचरिमेव बावट्टी ॥१६॥
 अउणत्तरि चउवीसा छायालसयं तहेव छब्बीसा । एष रासीखेवा तिगअंतंता जहाकमसो ॥१७॥
 सिवगति-सब्बद्वेहि दो दो ठाण विसमुत्तरा येया । जावुणतीसट्टाणे उणतीसं पुण छब्बीसाए ॥१८॥
 विसमुत्तरा य पढमा एवमसंख विसमुत्तरा येया । सब्बतथ वि अंतिलुं अन्नाए आदिमं ठाणं ॥१९॥
 अउणत्तीसं वारे ठावेउं णतिथ पढमए खेत्रो । सेसेसड्डवीसाए सब्बतथ दुगादिओ खेत्रो ॥२०॥
 सिवगति पढमादीए चितियाए तह य होति सब्बद्वे । इय एगंतरियाइं सिवगाइ-सब्बद्वठाणाइं ॥२१॥
 एवमसंखेज्जाओ चित्तंतररगंडियाओ येयच्चा । जाव जियसत्तुराया अजियजिणपिया समुप्पन्नो ४॥२२॥४॥

५

एवं गाहाहिं चित्तंतररगंडियाओ समत्ताओ । इमा य एयासि ठचणा—

एत्तिया लक्खा सिद्धि गया	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४
एत्तिया लक्खा सब्बद्वं पि गया	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०

१०

एवं जाव असंखा पुरिसज्जुगा सिद्धा । एसा पढमा १ । अओ परं—

सिद्धा एत्तिया लक्खा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०
सब्बद्वमि गया एत्तिया लक्खा	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४

एवं पि असंखेज्जा पुरिसज्जुगा सिद्धा । एसा बीया २ । अओ परं—

सिद्धा एत्तिया लक्खा	२	३	४	५	६	७	८
सब्बद्वे वि गया एत्तिया लक्खा	२	३	४	५	६	७	८

१५

एवं जाव असंखेज्जा आवलिया दुगाइएगुत्तरा दो वि गच्छति । आवलिया दूरगमणओ पंचासइमे ठाणे चिट्ठाति । तइया गंडिया ३ । अतः परं चतस्रो गणिका एकोत्तरिकादिकाः प्रदर्श्यन्ते—

शिवगतौ	१	३	५	७	९	एवं जाव असंखेज्जा
सर्वार्थे च	२	४	६	८	१०	एवं जाव असंखेज्जा

२०

चित्तंतररगंडिया एगाइएगुत्तरिया पढमा येया १ ।

सिद्धा एत्तिया	१	५	९	एवं जाव असंखेज्जा
सब्बद्वे एत्तिया चेव	३	७	११	एवं जाव असंखेज्जा

एगादिविउत्तरा वितिया चित्तंतररगंडिया २ ।

सिद्धा एत्तिया	१	७	१३	एवं जाव असंखेजा
सब्दे एत्तिया चेव	४	१०	१६	एवं जाव असंखेजा

चित्तंतरगंडिया एगादितिउत्तरा ततिया ३ ।

ततश्तुर्थी इयादिका आदिविषमोत्तरप्रक्षेपा एकोनत्रिशत् त्रिकान् संस्थाप्य निर्दर्श्यते—

५ शिवगतौ सिद्धा एत्तिया	३	८	१६	२५	११	१७	२९	१४	५०	८०	५	७४	७२	४९	२९
सब्दे एत्तिया	५	१२	२०	९	१५	३१	२८	२६	७३	४	९०	६५	२७	१०३	०

पुणो वि—

सब्दे	२९	३४	४२	५१	३७	४३	५५	४०	७६	१०६	३१	१००	९८	७५	५५
सिद्धौ	३१	३८	४६	३५	४१	५७	५४	५२	९९	३०	११६	९१	५३	१२९	०

१० एवं पुनः पञ्चपञ्चाशदादौ कृत्वा एकोनत्रिशत् स्थानानि संस्थाप्य आदिप्रक्षेपकेण यावत् पश्चिमस्थाने एकाशीर्तिर्भवति । अनेन [क्रमेण] उत्तरा असङ्गत्येयाश्चिन्तान्तरगण्डिका नेयाः ४ । सेसं गाहाणुसारेण नेयव्यं जाव असंखेजा ॥

शेषं निगदसिद्धं यावत् “से तं अणुओगे” ॥

११३. से कि तं चूलियाओ? चूलियाओ आइलाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिया, अव-
१५ सेसा पुव्वा अचूलिया । से तं चूलियाओ ५ ।

११४. दिट्ठिवायस्स णं परित्ता वायणा, संखेजा अणुओगदारा, संखेजा वेदा, संखेजा सिलोगा, संखेजा ओ पटिवत्तीओ, संखेजा ओ णिज्जुत्तीओ, संखेजा ओ संगहणीओ । से णं अंगद्वयाए दुवालसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, चोहस पुव्वा, संखेजा वत्थू, संखेजा चुलवत्थू, संखेजा पाहुडा, संखेजा पाहुडपाहुडा, संखेजा ओ पाहुडि-
२० या ओ, संखेजा ओ पाहुडपाहुडिया ओ, संखेजा इं पदसहस्राइं पदग्गेण, संखेजा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासत-कड-णिबद्ध-णिकाइया जिणपण्णता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परुविज्जंति दंसिज्जंति णिदंसिज्जंति उव-
दंसिज्जंति । से एवंआया, एवंणाया, एवंविणाया, एवं चरण-करणपरुवणा आघविज्ज-
ति । से तं दिट्ठिवाए १२ ।

११३-१४. से किं तमित्यादि । चूडा इव चूडा, इह दृष्टिवादे परिकर्म-सूत्र-पूर्वीनुयोगोक्ता-ज्ञुक्तार्थ-सङ्ग्रहपरा ग्रन्थपदतयश्चूडा इति । एताश्राद्यानां चतुर्णामेव पूर्वाणां भवन्ति, न शेषाणामिति । अत एवाह-“आदिल्लाण”मित्यादि । सङ्ख्या तासां प्रतिपूर्वमित्यं यथासङ्ख्यम्—

चउ बारसङ्कु दस या हवंति चूडा चउण्ह पुञ्चाणं । एष य चूलवत्थू सब्बुवरि किल पदिज्जंति ॥१॥

शेषमा निगमनं सूत्रसिद्धमेव । नवरम्—“संखेज्जा वत्थु” त्ति पणुवीसुन्तराणि दो सयाणि । “संखेज्जा ५ चूलवत्थु” त्ति चउतीसं ॥ साम्प्रतमोघतो द्वादशाङ्गविषयमेव दर्शयन्नाह—

११५. इच्छेइयम्मि दुवालसंगे गणिपिडगे अणंता भावा अणंता अभावा अणंता हेऊ अणंता अहेऊ अणंता कारणा अणंता अकारणा अणंता जीवा अणंता अजीवा अणंता भवसिद्धिया अणंता अभवसिद्धिया अणंता सिद्धा अणंता असिद्धा पण्णता । संगमहणिगाहा-

भावमभावा हेउमहेऊ कारणमकारणा चेव ।

जीवाऽजीवा भवियमभविया सिद्धा असिद्धा य ॥ ८२ ॥

११५. इच्छेयम्मि इत्यादि । इत्येतस्मिन् द्वादशाङ्गे गणिपिटक इति पूर्ववत्, अनन्ता भावाः प्रज्ञसा इति योगः, तत्र भवन्तीति भावाः-जीवादयः पदार्थाः, एते च जीव-पुद्गलानन्तत्वाद् अनन्ता इति । तथा अनन्ता अभावाः, सर्व-भावानामेव पररूपेणासन्त्वात् त एवानन्ता अभावा इति, स्व-परसत्ताभावा-ऽभावोभयाधीनत्वाद् वस्तुतत्त्वस्य । तथाहि-जीवो जीवात्मना भावोऽजीवात्मना चाभावः, अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गात्, अत्र बहु वक्तव्यं ततु नोच्यते, गमनिकामात्र- 15 त्वादारम्भस्य । अन्ये तु ‘धर्मपैक्षया अनन्ता भावाः अनन्ता अभावाः प्रतिशस्त्वस्तित्वनास्तित्वाभ्यां प्रतिबद्धाः’ इति व्याचक्षते । तथाऽनन्ता हेतवः, तत्र हिनोति-गमयति जिज्ञासित्वर्मवेशिष्ठानर्थानिति हेतुः, ते चानन्ताः, वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वात्, तत्प्रतिबद्धर्मविशिष्टवस्तुगमकत्वाच्च हेतोः, सूत्रस्य चानन्तगम-वर्यायात्मकत्वादिति । यथोक्तहेतुप्रतिपक्षतोऽनन्ता अहेतवः । तथाऽनन्तानि कारणानि-मृत्पिण्ड-तन्त्रादीनि घट-पटादिनिर्वर्तकानि । तथाऽनन्तान्यकारणानि, सर्वकारणानामेव कार्यान्तराकारणत्वात्, न हि मृत्पिण्डः पटं निर्वर्तयतीति । एवं भावा- 20 ऽभावाः हेत्वहेतवः कारण-ऽकारणानि, जीवाः-प्राणिनः, तथा अजीवाः-द्वयणुकादयः, तथा भव्याः-अनादिपा-रिणामिकभव्यभावयुक्ताः, एतेऽनन्ताः प्रज्ञसा । तथा अभव्याः-अनादिपारिणामिकाभव्यभावयुक्ताः एतेऽनन्ताः प्रज्ञसा इति योगः । तथा सिद्धा अनन्ताः, तथा अनन्ता असिद्धाः प्रज्ञसा इति । इह भव्या-ऽभव्यानामानन्त्येऽभिहिते अनन्ता असिद्धा इति यत् पुनरभिधानं तत् सिद्धेभ्योऽनन्तगुणतत्त्वस्यापनार्थमिति ॥

साम्प्रतं द्वादशाङ्गविराधना-ऽऽराधननिष्पत्त्वं त्रैकालिकं फलमुपदर्शयन्नाह—

११६. इच्छेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहेता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियद्विसु । इच्छेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुपणकाले परित्ता जीवा आणाए विराहेता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियद्वंति । इच्छेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागते काले अणंता जीवा आणाए विराहेता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियद्विसंति ।

११६. हच्चेयमित्यादि । इत्येतद् द्वादशाङ्कं गणिपिटकं अतीतकाले अनन्ता जीवा आज्ञया विराध्य चतुर्न्तं संसारकान्तारं “अणुपरियद्दिसु” त्ति अनुपरावृत्तवन्त आसन् । इदं हि द्वादशाङ्कं सूत्रार्थोभयभेदेन त्रिविधम्, ततश्च ‘आज्ञया’ सूत्राज्ञयाऽभिनिवेशतोऽन्यथापाठादिलक्षणया विराध्य अतीतकाले अनन्ता जीवाः ‘चतुर्न्तं संसारकान्तारं’ नारक-तिर्यङ्-नरा-ऽभरविविधवृक्षजालदुस्तरं भवाटवीगहनमित्यर्थः, अनुपरावृत्ता आसन् जमालिवत् ; ५ अर्थाज्ञया पुनरभिनिवेशतोऽन्यथाप्ररूपणादिलक्षणया गोषामाहिलवत्, उभयाज्ञया पुनः पञ्चविधाचारपरिज्ञानकरणोद्यतगुर्वदेशादिलक्षणया गुरुपत्यनीकद्व्यलिङ्गधार्यनेकश्रमणवत्, अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षयाऽऽगमोक्तानुष्टानमेवाज्ञा, एतद्विराधनयैवानुपरावृत्ता आसन् । उक्तं च—“सञ्चाओ वि गतीओ अविरहिया णाण-दंसणधरेहि” [] इत्यादि । “इच्चेय”मित्यादि गतार्थमेव । नवरम्—“परित्ता जीवा” इति सङ्घेयेया जीवाः, वर्त्तमानविशिष्टविराधकमनुष्यजीवानां सङ्घेयत्वात्, “अणुपरियद्दिसु” त्ति अनुपरावर्त्तन्ते, भ्रमन्तीत्यर्थः । “इच्चेत्”—१० मित्यादि, इदमपि भावितार्थमेव । नवरम्—“अणुपरियद्दिसंसंति” त्ति अनुपरावर्त्तिष्यन्ते, पर्यटिष्यन्ति इत्यर्थः ॥

११७. इच्चेद्यं दुवालसंगं गणिपिडगं अतीतकाले अणंता जीवा आणाए आराहेत्ता चाउरंतं संसारकंतारं वितिवद्दिसु । इच्चेद्यं दुवालसंगं गणिपिडगं पद्गप्पणकाले परित्ता जीवा आणाए आराहेत्ता चाउरंतं संसारकंतारं वितिवयंति । इच्चेद्यं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए आराहेत्ता चाउरंतं संसारकंतारं वितिवतिसंसंति ।

१५ ११७. “इच्चेत्”मित्यादि, इत्येतद् द्वादशाङ्कं गणिपिटकं अतीतकालेऽनन्ता जीवा आज्ञया आराध्य चतुर्न्तं संसारकान्तारं “वितिवद्दिसु” त्ति व्यतिक्रान्तवन्तः, चतुर्गतिकसंसारोल्लङ्घनेन मुक्तिमवाप्ता इत्यर्थः । “इच्चेय”मित्यादि गतार्थम् । नवरम्—“विद्वयंति” त्ति व्युत्क्रामन्ति । “इच्चेद्”मित्यादि गतार्थमेव । नवरम्—“वितिवयिसंसंति” त्ति व्युत्क्रमिष्यन्ते, एतत्प्रभावात् सेत्स्यन्तीत्यर्थः ॥

यदिदमनिष्टेतरभेदमिन्नं फलं प्रतिपादितम् एतत् सदाऽवस्थायित्वे सति द्वादशाङ्कस्योपजायत इत्यत्र आह—

११८. इच्चेद्यं दुवालसंगं गणिपिडगं ण क्याइ णाऽसी ण क्याइ ण भवति ण क्याइ ण भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सति य, धुवे णिअए सासते अक्खए अब्बए अव-द्विए णिच्चे । से जहाणामए पंचत्थिकाए ण क्याति णाऽसी ण क्याति णत्थि ण क्याइ ण भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सति य, धुवा णीया सासता अक्खया अब्बया अवद्विया णिच्चा, एवामेव दुवालसंगे गणिपिडगे ण क्याइ णाऽसी ण क्याइ णत्थि ण २५ क्याइ ण भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सति य, धुवे णिअए सासते अक्खए अब्बए अवद्विए णिच्चे ।

११८. इच्चेयमित्यादि । इत्येतद् द्वादशाङ्कं गणिपिटकं न कदाचिन्नासीद् अनादित्वात्, न कदाचिन्न भवति सदैव भावात्, न कदाचिन्न भविष्यति अपर्यवसितत्वात् । किं तर्हि? “भुविं चे”त्यादि, अभूद् भवति भविष्यति च । ततश्चेदं त्रिकालभावित्वादचलत्वाद् ध्रुवम्, मेवादिवत् । ध्रुवत्वादेव नियतम्, पञ्चास्तिकायेषु

लोकवचनवत् । नियतत्वादेव शाश्वतम्, समया-ऽवलिकादिषु कालवद् । शाश्वतत्वादेव वाचनादिप्रदानेऽप्यक्षयम्, गङ्गा-सिन्धुप्रवाहेऽपि पौण्डरीकहृदवत् । अक्षयत्वादेवाव्ययम्, मानुषोत्तराद् वहिः समुद्रवत् । अव्ययत्वादेव स्वप्रमाणेऽवस्थितम्, जन्मद्रीपादिवत् । अवस्थितत्वादेव नित्यम्, आकाशवत् । साम्प्रतं दृष्टान्तमाह—“से जहाणामए”त्यादि, तद् यथानाम ‘पञ्चास्तिकायाः’ धर्मास्तिकायादयः न कदाचिन्नासन् न कदाचिन्न सन्ति न कदाचिन्न भविष्यन्ति, अभूतव भवन्ति भविष्यन्ति च । “धुवे” इत्यादि पूर्ववत् । “एवामेवे”त्यादि निगमनं निगदसिद्धमेव ॥ ५

११९. से समासतो चउविहे पण्ठते, तं जहा-दब्बओ खेतओ कालओ भावओ । तत्थ दब्बओ एं सुयणाणी उवउत्ते सब्बदब्बाइं जाणइ पासइ । खेतओ एं सुयणाणी उवउत्ते सब्बं खेतं जाणइ पासइ । कालओ एं सुयणाणी उवउत्ते सब्बं कालं जाणइ पासइ । भावओ एं सुयणाणी उवउत्ते सब्बे भावे जाणइ पासइ ।

१२०. “से समासओ” इत्यादि । ‘तद्’ द्वादशाङ्गं समासतश्चतुर्विंश्च प्रज्ञप्तमित्यादि प्रायो गतार्थमेव । १० नवरम्-द्रव्यतः श्रुतज्ञानी उपयुक्तः सन् सर्वद्रव्याणि जानाति पश्यतीति, अत्राभिन्नदशपूर्वधरादिः श्रुतकेवली परिगृहते, तदास्तो भजना, सा पुनर्मतिविशेषतो ज्ञातव्येति । अत्राह-ननु पश्यतीति कथम्? कथश्चन सकलगोचर-दर्शनायोगात्, अत्रोच्यते, प्रज्ञापनायां श्रुतज्ञानपश्यत्तायाः प्रतिपादितत्वात्, अनुत्तरविमानादीनां चाऽऽलेख्यकरणात्, सर्वथा चादृष्टस्याऽलेख्यकरणानुपत्तेः । एवं क्षेत्रादिष्वसि भावनीयमिति । अन्ये तु “न पश्यति” इत्यमिदधति ॥

साम्प्रतं सङ्ग्रहगाथा आह—

15

१२०. अक्षर १ सण्णी २ सम्मं ३ सादीयं ४ खलु सपज्जवसियं ५ च ।

गमियं ६ अंगपविद्वं ७ सत्त वि एए सपदिवक्त्वा ॥ ८३ ॥

आगमसत्थगहणं जं बुद्धिगुणेहि अद्वहिं दिद्वं ।

चिति सुयणाणलंभं तं पुब्बविसारया धीरा ॥ ८४ ॥

सुस्सूसइ १ पडिपुच्छइ २ सुणेइ ३ गिणहइ ४ य ईहए ५ यावि ।

20

तत्तो अपोहए ६ वा धारेइ ७ करेइ वा सम्मं ८ ॥ ८५ ॥

मूर्यं १ हुंकारं २ वा बाढ़कार ३ पडिपुच्छ ४ वीमंसा ५ ।

तत्तो पसंगपारायणं ६ च परिणिद्व ७ सत्तमए ॥ ८६ ॥

सुतत्थो खलु पटमो, बीओ णिज्जुत्तिमीसिओ भणिओ ।

तइओ य णिखसेसो, एस विही होइ अणुओगे ॥ ८७ ॥

25

से तं अंगपविद्वं । से तं सुयणाणं । से तं परोक्खणाणं ।

॥ से तं णंदी सम्मता ॥

१२०. अक्ष्यर सन्नीत्यादि । इयं गतार्थेव । नवरम्-सप्तायेते पक्षाः सप्ततिपक्षाः । ते चैवम्-अस्त-
श्रुतमनक्षरश्रुतमित्यादि ॥८३॥ इदं पुनः श्रुतज्ञानं सर्वातिशयरत्नसमुद्रकल्पम्, तथा पायो गुर्वायत्तत्वात् पराधीनम्,
अतो विनेयानुग्रहार्थं यो यथा चास्य लाभस्तथा दर्शयन्नाह—

आगम० गाहा । व्याख्या—आगमनमागमः, आडो अभिविधि-मर्यादार्थताद् अभिविधिना मर्यादया वा
५ गमः-परिच्छेद आगमः । स च केवलमत्यवधिलक्षणोऽपि भवति अतस्तद्वयवच्छिन्त्यर्थमाह—शास्यतेऽनेनेति शास्त्रं-
श्रुतम् । आगमग्रहणं तु विष्टितन्नादिकुशास्त्रव्यवच्छेदार्थम्, तेषामनागमतात् सम्यक्यपरिच्छेदात्मकत्वाभावादित्यर्थः;
शास्त्रतया च रूढत्वात्, तत आगमश्वासौ शास्त्रं च आगमशास्त्रं तस्य ग्रहणमिति समाप्तः । श्रुतीतिग्रहणम् । यद्
१० बुद्धेर्गुणैर्वक्ष्यमाणलक्षणैः करणभूतैरष्टभिर्दृष्टं तद् ब्रुवते श्रुतज्ञानस्य लाभः श्रुतज्ञानलाभस्तं तदेव ग्रहणं ब्रुवते । के ?
पूर्वेषु विशारदाः-विषयितः ‘धीरा’ व्रतानुपालने स्थिरा इत्यर्थः । अयं गाथार्थः ॥८४॥

१० बुद्धिगुणैरष्टभिरित्युक्तं ते चामी—

सुसूसूसति० गाहा । व्याख्या—विनययुक्तो गुरुमुखात् श्रोतुमिच्छति शुश्रूषते । पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति,
तत् श्रुतमशङ्कितं करोतीति भावार्थः । पुनः कथितं सच्छृणोति । श्रुता गृह्णाति । श्रुतीत्वा च ‘ईहते’ पर्यालोचयति
‘किमिदमित्यम्? उतान्यथा?’ इति । ‘चशब्दः’ समुच्चर्यार्थः । अपिशब्दात् पर्यालोचयन् किञ्चित् स्वबुद्ध्याऽप्युत्प्रेषते ।
१५ ततस्तदनन्तरं ‘अपोहते च’ एवमेतद् यदादिष्टमाचार्येणेति । पुनस्तमर्थमागृहीतं धारयति । करोति च सम्यक्
तदुक्तमनुष्ठानमिति, तदुक्तानुष्ठानमपि च श्रुतप्राप्तिहेतुर्भवति, तदावरणक्षयोपशमादिनिमित्तत्वात् तस्येति ।

अथवा यद् यदाज्ञापयति गुरुस्तत् सम्यग्नुग्रहं मन्यमानः श्रोतुमिच्छतीति । पूर्वसन्दिष्टश्च सर्वकार्याणि
कुर्वन् पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति । पुनरादिष्टः सन् सम्यक् शृणोति । शेषं पूर्ववत् ॥८५॥

बुद्धिगुणा व्याख्यातास्तत्र शुश्रूषतीत्युक्तम् । इदानीं श्रवणविधिप्रतिपादनायाह—

मूञ्च० गाहा । व्याख्या—‘मूकमिति’ मूकं शृणुयात् । एतदुक्तं भवति-प्रथमश्रवणे संयतगात्रसूर्णीं
२० खल्वासीत् १ । तथा द्वितीये ‘हुङ्कारं च’ ईषद्वन्दनं कुर्यादित्यर्थः २ । तृतीये ‘बाढकारं कुर्यात्’ बाढमेवयेतन्नान्य-
येति ३ । चतुर्थश्रवणे श्रुतीतपूर्वा-उपरस्त्राभिप्रायो मनाक् प्रतिपृच्छां कुर्यात्, कथमेतदिति ४ । पञ्चमे तु मीमांसां
कुर्यात्, मातुमिज्ञा मीमांसा, प्रमाणजिज्ञासेति यावत् ५ । ततः पष्ठे श्रवणे तदुत्तरोत्तरगुणप्रसङ्गपारगमनं चास्य
भवति ६ । परिनिष्ठा सप्तमे श्रवणे भवति, एतदुक्तं भवति-गुरुवदनुभाषत एव सप्तमे श्रवणे इति ७ ॥८६॥

एवं तावत् श्रवणविधिरुक्तः । इदानीं व्याख्यानविधिमभिश्चित्सुराह—

२५ सुन्तत्थो० गाहा । व्याख्या—सूत्रार्थमात्रप्रतिपादनपरः सूत्रार्थः, अनुयोग इति गम्यते । ‘खलु’शब्दस्तु
एवकारार्थः, स चावधारणे । एतदुक्तं भवति-गुरुणा सूत्रार्थमात्राभिधानलक्षण एव प्रथमोऽनुयोगः कार्यः, मा भूत
प्राथमिकविनेयानां मतिमोहः १ । द्वितीयोऽनुयोगः सूत्रस्पशिकनिर्युक्तिभित्रः कार्य इत्येवम्भूतो भणितो जिनेश्च-
तुर्दशपूर्वधरैश्च २ । तृतीयश्च ‘निरवशेषः’ प्रसक्ता-ऽनुप्रसक्तमप्युच्यते एवंलक्षणो निरवशेषः कार्य इति ३ । ‘एषः’
३० उक्तलक्षणो विधानं विधिः प्रकार इत्यर्थः ‘भणितः’ प्रतिपादितो जिनादिभिः । क्व ? सूत्रस्य निजेनाभिवेयेन
सार्थमनुकूलो योगोऽनुयोगः-सूत्रान्वाख्यानमित्यर्थः, तस्मिन्द्वनुयोग इति गाथार्थः । आह—परिनिष्ठा सप्तम
इत्युक्तम्, त्रयश्चानुयोगप्रकाराः, तदेतत् कथम् ? इति, अत्रोच्यते, विनेयगणं विज्ञाय त्रयाणामन्यतमप्रकारेण सप्तवर-

करणादविरोधादित्योघविनेयविषयं तावत् सूत्रम्, न शुनः स एव नियमविधिः, उद्घटितज्ञविनेयानां सकृच्छवण
एवाशेषग्रहणदर्शनादलं विस्तरेण ॥८७॥

“से त्त”मित्यादि तदेतत् श्रुतज्ञानमिति निगमनम् । “से त्त”मित्यादि, तत् परोक्षमिति निगमनमेव ॥

॥ नन्द्यध्ययनविवरणं समाप्तम् ॥

यदिहोत्सूत्रमज्ञानाद् व्याख्यातं तद् बहुश्रुतैः । क्षन्तव्यं कस्य सम्मोहश्छब्दस्थस्य न जायते ? ॥१॥ ५

नन्द्यध्ययनविवरणं कृता यदवाप्तमिह मया पुण्यम् । तेन खलु जीवलोको लभतां जिनशासने नन्दीम् ॥२॥

॥ कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभटपादसेवकसूत्राऽचार्यश्रीहरिभद्रस्येति ॥

॥ नमः श्रुतदैवतायै भगवत्यै ॥ ग्रन्थाग्रम् २३३६ ॥

॥ समाप्ता नन्दिटीका ॥

णमो त्यु यं समणस्स भगवत्तो महामहावीरवद्वमाणसामिस्स

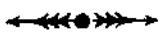
णमो अणुओगधराणं थेराणं

मलधारिश्री-श्रीचन्द्रसूरिविनिर्मितं

याकिनीमहत्तरार्थमस्तु त्रीहरिभद्रसूरिप्रणीतायाः

नन्दिसूत्रवृत्तेः टिष्ठनकम्

॥ णमो णंदीए भगवतीए ॥



[पृष्ठ १]

.....देरपि सम्भवात् । पं० ८. अनैकान्तिको अनैश्चयिकः । अनात्यन्तिकः व्यवच्छेदभाक् च ।
पं. ९. ऐकान्तिकः नैश्चयिकः । आत्यन्तिकोऽव्यवच्छेदपरः । पं. १२. श्रुतर्थमसम्पत्समन्विता एव प्राय
इति 'माषतुषादिभिर्व्यभिचारो मा भूत्' इति प्रायोग्रहणम् ।

[पृष्ठ २]

पं. ३. यस्येति, इश्व अश्व यं तस्य [यस्य] इत्यनेन इकारलोपः । पं. ४. नन्दन्ति समृद्धिमवानुवत्त्यनयेति
नन्दी ॥ पं. ७. नन्दीति यत् कस्यचिद् नाम क्रियते सा नामनन्दी । अक्षादिषु स्थापिता स्थापनानन्दी ।

पं. ९. ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिरित्यादि, ज्ञातवान् ज्ञः, तस्य शरीरम्, तदेवानुभूतभावत्वाद् द्रव्यनन्दिः ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिः,
नन्दिरिति यत् पदं तदर्थज्ञायकस्य यच्छरीरकं जीवविग्रहमुक्तं तद् ज्ञशरीरद्रव्यनन्दिरित्यर्थः । [भव्यशरीरद्रव्यनन्दिरित्यादि]
विवक्षितपर्यायेण भविष्यतीति भवतः; विवक्षितपर्यायार्थः; तदोप्य इत्यर्थः; तस्य शरीरम्, तदेव भावनन्दिकारणत्वाद् द्रव्यनन्दिर्बेत्य- 10
शरीरद्रव्यनन्दिः, यो जन्मुर्नन्दिरिति पदमागामिकाले शिक्षिष्यते न तावच्छिक्षते तज्जीवाधिष्ठितं शरीरं भव्यशरीरद्रव्यनन्दिरित्यर्थः ।

पं. ११. भूत-भाविद्रव्यनन्देर्लक्षणाभिधानायाऽह-भूतस्येत्यादि । तद् द्रव्यं तत्वज्ञैः कथितम् । यत् कथम्भूतम् ?
इत्याह-यत् 'कारणं' हेतुः । कस्य ? इत्याह 'भावस्य' पर्यायस्य । कथम्भूतस्य ? इत्याह-'भूतस्य' अतीतस्य 'भाविनो वा'
भविष्यतः । 'लोके' आधारभूते । तच्च 'सचेतनं' पुरुषादि 'अचेतनं च' काष्ठादि भवति । एतदुक्तं भवति-यः पूर्वं
स्वर्गादिभिर्विन्द्रादित्वेन भूत्वा इदानीं मनुष्यादित्वेन परिणतः सोऽतीतस्येन्द्रादिपर्यायस्य कारणत्वात् साम्प्रतमपि द्रव्यत 15
इन्द्रादिरभिधीयते, अमात्यादिपदपरिभ्रष्टामात्यादिवत् । तथाऽग्रेऽपि य इन्द्रादित्वेनोपत्स्यते स इदानीमपि भविष्यदिन्द्रादिपदपर्याय-
कारणत्वाद् द्रव्यत इन्द्रादिरभिधीयते, भविष्यद्वाजकुमाराजवत् । एवमचेतनस्यापि काष्ठादेर्भूत-भविष्यतपर्यायकारणत्वेन द्रव्यता
भावनीयत्यार्थः ॥ पं. १५. भम्भा० गाहा सुगमा । नवरं 'भम्भा' अतिपृथुलमुखदक्षाधिशेषः । मुकुन्द-मर्दलौ तु
मुरजविशेषौ । केवलमेकतः सङ्कीर्णोऽन्यत्र तु विस्तीर्णो मुकुन्दोऽभिधीयते, मर्दलस्तु उभयतोऽपि समः । 'कडम्भा' करटिका ।
'तलिमा' तिउलिका । शेषं प्रतीतम् ॥

पं. १८. नोआगमतो भावनन्दिः पञ्च ज्ञानानि, वचनरूपं श्रुतमेवाऽगमः; न शेषज्ञानानि, तेनाऽगमस्य ज्ञानपञ्चकैक-
देशत्वात् । नोशब्दो देशवचनः । अथवेति अत्राच्यागमैकदेश एवायं नन्दव्ययनम्, शेषश्रुतार्णवापेक्षया हि देशवाच्येव नोशब्दः ।

[पृष्ठ ३]

पं. १. सच्चित्तेत्यादि, सच्चित्त-शीत-संवृत्ताश्च ता इतर-मिश्राश्चेति समासः । तत्रेतराः—अचित्तोण्ण-विवृताख्याः । सच्चित्ता-उच्चित्तादिद्विरूपतया मिश्रत्वम् । एतत्स्वरूपं चोक्तं पूर्वमुनिभिः—

मीसा य गव्यवसही, संवुडवियडा य वंसपत्तार्दि । सीओसिणाइभेया भणेगहा जोणिभेया उ ॥१॥

5 मिस्तस्तं जोणीए सुक्कमचित्तं सचेयणं रुहिरं । अहवा सुक्कं रुहिरं अचेयण-सचेयणा जोणी ॥२॥ [एवं मिश्रत्वं तिर्थग्-मनुष्यलीयोनेः । तथा—

अच्चित्ता स्तु जोणी नेरद्याणं तहेव देवाणं । मीसा य गव्यवसही, तिविहा जोणी उ सेसाणं ॥३॥

[जिन० संग्र० गा० ३५९, जीवस० गा० ४६]

10 तिर्थग्-मनुष्यगर्भजन्यतिरिक्तानां सम्मूर्छनजतिर्थग्-मनुष्याणां यथा गोकृम्यादीनामचित्ता, काष्ठघुणादीनामचित्ता,
गोकृम्यादीनामेव केषाच्चित् पूर्वकृतक्षते समुद्रवतां मिश्रेति त्रिधात्वम् । तथा—

सीओसिणजोणीया सबे देवा य गव्यवकंती । उसिणा य तेउकाए, दुह नरए, तिविह सेसाणं ॥४॥

[जिन० संग्र० गा० ३६०, जीवस० गा० ४७]

शीतोण्णयोनिकाः सर्वे देवा गर्भजास्तिर्थग्-मनुष्याश्च । तेजःकायिका उण्योनिकाः । नारकाणां द्विधा योनिः—तत्राऽस्य-
पृथिवीत्रयोत्पत्तीनां ग्रन्थिष्टोण्णा, चतुर्थी कचिन्मरके उण्णा कचिच्छीता, अन्त्यपृथिवीत्रये तु शीता । सम्मूर्छनजतिर्थग्-मनुष्य-पृथि-
व्यादीनां कचिच्छीता कचिदुण्णा कचिन्मिश्रा । तथा संवृत्ता प्रच्छन्ना, विवृता प्रकटा, गोमयादिका संवृत्तविवृता प्रच्छन्नप्रकटा ॥

तत्र—एर्गिदिय-नेरइया संवुडजोणी हवंति देवा य । विगलिदियाण वियडा, संवुडवियडा य गव्यम्मि ॥५॥

[जिन० संग्र० गा० ३५८, जीवस० गा० ४५]

नवरं नारकाः संवृतयोनयः, तदुत्पत्तिभूतानां निष्कृटानां संवृतगवाक्षकल्पत्वात् । देवा अपि संवृतयोनयः, “देवसयणिङ्जसि
देवदूसंतरिए अंगुलरस असंखेजहभागमेत्तीए सरीरोगाहणाए उववण्णा” [] इत्यादिवचनतः पटप्रच्छादितेषु
20 देवशयनीयेषु देवदूष्यान्यन्तरे संवृतस्वरूपे तेषामुत्पादात् । एकेन्द्रियाणामपि केवलिद्वैष्ण केनापि प्रकारेण ‘संवृतयोनित्वं’
मुम्पयोनित्वं भावनीयम् । ‘संवृतविवृत्त’ आवृत्ता-उन्नावृत्तस्वरूपा गर्भजतिर्थग्-मनुष्याणामिति । अन्यच्च शङ्खावर्ता कूर्मोन्नता
वंशीपत्रा चेति त्रिधा मनुष्यलीयिष्या स्यात् । तत्र च—

उत्तमनरमाऊण नियमा कुम्मुनया हवइ जोणी । इयराण वंसपत्ता, संखावत्ता उ रथणस्स ॥६॥ []

ति वाच्यम् ॥

25 पं. १३. ग्राणा द्वि-त्रि-चतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया हेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥६॥
[]

न अज्ञावेयव्य ति, अज्ञावणं-तज्जणं । न परिघेत्तव्या सङ्ख्यनेन । परितापः-क्रमः । उद्वर्णं-विणासो । ततश्चैष
धर्मः ‘खेदज्जैः’ सर्वज्जैः ‘लोकं’ जीवास्तिकायात्मकं ‘समेत्य’ विज्ञाय तत्पीडायकरणतः प्रवेदितः । कीटशः ? ‘ध्रुवः’ त्रिकालभावित्वाद्
मेर्वादिवदचलः । ध्रुवत्वादेव नित्यः, नियतो वा पञ्चास्तिकायादिलोकवत् । नियतत्वादेव ‘शाश्वतः’ अक्षयः । पं. २४.
30 ‘इङ्गना’ संज्ञा ॥ पं. ३०. सकलदुःखानां परमौषधभूतं यत् प्रवचनं-श्रुतं तस्यार्थतः प्रणेतृत्वाद् भगवतः ।

१ जीवति गवादावृत्पद्यमानानां कृम्यादीनामित्यर्थः ॥

[पृष्ठ ४]

पं. ६. पश्चानुपूर्व्या अपश्चिम आधो महावीरः । पं. २२. यत् कर्मक्षयात् प्रभाजलं भगवच्छरीराच्चतसृष्ट्यपि
दिक्षु निर्गच्छति तद् भामण्डलमुच्यते, पृष्ठिभागे एव च तत् प्रदर्शयितुं शक्यते प्रतिमायाः ।

पं. ३०. ते पुण दुसमय० गाहा । ‘ते’ उपशान्त-क्षीण-सयोगिकेवलिनः द्विसमयस्थितिकस्य सातस्य योगप्रत्ययिकस्य
बन्धकाः, बन्ध-वेदनारूपद्विसमयस्थितिकस्येत्यर्थः । न पुनः ‘साम्परायिकसातस्य’ कषायनिमित्तस्य बन्धकाः, तेषां कषायाभावात् ॥ ५

[पृष्ठ ५]

पं. २. बाहा भ्रमिः चक्रधारा, नेमिरित्यर्थः । पं. ३. चरकादिभिरिति, आदिग्रहणाचीरिकादिग्रहः । तत्र
धाटिवाहकाः सन्तो ये भिक्षां चरन्ति ते चरकाः, यद्वा ये भुज्ञानाश्वरन्ति ते चरकाः । रथ्यापतितचीरपरिधानाः चीरिकाः,
यद्वा येषां चीरमयमेव सर्वमुपकरणं ते चीरिकाः । सुप्रणिधानमेतदिति, सुषु-प्रकर्षेण नियते आलम्बने धानं-धरणं मनः-
प्रभृतेरिति सुप्रणिधानं-मनःप्रभृतीनामेकाप्रताकरणमभिधीयते । पं. ११. “सज्जायसुनेमिधोसस्स” त्ति पाठापेक्षया १०
‘नेमिनिर्घोषो वा’ इत्युक्तवान् । पं. २४. कर्णिका बीजकोशरूपा पद्मसत्का भव्यगणिडकाशब्दवाच्या ।

[पृष्ठ ६]

पं. २. यथाशक्ति आ प्राणोपरमात् तपश्चरति । पं. १५. कपिल-कणभक्षा-ऽक्षपादादीति, विशेषोऽय-
ममीषामुक्तः—

कैवै-शैषङ्गल्वानि, अै-नै-पानां तु घोडश । क्रमेणाऽप्यारिकै-धार्म्यारिणखि-चतुःप्रमाः (?) ॥१॥ [१५]
कपिलः साहृद्यमतप्रणेता । पं. २४. धीवेल० ति [गा. ११] वेदिका-जलयोरन्तरे यद् रमणं तल्लक्षणा
जलवृद्धिलक्षणा वा वेदिकापर्यवसाना मर्यादा वा ।

[पृष्ठ ८]

पं. २३. चित्तकूडस्स ति [गा. १३] “चिती संज्ञाने” चित्यते संज्ञायते वस्तु वैस्तानि चित्तानि ।

[पृष्ठ ९]

पं. ५. उद्दरिय ति [गा. १४] उद्दर्पिता इति व्याख्यातम् । पं. ११. गुहास्तु समवाया इति साधुवृद्धानि,
श्रुतरन्प्ररूपणोपाश्रया वा गुहाः । पं. १३. संवरः प्रत्याख्यानरूपः स एव वरः उज्जरः-निर्झरणं अभसां प्रसवः ।

[पृष्ठ १०]

पं. १८. ‘रूपकं’ नाम गाथैकमात्रं छन्दोविशेषः । पं. २१. विधि-प्रतिषेधद्वारेणेति, “जे जन्तिया उ हेऽ
भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्षे” [ओघनि० गा० ५३] इति वचनाद विधिः—आदरणीयः श्रेष्ठः पदार्थः मोक्षसाधकोऽपि २५
भगवदादिकल्पः केषाङ्गिद् गुरुकर्मणां दूरभव्या-ऽभव्यानां गोशालक-सङ्गमादीनां संसारहेतुर्भवति । प्रतिषेधाश्रयोऽपि—अनादरणी-
योऽपि कश्चिद् हरि-हरादिर्मिश्यात्वगोचरः कर्त्यापि तदाचरणविमर्शादिना तत्परित्यागेन मोक्षहेतुर्भवति इति निर्वृतिमार्गहेतु-
व्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति ।

[पृष्ठ १४]

पं. २५. सुप्रणिधानिचा-ऽनिच्चमिति [४०] गाथायां यथा सत्रत्सा धेनुरिति, धेनुदोऽप्री तिर्यक्षी अजा-चड्यादिः ३०

१ कणाद । वैशेषिक । शंख । द्रव्यगुणादि । जेटिं० ॥ २ अक्षपाद । नैयायिक । पाशुपति । जेटिं० ॥ ३ चर्ममय थोकनउ ।
कक्षायाम् जेटिं० ॥ ४ काष्ठमय, साऽपि कक्षायां धार्यते जेटिं० ॥

सर्वाऽप्युच्यते । सचेतनस्य गुणाः पर्यायाक्ष वाच्याः अचेतनस्य च । तत्र जीवद्वयस्य जीवत्व-चेतनत्वादयः सहवर्तित्वाद् गुणाः, नारकत्वादयश्च क्रमवर्तित्वात् पर्यायाः । अचेतनस्यापि वर्णादयः सहवर्तित्वाद् गुणाः, नव-पुराणादयश्च तस्य क्रममावित्वात् पर्यायाः । तदुक्तम्—

सहवत्ति गुणा क्रमवर्ति पञ्चवा जीवतिगुणं निरयाई । वण्णाइ पोगल्गुणा, पञ्चाया नव-पुराणाई ॥१॥ []

५

[पृष्ठ १५]

पं. ८. भाषाभिघेया अर्था इत्यादि, सूत्रस्य हि त्रयो व्याख्याप्रकारा भवन्ति—भाषा विभाषा वार्तिकमिति । तत्र भाषा—सुते जो जं सुत्तालाक्षगनिष्कलं धात्वर्थमात्रमेव भाषते स भाषको भण्यते १ । जया तस्स सुत्तस्स जो दोहिं वा तिहिं वा चउहिं वा पगारेहिं अत्थपयणि विभासइ सो विभासगो भण्णह २ । जया सञ्चपजवेहिं अथं भासइ तदा व्यक्तीकरणाद् वार्तिककरोऽभिधीयते । अत एवोक्तम्—भाषाभिघेया अर्थाः, अल्पभाषणविषया इत्यर्थः, बहुबहुतरभाषणविषयास्त्वितरे इत्यमीषामर्यं १० विभागः । पं. १२. सुकुमालेत्यादिगाथा ४२—सुकुमालकोमलं—अतिमृदु तलं—चरणाधोभागरूपं येषां ते तथा तान् । पादान् दूसगणिसल्कान् प्रणमामि । ‘प्रशस्तलक्षणान्’ चक्र-च्छत्र-पद्म-वज्र-चामर-पताका-शङ्ख-मीन-श्रीवत्स-मन्दर-स्वस्तिक-कलश-वृषभ-सिंह-गजप्रभृत्यन्यतरसामुद्रिकशङ्खाभिहितलक्षणोपेतान् । प्रावचनिकाः—तत्कालोचितप्रकृष्टगमवेत्तारः सूर्यः तेषां सम्बन्धिनः । ये पठनार्थमागता अन्यगच्छीयास्साधवस्ते प्रतीच्छका अभिधीयन्ते, तैः ‘प्रणिपतितान्’ प्रणतान्, अनेन बाहुश्रुत्यमुक्तम् । यद्वा तेषां प्रावचनिकानां दूसगणिनाम्ना सुकुमालादिविशेषविशिष्टान् पादान् प्रणमामीति देववाचक इदमाह ॥

१५

[पृष्ठ १६]

पं. ४. अनुयोजयन्तोऽपि श्रुतादिनोपकुर्वन्तोऽपि अयोग्यं जनं दयालवो न खलु भवन्ति महीयांसः, कथम्भूताः सन्तः ? न अवगतः परार्थसम्पादने उपायो यैस्तेऽनवगतपरार्थसम्पादनोपायाः सन्तः, येन हि परार्थसम्पादने उपायो ज्ञातो भवति स एव दयालुभवति, नेतरः ॥ पं. ६. लाघवं चाऽस्येति, ‘लाघवं’ हीलं ‘अस्य’ अध्ययनश्रुतस्य असावयोग्यः सम्पादयति, तच्च महतेऽनर्थाय । यत उक्तम्—

अग्रान्तमतौ शाङ्खसद्वावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्णे शमनीयमिव अवे ॥१॥

धर्मशाखार्थवैतत्त्वात् प्रत्यपायो महान् भवेत् । रौद्रदुखौघजनको दुष्प्रयुक्तादिवैष्पदात् ॥२॥ []

पं. ८. आपेत्यादि । अल्पाघारं पात्रं सिद्धान्तरहस्यं कर्तुं ‘विनाशयति’ धमदिर्वेशयति, यथाऽपक्षटनिकितं जलं तमेव घटं ‘विनाशयति’ स्वरूपाद भ्रंशयति ॥ पं. १०. तत्राधिकृतगाथामिति, “सेलघण-कुडग-चालणी”त्यादि [गा. ४४] प्रागुपन्यस्ताम् । विनेयजनानुग्रहाय चैनां समाव्यां व्याख्यानयामः सम्प्रत्येव वयम् । तथथा—सेलघण० गाथायां २५ ‘सेल’ त्ति मुद्रशैलः पाषाणविशेषः, घनः—मेघः, मुद्रशैलश्च घनश्च तदुदाहरणं प्रथमम् १ । ‘कुटः’ घटः २ । ‘चालणी’ प्रतीता ३ । ‘परिपूणकः’ सुधरीचिटिकागृहम् ४ । हंस महिष-मेष-मशक-जंदका-विडाल्यः प्रतीता: ५-१० । जाहकः—सेहुलकः ११ । गौः १२ मेरी १३ आभीरी १४ चेति । योग्या-ऽयोग्यशिष्यविषयाणि चतुर्दशैतान्युदाहरणानि इति प्रकृतगाथासङ्क्षेपार्थः ॥

उदाहरणं च द्विविधं भवति—चरितं कलिपतं च । तत्रेह प्रथमं कलिपतमुदाहरणम् । एतच्च भाष्यकारो विवृण्वनाह—

पं. १२-१३. उल्लेखण न सक्तो, गज्जह इथ मुग्गसेलओ रणे ।

तं संबृद्धमेहो गंतुं तस्सुप्परिं पड़इ ॥ १ ॥

रविउ त्ति ठिओ मेहो, उल्लो मि न व त्ति गज्जई सेलो ।

सेलसमं गाहिस्सं निविज्जह गाहगो एवं ॥ २ ॥

१ जलौक्ते-विडालाः सं० ॥

इह कचिदस्ये पर्वतासनप्रदेशो समन्तानिविडो मुद्रवद् वृत्तत्व-लक्षणवादिधर्मयुक्तः किञ्चिद् भूतले निमग्नः किञ्चित्तु सप्रकाशश्चिकचिकायमानो बदरादिप्रमाणलघूपलस्फो मुद्रशैलः किलाऽसीत् । स च ‘गर्जति’ साक्षेपं जल्पति । कथम्? इत्याह—अहं ‘आद्रीकर्तुं’ जलेन भेतुं केनापि न शक्य इति । तच्च मुद्रशैलस्य सम्बन्धि गर्ववचः कुतश्चिद्वागदकल्पाच्छूल्वा संवर्तको नाम महामेघः ‘तद्वर्वमध्याहमपनयामि’ इति सम्प्रधार्य तं मुद्रशैलं ‘गत्वा’ सम्प्राप्य तस्यैवोपरि ‘पतति’ निरन्तरं मुशलप्रमाणधाराभिर्वर्षतीत्यर्थः । संवर्तकमेवश्चोसर्पिण्यां शुभीभवति काले पूर्वदग्धभूम्याश्वासनार्थं वर्षतीत्यागमे प्रतिपादयते, तेन ५ भरतक्षेत्रस्य प्रचुरमपि सर्वमशुभानुभावं भूमिरुक्षता-दाहादिकं प्रशस्तस्वकीयोदकेन संवर्तयति—नाशयतीति संवर्तक इत्युच्यते, यतस्तस्य सम्बन्धि जलभतीव भूम्यादेद्र्वकं वासकं च भवतीति विशेषतस्तस्येह प्रहणम् । एवं च सप्ताहोरात्राणि महावृष्टि कृत्वा “ठिओ मेहो” ति ‘स्थितः’ वृष्टेरूपतोऽसौ मेघः । कया बुद्ध्या? इत्याह—“रविउ” ति ‘द्रावितः’ खण्डशो नीतो मयाऽसौ मुद्रशैलः इत्यभिग्रायेत्यर्थः । पानीये चापसृते सुतरासुज्ज्वलीभूतोऽसौ चिकचिकायमानो मुद्रशैलः पुनरपि गर्जति । कथम्? इत्याह—“उछो मि न व” ति आदोऽस्यहं न वेति सम्यग् निरीक्षस्व भोः पुष्करावर्तक! किमित्येवमेव स्थितोऽसि? तिलतुष्ट्रि- 10 भागमात्रमपि ममाद्यापि न भिदते इति । ततो लज्जितो विलक्षीभूतः स्वस्थानमुपाश्रितो मेघः ॥

तदेवं मुद्रशैलोदाहरणमभिधायोपनयमाह—

सेलसमस्यादि । यस्य वचनकोटिभिरपि चित्तं न भिदते, एकमप्यक्षरं तन्मध्यान्तं परिणमतीत्यर्थः, स एवम्भूतः शैल-समः—मुद्रशैलतुल्य इत्यर्थः । तं तथाभूतं शिष्यं ज्ञात्वाऽपि कञ्चिद् ग्राहयतीति ग्राहको गुरुः—

आचार्यस्यैव तज्जडवं यच्छिष्यो नावबुद्ध्यते । गावो गोपालकेनेव कुर्तीर्थेनावतास्तिः ॥१॥ [] 15

‘यथा तरीतुं न शक्नुवन्ति ततो गोपालस्यैव तद् जाड्यम्, न तासाम्’ इत्यादिक्लौकार्थविभ्रमितमतिर्गर्वादि ‘अहमसुं ग्राहयिष्ये’ इति प्रतिज्ञाय समागतः, महता च सरम्भेणाध्यायपितुमारव्धस्तथापि मुद्रशैलोपमः शिष्योऽक्षरमपि न गृह्णाति, न च मनागपि स्वाग्रहग्रस्तवेन बुद्ध्यते । ततश्चैवं यथा पुष्करावर्तस्तथैव सुनिर्दिश्यते तद्वामनुभूय ‘निर्विदते’ पराभज्यते, ततो विलक्षीभूतो लज्जितश्च निर्वर्तते तद्ग्राहणादयमाचार्य इति ॥१॥२॥ एवम्भूतस्य च शिष्यस्य सूत्रार्थदाने आगमे प्रायश्चित्तमुक्तम् । कुतः? इत्याह—

पं. १४. आयरिए सुत्तम्भिय परिवाओ, सुत्त-अत्थपलिमंथो । 20

अन्नेस्ति पि य हाणी, पुट्ठा वि न दुख्या वंशा ॥ ३ ॥

एवं शैलसमस्यापि शिष्यस्य सूत्रार्थदानप्रवृत्ते आचार्ये ‘सूत्रेऽपि च’ आगमे ‘परिवादः’ अवर्णवादो लोकसमुद्धो भवति । तदथा—अहो! नास्य सूरेः प्रतिपादिका शक्तिः, नापि तथाविधं किमपि परिज्ञानम्, यतोऽसुमप्येकं शिष्यमवबोधयितुं न क्षमः; आगमोऽप्यमीषां सम्बन्धी निरतिशयो युक्तिविकलश्च, इतरथा कथमयमेकोऽप्यस्माद् नावबुद्ध्यते? इत्यादि । तथा सूत्रार्थयोरन्तरायसम्भवात् परिमन्थनं—मर्दनं विनाशनं सूत्रार्थपरिमन्थः, तच्छिक्षणप्रवृत्तस्य सूररामनः सूत्रपठन-परावर्तन-व्याख्यानभङ्गो 25 भवतीत्यर्थः । अपरं च तद्ग्राहणप्रसक्ते सूरौ अन्येषां शिष्याणां सूत्रार्थहानिः, तद्ग्रहणभङ्ग इत्यर्थः । न च बहुनाऽपि कालेन तथाविधः शिष्यः किञ्चिदपि ग्राहयितुं शक्यः । कुतः? इत्याशङ्कचात्रार्थं दृष्टान्तमाह—“पुट्ठा वि” इत्यादि, नियमेन नियन्त्र्य स्तनेषु करैर्बहुधा सुष्टुप्तपि वन्ध्या गौर्णे खलु दुग्धदा भवति । यद्वा ‘पुष्टुप्तपि’ शरीरोपचिताऽपि वन्ध्या गौर्दुह्यमाना सती दुग्धदा न भवतीति । एवं मुद्रशैलसमः शिष्योऽपि ग्राहणकुशलेनापि गुरुणा ग्राह्यमाणोऽपि नाक्षरमपि गृह्णाति, ततस्तादृशस्य सूत्रार्थां न दातव्यौ, ऐहिका-ऽसुम्भिककायक्लेशादिबहुदोषसम्भवात् । ददाति चेत् तर्हि समयोक्तग्रायश्चित्तभागिति । अत्राऽह— 30 ननु प्रोक्तोऽसौ मुद्रशैलतुल्यान्तः, केवलं न पाषाण-मेघादीनां जल्योऽभिग्रायपूर्विके च प्रवृत्ति-निवृत्ती इत्यलौकिकमेवेदम्, सत्यम्, किन्तु पूर्वमुनिभिरेवात्रोक्तं प्रतिविधानम्, तदथा—

चरियं च कपियं चिय आहरणं दुविहमेव पणतं । अथरस साहणद्वा इंधणमिव ओयणद्वाए ॥१॥ [पिण्डनि०गा० ६३०] न वि अथि न वि य होही उल्लावो मुग्गसेल-मेहाण । उवमा खलु एस कया भवियजणविबोहणद्वाए ॥२॥

[उत्तरा० नि० गा० ३०९, अनुयो० पत्र २३२]

इत्यलं प्रसङ्गेनेति ॥३॥ अथ मुद्रशैलप्रतिपक्षभूतं घनदृष्टान्तमाह—

5 पं. १५. बुडे वि दोणमेहे न कण्हभोमाउ लोट्टए उदयं ।

गहण-धरणासमत्थे इय देयमछिन्तिकारिस्मि ॥ ४ ॥

यावता वृष्टेनाऽकाशबिन्दुभिर्महती गर्गी भ्रियते तावत्प्रमाणजलवर्षा मेहो द्रोणमेघ उच्यते । तस्मिन् वृष्टेऽपि सति कृष्णा भूमिर्यत्र प्रदेशोऽसौ कृष्णभूमः प्रदेशस्तस्माद् ‘न प्रलोठति’ बहूपि तद् मेघजलं पतितं न लुठिलाऽन्यत्र गच्छति, किन्तु तत्रैवान्तः प्रविशतीति भावः । एवं शिष्योऽपि स कश्चिद् भवति यो गुरुभिरुक्तं बहूप्यवधारयति, न पुनरक्षरमपि पार्श्वतो गच्छतीति । एव-
10 म्भूते च सूत्रार्थगहण-धारणासमर्थे शिष्ये सूत्रार्थयोः शिष्य-प्रशिष्यपरम्पराप्रदानेनाव्यवच्छेदकारिणि देयं सूत्रार्थजातम्, नान्यस्मिन्ननन्तरभिहितमुद्गैरैलकल्पे इति ॥४॥ अन्वय-व्यतिरेकात्मकवादेकमेवेदमुदाहरणम् । अथ द्वितीयं कुटोदाहरणं विवृष्ट्वा ह—

पं. १६-१८. भाविय इयरे य कुडा अपसत्थ-पसत्थभाविया दुविहा ।

पुण्कार्द्दिहिं पसत्था, सुर-तेलार्द्दिहिं अपसत्था ॥ ५ ॥

वम्मा य अवम्मा वि य, पसत्थवम्मा उ होंति उ अगेज्जा ।

15 अपसत्थअवम्मा वि य, तप्पडिवकर्खा भवे गज्जा ॥ ६ ॥

कुण्पवयण-ओसण्णेहिं भाविया एवमेव भावकुडा ।

संविग्गेहिं पसत्था, वम्माऽवम्मा य तह चेव ॥ ७ ॥

कुडा:-घटा: । ते च तावद् द्विविधा:—एके आपाकोतीर्णा नूतना अव्याप्रियमाणवादवापि पुण्य-जल-तैलादिनाऽभाविताः, अन्ये तु व्याप्रियमाणवाद् भाविताः । तत्र भाविता द्विविधा:—सुरभिपाठ्लाकुसुम-फङ्गासादिप्रशस्तवस्तुभिर्माविताः प्रशस्तभाविताः १
20 सुरा-तैलाद्यप्रशस्तवस्तुभावितास्त्वप्रशस्तभाविताः २ ॥५॥

प्रशस्तभाविताः पुनरपि द्विविधा:—तद्वावं वमयितुं शक्या वाम्याः, तद्विपरीतास्त्ववाम्याः । एवमप्रशस्तभाविता अपि वाम्या-ज्वाम्यभेदद्वयादेव द्विविधा: । तत्र ये प्रशस्तवाम्याः प्रशस्तभावं वमयितुं शक्यास्तेऽप्राह्या भवन्ति, अनादेयाः असुन्दरा इति यावत् । तथा येऽप्रशस्तभावं वमयितुमशक्याः अप्रशस्तवाम्यास्तेऽप्यप्राह्या भवन्ति । “तप्पडिवकर्खा भवे गज्जा” ति तैपां—प्रशस्तवाम्यानामप्रशस्तवाम्यानां च ये प्रतिपक्षाः—प्रशस्तवाम्याश्च अप्रशस्तवाम्याश्च ते ‘प्राह्या’ आदेयाः सुन्दरा भवन्ति ॥६॥

25 25 तदेवं द्रव्यकुटास्तावत् प्रसूपिताः । भावकुडा अपि प्रशस्ता-प्रशस्तगुणजलाधारवात् शिष्यजीवा एवमेव भाविता-भावितादिभेदाद् द्रष्टव्याः । केवलमत्र पक्षे कुप्रवचना-ज्वसनादिभिर्माविता अप्रशस्तभाविता उच्यन्त इत्यध्याहारः । ये तु संविग्गेह साधुभिर्मावितास्ते ‘प्रशस्ता’ प्रशस्तभाविता इत्यर्थः । “वम्माऽवम्मा य तह चेव” ति वाम्या-ज्वाम्यभावना यथा द्रव्य-कुटपक्षे तथैव भावकुटपक्षेऽपि द्रष्टव्येत्यर्थः । सा चैवम्—प्रशस्तभाविता वाम्या अप्रशस्तभावितास्त्ववाम्याः एते उभयेऽप्यप्राह्याः, उक्तविपरीतास्तु प्राह्या इति ॥७॥ तदेवमुक्ते भावितकुटपक्षः । अथाभावितकुटपक्षमधिकृत्याह—

30 पं. १९. जे उण अभाविया ते चउचिवहा, अहविमो गमो अन्नो ।

छिद्दकुड भिन्न खंडे सगले य परूपणा तेसि ॥ ८ ॥

ये पुनरभाविताः कुटास्ते छिद्र-भिन्न-खण्ड-सकलभेदाच्चतुर्विधाः । अथवा कुटोदाहरणस्य भाविता-भावितपक्षनिरपेक्ष एवायम्न्यशिद्र-भिन्नादिको ‘गमः’ प्रकारे वर्तते । तमेवाह—“छिद्दकुडे”त्यादि, इह ‘कुटः’ घटः कोऽपि तावत् छिद्रः भवति, बुन्ने

सच्छिद्रो भवतीत्यर्थः १ अन्यस्तु ‘भिनः’ राजिमान् भवति २ तृतीयस्तु ‘खण्डः’ भग्नकर्णः ३ चतुर्थस्तु ‘सकलः’ परिपूर्ण एवेति ४ । एतेषां च चतुर्णामपि कुटभेदानां दार्ढानितकमधिकृत्य प्रसूपगा स्वयमेव कार्या, यथा—कोऽपि शिष्यः श्रुतप्रहणमाश्रित्य छिद्रघटकल्पे भवति, कश्चित्तु भिन्नघटकल्प इत्यादि वाच्यमिति ॥८॥ अथ क्रमप्राप्तं चालन्युदाहरणमभिवित्सुर्दशैल-च्छिद्रकुट-चालन्युदाहरणानां परस्पराभेदोद्भावकशिष्यमतं च निराचिकीर्षुराह—

पं. २०-२१. सेले य छिद्रु चालणि मिहो कहा सोउसुडियाणं तु ।
छिद्रुऽह, तथ बिद्रो सुमरिसु, सरामि नेदार्णि ॥९॥
एगेण विसइ वीएण नीइ कणेण, चालणी आह ।
घन्न तथ आह सेलो, जं पविसइ नीइ वा तुज्ज्ञ ॥१०॥

5

शैल-च्छिद्रकुट-चालन्युदाहरणैः प्रतिपादिताः शिष्या अप्युपचारात् तथोच्यन्ते, तत्सादृश्यात् । ततश्च शैल-च्छिद्रकुट-चालन्यमिधानानां शिष्याणां गुर्वन्तिके व्याख्यानं श्रुत्वोत्थायान्यत्र गतानां ‘मिथः’ परस्परं कथा समभवत् । कीदृशी? इत्याह— १० छिद्रेत्यादि । छिद्रघटकल्पच्छिद्रशिष्यः प्राह । किम्? इत्याह—‘तत्र’ गुरुसमीपे उपविष्टस्तदुक्तमस्माष्महम्, इदानीं तु न किमपि स्मरामि । छिद्रघटोऽपि हेत्वंविष एव भवति, सोऽपि हि स्थानस्थितो मुद्रादिकं प्रक्षितं धरति, अन्यत्र तूक्ष्यं नीतस्य तन्न प्राप्यते, अधिश्छिद्रेण गलित्वा निःसृतत्वात्, अतस्तत्कल्पः शिष्योऽपीत्थमाहेति भावः ॥९॥

छिद्रकुटकल्पेन शिष्येणैवमुक्ते चालनीकल्पः प्राह—

एगेणेत्यादि । चालनीकल्पः शिष्यश्चालनी । स प्राह—भोः छिद्रकुट ! शोभनस्त्वं येन गुरुसमीपस्थेन त्वया तावदवधारितं १५ तद्वचः पश्चादेव विस्मृतम्, मम तु गुर्वन्तिके स्थितस्थैकेन कर्णेन विशति द्वितीयेन तु निर्गच्छति, न पुनः किमपि हृदये स्थितम्, कणिकादिचालन्या अपि हि जलादिकमुपरिमागेन क्षियते, अधोभागेन तु निर्गच्छति, न तु किमपि सन्तिष्ठते, अतस्तदुपमः शिष्योऽपीत्थमेवाऽहेति भावः । तदेवं छिद्रकुट-चालनीन्यामेवमुक्ते मुद्रैशैलः प्राह—घन्न त्येत्यादि, मुद्रैशैलो वदति—धन्यावत्र युवाम्, ‘यद्’ यस्मात् कारणाद् युवयोस्तावत् कर्णयोर्गुरुकूलं किमपि प्रविशति निर्गच्छति वा, मम त्वेतदपि नास्ति, तदुक्तस्य सर्वथाऽपि मध्ये प्रवेशाभावात्, उपलस्त्यैवंविधत्वादेवेति भाव इति ॥१०॥ तदेवं चालन्युदाहरणस्य स्वरूपमुक्तम् । शैल-च्छिद्रघट- २० चालन्युदाहरणानां परस्परं विशेषश्चाभिहितः । अथ चालनीप्रतिपक्षमाह—

पं. २२. तावसखडरकदिणयं चालणिपडिवकखो, न सवह दवं पि ।
परिपूणगम्भिम उ गुणा गलन्ति, दोसा य चिद्रुन्ति ॥११॥

चालनीप्रतिपक्षो भवतीति शेषः । किं तत्? इत्याह—तापसानां भोजनादिनिमित्त उपकरणविशेषः खेउरकठिनकमुच्यते । तच्च किल वंशं शुभ्यादिकं च द्रव्यमतिश्लेषणं कुट्टयित्वा कमठकाकारं क्रियते । इदं चातिनिविडित्वाद् ‘द्रवं’ जलमपि प्रक्षिप्तं न २५ श्रवति, किन्तु सम्यग् धरति, एवं शिष्योऽपि यो गुरुभिराख्यातं सर्वमेव धरति, न तु विस्मरति स ग्राह्यः, चालनीसमस्तव्याह्य इति भावः । अथ परिपूणकोदाहरणमाह—परिपूणगेत्याद्युत्तराद्धम् । परिपूणको नाम—सुधरीचिटिकाविरचितो नीडविशेषः, तेन च किल घृतं गाल्यते, ततस्तत्र कचवरमवतिष्ठते, घृतं तु गलित्वाऽधः पतति, एवं परिपूणकसदृशः शिष्योऽप्युपचारात् परिपूणकः । तत्र हि श्रुतसम्बन्धिनो गुणः सर्वेऽपि घृतबद्द गलन्ति, दोषास्तु घृतगतकचवरवदवतिष्ठन्ते, श्रुतस्य दोषानेव गृहणाति, गुणांस्तु सर्वथा परिहरति असौ, अतोऽप्योम्य इति भावः ॥११॥ अत्र प्रेर्यमुत्थाय परिहरनाह—

१ “चालन्याः प्रतिपक्षस्तापसस्य भाजनं खउरै बिल्वरस-मलात्तकरसाभ्यां लिप्तत्रात् ‘कठिनं’ अतिशयेन घनम्” इति बृहत्कल्प-टीकायां मलयगिरयः १०३-४ पत्रे ॥

३०

पं. २३. सब्बणुप्पामन्ना दोषा हु न संति जिणमए केह ।
जं अणुबउत्तकहणं अपत्तमासज्ज च हवेज्जा ॥ १२ ॥

ननु 'सर्वज्ञप्रामाण्यात्' 'सर्वज्ञोऽस्य प्रवर्तकः' इति हेतोर्जिनमते दोषाः केचिदपि न सन्तीत्यर्थः, तत् कथमस्य कोऽपि दोषान् ग्रहीत्यति ? असत्त्वादेवेति भावः, सत्यम्, किन्तु यद्यपि जिनमते दोषा न सन्ति तथाप्यनुपशुक्तस्य गुरोर्वत् कथनं-व्याख्याविधानं ५ तदाश्रित्य दोषा भवेयुतिः सम्बन्धः । अथवा 'अपात्रम्' अयोग्यं शिष्यमङ्गीकृत्य जिनमतेऽपि कुशिष्योद्योक्षिता दोषा भवेयुः, निर्दोषेऽपि हि जिनमतेऽपात्रभूताः शिष्या असतोऽपि दोषानुद्वावयन्त्येवेत्यर्थः । तथा च ते वक्तारो भवन्ति । तथा—

पागयमासनिवद्रं को वा जाणइ पणीय केणेयं ? । किं वा चरणेण तू दाणेण विणा उ हवइ ? ति ॥ १ ॥
काया वया य ते चिय, ते चेव पमाय अप्यमाया य । मोक्षाहिगारियाणं जोइसजोणीहिं किं कज्जं ? ॥ २ ॥

[कल्पभाष्य गा. १३०३, ४९७९]

10 को आउरस्स कालो ? मह्लंबरधोयणे य को कालो ? । जह मोक्षहेउ नाणं को कालो ? तस्सऽकालो वा ? ॥ ३ ॥

[निशीथभाष्य गा. १०] इत्यादि ।

असन्तश्च सर्वेऽप्यमी दोषाः,

बाल-खी-मूढ-मूर्खाणां नृणां चारित्रकाङ्क्षणाम् । अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥ १ ॥

पुञ्चभणियं पि जं वत्थु भण्णए तथं कारणं अत्थि । पडिसेहो य अणुणा वत्थुविसेसोवलंभो वा ॥ २ ॥

15 इत्यादिना शालान्तरे विस्तरेण निराकृतत्वादिति ॥ २ ॥ अथ हंसोदाहरणव्याख्यामाह—

पं. २४. अंवत्तणेण जीहाए कूचिया होइ खीरमुदगम्मि ।

हंसो मोक्षूण जलं आवियह पर्यं, तह सुसीसो ॥ १३ ॥

दुर्घं जलं च मिश्रित्या भाजने व्यवस्थाप्य कोऽपि हंसस्य पानार्थमुपनयति, स च तन्मध्ये चञ्चुं प्रक्षिपति, तस्य च जिहा स्वभावत एवाम्ला भवति, तेन च जिहाया अम्लवेन हेतुमूतेनोदकमध्यगतं दुर्घं वित्तुलित्वा 'कूचिका:' विन्दुरूपा बुद्बुदा भवन्ती-
20 त्यर्थः, ततश्च जलं मुक्त्वा तद बुद्बुदीभूतं दुर्घमपिबति हंसः । तथा सुशिष्योऽपि गुरोर्जलस्थानीयान् दोषान् परित्यज्य दुर्घ-स्थानीयान् गुणान् गृहणातीत्यर्थं इति ॥ १३ ॥ अथ महिषोदाहरणं विच्छिन्नाह—

पं. २५. सयमवि न पियह महिसो, न य जूहं पियह लोडियं उदगं ।

विग्रह-विग्रहाहि तहा अथवापुच्छाहि य कुसीसो ॥ १४ ॥

स्वपूर्येन समं वनमहिषो जलाशये कचिद् गत्वा तन्मध्ये च प्रविश्योद्वर्तन-परावर्तनादिभिस्तथा तजलमालोऽयति यथा 25 कलुषितं सन्न स्वयं पिवति, नापि तद्यूथम् । एवं कुशिष्योऽपि व्याख्यानमण्डलिकायामुपविष्टो गुरुणाऽन्येन वा शिष्येण सह विग्रह-कलहं उदीरयति, विक्रान्तप्रबन्धं वा कञ्चिच्चालयति, सम्बद्ध-उसम्बद्धरूपाभिरनवरतमुपर्युपरिपृच्छाभिश्च तथा कथश्चिद् व्याख्यानमालोऽयति यथा नाऽस्मनः किञ्चित् पर्यवस्थति, नापि शेषविनेयानामिति ॥ १४ ॥ मेषोदाहरणमाह—

पं. २६. अवि गोपयम्मि वि पिबे सुदिओ तणुयत्तणेण तुंडस्स ।

न करेह कलुस तोयं मेसो, एवं सुसीसो वि ॥ १५ ॥

30 'अषि' इति सम्भावने । जलमूते कचिद् गोपदेऽपि "सुदिओ" ति सङ्कुचिताङ्गः 'मेषः' ऊणकः पिबेजलम्, न च तत् कलुषं करोति । केन हेतुना ? इत्याह—'तनुकत्वेन' अप्रभागे 'लक्षणत्वेन' 'तुण्डस्य' मुखस्येति, अप्रपादाभ्यामवनम्य तीक्ष्णेन

मुखेन तथाऽसौ जलं पिवति यथा सर्वथैव कलुषं न भवति । एवं सुशिष्योऽपि तथा गुरोः सकाशान्निमृतः श्रुतं गृहणाति यथा तस्य परिषदो वा न कस्यचिन्मनोबाधादिकं कालुषं भवतीति ॥१५॥ मशक-जल्द्कोदाहरणद्यविवृतिमाह—

पं. २७. मसउ व्व तुदं जच्चाइएहिं निच्छुभए कुसीसो वि ।
जलुगा व अदूमेंतो पियइ सुसीसो वि सुयनाणं ॥ १६ ॥

यथा मशको जत्तून् ‘तुदति’ व्यथयति, ततश्च वशाञ्चलादिभिस्तरस्कृत्य दूरीक्रियते, तथा कुशिष्योऽपि जात्यादिदोषोद्दृ- ५
नैर्गुरुं ‘तुदन्’ व्यथमानो ‘निष्कास्यते’ परिह्रियत इति । जलका पुनर्यथाऽसूक् पिवति, न चासुमन्तं व्यथयते, तथा सुशिष्योऽपि
गुरुन्यः श्रुतज्ञानं ‘पिवति’ गृहणाति, न तु तत् जात्युदध्रुतादिना दुनोर्तति ॥१६॥ त्रिडालयुदाहरणमाह—

पं. २८. छड्हुउं भूमीए खीरं जह पियइ दुहमज्जारी ।
परिसुद्धियाण पासे सिकखइ एवं विणयभंसी ॥ १७ ॥

यथा दुष्टमार्जरी तथाविस्वंभावतया स्थाल्याः क्षीरं भूमौ छर्दयित्वा पिवति, न पुनस्तत्स्थम्, तथा च सति न तत् १०
तस्यास्तथाविधं किञ्चित् पर्यवस्थति । एवं विनयाद् भ्रश्यतीति ‘विनयभंशी’ विनयकरणभीरुः कुशिष्यो गोष्ठामाहिलवत् परिषदु-
थितानां विन्ध्यादीनामिव पाश्रे ‘शिक्षते’ श्रुतं गृहणाति, न तु गुरोः सर्माणे, तद्विनयकरणभयात् । इह च दुष्टमार्जरीस्थानीयः
कुशिष्यः, भूमिकल्पास्तु परिषदुथिताः शिष्याः, छर्दितदुग्धयानसदृशं तु तद्विन्ध्यतश्रुतश्रवणमिति ॥१७॥ जाहकोदाहरणमाह—

पं. २९. पाउं थोवं थोवं खीरं पासाइं जाहको लिहइ ।
एमेव जियं काउं पुच्छइ महमं, न खेएइ ॥ १८ ॥

यथा भाजनगतं क्षीरं स्तोकं स्तोकं पीत्वा ‘जाहकः’ सेहुल्को भाजनस्य पाश्चानि लेहि, पुनरपि च स्तोकं तत् पीत्वा
भाजनपाश्चानि लेहि, एवं पुनः पुनस्तायत् करोति यावत् सर्वमपि क्षीरं पीतमिति । एवं मतिमान् सुशिष्योऽप्रेतनं गृहीतं श्रुतं
जित-परिचितं कृत्वा पुनरन्यद् गृहणाति, एवं पुनः पुनस्तायद् विदधाति यावत् सर्वमपि श्रुतं गुरोः सकाशाद् गृहणाति, न च
गुरुं खेदयतीति ॥१८॥ अथ गोदृष्टान्तं उच्यते—

तत्र च केनापि यजमानेन वेदान्तर्गतप्रन्थविशेषाद्ययननिमित्तचरणशब्दवाच्येभ्यश्चतुम्यो ब्राह्मणविशेषेभ्यो गौः प्रदत्ता, २०
प्रोक्ताथ तेन ते ब्राह्मणाः—वारकेणासौ भवद्विदोऽग्नव्येति । अन्येभ्योऽपि च चतुर्भ्यश्चरणद्विजेभ्यो गौरेका तेन प्रदत्ता, तेऽपि च
तेन तथैवोक्ताः । तत्र च प्रथमद्विजानां मध्ये ज्येष्ठब्राह्मणैकेन गौः स्वगृहे नीत्वा दुश्चा, ततश्चारीप्रदानवेलायां चिन्तितं तेन ।
किम् ? इत्याह—

पं. ३०. अन्नो दोज्ज्ञाहि कल्लं, निरत्थयं किं वहामि से चारिं ? ।
चउच्चरणगवी उ मया, अवण्ण हाणी य बुद्ध्याणं ॥ १९ ॥

तनैतचिन्तितम्—हन्त ! वारकप्राप्तोऽन्यो ब्राह्मणः कल्ये तावदेनां धेनुं धोक्षयति, तत् किमद्य निरर्थिकामस्याशारीं वहामि ?,
कल्येऽन्योऽपि हि तां दास्यति—इति विनिश्चित्य न तस्याशारी प्रदत्ता । ततो द्वितीयदिने द्वितीयेनापि धिजातीयेन तथैव
कृतम् । एवं तृतीयदिने तृतीयेनापि, चतुर्थदिवसे चतुर्थेनापि तथैव चेष्टितम् । इवं च चारीविरहिता दुश्चमाना कतिपय-
दिनमध्ये चतुर्णां चरणानां सम्बन्धिनी सा गौमृता । ततश्च तेषां बट्टनां गोहत्या समभवत्, जने चार्वणवादो जातः । हानिश्च
तेषाम्, ततो यजमानादन्यस्माद्वा पुनर्गवादिलाभाभावादिति ॥१९॥

अन्यैतु वैक्षतुर्भिक्षरणैर्गौर्लब्धा तन्मध्ये प्रथमदिजस्तां दुश्वा चारीप्रदानवेलायामचिन्तयत् । किम् ? इत्याह—

[पृष्ठ १७]

पं. १. मा मे होज्ज अवण्णो, गोवज्ज्ञा वा, पुणो वि न दलेज्जा ।
वयमवि दोज्ज्ञामो पुणो, अणुगगहो अणणदुद्वे वि ॥ २० ॥

५ मा भूद जनमध्ये भमावर्णवादः, गोहत्या वा मा भूत, इतोऽस्याश्चारीं प्रयच्छामि, यदि तु न दास्यामि तदा सज्जात-
कलङ्केभ्योऽस्मभ्यं पुर्णवादिकं किमपि कोऽपि न दास्यति, अपरं चैतस्यै चारीप्रदाने को दोषः ? प्रत्युत गुण एव, यतश्चारी-
प्रदानपुष्टामेनां पुनरपि वारकेणाऽगतां वयमेव घोक्ष्यामः, यदि वाऽन्येनापि ब्राह्मणेन दुष्यायामेतस्यामस्माकमेवानुग्रह इति ॥ २० ॥

अथोपनयमाह—

पं. २. सीसा पडिच्छगाणं भरो त्ति, ते वि य हु सीसगभरो त्ति ।
१० न करेति, सुक्तहाणी, अण्णात्य वि दुल्हहं तेस्मि ॥ २१ ॥

गुरोर्विनयकर्मणि कर्तव्ये स्वगच्छदीक्षिताः शिष्यास्तावचिन्तयन्ति । किम् ? इत्याह—‘प्रतीच्छकानाम्’ उपसन्पन्नानामागन्तुक-
शिष्याणामयं गुरोर्विनयकरणलक्षणः ‘भरः’ आचारः, किमस्माकम् ? तेषामेव साम्प्रतं बछ्वभत्वादिति । तेऽपि च प्रतीच्छका एवं
सम्प्रधारयन्ति—निजशिष्याणामेवायं भरः, किमस्माकमागन्तुकानामय समागतानामन्येयुर्जिगमिषूणाम् ? इति । एवं सम्प्रधार्य
उभयेऽपि गुरेन्म किञ्चिद् विनय-वैयाख्यत्वादिकं कुर्वन्ति । ततश्च गुरुष्ववसीदत्सु तेषां सूत्रा-र्थहानिः, अन्यत्रापि च गतानां ‘तेषां’
१५ दुर्विनीतानां दुल्हं सूत्रमर्थश्च । उपलक्षणत्वादन्येऽप्यवर्णवादादयो दोषाः स्वयमेवाम्यूहाः । अयं च दुर्विनीतशिष्योपनयः कृतः ।
सुविनीतविनेयोपनयस्तूक्तविर्ययेण स्वयमेव कर्तव्य इति ॥ २१ ॥ भेरीहृष्टान्तमाह—

पं. ३-६. कोमुहया तह संगामिया य उबमूहया य भेरीओ ।
कण्हससाऽस्ति एहु तया, असिवोवसमी चउत्थी उ ॥ २२ ॥

२० सक्ष पसंसा, गुणगाहि केसवा, नेमिवंद, सुणदंता ।
आसरयणस्स हरणं, कुमारभंगे य, पुयजुद्व ॥ २३ ॥

नेहि, जिओ मि त्ति अहं, असिवोवसमीए संपथाणं च ।
छम्मासिय घोसणया पसमइ, न य जायए अन्नो ॥ २४ ॥

आगंतु वाहिखोभो, महिछिद मोल्लेण, कंथ, दंडणया ।
अट्टम आराहण, अन्न भेरि, अन्नस्स ठवणं च ॥ २५ ॥

२५ आसां भावार्थः कथानकेनोच्यते—द्वारवत्यां नगर्यां वासुदेवस्य राज्यं पालयतो गोशीर्षश्रीखण्डमयो देवतापरिगृहीतास्तिस्तो
मेर्ये आसन् । तथथा—कौमुदिकी साङ्ग्रामिकी औद्भूतिकीति । तत्राऽवा कौमुदीमहोत्सवाद्युत्सवज्ञापनार्थं वाचते, द्वितीया
सङ्ग्रामकाले समुपस्थिते सामन्तादीनां ज्ञापनार्थं वाचते, तृतीया पुनरुद्भूते आगन्तुके कर्सिमधित् प्रयोजने सामन्ता-मात्यादि-
लोकस्यैव ज्ञापनार्थं वाचते । चतुर्थ्यपि गोशीर्षश्रीखण्डमयी भेरी तस्याऽसीत्, इयं तु षट्खण्मासपर्यन्ते वाचते, यक्ष तच्छब्दं
शृणोति तस्यातीतमनागतं च प्रत्येकं षाम्मासिकमशिवमुपशाम्यति ॥ २२ ॥ इयं च प्रकृतोपयोगिनी चतुर्थी भेरीति तदुपत्ति-
३० लिंग्यते—कदाचित् सौधर्मदेवलोके समस्तामरसभापुःसरमभिहितं शक्षेण—

पेच्छ अहो ! हरिपुहा सप्तुरिसा दोसलक्खमज्ज्ञे वि । गिणहंति गुणं चिय, तह न नीयजुञ्ज्ञेण जुञ्ज्ञाति ॥१॥

एयं असदहंतो कोइ सुरो चितए, किह णु एयं । संभवइ ? जं अगहिउं परदोसं चिट्ठुए कोइ ॥२॥

इय चितिऊण इहइ समागओ, तो विउव्यए एसो । श्रीभच्छकसणवणं अइदुगंधं मथगसुणयं ॥३॥

तस्स य मुहे विउव्यइ कुंदुजलपवरदसणरिंछोलि । नेमिजिणवंदणव्यं चलियस्स पहभ्मि हरिणो य ॥४॥

तं उवदंसइ सुणयं, भगं गंधेण तस्स हरिसेणं । सयलं पि उपहेणं वच्छइ, कण्ठो उण सरूवं ॥५॥

विविहं भावंतो पोगलाण वच्छइ पहेण तेणेव । दट्टूण सुणवरूवं पमणइ गरुयत्तणेवं ॥६॥

अइमसिगकसिणवर्थचले व्व वयणे इमस्स पेच्छ अहो ! । मुतावलि व्व रेहइ निम्मलजुन्हा दसणपंती ॥७॥

अह चितियं सुरेणं, सच्च जं अमरसामिणा भणियं । नूण गुणं चिय गरुया पेच्छन्ति परस्स, न हु दोसं ॥८॥

अह अन्नदिणे देवो तुरयं अवहरइ वछहं हरिणो । सेनं च तस्स सयलं विणिजियं तेण कुदलग्नं ॥९॥

तो अप्णा वि त्रिष्ठू तुरयस्स कुढावयम्मि पडिलग्नो । अह देवेण भणियं, जिणिउं धेष्पंति रथणाइ ॥१०॥

तो जुञ्ज्ञामो त्ति भणेइ केसवो, कितु रहवरे अहयं । तो गेष्ठू तुमं पि रहं जेण समाणं हवइ जुञ्ज्ञं ॥११॥

नेच्छइ एयं देवो, तुरएहिं गयाइएहि वि स जुञ्ज्ञं । जा नेच्छह ता भणिओ हरिणा, तो भणसु तुममेव ॥१२॥

देवेण तओ भणियं, परस्मुहा दो वि होइऊण पुणो । जुञ्ज्ञामो पुयवाइहिं, भणइ तो केसवो देवं ॥१३॥

जह एवं तो विजिओ अहयं तुमए, तुरंगमं नेहि । जुञ्ज्ञामि पुणो कहमवि न हु एरिसनीयजुञ्ज्ञेण ॥१४॥

संजायपच्चओ सो पच्चक्षो होइऊण तो देवो । भगइ, अमोहं देवाण दंसणं, भणसु कं पि वरं ॥१५॥

अह भणइ केसवो, असित्रपसमणि तो पयच्छ मह भेरि । दिणा य सुरेगाऽगमणवइयं साहिउं च गओ ॥१६॥

छहं छहं मासाण सा य वाइज्ञए तहिं भेरी । जो सुगइ तीए सदं पुञ्चुप्पनाउ वाहीओ ॥१७॥

नसंति तस्स, अवराओ तह य न हु होति जाव छमासा । अह अन्नया कथाई वणिओ आगंतुओ कोइ ॥१८॥

दाहज्जेरेण धणियं अभिभूओ भेरिक्खवयं भणइ । दीणारसयसहस्सं गेष्ठसु मह देसु पलमेगं ॥१९॥

भेरीए छिदिऊण दिणं तेणावि लोभवसगेणं । अन्नेण चंदणेण य भेरीए थिगलं दिलं ॥२०॥

इय अन्नाण वि दिंतेण तेण कंथीकया इमा भेरी । अह अन्नया य असिवे हरिणा ताडाविया एसा ॥२१॥

कंथत्तणेण तीसे सदो सुञ्चह न हरिसमाइ वि । कंथीकरणवइयरो विणाओ केसवेण तओ ॥२२॥

माराविओ य सो भेरिक्खओ, तेग अटूमं काउं । आराहिओ स देवो, अन्नं भेरि च सो देह ॥२३॥

अन्नो य केसवेण कओ तहिं भेरिपालओ, सो य । रक्खइ तं जतेणं, लहइ य लाभं च तो हरिणो ॥२४॥

इह चेत्थमुपनयोऽपि द्रष्टव्यः—यः शिष्योऽशिष्योपशमिकाभेरीप्रथमरक्षक इव जिन-गणधरप्रदत्तां श्रुतरूपां भेरी परम- 25
तादिथिमालकैः कन्थीकरोति स न योग्यः, यस्तु नैवं करोति स द्वितीयभेरीरक्षक इव योग्य इति ॥२३॥२४॥२५॥

अथाऽभीरीदृष्टान्तं विवृण्वन्नाह—

पं. ७. मुक्तं तथा अगहिए, दुपरिग्गहियं कथं, तथा कलहो ।

पिष्टण, अइचिर, विक्षिय गएसु चोराऽय, उणऽग्नो ॥ २६ ॥

इह च कथानकेन भावार्थं उच्यते । तथाकृतश्चिद् ग्रामाद् गोकुलाद्वा आभीरीसहित आभीरो वृतवारकाणां गन्त्री 30
मृत्वा विक्यार्थं पत्तने समागतः । विक्रयस्थाने च गन्त्या अघस्ताद् भूमौ आभीरी स्थिता, आभीरस्तूपरि व्यवस्थितस्तस्या वृतवारकं
समर्पयति । ततश्चानुपयोगेन समर्पणे प्रहणे वा वृतवारके भग्ने आभीरी प्राह—भग्नाश ! नगरतरुणीनां मुखान्यवलोकयमानेन त्वया

वृत्तवारकोऽयं मयाऽगृहीत एव मुक्तस्ततो भग्नः । आभीरस्त्वाह—रण्डे ! नगरयूनां वदनानि वीक्षमाणया त्वयैव दुष्परिगृहीतोऽयं कृतस्ततो भग्नः । इत्युभयोरपि कलहः समभवत् । पिण्डिता च तेनाऽभीरी । कलहयतोश्च तयोरन्यदपि वृत्तं वहु छर्दितम्, उद्धरित-शेषेण च वृत्तेनोल्लूरेऽयोऽयूनो लब्धः । इतेरु च सार्थिकेषु वृत्तं विक्रीय गतेषु तयोरेकाकिनोर्गच्छतोर्वृतदम्मा गन्त्री बलीवर्दाश्च सर्वं तस्करैरपहृतमिति ॥२६॥ एवं दृष्टान्तमभिधीयोपनयमाह—

५ पं. ८. मा निष्ठहव इय दाऽन्, उवउज्जिय देहि, किं विच्चितेसि ? ।
विच्चामेलियदाणे किलिस्ससे तं च हं चेव ॥ २७ ॥

चिन्तनिकाद्यवस्थायां वितर्थं प्ररूपयन्नवीयानो वा गुहणा शिक्षितः शिष्यो जगाद—त्वयैव भमेत्थं व्याख्यातम्, पाठितो वा त्वयैवंविधमहम्, अतस्त्वैव दोषोऽयम्, किं मां शिक्षयसि ? । आचार्यः प्राह—न मैत्रैवसुपदिष्टम् । कुशिष्यो ब्रवीति—हन्त ! साक्षादेव मम पुरस्सरमित्थं सूत्रमर्थं वा दत्त्वा सूरे ! मा निहोवीस्त्वम् । इथमुक्त आचार्यः किमध्यन्तर्धायन् पुनरप्युक्तः शिष्या-
१० भासेन—किं बलीवर्दात् पातित इव चिन्तयसि ? भव्यगत्या ‘उपमुज्य’ उपमुक्तो भूत्वा देहि सूत्रा-ऽर्थैः, ‘व्यत्याव्रेडितदाने’ वितर्थ-सूत्रार्थप्रदाने केवलं त्वं अहं च क्लेशमेवानुभवावः । तदित्थं स्वदोषाप्रतिपत्तौ गुरुदोषोद्भावने वाऽभीरमिथुनस्येव गुरु-शिष्ययोः कलह एवं प्रवर्तते । तथा च सति व्याख्याव्यवच्छिति-सूत्रार्थहन्यादयो दोषाः ॥ अत्र प्रतिपक्षः स्वयमेव द्रष्टव्यः । तथाहि—

अन्योऽय्याभीरः किल सकलत्रस्तथैव क्वापि नगरे वृत्तविक्तवार्थं गतः । कलत्रस्य च वारके समर्पिते भग्ने च ‘अहो ! मयाऽनुपयुक्तेन समर्पितोऽयम्’ इति ब्रुवाणो इग्निति गन्त्याः समुत्तीर्य कर्परकैर्वृत्तं संवृणोति । भार्याऽपि ‘धिग् मयाऽनुपयुक्तया दुष्परिगृहीतः कृतोऽसौ तेन भग्नः’ इति वदन्ती तथैव तत् संवृणोति । ततथान्योन्यं कलहेऽजाते उभयसंवित्या वृत्तं शीघ्रमेव विकीर्तम् । सार्थिकैश्च सह क्षेमेण स्वस्थानं जग्मतुः । एवं गुरु-शिष्या अपि स्वदोषं प्रतिपद्यमानाः परदोषं तु निहुवाना येऽन्योन्यं न विवदन्ते त एव सूत्रार्थप्रदान-ग्रहणयोर्योग्या भवन्ति निर्जरादिलाभमाग्निश्चेति ॥२७॥

तदेवं योग्या-ऽयोग्यान् गुरुन् शिष्यांश्चोपदश्योंपसंहारपूर्वकं तक्फलमाह—

२० पं. ९. भणिया जोग्गा-ऽजोग्गा भीसा गुरवो य, तत्थ दोषहं पि ।
वेयालियगुण-दोसो, जोग्गो जोग्गस्स भासेज्जा ॥ २८ ॥

भणिता योग्या-ऽयोग्या गुरु-शिष्याः । तत्र ‘द्वयोरपि’ गुरु-शिष्ययोर्विचारितगुण-दोषयोर्योग्यो गुरुयोग्याय शिष्याय सूत्रा-ऽर्थै भाषेतेति ॥२८॥

पं. १६. ‘अङ्गिका’ परिज्ञानरहिता । पं. २१. पर्गाईमुद्देत्यादिगाथा—अङ्गिका प्रकृत्या मुग्धा भवति । कुतः प्रकृत्या मुग्धा भवति ? “मियछावय” ति छावगशब्दः सर्वत्र सम्बद्धते, ततो मृग-सिंह-कुक्कुटशावं-लघु मृगादपयं तद्भूता, अत्यन्तर्जुत्व-
२५ साम्यात् तत्सदृशी येत्यर्थः । सहजरन्मिवासंस्कृता ‘सुखसंज्ञाप्या’ सुखप्रज्ञापनीया ‘गुणैः’ गुरुवहुमानादिभिः समृद्धा । अन्यच्च—

जा खलु अभाविया कुरुसुईहिं न य ससमए गहियसारा । अकिलेसकरा सा खलु वहरं छक्कोडिसुद्रं व ॥१॥

[कल्पभाष्य गा० ३६८]

षट्कोणविशुद्धं ‘वज्रमित्र’ हीरक इव विशुद्धा या सा खल्वज्ञायकपर्षदिति वाक्यशेषः ॥

पछुवग्राहित्वादिकं च महतेऽनर्थाय, सम्पूर्णशुताभावात् । तदुक्तम्—

३० पछुवग्राहि पाणित्यं, क्रयक्रीतं च मैथुनम् । भोजनं च पैरायत्तं, तिक्तः पुंसां विद्म्बनाः ॥१॥

अज्ञः सुखमाराध्यः, सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः । ज्ञानलबद्धिर्विद्वन्वं ब्रह्माऽपि नरं न रञ्जयति ॥२॥ [भर्तृहरित्रिशती १.२]
अत्राऽऽवपर्षदद्वयं योग्यम्, तृतीया व्ययोग्येति ॥

[पृष्ठ १८]

पं. १. नाणमित्यादि । पं. २. सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मके बोधो ज्ञानं संविद्वच्यते । करणा-
उपादाना-उधिकरण-कर्तृसाधनोऽपि ज्ञानशब्दो व्युत्पाद्यः । नवरं कर्तृपक्षे ज्ञान-ज्ञानिनोः कथं विद्व्यतिरेकादात्मैव ज्ञानम्, ज्ञानाति ५
स्वं रूपं बाह्यभावं चेति ज्ञानम्, प्रदीपवत् स्व-परावभासित्वाद् ज्ञानस्येति भावः । अत एवाऽऽह— पं. ३. स्व-विषयेति
स्व-विषययोः—आत्म-बाह्यार्थयोः संकेदनं रूपं यस्येति विग्रहः ॥ पं. ७. कृच्छ्र इत्—अनुबन्धो यस्य प्रत्ययस्येति विग्रहः,
कानुबन्धे डानुबन्धे चेत्यर्थः । अजादिगणश्च अच्च अजाधत् तस्मात्, अजादीनां तदन्याकारान्तानां च टापिति खियामा प्रवर्तते ।
पं. १०. कुव्यास्त्रयेति, ‘विध इत्यकारान्तोऽयम्’ इति केचिदाहुः तदस्य न सम्मतमिति रूपसिद्धिर्दर्शिता ॥

पं. १२. अत्थं० गाहा—इहोपचारादर्थं प्रत्ययायनहेतुत्वाच्छब्द एव खल्वश्चोऽत्र, ततः शब्दमेवार्थग्रत्यायकमर्हन् भाषते, न तु १०
साक्षार्दर्थम्, तस्याशब्दरूपत्वेनाभिलिपितुमशक्यत्वात् । गग्मुतोऽपि च शब्दात्मकमेव श्रुतं ग्रथनिति ‘निषुणं’ सूलम् वहृष्टं वा ।
तर्हर्चुभयोः कः प्रतिविशेषः ? इति चेत्, उच्यते—स हि भगवान् विशिष्टमतिसम्प्रत्यगणवरापेक्षया प्रभूतार्थमर्थमात्रं स्वल्पमेवाभिधते,
बीजमात्रतया, न वितरजनसाधारणं प्रन्थराशिमिति, प्रभूतार्थतीर्थकरभाषितस्य गणवरैर्विस्तीर्णतया सूत्रकरणमिति विशेष इति
गाथार्थः ॥ पं. १८. तत्रेति ज्ञानपञ्चकमध्ये । आभिनिवोधिकज्ञानमित्यस्यायमर्थः—अभिमुखः—योगदेशावस्थिताथपिदी,
अर्थाभिमुखः अर्थबलायातवेन तनान्तरीयकोद्भव इत्यर्थः । ‘नियतः’ स्वस्वविषयपेक्षी, तेन श्रोत्र-चक्षु-रसना-त्राण-स्पर्शनानामि- 15
द्रियाणां शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः स्वविषया प्राद्यतया नियताः, न वितरस्य विषयमितरद गृहणाति यो बोधः सोऽभिनिवोधः,
अभिनिवोध एवाऽभिनिवोधिकम्, विनायादिपाठात् स्वार्थं इकणिति, यथा विनव एव वैनयिकमिति । यद्वा नात्र स्वार्थिकप्रत्यय
एव किन्तु यथाघटमानमन्यथाऽपि व्युत्पाद्यम् । पं. १९. अभिनिवुद्यते तदित्यादि, ननु कर्तारमन्तरेण कर्म न भवति,
अभिनिवुद्यते तदित्यत्र तु मतिज्ञानं कर्मास्ति, न तु कर्ता, तत् कथमिदं घटते ? इत्याह— पं. २०. तस्य स्वसंविदित-
रूपत्वादिति, स्वयमेव ज्ञानं नीलादिप्राहकत्वेनात्मानं व्यवच्छिन्नति, न बाह्यो ज्ञानपरिच्छेदकः कर्ताऽन्वेषणीय इति भावः । ननु 20
‘ओदनं पचति देवदतः’ इत्यादिषु भेदेनैव कर्म-कर्तृव्यवहारो इष्टः, अत्रतु तदेव ज्ञानं परिच्छेदकं तदेव च परिच्छेदमिति भेदाभावात्
कथं तदव्यवहारः ? इत्याशङ्काऽह—भेदोपचारादिति, तद्वा प्रदीपवत् प्रकाशस्वभावमेवोत्पवत इत्यसन्नपि कर्तृ-कर्मभावेन भेद
उपर्युक्त इति भावः । यथा ज्ञानं कर्तृ स्वं रूपमभिनिवुद्यते इत्येकस्त्वयैव कर्तृत्वं कर्मत्वं स्यात् । तदेवमाभिनिवोधिकशब्दवाच्यं
ज्ञानमुक्तम् । अथवा ज्ञानं क्षयोपशम आत्मा वा तद्वाच्य इति दर्शयति—करणादिसाधनतया अभिनिवुद्यते घटादि वस्तु आत्मा
‘अनेन’ प्रस्तुतज्ञानेन तदावशणक्षयोपशमेन वाऽभिनिवोधः, स एवाऽभिनिवोधिकम् । पं. २१. अभिनिवुद्यते ‘अस्मात्’ 25
प्रकृतज्ञानात् क्षयोपशमाद्वा । पं. २२. ‘अभिनिवुद्यते’ अवगच्छति वस्तु आत्मा ‘अस्मिन्’ अधिकृतज्ञाने क्षयोपशमे वा
सति आभिनिवोधिकम् । पं. २३. यद्वा ‘अभिनिवुद्यते’ वस्तु अवगच्छति आमैवाभिनिवोधः, स एवाऽभिनिवोधिकम् ।
नन्वात्म-क्षयोपशमयोराभिनिवोधिकशब्दवाच्यते ज्ञानेन सह कथं सामानाधिकरणं स्याद् येन कर्मधारयो युज्येत ? सत्यम्, किन्तु
ज्ञानस्याऽत्माश्रयत्वात् क्षयोपशमस्य च ज्ञानकारणत्वादुपचारतोऽत्रापि पक्षे आभिनिवोधिकशब्दो ज्ञाने वर्तते, ततश्च आभिनि-
वोधिकं च तद् ज्ञानं चेति कर्मधारयोऽदुष्टः १ ॥ पं. २४. श्रूयतेऽसविति श्रुतं शब्दः । नन्वभिलापलावितार्थग्रहण- 30
प्रत्ययो लघ्विविशेषः श्रुतम्, तदेव च ज्ञानम्, तत् कथं शब्दः श्रुतं स्यात् ? इत्याह—भावश्रुतेत्यादि, श्रुतज्ञानकारणं शब्दोऽपि
श्रुतमुच्यते ।

पं. २६. यदा शृणोतीति श्रुतमत्तैवोच्यते, ज्ञान-ज्ञानिनोः कथञ्चिद्ब्रह्मतिरेकात् श्रुतोपयोगपरिणामयुक्तः श्रुतं भवति, तदत्रापि शब्दस्य श्रुतकारणत्वात् क्षयोपशमस्य च ज्ञानहेतुत्वाद् आत्मनश्च कथञ्चित् तदब्रह्मतिरेकाद् उपचारतः श्रुतं च तद् ज्ञानं चेति समासो युज्यते २ । पं. २८. अवशब्दो अधःशब्दार्थः मर्यादार्थश्च । ‘अवधीयते’ अधोऽधो विस्तृतं परिच्छिवते रूपि वस्तु ‘अनेन’ ज्ञानेनेत्यवधिः । यदा अव-रूपिद्ब्रह्मर्यादिया धीयते—परिच्छिवते वस्त्वनेनेत्यवधिः । पं. २९. अव-५ धीयते ‘अस्माद्’ ज्ञानाद् जीवेन साक्षाद् वस्तु इत्यवधिः । पं. ३०. अवधीयते जीवेनास्मिन् सति वस्तु इत्यवधिः । अवधानं वाऽवधिः—साक्षादर्थपरिच्छेदनम् । पं. ३२. पर्ययनं—सर्वतः परिच्छेदनं पर्ययः । क पुनरसौ ? इत्याह—

[पृष्ठ १९]

पं. १. मनसीत्यादि, मनसि ग्राहे मनसो वा ग्राह्यस्य सम्बन्धी पर्ययो मनःपर्ययः । पं. ३. यदा मनःपर्यायज्ञान-
मित्युच्यते । तत्र “इण् गतौ” अयनं आयो लाभः ग्रातिरिति पर्यायाः, परिः—समन्तादायः पर्यायः, मनसः पर्यायास्तेषु ज्ञानम् ।
१० यदा संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन गृहीतानि मनःप्रायोग्यवर्गगापुद्गलद्रव्याणि चिन्तनीयवस्तुचिन्तनव्यापृतेन मनोयोगेन मनस्वेन
परिणमश्याऽलम्ब्यमानानि मनांसीत्युच्यन्ते । ततश्च जीवैर्वस्तुचिन्तने व्यापारितानि मनांसि पर्येति—परिच्छिनति मनःपर्यायम्,
“कर्मण्यण्” [पा. ३-२-१] तस्य कथञ्चित् कर्तुरनन्यत्वात् कर्तुत्वविवक्षा । कर्ता वा आत्मा यथोक्तानि मनांसि पर्येति अनेनेति
मनःपर्यायम्, “अकर्तरि च” (पा. ३-३-१९) इत्यादिना घन्, तत् पुनस्तदावरणक्षयोपशमजो लघ्विशेषस्तदुपयोगो वा विषय-
प्रहणात्मकः । यैद्वाऽवनं—गमनं वेदनमित्यवः, परिः—समन्तादवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवा मनःपर्यवाः, तेषां तेषु वा
१५ इदमित्थम्भूतमनेन चिन्तितमित्येवंरूपं ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं मनःपर्यायज्ञानमिति वेति । इदं चेत्यादि, अर्द्धं तृतीयं येषां तेऽर्थतृतीया
द्वीपाः, ते च समुद्रौ चार्धतृतीयद्वीप-समुद्राः, तेषामन्तः—सध्यं तत् तथा, तत्र वर्तन्ते ये तेऽर्द्धतृतीयद्वीप-समुद्रान्तर्वर्त्तिनः, ते च
२० ते संज्ञिनश्च तेषां मनोगतानि-मनस्वेन परिणमय मुक्तानि यानि द्रव्याणि तैरेव तान्यालम्बते—आश्रयति अर्थपरिच्छेदकतया यद्
ज्ञानं तत् तदालम्बनम् । पं. ५. केवलमित्यादि, “केवलमेगं सुद्धं सकलमसाहारणं अण्टं च ।” [विशेषा. गा. ८४] इति
वचनात् केवलशब्द एकादर्थपञ्चकवृत्तिरिति क्रमेण व्याचष्टे । तत्र केवलमिति कोऽर्थः ? असहायम् इन्द्रियादिसाहाय्यानपेक्षित्वा-
२५ देकमित्यर्थः, तद्वावे शेषच्छाव्यस्थिकज्ञाननिवृत्तेऽसहायम् । अत एवाह—मत्यादिज्ञाननिरपेक्षम् । केवलं शुद्धं निर्मलमित्यर्थः,
सकलावरणमलकलङ्कविगमसम्भूतत्वात् । सकलं वा केवलम्, परिपूर्णमित्यर्थः, सम्पूर्णद्वयादिज्ञेयग्राहित्वात् ।

पं. ६. तत्प्रथमत्यैवेति, यो येन भावेन पूर्वं नासीदिदानीं च जातः स तेन भावेन तत्प्रथम उच्यते तेन प्रथमः, सा
चासौ प्रथमता चेति वेति विग्रहः । असाधारणं तादृशापरज्ञानाभावाद् अनन्यसदृशम् । पं. ७. अनन्तं अप्रतिपातित्वेना-
विद्यमानपर्यन्तं ज्ञेयानन्तत्वाद्वा अनन्तं केवलमुच्यते ।

२५ पं. ९. आहेत्यादि, एतेषु मध्ये आदौ मतिश्रुतोपन्यासः किमर्थः ?, उच्यते, स्वाम्यादिकारणपद्कं प्रतीत्य मति-श्रुतयो-
रुपन्यासः, नवरमभिनिवोधिकं हौत्पत्तिक्रयादिमतिप्रधानत्वान्मतिरप्युच्यते । कालो द्विधा—नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च ।
स चायं द्विधोऽप्यनयोस्तुल्य एव, नानाजीवापेक्षया द्वयोरपि सर्वकालमनुच्छेदात्, एकजीवापेक्षया तूभ्योरपि निरन्तरसातिरेक-
३० सागरोपमषट्खण्ठिस्थितिक्लेनात्रैवाभिधास्यमानत्वात् । कारणमपीन्द्रिय-मनोलक्षणं स्वावरणक्षयोपशमस्वरूपं च द्वयोरपि समानम् ।
उभयस्यापि “सञ्चायं सम्भतं” [आव० नि० गा० ८३० विशेषा० गा० २७५१] इत्यादिना सर्वद्वयादिविषयत्वाद् विषय-
तुल्यता । पं. १६. तत्र आदेशत इति, आदेशः—प्रकारः, स च सामान्यतो विशेषतश्च । सामान्यतो द्रव्यजातिं जानीते,
विशेषतो धर्मास्तिकायादेवे देशादिविभागं जानीते । पं. १७. इन्द्रियादिपरनिमित्तत्वादुभयोः परोक्षत्वसमता ।

१ मनःपर्यवज्ञानान्तर्वत्यादनं नास्ति हारिभद्रयां व्याख्यातम् ॥

पं. १८. ननु यदनयोः परस्परमेवं तुल्यता तद्येकत्र द्वयोरप्युपन्यासोऽस्तु, आदावेव तु तदुपन्यासः कथम्? इति, उच्यते, मति-श्रुतज्ञानसद्वावे एव शेषावध्यादिज्ञानलाभादादौ तदुपन्यासः; नहि स कश्चित् प्राणी भूतपूर्वोऽस्ति भविष्यति वा यो मति-श्रुतज्ञाने अनासाद्य प्रथममेवावध्यादीनि शेषज्ञानानि प्राप्तवान् प्राप्नोति प्राप्स्यति वेति भावः । तदुक्तम्—

जं सामि-काल-कारण-विसय-परोक्तस्तत्त्वेहिं तुल्यादृशं । तद्भावे सेसाग्निय, तेगाऽऽर्ड्हए मह-सुयादृशं ॥ [विशेषा० गा० ८५]

भवतु तद्यादौ मति-श्रुतोपादानम्, केवलं पूर्वं मतिः पश्चात् श्रुतमित्यत्र किं कारणम्? उच्यते—मतिपूर्वकत्वादित्यादि ।

पं. २०. मझपुञ्च० गाहा । व्याख्या—मतिः पूर्वं-प्रथममस्येति मतिपूर्वं ‘येन’ कारणेन श्रुतज्ञानं तेन श्रुतस्याऽऽदौ ५ मतिः तीर्थकर्त-गणधरैरुक्तेति शेषः, नद्यवग्रहादिरूपे मतिज्ञाने पूर्वमप्रवृत्ते काप्यमिलापलावितार्थप्रहणरूपश्रुतप्रवृत्तिरस्तीति भावः । “विसिद्धो वा महेभ्यो चेव सुयं” ति यदि वा इन्द्रिया-अनिन्द्रियनिमित्तद्वारेगोपजायमानं सर्वं मतिज्ञानमेव, केवलं परोपदेशादागमवचनाच्च भवन् विशिष्टः कश्चिन्मतिभेद एव श्रुतम्, नान्यत् । यतथ विशिष्टमत्यंश एव श्रुतं ततो मूलभूताया मतेरादौ विन्यासः, तद्वेदरूपं तु श्रुतं मतिसमन्वयं भणितमिति गाथार्थः ॥

पं. २३. मति-श्रुतज्ञानानन्तरमवधेरुपन्यासः कालादिचतुष्यसाधम्यात्, नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च मति- १० श्रुताभ्यां सहावधेः समानस्थितिकालत्वात् कालसाधम्यम् । पं. २४. प्रवाहापेक्षयेति, सर्वजीवानाश्रित्य सर्वाद्वां एकजीवा-पेक्षया सागरष्टपृष्ठिः साधिका स्थितिकालः । पं. २५. यथा च मिथ्यात्वोदये मति-श्रुतज्ञाने अज्ञानरूपं विपर्ययं प्रतिपद्यते तथाऽवधिरपीति विपर्ययसाधम्यम् । पं. २६. य एव मति-श्रुतयोः स्वामी स एवावधेरपीति स्वामिसाधम्यम् ।

पं. २७. लाभोऽपि कदाचित् कस्यचिदमीमां त्रयाणामपि ज्ञानानां युगपदेव भवतीति लाभसाधम्यम् ।

पं. २८. अवध्यनन्तरं मनःपर्यायज्ञानस्योपन्यासः छद्मस्थादिकारणचतुष्यात्, तत्र विपर्यसाधम्ये उभयोरपि १५ पुद्गलमात्रविषयतासाधम्यं यदपि सामान्येन तथाप्यस्य मनोवर्गणाविशेषतो विषयः । पं. ३२. सर्वज्ञानानामुपरि केवलस्यो-पन्यासः तस्योत्तमत्वात्, सर्वोत्तमं हि केवलज्ञानम्, अतीता-अनागत-वर्तमाननिःशेषज्ञेयस्वरूपावभासित्वात् । सर्वज्ञानानां लाभेऽवसान एवास्य लाभाद्वा अन्ते निर्देशः । विपर्ययाभावश्च साधम्यम् ।

[पृष्ठ २०]

पं. ९. अश्रुते—केवलाद्युत्पत्तौ ज्ञानात्मना सर्वार्थान् व्याप्तोतीति उगादिनिपातनाद अक्षः—जीवः । यद्वा अश्राति २० समस्तत्रिमुखनान्तर्वर्तिनो देवलोकसमृद्धच्छादीनर्थान् पालयति मुड्के चेति निपातनाद अक्षः—जीवः, अश्रातेर्भोजनार्थत्वात्, भुजेश्च पालना-अन्यवहारार्थत्वादिति भावः, तमक्षं—जीवं प्रति साक्षाद् गतमिन्द्रियनिरपेक्षं वर्तते यद् ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।

पं. १०. अत एवोक्तम्—अपरनिमित्तमिति, न परम्—इन्द्रियादि निमित्तं यस्योत्पत्तौ अक्षं—जीवं विमुच्य तदपरनिमित्तम्, अत एवातीन्द्रियमेतत्, अवध्यादित्रयस्यैव साक्षादर्थपरिच्छेदकवेन जीवं प्रति साक्षाद् वर्तमानत्वात् प्रत्यक्षन्यपदेशः ।

पं. ११. विचित्रतां चास्येति, अवध्यादिप्रत्यक्षस्य परेभ्योऽक्षस्य—जीवस्य यज्ञानमुत्पद्यते तत् परोक्तम्, यस्माद् द्रव्ये- २५ निद्रियाणि द्रव्यमनश्चाक्षस्य—जीवस्य पराणि वर्तन्ते, भिन्नानीत्यर्थः । कुतः परत्वम्? द्रव्येन्द्रिय-मनसोः पुद्गलमयत्वादिति । इदमुक्तं भवति—अपौद्गलिकत्वादमूर्तो जीवः, पौद्गलिकत्वान्मूर्तानि द्रव्येन्द्रिय मनांसि, अमूर्तच्च मूर्तं पृथग्भूतम्, ततस्तेभ्यः पौद्गलिकेन्द्रिय-मनोभ्यः यन्मति-श्रुतलक्षणं ज्ञानमुपजायते तद् धूमादेरग्न्यादिज्ञानवत् परनिमित्तत्वात् परोक्तमुच्यते । यद्वा परैः—इन्द्रियादिभिः उक्षा—सम्बन्धनं लिङ्गानुमेये ग्राह्य-ग्राहकलक्षणं अस्य ज्ञानस्य तत् परोक्तम् । पं २४. द्रव्येन्द्रियमित्यादि,

अंतो-बहिनिवृत्ती, तस्सत्तिसरूपवगं च उवगरणं । दर्शिदियमियरं पुण लद्धुवधेगेहिं नायवं ॥१॥ [

] 30

कर्णपर्षटिकादि बाह्यसंस्थानं बहुर्निर्वृत्तिः, कदम्बपुष्पगोलकाद्याकृतिश्चान्तर्निर्वृत्तिः, तच्छक्तिविशेषश्चोपकरणम् । यथा खड्गे खड्गः तद्वारा तच्छेदनशक्तिश्चेति त्रयं व्याप्रियते, एवं द्रव्येन्द्रियगोचरं निर्वृत्तिद्वयं तच्छक्तिश्चेति त्रितयं ज्ञानं प्रति-व्याप्रियते ।

पं. २७. नोइन्द्रियप्रत्यक्षमिति, यत्रेन्द्रियं सर्वथैव न प्रवर्तते किन्तु जीव एव साक्षादर्थं पश्यति तद् नोइन्द्रियप्रत्यक्ष-मव्यादि ।

५

[पृष्ठ २१]

पं. ४. उपचारतः प्रत्यक्षमिति, इहेन्द्रियं श्रोत्रादि, तदेव निमित्तं सहकारिकारणं यस्योत्पित्सोत्तदा (?) दैलेजिंकं शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शविषयज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम् । इदं चेन्द्रियलक्षणं जीवात् परं-व्यतिरिक्तं निमित्तमाश्रित्योत्पदते इति धूमादग्निज्ञानमिव वस्तुतोऽर्थसाक्षात्कारित्वाभावात् परोक्षमेव, केवलं लोकेऽस्य प्रत्यक्षतया रूढत्वात् संव्यवहारतोऽत्रापि प्रत्यक्षत्वमुच्यते, न परमार्थतः, परमार्थतोऽवध्यादिकमेव प्रत्यक्षम्, इन्द्रियाद्यनपेक्षत्वात् । कथं ज्ञायत इत्यादि, मुख्यतोऽपीन्द्रियप्रत्यक्षं किमिति न स्यादिति १० वितर्कार्थः ।

पं. ६. न चेत्यादि, मति-श्रुते विमुच्येन्द्रियज्ञानमपरं न किञ्चिदस्ति यत् प्रगुणान्यायेन मुख्यतः प्रत्यक्षं भवेत् । इन्द्रियज्ञानस्य मति-श्रुताभ्यां पार्थक्ये षष्ठ्यज्ञानप्रसङ्गः, तस्मादिन्द्रियज्ञानस्य मति-श्रुतयोरेवान्तर्भावः । मति-श्रुते च परोक्षे अभिहिते, तत्परोक्षत्वे इन्द्रियज्ञानस्यापि परोक्षत्वमेव पारमार्थिकम् । पं. ८. आहेत्यादि, धूमादग्निज्ञानवत्, न त्वक्षजमिति भावः । इह यदित्यादि, हन्त ! इहापीन्द्रिय-मनोभिर्गृहीते बाह्य धूमादौ लिङ्गेऽन्यादिविषयं यज्ञानमुत्पदते तदेकान्तेन परोक्षम्, इन्द्रिय-मनसामात्मनश्च तदग्राहार्थस्य एकान्तेन परोक्षत्वादिति भावः । पं. १०. यत् पुनरित्यादि, लिङ्गमन्तरेणैव यदि-१५ न्द्रिय-मनसां वस्तुसाक्षात्कारित्वेन ज्ञानमुपजायते तत् तेषां प्रत्यक्षत्वात्कृत्यवहारमात्रापेक्षया प्रत्यक्षमुच्यते, अलिङ्गत्वात्, अवध्यादिवत्, न त्वामनस्तत् प्रत्यक्षमिति शेषः । इन्द्रिय-मनोभवं ज्ञानमात्मनः परोक्षमेव, परनिमित्तत्वात्, धूमादग्निज्ञानवत् ।

पं. ११. यदेवं यद्विज्ञमन्तरेणैव साक्षादिन्द्रिय-मनोनिमित्तं ज्ञानमुत्पदते तत् परमार्थतः प्रत्यक्षमस्तु, किं तदपि परोक्षत्वे-नेष्यते ? नैवमित्याह—इन्द्रियाणामपीत्यादि, इन्द्रिय-मनांसि ज्ञानजनकत्वेनाऽस्मनो व्याप्रियन्ते इति ज्ञाननिमित्तत्वेन साक्षाद् व्याप्रियमाणत्वादुपचारतोऽक्षं—इन्द्रियं प्रति वर्तते इतीन्द्रियप्रत्यक्षमुच्यते, न तत्त्वतः; यतो यदिन्द्रिय-मनोनिमित्तं ज्ञानमुत्पदते २० तदप्यात्मनः, न त्विन्द्रियाणाम्, तेषामवेतनत्वात् । एतेन ये वैशेषिकादयो अक्षं—इन्द्रियं प्रति गतं प्रत्यक्षमितीन्द्रियाणां साक्षाद् घटाद्यथोपलब्धेष्टादिज्ञानं प्रत्यक्षमिच्छन्ति तत्र युज्यत इत्यावेदितम्, इन्द्रियाणामवेतनत्वेन ज्ञानायोगात् । तथाहि—यदचेतनं तत्र जानाति, यथा घटादि, अचेतनानि चेन्द्रियाणि, कुतस्तेषामुपलब्धिः प्रत्यक्षं भवेत् ? । एवं मूर्तिमत्त्वात् स्पर्शादिमत्त्वाच्च न जानन्ति । न च वाच्यस्—‘इन्द्रियाणि न जानन्तीति प्रत्यक्षविरोधिनी प्रतिज्ञा, तेषां साक्षात्कारेणाथोपलब्धेनुभवप्रत्यक्षेण प्रतिग्राणि प्रसिद्धत्वात्’ [इति], यतश्चक्षुरादीन्द्रिये करणतया व्याप्रियमाणे वस्तुनामुपलब्धा आत्मैव, न त्विन्द्रियम्, चक्षुरादीन्द्रियोपरमेऽपि २५ तदुपलब्धार्थानुसर्त्वात् । इह यो येषूपरतेष्वपि तदुपलब्धानर्थाननुस्मरति स तत्रोपलब्धा दृष्टः, यथा गृहगवाक्षोपलब्धानामर्थानां तद्विगमेऽप्यर्थानुस्मर्ता देवदत्तादिः, अनुस्मरति चेन्द्रियविगमेऽपि तदुपलब्धमर्थमात्मा, तस्मात् स एवोपलब्धा । यदि पुनरिन्द्रिया-प्युपलब्धकानि स्युस्तदा तद्विगमे कस्यानुस्मरणं स्यात् ?, नव्यन्येनोपलब्धेऽन्यस्य स्मरणं युक्तम्, अस्ति चानुस्मरणम्, तस्मान् जानन्तीन्द्रियाणि । ततश्चेन्द्रिय-मनोनिमित्तमात्मनो ज्ञानं परनिमित्तत्वात् परोक्षमति-श्रुतान्तर्भावाचानुमानवत् परोक्षं तत्त्वतः, संव्यवहारतस्तु प्रत्यक्षम् ।

पं. १२. अत एवाह—अत्र बहु बक्तव्यमित्यादि, मनोनिमित्तस्यापि ज्ञानस्य परनिमित्तत्वाद-३० नुमानवत् परोक्षत्वं ज्ञेयम् । न च बक्तव्यम्—‘आगमेऽस्य तत् परोक्षत्वं न क्वचिद् विशेषतोऽभिहितम्’ [इति], यतो मति-श्रुतयोरागमे परोक्षत्वस्य विशेषतो भणनात्, मनोनिमित्तस्यापि च ज्ञानस्य तदन्तःपातित्वादिन्द्रियज्ञानस्येव परोक्षत्वं सिद्धमेवाऽह ।

पं. १३. अत एवाह—इह मनोज्ञानमपीत्यादि, योग-क्षेमौ आक्षेप-परिहारौ तुल्यावस्थेन्द्रियज्ञानेन सहेति ।

पं. ३०. कायन्ति शब्दयन्ति योग्यतया तदेतुकर्मोपादानत इत्यर्थः ।

[पृष्ठ २२]

पं. ४. उदय० गाहा । व्याख्या—उदयः क्षयः क्षयोपशम उपशम इत्येते चत्वारः कर्मणोऽवस्थाविशेषाः ‘यद्’ यस्माद् भणिता एते ग्रवर्तन्ते इत्यर्थः । कथम्? इत्याह—‘द्रव्यं क्षेत्रं कालं भवं च भावं च सम्प्राप्य’ इति द्रव्याद्यपेक्षाः सन्तः स्युः, न यतस्तत इत्यर्थः । तत्र पीतमदिरस्य भक्षितहृत्पूरकस्य वा ज्ञानान्यथात्वं द्रव्याद् भवतीति प्रतीतम्, मण्डूक-त्राली-कहुणीतैलादिपानादिना कचित् कदाचिदज्ञाननिवृत्तिश्च भवति । देवताराघन-मन्त्रादिस्मरणतश्च सा भवतीति भावापेक्षाऽप्यसौ । एवं स्त्र-चन्दनाऽङ्गना-५ ऽरोग्यत्वादिद्रव्य-भावापेक्षः साताद्युदयो भवति । तथा निद्रादिपञ्चकोदयो भक्षितमाहिषदधि-वृन्ताकादिद्रव्यस्य जीवस्य तत्तद्रव्यमपेक्ष्य भवन् द्रव्यापेक्षः । सजलादिक्षेत्रं प्राप्य स एवातिशयेन भवतीति क्षेत्रापेक्षः । निद्रोदयस्यैव रजन्यादिकः कालः विशेषतो ग्रीष्मो वा इति कालापेक्षः । स एवैकेन्द्रियादिभवं प्राप्य पृथिव्यादिवनस्पतीनां विशेषतो निद्रोदय इति भवापेक्षः । स एव चित्स्यास्यादेभावमपेक्ष्य भवन् भावापेक्ष इति । एवं द्रव्यादयः परस्परं सब्यपेक्षाः सन्तः कर्मणासुदय-क्षय-क्षयोपशमोपशमरूपं कचित् कदाचिदवस्थाविशेषं जनयन्तीति क्षयोपशमजोऽप्यवधिर्देव-नारकयोर्भवप्रत्ययो भवति, अवश्यं तस्य तत्र भावात् । तिर्यग्मनु-१० ष्याणां भवे सत्यप्यसौ क्षयोपशमज एव, कचित् कदाचिदेव भावाद् इति प्रकृतोपयोगि । अन्यच्च तृणाद्याहारस्तजप्रभूतमारोद्धरन-सामर्थ्यं च तिरथां भवप्रत्ययं भवति । नारकाणां तादृशमारणान्तिकवेदनाधिसहनसामर्थ्यं भवप्रत्ययं भवति, एवं वीर्यान्तराय-कर्मक्षयोपशमात् केचिन्महासामर्थ्योपेता मनुष्या अपि दृश्यन्ते, केचित् प्रबलवीर्यान्तरायोदयात् तृणकुञ्जीकरणोऽप्यसमर्था इति । एवं सर्वत्र द्रव्याद्यपेक्षया उदयादयः प्रवर्तन्ते इति गार्थार्थः ॥

अवधानमवधिः—इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम् । अवधेश्व ज्ञानमवधिज्ञानम् । अथवा अवधिः—मर्यादा, तेनाव-१५ धिना-रूपिद्रव्यमर्यादात्मकेन ज्ञानमवधिज्ञानम् । तद् भवप्रत्ययं नारक-देवानाम्, गुणप्रत्ययं मनुष्य-तिरथाम् ।

[पृष्ठ २३]

पं. १. तद् द्विविधं सत् षोढा आनुगासुकादिभेदात् । आ-अभिविधिना अनुगमनशीलमानुगासुकम्, यत्र उत्पन्नं ततो देशान्तरगतमपि ज्ञानिनं यदनुगच्छति लोचनवत् तदानुगासुकम् १ । यत्र क्षेत्रे उत्पन्नं तत्रस्थ एव पदयति नान्यत्र गत इति, यत् तदेशस्थितस्यैव भवति स्थानस्थर्दीपवत्, तत् तदेशनिबन्धनक्षयोपशमजत्वाद् देशान्तरगतस्य तु भ्रंशाद् अनानुगासुकम् २ । २० वर्द्धमानकं यद्भुलासंख्येयभागादिविषयमुत्पद्य पुनः वृद्धि—विषयविस्तरणात्मिकां याति यावदलोके लोकप्रमाणान्यसंख्येयानि खण्डादीनि ३ । हीयमानकं यद् जघन्येनाङ्गुलासंख्येयभागविषयम् उत्कर्षेण सर्वलोकविषयमुत्पद्य पुनः संक्लेशवशात् क्रमेण हानि-विषयसङ्कोचात्मिकां याति यावद्भुलासंख्येयभागस्तोऽपि प्रतिपतति, येन त्वलोकस्य प्रदेशोऽपि दृष्टस्तस्य न हीयते ४ । प्रतिपाति कियन्तमपि कालं स्थित्वा ततो अंसनस्वभावं यदित्यर्थः ५ । अप्रतिपाति आमरणान्तभावि यदित्यर्थः ६ । अत्र चाप्रतिपाति ज्ञानमनुगाम्येव भवति, आनुगासुकं त्वप्रतिपाति प्रतिपाति च भवतीत्युभयोर्विशेषः । तथा प्रतिपाति प्रतिपतत्येव, २५ पतितमपि च देशान्तरे गतस्य कदाचिजायते, न चेत्थमनानुगासुकम्, यत् इदं यत्र देशे तिष्ठतः समुपन्नं तत्रैव तिष्ठतश्चयते न वा, च्युतमपि देशान्तरे पुनरप्युत्पत्तिप्रदेशे समायातस्य भवतीति प्रतिपात्यनानुगासुकयोर्भेदः । पं. १५. तच्च फडु-कावधित्वादिति, अपवरकादिजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभानिर्गमस्थानानीवाऽवधिज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यवधिज्ञाननिर्गमस्थानानीह फडुकान्युच्यन्ते, तानि चैकजीवस्य संख्येयान्यसंख्येयानि च भवन्ति, तैर्यदवधिज्ञानं जीवस्य तत् फडुकावधीत्युच्यते । तत्र सकल-जीवोपयोगे सत्यपि साक्षादेकदेशेनैव दर्शनादात्मप्रदेशान्तर्गतमुच्यते १ । सर्वात्मप्रदेशक्षयोपशमभावे सत्यप्यौदारिकशर्तरैकदेशेनैव ३० दर्शनादौदारिकशरीरान्तर्गतमुच्यते २ । एकदिगुपलम्भाद् ज्ञानोद्योतितक्षेत्रान्तर्वृत्तेरवधिमत एगदिगुयोतितक्षेत्रान्तर्गतमुच्यते ३ ।

पं. १९. आत्ममध्यगतादिभेदेन मध्यगतमपि त्रिधा—तत्र सर्वात्मोपयोगे सत्यपि मध्य एव सर्वफडुकविशुद्धिसङ्घावात्

साक्षान्मध्यभागेनोपलब्धेरात्ममध्यगतमभिधीयते १ । सर्वात्मनः क्षयोपशमयोगाविशेषेऽप्यौदारिकशरीरमध्यभागेनैवोपलब्धेरौदारिक-
शरीरमध्यगतमुच्यते २ । सर्वदिग्युपलभादविज्ञानप्रकाशितक्षेत्रमध्य एव ज्ञानिनः सद्ग्रावात् क्षेत्रमध्यगतमभिधीयते ३ ।

पं. २४. अन्तगतं भूयोऽपि पुरतोऽन्तगतादिभेदात् त्रिधा-पुरतः अग्रेतनभागेऽन्तस्थितं प्रागुक्ताम्बदेशादीनाम् । मार्गतः
पृष्ठतः । पासउ ति पार्श्वतः । पं. २९. उल्का दीपिका, केजुलेति या प्रसिद्धा । मणिं व ति प्रदीपशिखा मणिविशेषः,
५ आदिप्रहणादन्योऽप्येवंजातीयो ग्राह्यः । प्रदीपः कलिकारूपः । प्रेरयन् प्रेरयन् आकर्षन् व्याकर्षन् ।

[पृष्ठ २४]

पं. २. नान्यत्रेति, पृष्ठि-पार्श्वयोः । पं. ५. मार्गतोऽन्तगतसूत्रे-उल्कादिकं अणुकड्डेमाणे अणुकड्डेमाणे ति
अनुकर्षन् अनुकर्षन् गच्छेत् । पं. ८. पार्श्वतोऽन्तगतसूत्रे-उल्कादिकं प्रदीपान्तं ज्योतिर्वस्तु पार्श्वतः कृत्वा परिकड्डेमाणे
परिकड्डेमाणे ति परिकर्षन् परिकर्षन् गच्छेत् । पं. १३. मध्यगतसूत्रे-मस्तकस्थेन ज्योतिर्वस्तुना यथा कश्चिद् गच्छेत्
१० सर्वत्र तत्प्रकाशितमर्थं परयेत्, एवं मध्यगतावधिज्ञानिन्यपि योज्यम् । पं. २४. विशुद्धफङ्कैरिति, विशुद्धक्षयोपशमजन्य-
फङ्कानि विशुद्धफङ्कान्युच्यन्ते, तैरित्यर्थः ।

[पृष्ठ २६]

पं. ७. द्रव्यलेश्योपरञ्जितमिति, तत्र—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्याशब्दः प्रवर्तते ॥१॥ [

१५ साचिव्यं-सान्निध्यम् । पं. ११. जावइया० गाहा-त्रिसमयमाहारक इति वाक्यम् । यदा आहारयतीत्याहारकः, त्रीन्
समयानाहारकस्त्रिसमयाहारक इति व्युत्पत्तिः । पं. १९-२४. योजनेत्याद्यार्थाधिकम्—यो मस्यो योजनसहस्रायामः स्व-
देहस्थैरैकदेशो उत्पद्यमानः स प्रथमे समये आयामं सङ्क्षिपति । तं च सङ्क्षिपन् प्रतरं करोति, कथम्भूतम्? इत्याह—‘सङ्ख्या-
तीतास्त्वाङ्गुलविभागवाहल्यमानं’ वाहल्येनाङ्गुलासङ्ख्येयभागसूक्ष्ममित्यर्थः । पुनरपि कथम्भूतम्? इत्याह—स्त्रेति, मस्यदेह-
विस्तीर्णम्, शरीरान्तःसम्बद्धत्वाद्वृद्धिरस्तिर्यक् च यावान् मस्यदेहस्य विस्तरस्तावांस्तज्जीवप्रदेशप्रतरस्यापीत्यर्थः । एवं चाऽयामतो
२० विष्कम्भतश्च मस्यशरीरपृथुत्वतुल्योऽङ्गुलासङ्ख्येयभागवाहल्यश्चायं प्रतरो भवतीत्येष प्रथमसमयव्यापारः, प्रतरमेतावन्यात्र
करोति । दैर्घ्येणापि, कुतः? जीवसामर्थ्यात्, ततो द्वितीयसमये ‘तं’ प्रतरमायामतो विष्कम्भतश्च सङ्क्षिप्याऽङ्गुलासङ्ख्येयभाग-
वाहल्यां मस्यशरीरपृथुत्वायामां सूचिं करोति । ततस्तृतीयसमये या निजतनुपृथुत्वेन दीर्घा सूचिः तामपि सूचिं सङ्क्षिप्याङ्गुला-
सङ्ख्येयभागमात्रावगाहनो भूत्वा निर्जीर्णमस्यभवायुरुदीर्णपरभवायुश्चविग्रहगत्या मस्यशरीरस्थैरैकदेशो ‘पनकः’ सूक्ष्मवनस्पति-
जीवविशेषो भवति । अस्मादुत्पादसमयात् तृतीयसमये यद् देहमानमङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रं एतस्य पनकस्य, तद् जघन्यमवधेविषय-
२५ भूतं ‘क्षेत्रं’ तज्जेयद्रव्यव्याधारम् । एतेन तज्जेयद्रव्यव्याधारत्वेनैव क्षेत्रमवधेविषय उच्यते, न तु साक्षात्, तस्यामृतत्वात्, अवधेस्तु मूर्ति-
विषयत्वादिति । पं. २६. स एव चेत्यादि, यो हि योजनसहस्रायामो महाकायो मस्यञ्जिभिश्च समयैरात्मानं सङ्क्षिपति
स किल प्रयत्नविशेषादतिसूक्ष्मामवगाहनां कुरुते, नान्यः, अनेन ‘किमिति मस्योऽतिमहान् गृह्णते? तृतीयसमयसंक्षिपश्च’
इत्येतस्य द्रव्यस्थोत्तरमदायि । द्वे च गत्वाऽन्यत्र यद्युत्पद्यते विग्रहेण च गच्छति तदा जीवप्रदेशः किञ्चिद् विस्तरं यान्तीत्यवगाहना
स्थूलतरा स्यादित्यविग्रहगत्या स्वशरीरदेश एवोत्पादित इत्येतत् स्वयमेव द्रष्टव्यमिति । पं. २७. किं त्रिसमयाहारको
३० गृह्णते? अत्रोत्तरमाह—प्रथमेत्यादि । पं. २८. त्रिसमयाहारकत्वविषये केचनाऽचार्या व्याचक्षते, यदुत-द्वौ तावन्म-
स्यस्य सम्बन्धिनौ आद्यसमयौ गृह्णते—आद्यामसंहरणेन प्रतरकरणमित्येकः, तत्संहरणेन सूचिं यत्र करोति स द्वितीय इत्यायाम-

विष्णुभग्नोः संहरणसमयद्यम्, तृतीयसमयस्तु सूचिसंहरण-पनकवेनोत्पादश्चेति त्रयम्, ततश्च त्रयः समया यस्यासौ त्रिसमयः, अविग्रहेऽपत्तेराहारकश्च; एवं च सति प्रत्युताऽतिसूक्ष्मपनकश्चार्थं सिद्धो भवति, तथा च सति “तिसमयाहारगस्स पगगजीवस्ते” ति सूत्रकारवचनमाराख्यं भवति, किञ्चेह यथा सूक्ष्मः सूक्ष्मतरोऽसौ भवति तथा कर्तव्यम्, एतच्चास्मिन् व्याख्याने सविशेषं सिद्धति, उत्पादसमय एव यतो यस्मादसौ पनकजीवोऽतिजघन्यावगाहनो भवति, न शेषसमयेषु, द्वितीयादिष्ठीष्महत्वात्, जघन्यावगाहनश्च सूत्रे प्रोक्तः, ततोऽतिसूक्ष्मवसिद्धेस्तस्य पनकदेहस्य समानमेव किलावधेविषयमूतं जघन्यं क्षेत्रं भवतीति । न युक्तमिदं ५ केषाञ्चिद् व्याख्यानम्, त्रिसमयाहारकल्पस्य पनकविशेषणेत्कल्पात्, मर्त्यसमयद्यस्य च पनकसमयत्वायोगात्; योऽपीत्थमपि जघन्यावगाहनालाभलक्षणो गुण उद्भाव्यते सोऽपि न युक्तः, यस्मानेहातिसूक्ष्मेगातिमहता वा किञ्चित् प्रयोजनम्, किं तर्हि ? योग्येन, योग्यश्च स एव तदेत्तमिद्धो यः प्रथमं जघन्यावगाहनः संस्तस्मिनेव भवते समयत्रयमाहारं गृह्णाति ।

[पृष्ठ २७]

पं. ४. सर्ववह्निग्रीवाः ‘निरन्तरं’ सततं नैरन्तर्येत्यर्थः ‘यावदिति’ यत्वमाणं ‘क्षेत्रम्’ आकाशं वद्यमाणविशिष्टसूक्ष्मी- १० रचनया रचिताः सन्तः ‘भृतवन्तः’ व्याप्तवन्तः । पं. ५. भूतकालनिर्देशशाजितस्त्रामिकाल एव वद्यमाणयुक्त्या प्रायः सर्ववह्निवोऽनलजीवा भवन्त्यस्यामवसर्पिण्यामित्यस्यार्थस्य ल्यापनार्थः । अनलजीवोऽपत्तेर्महावृष्ट्यादिव्याघाताभावे समस्तभरतैरावत-विदेहलक्षणपञ्चदशसु कर्मभूमिषु सर्ववह्निवो बादराग्रीवा भवन्तीति । किमविशेषेण सर्वदैव एतास्तेते भवन्ति ? नैवम्, किन्त्व-जितजिनेन्द्रकाले, अजितजिनेन्द्रस्याप्युपलक्षणत्वादवसर्पिण्यां द्वितीयतीर्थकरकाले अग्निग्रीवा बहवो भवन्ति ।

पं. १२. कुतः ? तदारम्भकपुरुषवाहुल्यादिति, तेषां-बादराग्रीवानां आरम्भकाः-उत्पादकाः सन्धुक्षण-ज्वालनादा- १५ रम्भकरणात् तदारम्भका ये पुरुषास्तेषां बाहुल्यात् । कोऽर्थः ? सर्वेभ्योऽप्यतीता-ज्वालगतेभ्यो बहवः प्रचुरा गर्भजमनुयास्तदा भवन्ति स्वभावादेवेति । आह—किमेतैरेव बादराग्रीवैः सर्ववह्निग्रीवपरिमाणं पूर्यते ? आहोश्चित् सूक्ष्माग्निभिः सह ?, यदि तैसह तदा तेऽविशिष्टा अपि गृह्णन्ते ? आहोश्चित् केचिदेव विशिष्टाः ? इति, उच्यते—स्वभावाद यदा सूक्ष्माग्रीवा अप्युक्तृष्ट-पदिनः स्युः । इदमत्र हृदयम्—अनन्तानन्तास्ववसर्पिणीषु मध्ये स एव कश्चिद् द्वितीयतीर्थकरकालो गृह्णते यत्र सूक्ष्माग्रीवा उत्कृष्टपदिनः प्राप्यन्ते, ततश्च तैर्वादैरैः सूक्ष्मशाग्रीवैरुत्कृष्टपदिभिर्मालितैः सर्ववह्निग्रीवानां परिमाणं ग्राह्यम् । अत एवाह— २० सूक्ष्माश्चेति । तत्रैवेति तेष्वेव मध्ये गृह्णन्ते । पं. १३. तेषां चावस्थानं बहुतरक्षेत्रपूरकं बुद्धच्या षोढा यवयिं सम्भवति तथापि ‘पञ्चाऽनादेशाः षष्ठ्यस्वादेशः’ इति वक्तुमाह—तेषां चेति, अयमर्थः—तैः सर्वैरप्यग्रीवैः समचतुरसो घनो द्विभेदः स्थाप्यते, कथम् ? इति, उच्यते—एकैकाकाशप्रदेशे एकैकाग्रीवीरचनया स्वावगाहे चाऽसङ्घच्येयाकाशप्रदेशलक्षणे एकैकाग्रीवीरचनयेति । अत्र स्थापना द्दृश्य । एतेषां नवानामग्रीवानां प्रत्येकमेकैकाकाशप्रदेशे व्यवस्थापितानामधस्तादुपरिष्ठाच्चान्येऽपि नव नव जीवा इत्थेव व्यवस्थाप्यन्ते, एष कल्पनया सप्ताविंशत्या सद्वावतस्त्वसङ्घटयेयरग्रीवैरेकैकाकाशप्रदेशव्यवस्थापितैर्धनो मन्तव्यः । द्वितीयोऽपि २५ घन इत्थेव द्रष्टव्यः, केवलमिहासंख्येयाकाशप्रदेशेष्वैकैकजीवो व्यवस्थाप्यते । एवमेकैकाकाशप्रदेशे एकैकजीवस्थापनया असङ्घच्येय-प्रदेशात्मकस्वावगाहस्थापनया च प्रतोऽपि द्विभेदः, सूचिरपि द्विभेद । तत्र घन-प्रतरपक्षश्चतुर्भेदः पञ्चमश्चैकैकाकाशप्रदेशस्थापितै-कैकजीवलक्षणसूचिपक्षोऽपि न ग्राह्यः, दोषद्वयानुषङ्गात् । तथाहि—पञ्चविधयाऽप्यनया स्थापनया स्थापिता अग्रीवाः षष्ठ्यस्य दिक्षवधिज्ञानिनोऽसत्कल्पनया भ्रम्यमाणाः स्तोकमेव क्षेत्रं सृशन्तीत्येको दोषः, एकैकाकाशप्रदेशे एकैकजीवस्थापनायामागम-विरोधश्च द्वितीयो दोषः, असङ्घच्येयाकाशप्रदेशानन्तरेणाऽप्यमे जीवावगाहनिषेधात् । पं. १५. असत्कल्पनया प्रतिप्रदेशा- ३० वगाहोऽप्यस्त्विति चेत्, नैवम्, कल्पनाऽपि सति सम्भवेऽविरोधिन्येव कर्तव्या, किं विरोधिन्या ? इत्यालेष्वाऽह-षष्ठः श्रुतादेश इति, असङ्घच्येयाकाशप्रदेशलक्षणे स्वावगाहे पञ्चत्रया एकैकजीवस्थापनेन यः सूचिलक्षणः षष्ठः पक्षोऽयं श्रुते आदिष्ठत्वाद् ग्राह्यः,

शेषास्तु पञ्च ‘अनादेशा’ सम्भवोपदर्शनमात्रेगोक्तव्यात् परिहार्याः । इयं हि यथोक्ता सूचिरैकक्जीवस्यासङ्घंचेयकाशप्रदेशावगाहे व्यवस्थापितत्वाद् बहुतरं क्षेत्रं स्फुशतीयेको गुणः, अवगाहविरोधाभावस्तु द्वितीयः । ततश्चैषाऽप्तिजीवसूचिरविज्ञानिनः षट्स्वपि दिक्षवस्तुकल्पनया भासिता सर्ती अलोके लोकप्रमाणान्यसङ्घंचेयखण्डानि स्फुशति, अत एतावदुत्कृष्टक्षेत्रमवेविषय इत्युक्तं भवति । आह—ननु ‘रूपिद्रव्याण्येवावधिः पश्यति’ इति गीयते, क्षेत्रं व्यमूर्तत्वात् कथं तद्विषयः ? इत्याशङ्कचोक्तं भाष्यकृता—

५ सामर्थमेत्तमेयं, जद दद्व्यं हवेज पेच्छेजा ।

न य तं तत्थऽस्थि जओ, सो रूपिनिबंधणो भणिओ ॥१॥ [विशेषावस्थके गा. ६०५]

यदवधेतावत् क्षेत्रं विषय उच्यते तदेतत् तस्य सामर्थ्यमात्रमेव कीर्त्यते । कोऽर्थः ? इत्याह—यदेतावति क्षेत्रे द्रष्टव्यं किमपि भवेत् तदा पश्येदवधिज्ञानी, न च तद् द्रष्टव्यं तत्रालोके समस्त, यतोऽप्यमवधिस्तीर्थकरणगाघरै रूपिद्रव्यनिबन्धनो भणितः, तच्च रूपिद्रव्यमलोके नास्येवेति । आह—यदेवं लोकप्रमाणोऽवधिर्भूत्वा यस्य पुरतो विशुद्धिवशातो लोकाद बहिरप्यसौ वर्द्धते तस्य 10 तदवृद्धेः किं फलम् ? लोकाद बहिर्दृष्टव्याभावात्, अत्रोच्यते—लोकस्थमेव सूक्ष्मतरं सूक्ष्मतमं द्रव्यं पश्यति यावैनक्षयिकपरमाणु-मर्पति तदवृद्धेस्तात्त्विकं फलम् ॥ पं. २१. अंगुलमावलियाणं० गाहा । पं. २३. उक्तं चेत्यादि, असंख्येयानां समयानां समुदयः—समुदयः, स च तेषां विशकलितानामपि तथाविधदेवदत्तादीनामिव स्यादत उच्यते—समुदयस्य समितिः—नैरन्तर्येण मीलना, सा च नैरन्तर्यावस्थापितायःशिलाकानामिव परस्परनिरपेक्षाणामपि स्यादत उच्यते—तस्याः समुदयसमितर्यः समागमः—परस्परसम्बद्धतया विगिष्ठैकपरिणामो भूत-भवद-भविष्यत्समयप्रवाहेग समागमः, तेनैवमूत्समयराशिना एका आव-15 लिका भवति, जवन्ययुक्तासंख्यातकप्रतिसमयमान आवलिकाकालो भवतीति तात्पर्यम् । “अंगुलमावलियाण” मित्यादिगाथा-त्रयस्य [सूत्रगा. ४७—४९] तात्पर्यमिदम्—उपचारेग सर्वत्र द्रव्यमेव पश्यतीति विजेयम् । ततश्च ‘अङ्गुलासङ्घंचेयभागादिकं क्षेत्रं पश्यति’ इति कोऽर्थः ? तत्रैवैतावति क्षेत्रे यानि प्रस्तुताविधिर्दर्शनयोग्यानि पुद्गलद्रव्याणि तान्येवासौ पश्यति । ‘आवलिकासङ्घंचेय-भागादिकं कालं पश्यति’ इत्यत्रापि च कोर्थः ? तेषामेव पुद्गलद्रव्याणां ये प्रस्तुताविधिर्दर्शनयोग्याः पर्यायास्तान् भूतेऽनागते चैतावति कालेऽसौ वीक्षते इति । एवं सर्वत्र क्षेत्रे काले चाकवेविषयत्वेनोक्तयथासङ्घंचेत्रगतानि योग्यरूपिद्रव्याणि कालगतांस्तु योग्यास्तपर्यायानायोजयेत्, क्षेत्र-कालौ तु ‘मञ्चाः क्रोशन्ति’ इत्यादिन्यायेनोपचारत एवोच्यते इति भावः । एवं तावत् परिस्थूरन्यायमङ्गीकृत्य-क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिरनियता, यतो यथा क्षेत्रं वर्द्धते न तथा कालो वर्द्धते, भरतक्षेत्रपेक्षया जन्मवृद्धीपो महान्, कालस्तु न तथेति । कालवृद्धौ तु क्षेत्रवृद्धिर्भवत्येवेति प्रतिपादितम् । पं. १६. साम्रतं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावपेक्षया यदवृद्धौ यत्य वृद्धिर्भवति यस्य वा न भवत्यमुमर्य प्रतिपादयनाह—

काले चउण्ह बुङ्डी, कालो भइयव्यो खेत्तबुङ्डीए ।

२५ बुङ्डीए दव्य-पजव भइयव्या खेत्त-काला उ ॥ [सूत्रगा. ५१]

‘काले’ अवधिगोचरे वर्द्धमाने सर्तीति गम्यते, “चउण्ह बुङ्डी” त्ति नियमात् क्षेत्रादीनां चतुर्गामपि वृद्धिर्भवति, कालात् सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतमवात् क्षेत्र-द्रव्य-पर्यायाणाम् । तथाहि—कालस्य समयेऽपि वर्द्धमाने क्षेत्रस्य ग्रभूतप्रदेशा वर्द्धन्ते, तदवृद्धौ चाऽवद्यम्भाविनी द्रव्यवृद्धिः, प्रत्याकाशप्रदेशं द्रव्यप्राचुर्यात् । द्रव्यवृद्धौ च पर्यायवृद्धिर्भवत्येव, प्रतिद्रव्यं पर्यायवाहुल्यादिति । यदेवं ‘काले वर्द्धमाने शेषस्य क्षेत्रादित्रयस्य वृद्धिर्भवति’ इति “काले तिग्सु बुङ्डी” इत्येव वक्तुमुचितम्, कथं चतुर्गामित्युक्तम्, 30 सत्यम्, किन्तु सामान्यवचनमेतत् । तथाहि—यथा देवदत्ते भुजाने सर्वमपि कुदुम्बं भुड्क इत्यादि, अन्यथा हत्रापि देवदत्ताच्छेषमपि कुदुम्बं भुड्क इति कल्प्यं स्यात्; यथा वा एकस्मिन् रसनेन्द्रिये जिते पञ्चापि जितानि भवन्ति; तथा अन्वे भोक्तुमाकारिते जनद्रयमागच्छतीत्यादिवचनप्रवृत्तिर्दर्शनादित्यदोषः । “कालो भइयव्यो खेत्तबुङ्डीए” त्ति क्षेत्रस्य—अवधिगोचरस्य वृद्धौ—आधिक्ये सति कालः ‘भक्तःयः’ विकल्पनीयः, वर्द्धते वा न वा, ग्रभूते क्षेत्रे वृद्धि गते वर्द्धते कालः, न स्वल्पे इति भावः ।

अन्यथा हि यदि क्षेत्रस्य प्रदेशादिवृद्धौ कालस्य नियमेन समयादिवृद्धिः स्यात् तदाऽङ्गुलमात्रादिकेऽपि वर्धिते क्षेत्रे कालस्यासङ्घचेया उत्सर्पिण्यवसर्पिष्यो वर्द्धेत् । तथा च वद्यति—“अंगुलसेढीमेते ओसपिणिओ असंखेज” त्ति अङ्गुलश्रेणिमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेश-राशिः स प्रतिसमयं प्रदेशापहरेणापहियमाणोऽसङ्घचेयावसर्पिणीभिरपहियते इति भावः, ततश्च “आवलिया अंगुलपुहुत्त” मित्यादि सर्वं विरह्येत, तस्मात् क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिर्भजनीयैव, स्थूलत्वात् कालः स्याद् वर्द्धते स्यानेति । इव्य-पर्यायास्तु क्षेत्रवृद्धौ नियमाद वर्द्धन्त एवेति स्वयमेव दृश्यम् । “वृद्धीए दब्ब-पञ्जवे” त्यादि, दब्ब-पर्याययोर्वृद्धौ सत्यां क्षेत्र-कालौ ‘भक्तव्यौ’ विकल्पनीयौ, वर्द्धेते ५ वा न वा । तथाहि—अवस्थितयोरपि क्षेत्र-कालयोस्तथाविभृशुभाव्यवसायतः क्षयोपशमवृद्धौ दब्बं वर्द्धते एव, तदवृद्धौ च पर्यायवृद्धिरवश्यम्भाविन्येव, प्रतिदब्बं पर्यायानन्त्यात्, जबन्यतोऽपि चैकैकदब्बादप्यवधेः पर्यायचतुष्यलाभादिति । पर्यायवृद्धौ च इव्यवृद्धिर्भाज्या, भवति वा नवेति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । अवस्थितेऽपि हि इव्ये तथाविवक्षयोपशमवृद्धौ पर्याया वर्द्धन्त एवेति गाथार्थः ॥

पं. १८. वृत्तौ—सप्तम्यनन्तता चास्येति, खेत्तवुद्धीए इत्यस्य पदस्येत्यर्थः ।

पं. १९. सप्तम्या यथैकारस्तथाऽङ्ग-ए होइ अयारंते० इत्यादिगाथा । व्याख्या—द्वितीयाबहुवचनान्तेऽकारान्तपदे पुणिङ्गे- १० ऽभिधेये यत् तस्यैकारो भवति, यथा—“भमिऊण जिणवरिदे” [उपदेशमाला गा. १] इत्यादि । तथा द्वितीयादिषु आदिशब्दात् चतुर्थीपरिग्रहः, ततश्च “एगम्मि” त्ति एकवे वर्तमानानां तृतीया-चतुर्थी-षष्ठी-सप्तमीनां स्थाने ‘महिलये’ त्ति खीलिङ्गेऽभिधेये एकारो भवति, तत्र तृतीयायां यथा “मुंदरवृद्धीए कयं” इत्यादि, चतुर्थीय यथा—“गावीए पुण दिलं तणं पि खीरतणमुवेति ।” इत्यादि, षष्ठ्याः स्थाने यथा—“तीए पुण विसुद्धीए कारणं होति पडिमाओ ।” इत्यादि, सप्तम्याः स्थाने यथाऽन्यैव । ननु ‘तृतीयादिषु-इत्यत्राऽङ्गदिशब्दात् किमिति न पञ्चमीपरिग्रहः ? नैवम्, तस्थाने ओकारस्य दर्शनात्, तथा—“इत्थीअ आवि संकरणं” इत्यादि, १५ अत एव चात्र “तइयाइसु छट्टी-सत्तमीण” इति व्यस्तनिर्देशः, अन्यथा हादिशब्देन चतुर्थीदीनां सर्वासामणि विभक्तीनामनुरोधः स्यादेवेति गाथार्थः ॥

पं. २५. ननु वस्तुनां नव-पुराणादयः पर्यायाः कालकमेणैव भवन्ति, अतस्ते चेन्तरोत्तरकालकमवृद्धिभाजो वर्द्धन्ते तदा तदवृद्धौ सिद्धैव कालवृद्धिः, अतः ‘पर्यायवृद्धौ कालो भजनीयः’ इति यदुकं तदसङ्गतमित्याशङ्क्याऽङ्ग-अक्रमवर्तिनामपि च वृद्धिसम्भवादिति, इदमुकं भवति—यद्युक्तरोत्तरकालकमवृद्धिभाजो नव-पुराणादय एव वस्तुनां पर्यायाः स्युतदा युज्येत भवद्वचः, २० तत्र नास्ति, रूप-रस-गन्ध-स्पर्शतारतम्यादिपर्यायाणां मन्दक्षयोपशमावस्थाऽनुपलब्धानां विशिष्टक्षयोपशमे सति कालकमवृद्धयभावे- ३५ पि बहुनां युगपदेव वृद्धिसम्भवादिति भावनीयम् । पं. २५. अत्रेत्यादि, क्षेत्र-कालयोः सम्बन्धिनां प्रदेशानां समयानां च सङ्घचामाश्रिय यन्मानं तत् परस्परं किं तुल्यं हीनमधिकं वा भवेत् ? इति प्रश्नार्थः । पं. २७. सर्वत्रेत्यादिना प्रतिविधते ।

[पृष्ठ ३०]

पं. १५. “तेया-भासे” त्यादि, “गुरुलहुय अगुरुयलहुयं तं पि य तेणैव निटाइ” त्ति उत्तरार्द्धम् ।

२५

व्याख्या—तैजसं च भाषा च तैजस-भाषे, तमोर्द्वयाणि तेषां तैजस-भाषाद्व्याणाम् ‘अन्तराद्’ अपान्तराले ‘एथ’ त्ति अत्रान्यदेव तदयोग्यं दब्बं ‘लमते’ पश्यति ‘प्रस्थापकः’ अवधिज्ञानप्रारम्भकः, अवधिप्रतिपत्तेति यावत् । किंविशिष्टं तत् ? इत्याह—‘गुरुलहु अगुरुलहु चेति गुरुलहुपर्ययोपेतं गुरुलहु, अगुरुलहुपर्ययोपेतं त्वगुरुलहु । तत्र तैजसदब्यासनं गुरुलहु, भाषाद्व्यासनं त्वगुरुलहु । तदपि चावधिज्ञानं तदावरणोदयात् प्रतिपत्तत् ‘तैनैव’ उक्तस्वरूपदब्ययोपलब्धेन सता निष्ठां याति, प्रतिपत्तीत्यर्थः । अपिशब्देन चैतद् ज्ञापयति—प्रतिपातिन्यवधिज्ञाने अयं न्यायः—आरम्भे यद् दृष्टं तद् दृष्ट्वा प्रतिपत्तीति । न चैतदवश्यं प्रतिपा- ३० त्येवेति भावः ॥

भावार्थः प्राक् प्रतिपादित एवेति । क्षेत्र-कालदर्शनमुपचारेणोन्यते, “मञ्चाः क्रोशन्ति” इति न्यायेन, यतो मूर्च्छद्वया-

लभ्यन्तवादवधेश्चियं भावार्थः । पं. २९-३०. “ओही०” गाहा [सू. २९ गा. ५३] “बन्धिओ एसो” ति पाठः, पाठान्तरे “बन्धिओ दुविहो” ति पाठः ।

[पृष्ठ ३१]

पं. ५. नेरद्य० गाहा [सू० २९ गा. ५४] । यस्य नैरन्तर्येण सर्वतोभाविनोऽवधेस्तद्वान् जीवोऽभ्यन्तरे वर्तते ५ सोऽभ्यन्तरावधिः । तथा च [आवश्यक]चूर्णिः—‘अंवंतरावही नाम’ जत्थ से ठियस्स ओहिज्ञाणं समुपन्नं तभो ठाणाओ आस्म सो ओहीनाणी निरंतरसंबद्धं संखेजं वा असंखेजं वा खेतं ओहिणा जाणइ पासइ एस अंवंतरावही” [विभाग १ पत्र ६३] अवधिमतः ‘बहिः’ बाह्योऽवधिः । अयमर्थः—“जत्थ से ठियस्स ओहिज्ञाणं समुपन्नं तम्मि ठाणे सो ओहिनाणी न किंचि पासइ, तं पुण ठाणं जाहे अंतरियं होइ अंगुल-विहित्थमाईहि संखेजेहि असंखेजेहि वा जोयणेहि ताहे पासइ, एस बौहिरावही” [आवश्यकचूर्णि विभाग १ पत्र ६२-६३] । एवं चावधेद्वैविद्ये नारका देवास्तीर्थकराश्वावधिज्ञानस्याबाहा भवन्ति, १० अवध्युपलब्धस्य क्षेत्रस्यान्तर्वर्तन्ते, अभ्यन्तरवर्तन्ते एव भवन्ति, अत एवाबाह्यावधय एवैते प्रतिपादन्ते, अभ्यन्तरावधय इत्यर्थः, अवधिप्रकाशितक्षेत्रस्य प्रदीपा इव निजनिजप्रभापटलस्य नैते बहिर्भवन्तीति भावः । तथाऽवधिना ‘पश्यन्ति’ अवलोकयन्ति, खलु-शब्दस्यावधारणार्थत्वात् ‘सर्वत एव’ सर्वास्तेव दिक्षु विदिक्षु च, न तु देशत इत्यर्थः । ‘शेषा’ तिर्यग्-मनुष्याः ‘देशेनेति’ एक-देशोन पश्यन्ति, तत्र वाक्यावधारणविधेरिष्टः प्रवृत्ते: शेषा एव देशतः पश्यन्ति, न तु शेषा देशत एवैति द्रष्टव्यम्, शेषास्तिर्यग्-मनुष्याः सर्वतो देशतश्च पश्यन्तीति भावः । ननु ‘अवधेरबाह्या भवन्ति’ इत्यवध्युपलब्धक्षेत्रस्याभ्यन्तरे नारकादयो वर्तन्ते इत्युक्ते १५ सति ‘पश्यन्ति सर्वतः’ इति किमर्थं भण्यते ? ये ह्यवधिप्रकाशितक्षेत्रस्य मध्ये वर्तन्ते ते सर्वतः पश्यन्त्येवैति गतार्थवादतिरिच्छते ? अत्रोच्यते—यो ह्यसम्भद्रवलयाकारक्षेत्रप्रकाशकावधिर्भवति तद्वान् साव्वादिरवयव्युपलब्धक्षेत्रस्यान्तः स्थितोऽपि न सर्वतः पश्यति, अन्तरालादर्शनात्, अतस्तद्वयवच्छेदार्थं कर्तव्यं ‘पश्यन्ति सर्वतः’ इति ॥

अथवा पूर्वाद्विमन्यथा व्याख्यायते—तत्र के नियतावधयः ? के वाऽनियतावधयः ? इति प्रश्ने नारक-देव-तीर्थकरा अवधेर-बाह्या भवन्तीति । कोऽर्थः—अवधिज्ञानवन्त एवामी भवन्ति, अवधिज्ञानं नियमेनैषां भवतीत्यर्थः । तत्रापि किमर्मा तेनावधिना सर्वतः २० पश्यन्ति ? देशतो वा ? इति संशये सत्याह—“पासंति” इत्याद्युत्तरार्द्धम्, अस्य व्याख्या तथैवेति । ततैतत् स्थात्—“भवप्रत्ययो नारक-देवानाम्” [तत्वार्थ- अ. १ सू. २२] इत्यादिवचनात् तथा—“तिहिं नाणेहि समग्ना तिथ्यरा जाव होति गिहवासे ।” [आव० भाष्य गा. ११० पत्र १८७] इत्यादिवचनात् पारम्परिकावधिसमन्वागमात् सिद्धमेव नारक-देव तीर्थकराणां नियतावधिक्वं तत् किमनेन ? ‘पश्यन्ति सर्वत एव’ इत्येतदस्तु, नैवम्, भवप्रत्ययादिवचनात् सिद्धमीषां नियतावधिक्वे “ओहिस्सऽबाहिरा होति” त्ति कालस्य नियमोऽयं विधीयते । इदमुक्तं भवति—भवप्रत्ययादिवचनात् सिद्धति नियमेन नारकादीनामवधिमत्वम्, परं न ज्ञायते २५ ‘किमाभवक्षयममीषामवधिर्भवति ? आहोस्वित् कियन्तमपि कालं भूत्वाऽसौ प्रतिपतति ? इति, ततश्च “ओहिस्सऽबाहिरा होति” इत्यनेन कालनियमः क्रियते, ‘सर्वदा’ सर्वकालममीषामवधिर्भवति, न त्वन्तरालेऽपि प्रतिपततीति । आह—यदेवं तीर्थकृतां सर्वकाला-वस्थायित्वमवधेविरुद्ध्यते, केवलोत्पत्तावपि वस्तुतस्त्वयरिच्छेदस्याप्यनष्टत्वात् सुतरां केवलज्ञानेन सम्पूर्णानन्तर्धर्मात्मकवस्तुपरिच्छिते: छन्दस्थकालस्य चाविवक्षितत्वाददोषः ॥ इत्यवधिज्ञानं समाप्तम् ॥

[पृष्ठ ३३]

३० अथ मनःपर्यवज्ञाने किञ्चिदुच्यते— पं. ७. उत्पत्तिस्वामीत्यादि, उत्पत्ते: स्वामी तस्य मार्गगा—अन्वेषणा कीटक्षस्येदसुपज्ञायते ? इत्येवंरूपा तस्या द्वारं तेनेति विग्रहः । पं. १३. उक्तं चेत्यादि, अयमत्र सम्बन्धः—राजोपनीतं

१-२ अंवंतरलङ्घी इति पाठः आव० चूर्ण० ॥ ३ बाहिरलंभो आव० चूर्ण० ॥

यत् सिहासनं तत्रोपविष्टो भगवत्पादर्पणे वोपविष्टो ज्येष्ठोऽन्यो वा गगधरो द्वितीयपौरुषां सङ्घचयाऽतीता भवाः—असङ्घचेयास्तानपि कथयति, असङ्घचेयमवेषु यदभवद् यद् भविष्यति तत् सर्वं कथयति । ‘यद् वा’ यद् वस्तुजातं परः पृच्छेद अभिलाप्यपदार्थगोचरं तत् सर्वं कथयति । किं बहुना ? ‘न च’ नैव “ण”मिति वाक्यालङ्कारे “अग्राइसेसि” ति अनतिशयी अवध्याद्यतिशयरहित इत्यर्थः विजानाति ‘यथैष गणधरऽच्छस्थः’ इति, अशेषप्रश्नोत्तरदानसमर्थत्वात् तस्येति भाव इति गाथार्थः ॥ पं. १६. अत्रार्थे उत्तरव्यमदायि । पं. २६. श्रीणि योजनशतानीत्यादि, हिमवांश शिखरी च हिमवञ्छिखरिणौ तयोः पादा इव पादाः— ५ अग्रभागास्तेषु प्रतिष्ठिताः—व्यवस्थिता एकोरुकादयोऽन्तरद्वीपाः । क्षेत्रसमासादिग्रन्थादेतत्स्वरूपं विज्ञेयम् । पं. २९. एकेषां मते पुद्गलद्वयोपचयाद् यकाऽऽहारादिविषया शक्तिरूपवदते सा पर्याप्तिरूच्यते । पं. ३०. सम्प्रति च—‘तत्रेत्यादिना इत्येके’ पर्यन्तेनापरमतेन पर्याप्तिस्वरूपमुक्तम् ।

[पृष्ठ ३४]

पं. ५. आसां युगपदिति ।

१०

वेउव्वा-ऽऽहाराणं सरीर अन्तो उ (अंतमुहु), पण इगिगसमया । पिह पण अन्तमुहुता, उरले आहार सामङ्घया ॥१॥

पं. ११. ये मिथ्यावात् सम्यक्क्वस्य प्रतिष्यमिसुखाः, न तु सम्यक्क्वस्य परित्यागमिसुखाः, ते जीवाः सम्यग्मिथ्या-दृष्टयोऽन्तर्मुहूर्तमात्रं कालं भवन्ति । पं. १२. किमित्येवं तल्लक्षणं व्याख्यायते ? इत्याह—यत उक्तमिति ।

मिञ्छेत्ता संकंती अविरुद्धा हर्षे इ सम्भ-मीसेषु । मीसाओ वा दोसुं सम्मा मिञ्छं न उण मीसं ॥ १ ॥

इति गाथा परिपूर्णा । यतः सम्यक्क्वपुङ्गाद् मिश्रपुङ्गगमनं निषिद्धमनयेति भावः । संयतस्य सर्वप्रमादरहितस्य विविधज्ञिमत १५ इदमुत्पदते, शेषश्च सम्यग्दणिपर्याप्तकादिविशेषणकलापः सामर्थ्यलब्धोऽप्युच्यते प्रपञ्चितज्ञशिष्यावोधार्थम् । पं. २६. अस्यां व्युत्पत्ताविति, कङ्गी चासौ मतिश्वेति कर्मधारयरूपायाम्, यदा कङ्गी—साक्षात्कृतेषु मनोद्रव्येषु अनुभितेषु चार्थेष्वल्पतरविशेष-विषयतया मुग्धा मतिः—विषयपरिच्छित्तिर्थस्य प्रमातुः स कङ्गुमतिः । विपुलमतिरपि प्रमातैव ।

[पृष्ठ ३५]

पं. १२. द्रव्यत इत्यादि । अनन्तप्रादेशिकान् मनस्त्वपरिणतानन्तस्कन्धसमूहमयमनोद्रव्यरूपान् स्कन्धान् जानाति । २० क्षेत्रतस्तु कङ्गुमतेरर्द्धतृतीयाङ्गुलहीनो मनुष्यलोको विषयः । स एव विपुलमते: सम्पूर्णो निर्मलतरः । कालतस्वेतावति क्षेत्रे भूत-भाविनोः फल्योपमासंख्येयभागयोरतीता-ऽनागतानि संज्ञिमनोरूपाणि मूर्त्तिरूपाणि विषयः । भावतस्तु तत्पर्याया रूपादय-श्विन्तनानुगुणा परिणतिरूपा कङ्गुमतेर्विषयः । चिन्तनीयं तु मूर्त्तममूर्त्तं वा त्रिकालगोचरमपि बाह्यमर्थमनुमानदेवेति, ‘यत एत-त्परिणतीन्येतानि मनोद्रव्याणीति एतदन्यथानुपपते: अमुकोऽनेनार्थश्विन्तितः’ इति लेखाक्षरर्दृशानात् तदुक्तार्थमिवाप्रत्यक्षं मनोद्रव्य-दर्शनाच्चिन्त्यमर्थमनुभिमीते । विपुलमतेश्वायं विषयः स्फुटतरः बहुतरविशेषाभ्यासितत्वेन विमलतरोऽवसेयः । तेन मनोगतद्रव्यस्कन्धान् २५ तद्रूपतचिन्तानुगुणान् सर्वपर्यायराश्यनन्तभागरूपाननन्तान् रूपादीन् पर्याप्तान् चिन्तनीयवाद्यविद्वस्तुगतांश्च जानाति सविशेषान्, फल्योपमासङ्घचेयभागरूपे काले ये तेषां मनस्त्वपरिणमितमनोद्रव्याणां भूता अनागताश्च चिन्तनानुगुणाः पर्याप्तास्तान् सविशेषान्

१ वैक्रिया-ऽऽहारकयोस्तु शरीरपर्याप्तिः अन्तर्मुहूर्तम्, पञ्च पर्याप्तयः एकेकसामयिक्यः । औदारिके पञ्च पर्याप्तयः पृथग् आन्तर्मुहूर्तिक्यः, आहारपर्याप्तिः एकसामयिकी ॥ इति भावार्थगर्भा छाया । अत्रार्थे एषाऽपि ग्रन्थान्तर्गता गाथाऽक्षेया—वेउव्वय पञ्चती सरीर अंतमुहु, सेस इगसमया । आहारे इगसमया सेसा, अंतमुहु ओराले ॥ १ ॥ इति । विचारसक्षिकायां तु मतभेदेन पर्याप्तिस्वरूपं दृश्यते—“उरल-विउव्वा-ऽऽहारे छण्ह वि पञ्चती जुगवमारंभो । तिण्ह वि पढमिगसमए, वीआ पुण अंतमोहुती ॥ ४४ ॥ पिहु पिहु असंख्यसमइयअंतमुहुता उराल चउरो वि । पिहु पिहु समया चउरो वि हुंति वेउव्वया-ऽऽहारे ॥ ४५ ॥ छण्ह वि सममारंभे पढमा समए, वि अंतमोहुतो । ति तुरिज समए समए सुरेषु, पण-छट्ट इगसमए ॥ ४६ ॥” इति ॥ २ इयं गाथा कल्पलघुभाव्य ११४ गोथासमा ॥

जानाति । पं. १५. “बुद्धे” ति बाह्यान् चिन्तनीयघटादीन् ग्रागुपदर्शितानुमानाजानाति, न तु साक्षादित्यर्थः । अनुमानादेव चिन्तनीयमूर्तमप्याकाशादिकं वस्तु अवगच्छति, छव्वस्थथामूर्त्ति साक्षान् पश्यति किलेति भावः । पं. १८. अथ मनः-पर्यायदर्शनं मित्रं नोक्तं कथं ‘पश्यति’ इत्युच्यते ? सत्यम्, अचकुर्दर्शनाख्यं मनोरूपनोऽन्दियं दर्शनविषयमस्य द्रष्टव्यम्, तेनास्य दर्शनसम्बवः । अथर्वः—परस्य घटादिकमर्थं चिन्तयतः साक्षादेव मनःपर्यायज्ञानी मनोद्रव्याणि तावज्जानाति, तान्येव च ५ मानसेनाचकुर्दर्शनेन विकल्पयति, अतो मानसाचकुर्दर्शनापेक्षया पश्यतीत्युच्यते । तत्तथैकस्यैव मनःपर्यायज्ञानिनः प्रमातुर्मनःपर्याय-ज्ञानादनन्तरमेव मानस[म]चकुर्दर्शनमुत्पद्यते इत्यसावेक एव प्रमाता मनःपर्यायज्ञानेन मनोद्रव्याणि जानाति, तान्येव चाचकुर्दर्शनेन मानसेन पश्यतीत्यभिधीयते । पं. १९. एतदेवाऽऽह—एकप्रमात्रपेक्षयेति, ज्ञानानन्तरभावित्वाच्च मानसाचकुर्दर्शनस्येति कृत्वा सूत्रे पश्यतीत्युपन्यस्तम् । ओघतो चेति, विशेषोपयोगपेक्षया जानाति, सामान्यार्थोपयोगपेक्षया पश्यतीत्युक्तम् ।

पं. २१. ऊर्ध्वाधित्तिर्यग्मेदात् निधा मनःपर्यायज्ञानिनः क्षेत्रविषयो द्रष्टव्यः । तत्र क्षुजुमतेरयोपिष्योऽसुष्या रत्नप्रभायाः १० पृथिव्या उपरिमाधस्यान् क्षुलुकप्रतरान् यावन्मनोगतान् भावान् जानाति, ऊर्ध्वं यावज्ज्योतिश्चक्रस्योपरितलम्, तिर्यक् च मनुष्यलोकान्तम् । सोऽपि क्षुजुमतेरद्वृत्तीयाङ्गुलहीनः, इतरस्य सम्पूर्णः । शेषद्रव्यादित्रयं कथितं सुगमं चेति समुदायार्थः । वैशाखस्थानस्थं प्रसारितपादं कटिस्थकरयुग्मं पुरुषमिव लोकं व्यवस्थाय सर्वमिदं भावनीयमिति । पं. २३. प्राहृत-चूर्ण्यक्षरणि च व्याख्येयानि एतदनुसारतः । रुचकाभिधानात् तिर्यक्लोकमध्याद् अधो यावन्नव योजनशतानि रुचकादेव चोर्ध्वं नव योजनशतानि यावद् ज्योतिश्चक्रस्योपरितलस्तावदेष समुदितोऽष्टादशशतयोजनमानस्तिर्यग्लोक इति । पं. २८. संबद्धो १५ कायव्वो ति संवर्त्तः—सङ्क्षेपेनम् ।

[पृष्ठ ३६]

पं. ३. तिरियलोयमज्ञातु ति रुचकाभिधानात् तिर्यग्लोकमध्याद् अधो यावन्नव योजनशतानि तावदसुष्या रत्नप्रभाया उपरिमाः क्षुलुकप्रतराः, क्षुलुकल्वं च तेषामधोलोकप्रतरापेक्षया । तेभ्योऽपि येऽधस्तादधोलोकग्रामान् यावत् तेऽधस्ततनाः क्षुलुक-प्रतराः । पं. ५. अहव ति रथणप्पहुपुढवीए इति न योज्यम् । पं. ६. अत्र पक्षे अण्णे इत्यादि ।
२० पं. ७. सञ्चातिरियलोगवत्तिणो ति अष्टादशशतयोजनवर्तिनः । पं. ८. ताण चेव ति नवयोजनशतमध्यवर्तिनाम् । इमं च ति अधोलौकिकग्रामेषु मनःपर्यवज्ञानवाधावतः, यतस्तिर्यग्लोकस्थो मनःपर्यायज्ञानी पश्यतीत्यत्र मते आपलम् ।

अन्यच—

अहलोइयगामेसुं तिथ्यरा केवली य विजंति । जाण विजयाण मज्जे मेरुस्स य पञ्चिमदिसाए ॥ १ ॥

पं. १३. अपान्तरालगतावयुत्पतिस्थानमप्राप्नुवन्तोऽपि संज्ञिनोऽभिधीयन्ते, तदायुषेति आगामिभवायुष्कोदयवशात् ।

२५ पं. १४. तेऽपि चेति इन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तत्वमावात् पञ्चेन्द्रियव्यपदेशं लभन्ते, परं मनःपर्याप्त्या पर्याप्ता एव पञ्चेन्द्रिया ग्राहाः । पं. १६. हेतुवादोपदेशेनेति, हेतुः—निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम्, तस्य बदनं—वादस्तद्विषय उपदेशः—प्रसूपणं हेतुवादोपदेशः, तेन विकलेन्द्रियादयः सचेष्टाकाः संज्ञिनः, पृथिव्यादय एव निशेषा असंज्ञिनः । हेतुवादश्चायम्—संज्ञिनो द्वीन्द्रियादयः, हेयोपादेयेषु निवृत्ति-प्रवृत्तेः, देवदत्तादिवत्, तथा च तापादिसन्तसाच्छायासमाश्रयणादि कुर्वन्तो दृश्यन्ते ।

३० पं. १८. विपुलमतिर्क्षुजुमते: सकाशात् जानाति पश्यति क्षेत्रमायाम-विष्कम्भावाश्रित्याभ्यधिकतरकम्, वाहून्यमाश्रित्य विपुलतरकम्, ‘विशुद्धतरं’ निर्मलतरं ‘वितिमिरतरकं’ तिमिरकल्पतदावरणस्य विशिष्टतरक्षयोपशमसङ्कावात् ।

पं. २१. विशुद्धतरमित्यत्र दृष्टान्तपुरःसरं विशुद्धतरल्वं भावयति यथा चन्द्रेत्यादिना—कारणविशेषात् कार्यविशेषः किल भवन्तुपलभ्यते, यथा चन्द्रकान्तादिविमलप्रकाशकद्रव्यविशेषाद् विमलप्रकाशयुक्तो द्रष्टा विमलं पश्यति, स एव चन्द्रकान्तादि-

विमलतरप्रकाशकदव्यविशेषाद् विमलप्रकाशयुक्तदस्तुः सकाशाद् विमलतरं पश्यति, एवं प्रकृतेऽपि तपश्चरण-विनय-व्यानादि यः कारणभेदः ततस्तद्वाशाद् विष्कम्भितोदयं यन्मनः पर्यायज्ञानस्याऽवरणम्—आवारकं कर्म तस्य मन्दमन्दतरविशेषमावो भवति । यस्य तपश्चरणाद्यल्पं तस्य मन्दस्तदावरणविष्कम्भितोदयविशेषः, यस्याल्पतरं तस्य सोऽपि मन्दतरः, यस्य तपश्चरणादिभेदः प्रकृष्टः तस्य विष्कम्भितोदयविशेषोऽपि विमलः, यस्य तपश्चरणादि प्रकृष्टतरं तस्य तदावरणविष्कम्भितोदयत्वमपि विशिष्टतर-मित्यक्षरभग्मनिका । पं. २३. उपशान्तं नाम विष्कम्भितोदयं यदावरणं तस्य विशेषादपि । तदावरणेति, तिमिरकल्पं ५ यत् तदावरणं तस्य क्षयेण सह उपशमः—उदीर्णानां कर्मगां क्षयेण वेदनकृतः अनुदीर्णानां चोपशमेन विष्कम्भितोदयत्वेन क्षयो-पश्चमस्तस्य विशेषाद् ‘वितिमिरतरं’ आवरणतिमिररहितम् । पं. २५. अथवेति प्राग्बद्धं यत् तदावरणं कर्म तस्य क्षयोपशमः प्रागुक्तस्तस्य प्राधान्याद् विशुद्धतरम् । वयमानावरणस्य विशेषस्तारतम्येन यत्र तद् वितिमिरतरम् । पं. २६. अन्ये तु ‘तदावरणस्य वयमानाभावेन वितिमिरं तदुच्यते’ इत्याहुः । पं. २७. अथ ‘वितिमिरादिविशेषं क्षेत्रं जानाति पश्यति’ इति कथमुच्यते ? क्षेत्रं ह्याकाशम् तस्य चामूर्चत्वात् कथं तद्विषये छमस्थस्य पश्यतासम्भवः ? इत्याशङ्कचाह— १० तात्स्थ्यादिति, क्षेत्रस्थं द्रव्यमपि क्षेत्रमुच्यते । समर्थितं मनः पर्यायज्ञानम् ॥

[पृष्ठ ३७]

केवलज्ञानमधुना । तत्र— पं. १६. कर्मे सिद्धे य० गाहा । नाम-स्थापना-द्रव्यसिद्धयुदासेन शेषाः कर्मसिद्धा-दयश्चतुर्दशामी सिद्धभेदाः । तत्र कर्मणि सिद्धः कर्मसिद्धः, कर्मणि निष्ठां गत इत्यर्थः । एवं शिल्पसिद्धादिष्वपि वाच्यम् । नकरं कर्म-शिल्पयोर्विशेषोऽयम्—आचार्योपदेशाद् यद् न जातं तदनाचार्योपदेशजं सातिशयमन्यसाधारणं कर्माच्यते, यदाचार्योपदेशजं १५ ग्रन्थनिबन्धाद्वा उपजायते तत् सातिशयं कर्मापि शिल्पमुच्यते । अयं वाऽन्योर्विशेषः—यत् किल पीठफलक-मञ्चादिनिर्माणिणं तस्मिन्देव क्षणे ग्रारब्धं तदैव निष्पादयतेऽकालहीनं तत् कादाचिकं शिल्पम्, न पुनः प्रासादादिवन्नियं प्रतिदिनं यत् क्रियते, प्रासादादि-निर्माणादिकं तु बहुदिनसाध्यत्वादाचार्योपदेशजत्वात् सातिशयं नित्यव्यापारत्वात् शिल्पमपि कर्माच्यते । अत एव बुद्धिप्रस्तावे वश्यति—“कादाचिकं वा शिल्पम्, नित्यव्यापारः कर्म” [पत्र ४७ पंक्ति २६] इति । कर्मसिद्धादिविश्वान्तास्त्वावश्यकाद् ज्ञेयाः । लीदेवताधिष्ठिता विद्या ससाधना च । पुरुषदेवताधिष्ठितो मन्त्रोऽसाधनश्च । योगोऽवृत्यीकरण-पादप्रलेपादिगोचरः । तत्र २० योगसिद्धः पादलिपाचार्यवत्, आगमसिद्धो गौतमवत्, अर्थसिद्धो मम्मणवणिवत्, यात्रासिद्धो हनूमानवत्, अभिप्रायः—बुद्धिः तस्मिद्वा चाणक्या-भयकुमारादिवत्, तपःसिद्धो दृढभास्त्रिवित्, कर्मक्षयसिद्धो निरञ्जन-क्रिषभादिवत् ।

पं. १९. सितं बद्धमिति, सेतति-बन्धाति जीवमिति सितम् नाम्युपधत्वात् [कातन्त्र ४-२-५१] के सितम्, “बिज् बन्धने वा” भावे के सितमिति । पं. २८. सह योगेनेति—जीवव्यापोरेण वर्तन्ते सयोगाः, योगा मनोवाक्ताया एव, तेऽस्य सन्तीति सयोगी ।

25

[पृष्ठ ३८]

पं. ५. तत्प्रथमतयेति, यो येन भावेन पूर्वं नासीद् इदानीं च जातः स तेन भावेन तत्प्रथम उच्यते, तस्याप्राप्तपूर्वत्वात्, प्राप्तस्य पुनर्वैसाभावात् । पं. ६. अन्यथा प्रतिपाद्यत इति, द्वैविष्यमिति शेषः ॥ पं. २७. अनन्तरभवगतो-पाधिभेदेनेति, अनन्तरभवगतश्चासाकुपाधिभेदश्च स तथा तेन । उपाधिः—विशेषणम् ।

[पृष्ठ ३९]

पं. १. अचिन्त्यशक्तिसमन्वितं च तद् अविसंवादि च तद् उद्गुपकल्पं च—नौकल्पं तत् तथेति समाप्तः ।

30

पं. ४. तीर्थान्तरसिद्धा नाम ये सुविधिप्रभृतीनामष्टानां शान्तिनाथान्तानां जिनानामन्तरेषु जातिस्मरणादिनाऽवासज्ञानादि-
सन्मार्गः सन्तः सिद्धाः । तीर्थान्तरकालस्य च मानमिदम्—

चउभाग चउभागो तिनि चउभाग पलियमें च । चउभागं चउभागो चउभागो चउभागो ॥ १ ॥

[प्रबन्धन० गा. ४३१] ति ।

पं. ५. स्वयं—बाह्यनिमित्तमन्तरेण जातिस्मरणादिना बुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते स्वयम्बुद्धसिद्धाः । प्रत्येकम्—अन्यान्यं
बाह्य—वृषभादि कारणं दृष्ट्वा बुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते प्रत्येकबुद्धसिद्धाः । पं. ११. उपधिः पुनः स्वयम्बुद्धानां
चोलपट्ट-मात्रकवर्जः पात्रादिर्द्वादशविधिः । प्रत्येकबुद्धानां पुनर्जग्नयो रजोहरण-मुखविकारूपो द्विविध उपधिः, उत्कृष्टतश्चोल-
पट्ट-मात्रक-कल्पत्रिकृवर्जो नवविधिः । पं. १२. स्वयम्बुद्धानां पूर्वाधीतं श्रुतं स्याद्वा न वा । प्रत्येकबुद्धानां पुनर्स्तन्त्रियमतो
भवत्येव, जग्न्यत एकादशाङ्गानि, उत्कृष्टतो भिन्नदशपूर्वाणि । लिङ्गप्रतिपत्तिः स्वयम्बुद्धानां यदि पूर्वाधीतं श्रुतं नास्ति ततो
१० नियमाद् गुरुसमीपे भवति, अथ श्रुतं समस्ति ततो देवता लिङ्गं प्रयच्छति गुरुसमीपे वा प्रतिपद्धन्ते । यदि चैकाकिविहारयोग्यता
इच्छा च समस्ति तत एकाकिन एव विचरन्ति, अन्यथा गच्छ एवाऽस्ते । प्रत्येकबुद्धानां पुनर्लिङ्गं देवतैव प्रयच्छति, लिङ्गवर्जिता
वा भवन्ति । यदुक्तम्—“रुपं पतेयबुद्धा” [आव० नि० गा० ११५१] इति । अत्र सङ्ग्रहगाथा यथा—
सुरलिंगे पुव्वसुए अनियथ-नियया सबुद्ध-पतेया । अनिमित्तेयरबोही, वारस नव उवहिणो हुंति ॥ १ ॥]

पं. १६. तीर्थकरीसिद्धाः स्तोकाः १ तीर्थकरीतीर्थे ‘नोर्तीर्थसिद्धाः’ तीर्थान्तरे सिद्धा ये प्रत्येकबुद्धसिद्धा इत्यर्थः ते
१५ सह्यचातगुणाः २ तीर्थकरीतीर्थे ‘नोर्तीर्थकरीसिद्धाः’ सामान्यकेवलिक्षियः ताः सह्यचेयगुणाः ३ तीर्थकरीतीर्थे ‘नोर्तीर्थकरसिद्धाः’
सामान्यकेवलिपुरुषास्ताभ्यः सह्यचेयगुणाः ४ । पं. १८. यथा तीर्थकराः लीलिंगे भवत्येवं नपुंसकलिंगोऽपि किं ते स्युः ?
इत्याशंक्याऽह—न तु नपुंसकलिङ्गा इति, तीर्थकृतः स्युरिति वाक्यशेषः । प्रत्येकबुद्धा अपि ली-नपुंसकलिङ्गे न भवन्ति, किन्तु
पुंसेव । तीर्थकर-प्रत्येकबुद्धवर्जाः केचन नपुंसकलिङ्गसिद्धा भवन्ति । रजोहरणादिलिङ्गधारिणो ये सिद्धास्ते स्वलिङ्गसिद्धाः ।
परिवाजकादिलिङ्गसिद्धाः अन्यलिङ्गसिद्धाः । नवरं यदाऽन्यलिङ्गनामपि भावतः सम्यक्त्वादिप्रतिपत्नानां केवलज्ञानमुत्पद्यते तदैव च
२० कालं कुर्वन्ति तदेदम् । अन्यथा यदि दीर्घमायुरात्मनः पश्यन्ति तदा साधुलिङ्गमेव प्रतिपद्धन्ते । एवं गृहलिङ्गसिद्धा अपि
मरुदेवीप्रभृतयः इत्थमेव वक्तव्याः । सिद्धकेवलिनोऽपि गुणाष्टकं भवति । यदुक्तम्—

सम्मत १ नाण २ दंसण ३ वीरिया ४ ड्याहा ५ तहा य अवगाहो ६ ।

अगुरुलहू ७ सुहुमतं ८ अदृ गुणा हुंति सिद्धस्स ॥ १ ॥]

पं. २२. बन्नीसा० गाहा । एतद्विवरणम्—यदा एकसमयेन एकादय उत्कर्षेण द्वात्रिंशत् सिद्धन्ति तदा द्वितीयेऽपि समये
२५ द्वात्रिंशत्, एवं नैरन्तर्येण अष्टौ समयान् यावद् द्वात्रिंशत् सिद्धन्ति, तत ऊर्ध्वमवश्यमेवान्तरं भवतीति । यदा पुनर्खयसिंशत
आरम्भ अष्टचत्वारिंशदन्ता एकसमयेन सिद्धन्ति तदा निरन्तरं सप्त समयान् सिद्धन्ति, ततोऽवश्यमेवान्तरं भवति । एवं यदा
एकोनपञ्चाशतमादि कृत्वा यावद् षष्ठिरेकसमयेन सिद्धन्ति तदा निरन्तरं पठ् समयान् सिद्धन्ति, तदुपरि अन्तरं समयादि
भवति । एवमन्यत्रापि योज्यम् । यावद् अष्टशतमेकसमयेन यदा सिद्धति तदाऽवश्यमेव समयावन्तरं भवतीति । अन्ये तु
व्याचक्षते—अष्टौ समयान् यदा नैरन्तर्येण सिद्धिस्तदा प्रथमसमये जग्न्येनैकः सिद्धति उत्कृष्टतो द्वात्रिंशदिति, द्वितीयसमये
३० जग्न्येनैक उत्कृष्टतोऽष्टचत्वारिंशत्, तदेवं सर्वत्र जग्न्येनैकः समयः उत्कृष्टतो गाथार्थोऽयं भावनीय इति ॥

[पृष्ठ ४०]

पं. १३. क्रमोपयोगादाविति, आदिशब्देन एकोपयोगमतस्य परिग्रहः ।

पं. २९. इहराऽऽहो गाहा । व्याख्या—ननु यथेकस्मिन् समये केवलज्ञानोपयोगोऽन्यस्मिस्तु समये केवलदर्शनोपयोग इष्यते तहर्चेवं क्रमोपयोगते केवलज्ञान-दर्शनयोः ‘सनिधनवं’ प्रतिसमयं सान्तत्वं प्राप्नोति, तथा च सति तयोः समयोक्तमपर्यवसितत्वं हीयते । अथवा यः कष्ठशतानि शृत्वा ज्ञानावरणादिक्षयो विहितः सः ‘मिथ्या’ निरर्थकः ‘जिनस्य’ भगवतः प्राप्नोति, समयात् समयादूर्ध्वं केवलज्ञान-दर्शनोपयोगयोः पुनरप्यभावात्; नह्यपनीतावरगौ द्वौ प्रदीपौ क्रमेण प्रकाशयन्तः किन्तु युगपदेव । अथवा केवलज्ञान-दर्शनयोः ‘इतेरतरावरणता’ परस्परमावारकत्वं प्राप्नोति, कर्मरूपावरणभावेऽपि ५ अन्यतरसद्वावेऽन्यतरभावादिति । अथ इतेरतरावरणता नेथ्यते तर्हान्यतरोपयोगकालेऽन्यस्य निष्कारणमेवाऽवरणं स्यात्, तथा च सति “नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा” [प्रमाणवार्तिक ३—३४] इत्यादि प्रसञ्ज्यत इति ॥ ४ ॥

[पृष्ठ ४१]

पं. ९. तथा एकतरस्मिन्—ज्ञाने दर्शने वा अनुपयुक्त एकतरानुपयुक्तः, तस्मिन् एकतरानुपयुक्ते केवलिनीष्यमाणे ज्ञानानुपयोगैकाले तस्य केवलिनोऽसर्वज्ञत्वं प्राप्नोति, दर्शनानुपयोगैकाले त्वर्सर्वदर्शित्वं प्रसन्नति, तच्चासर्वज्ञत्वमसर्वदर्शित्वं च नेष्टुं १० जैनानाम्, सर्वदैव केवलिनि सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्वाभ्युपगमादिति । सूरिराह—ननु छब्बस्थस्थापि दर्शन-ज्ञानयोरैकान्तरे उपयोगे सर्वमिदं दोषजालं समानमेव । अत्रापि हि शक्यते एवं वक्तुम्—ज्ञानानुपयोगे तस्याज्ञानित्वम्, दर्शनानुपयोगे पुनरदर्शनित्वम्, तथा मिथ्याऽस्वरणक्षयः इतेरतरावरणता वा निष्कारणावरणत्वं वेत्यादि ‘वहुविधीकाः’ वहुविधा दोषा इत्यर्थः ॥ ५ ॥

पं. १३. भण्णईत्यादिगाथाः विवृता प्रत्यक्षता किञ्चित्, सुगमाश्च ॥

[पृष्ठ ४२]

पं. ४. तदिथं बुभुक्षिता जरद्रवीव बुशगृहे प्रविशन्ती निविडयुक्तिलगुडादिवातैर्निवार्यमागाऽपि परस्य दुराग्रहबुद्धिर्न निवर्तते, ततश्चक्षुषी निर्मील्य भृष्टतया पुनरप्याह—तुले उभयावरणे ० गाहा । द्विविधोपयोगभावे इत्यमाणे जिनस्य प्रथमतरं उद्भवः—उत्पादः कल्य ? ज्ञानस्य ? दर्शनस्य वा ? इति, आवरणक्षयस्य युगपद्मावात्, ततो जिनस्य द्विविधोपयोगभावः प्राप्नोति इति प्रश्नः, युगपद्मावानिष्ठौ एकोऽपि न प्राप्नोति ॥ १३ ॥

पं. १४. अथेवं सूर्यः परं दुरभिनिवेशमसुच्छन्तमवलोक्य युगपदुपयोगद्वयपक्षं मूलत एवोन्मूलयितुं क्रमोपयोगसाधकं व्यक्त- २० मेव सिद्धान्तोक्तमादर्शयन्नाह—

भणियं पि य पञ्चती-पञ्चवणाईसु, जहं जिणो समयं ।

जं जाणइ न वि पासइ तं अणु-रयणप्पभाईणि ॥ १५ ॥

ननु ‘प्रज्ञपत्थां’ भगवत्यां प्रज्ञापनायां च स्फुटं ‘भणितमेव’ उक्तमेव, यथा—‘जिनः’ केवली परमाणु-खनप्रभादीनि वस्तूनि “समयं जं जाणइ” ति यस्मिन् समये जानाति “न वि पासइ तं” ति तस्मिन् समये नैव पश्यति, किन्त्वन्यस्मिन् समये २५ जानाति अन्यस्मिस्तु पश्यति । इयमत्र भावना—इह भगवत्यां तावदष्टादशशतस्याष्टमोदेशके स्फुटमेवोक्तम्, तथा—“छउमत्ये णं भंते ! मणुस्से परमाणुपोग्गलं किं जाणइ न पासइ ? उदाहु न जाणइ न पासइ ? गो० ! अत्येगद्वै जाणइ न पासइ, अत्येगद्वै न जाणइ न पासइ, एवं जाव असंखेजपणसिए खंवे ।” इह छब्बस्थो निरतिशयो गृह्यते । तत्र श्रुतज्ञानी उपयुक्तः श्रुतज्ञानेन परमाणुं जानाति न तु पश्यति, श्रुते दर्शनाभावात् । अपरस्तु न जानाति न पश्यति । “एवं आहोहिए वि” आधोवधिकः—न्यूनावधिकः । “परमाहोहिए णं भंते ! मणूसे परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ तं समयं पासइ ? जं समयं पासइ तं समयं ३०

१ दर्शनसमये जेटि० ॥ २ ज्ञानसमये जेटि० ॥

जाणइ ? नो इणद्यौ समद्यौ । से केणद्यौं भंते ! एवं बुच्छइ ? गो० ! सागारे से नागे भवइ, अणागारे से दंसणे भवइ, से तेणद्यौं एवं बुच्छईत्यादि । केवली पं भंते ! मणूसे परमाणुपोगलं जं समयं जाणइ तं समयं पासइ ? जं समयं पासइ तं समयं जाणइ ? पो इणद्यौ० । से केणद्यौं भंते ! एवं बुच्छइ ? गो० ! सागारे से नागे भवइ, अणागारे से दंसणे भवइ, से एणद्यौं एवं बुच्छई” त्यादि [पत्र ७५५] । एवं प्रज्ञापनोक्तमपि द्रष्टव्यम् । तदेव सिद्धान्ते स्फुटाक्षरैर्युगपदुपयोगे निषिद्धेऽपि किमिति सर्वानिर्थमूलं ५ तदभिमानमुत्सज्य क्रमोपयोगो नेष्ठते ? इति ॥ १६ ॥

[पृष्ठ ४३]

पं. १९. सूत्रक्रमोदेशत इति, नन्दादिस्त्रे इत्थमेव तस्य निर्देशात् । शुद्धित इति, केवलस्य हि सर्वावरणक्षयसम्भवत्वेन सर्वोक्तृष्टत्वात् सर्वोपरिवर्तिनी विशुद्धिः । लाभत इति, लाभोऽपि केवलस्य शेषज्ञानानन्तरं पश्चादेव भवतीति भनःपर्यायज्ञानादनन्तरं केवलज्ञानमुपन्यस्तम्, अतस्तदर्थसूचकोऽयमथरावदः । ‘अथ’ अनन्तरं केवलज्ञानमुच्यते । कथम्भूतम् ? इत्याह—
१० सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि—जीवादीनि, तेषां परिणमनानि परिणामाः—प्रयोग-विस्तोभयजन्या उत्पादादयः सर्वद्रव्यपरिणामाः, तेषां भावः—सत्ता स्वलक्षणं वा तस्य विविधं विशेषेण वा ज्ञपनं—प्रबोधनं विज्ञप्तिः, अथवा विविधं विशेषेण वा ज्ञानम्—अवबोधः परिच्छित्तिर्विज्ञप्तिः, तस्याः केवलज्ञानादभेदेऽपि विवक्षितभेदयोः कारणं—हेतुर्विज्ञप्तिकारणम्, सर्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावास्तित्वपरिच्छेदकमित्यर्थः । तच्चनन्तहेत्यविषयत्वेनानन्तपर्यायलावादनन्तम् । शश्वद्वावात् शाश्वतम्, सततोपयोगमित्यर्थः । तथा ‘अप्रतिपाति’ अन्ययम्, सदाऽवस्थायीत्यर्थः । समस्तावरणक्षयसम्भूतवाद् ‘एकविधिं’ भेदविमुक्तम् । ‘केवलं’ परिषूणम्,
१५ समस्तज्ञेयावगमात्, मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वाद् असहायं वा केवलम्, तच्च तद ज्ञानं च केवलज्ञानमिति गाथार्थः ॥

पं. २०. केवलनाणे० गाहा । इह समुपनकेवलज्ञानस्तीर्थकरादिः ‘अर्थान्’ धर्मस्तिकायादीन् मूर्त्ता-मूर्त्ता-भिल्लया-
२० इनभिल्लयान् केवलज्ञानेनैव ‘ज्ञात्वा’ अवबुद्ध्य, न तु श्रुतज्ञानेन, तस्य क्षायोपशमिकत्वात् केवलिनश्चावरणस्य सर्वथा क्षीणकेन तत्क्षयोपशमाभावात्; नहि सर्वविशुद्धे पटे देशविशुद्धिः सम्भवति, तद्विहापीति भावः । ततः किम् ? इत्याह—‘तत्र’ तेषामर्थानां मध्ये ये प्रज्ञापनायाः—प्रसूपणाया योग्याः ‘तान्’ अभिल्लयान् भाषते, नेतराननभिल्लयान् । प्रज्ञापनीयानपि न सर्वानेव भाषते, २५ तेषामनन्तत्वात्, आयुषस्तु परिमितत्वात्, किं तर्हि ? योग्यानेव भाषते ग्रहीतृशक्यपेक्षया, यो हि यावतां योग्य इति, यत्र वाऽभिहिते शेषमनुक्तमपि विनेयोऽस्यूहति । तदपि योग्यं भाषते, यथा ऋषभसेनादीनामुत्पादादिपदन्योपन्यासेनैव शेषगतिः । तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थमिधायकः शब्दराशिर्भाष्यमाणस्तस्य भगवतः “वहजोग” ति वाग्योग एव भवति, न तु श्रुतम्, नाम-
३० कर्मोदयजन्यत्वात् । तत्र नामकर्मेह भाषापर्याप्तिसामर्थ्यं शरीरनाम वा, तस्योदयजन्यत्वाद् वाक्परिस्पन्दस्य, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात् । ज्ञानमप्यस्य केवलिनः क्षायिकत्वात् केवलमेव, न भावश्रुतम् । आह—ननु वाग्योगो वाक्परिस्पन्दो वाग्वीर्यमित्यनर्थ-
३५ न्तरम्, अयं च भवतु नामकर्मोदयजन्यः, भाष्यमागस्तु पुद्रलात्मकः शब्दः किं भवतु ? इति चेत्, उच्यते—सोऽपि श्रोतृणां भाव-
श्रुतकारणत्वाद् द्रव्यश्रुतमात्रं भवति, न तु भावश्रुतम् । तर्हि किं तद भावश्रुतम् ? इत्याह—“सुयं हवइ सेसं” ति ज्ञानं यत् छब्दस्थानां गणधारीनां श्रुतग्रन्थानुसारि ज्ञानं तदेव केवलिगतज्ञानपेक्षया ‘शेषम्’ अन्यद् भावश्रुतं भवति, क्षायोपशमिकोपयोगात्, न तु केवलिगतं ज्ञानम्, तस्य क्षायिकत्वादिति । अथवा “सुयं हवइ सेसं” इत्यन्यथा व्याख्यायते—तद भण्यमानं शब्दमात्रं तत्काल एव श्रुतं न भवति, किं तर्हि ? शेषं कालमिति वाक्यशेषः । इदमुक्तं भवति—तत् केवलिनः शब्दमात्रम्, श्रोतृणां श्रवणानन्तर-
४० लक्षणे शेषकाले श्रोतृगतज्ञानकारणत्वेनोपचारात् ‘श्रुतं’ द्रव्यश्रुतं भवति, न तु भणनक्रियाकाल इति । अथवाऽन्यथा व्याख्यायते—
४५ स केवलिनः सम्बन्धी वाग्योगः श्रुतं भवति । कथम्भूतम् ? ‘शेषं’ गुणभूतमप्रधानम्, औपचारिकत्वादिति । अन्ये तु पठन्ति—“वहजोग सुयं हवइ तेसिं” ति, तत्र ‘तेषां’ भाषमाणानां सम्बन्धी वाग्योगः श्रोतृगतश्रुतकारणत्वात् श्रुतं भवति, द्रव्यश्रुत-
५० मित्यर्थः । अथवाऽन्योऽर्थः—‘तेषामिति’ श्रोतृणां तानाश्रित्यत्यर्थः, भाषकगतं वाग्योग एव श्रुतं वाग्योगश्रुतं भवति, भावश्रुतका-

रणत्वाद् द्रव्यश्रुतमेवेत्यर्थः । अथवा तानर्थान् भाषते केवली, वाम्योगश्चायं शब्दराशिरस्य भाषमाणस्य भवति, तेषां श्रोतृणां भावश्रुतकारणत्वात् श्रुतमसौ भवति । पदघटनाकृत एव विशेषः, अर्थः स एवेति गाथार्थः ॥

[पृष्ठ ४४]

पं. १४. अनयोचेत्यादि, ‘मतिपूर्वकत्वात् श्रुतस्य विशिष्टमत्यंशरूपत्वाद्वा श्रुतात् प्रथमतो मतिज्ञानमेवोच्यते’ इत्यादिकं प्रयोजनमुक्तम् [पत्र १९ पं. १८] । पं. २६. स्वामित्वादिभिर्विशेषाभावाद् मति-श्रुतयोरेकतैव प्राप्ता, न भेदः स्यात्, ५ तथा च सति न परोक्षाद्वैविव्यसिद्धिः ज्ञानपञ्चकसिद्धिर्वा, धर्मभेदे हि वस्त्रूनां भेदः स्यात्, धर्मभेदे तु घट-तत्त्वखलपयोरिवाभेद एव श्रेयानिति पराशयः । अत्राऽऽचार्यः प्रत्युत्तरयति लक्षणभेदादित्यादिना, यद्यपि स्वामि-कालादिभिर्मति-श्रुतयोरेकत्वं तथापि लक्षण-कार्य-कारणभावादिभिर्नानात्ममस्त्येव, घटा-ऽकाश-धर्मा-ऽधर्मादीनामपि हि सत्त्व-प्रमेयत्वा-ऽर्थक्रियाकारित्वादिभिः साम्ये-ऽपि लक्षणादिभेदाद् भेद एव । यदि पुनर्बहुभिर्धैर्यभेदे सत्यपि कियद्रमसाम्यमात्रादेवार्थानामेकत्वं ग्रेहेत तदा सर्वं विश्वमेकं स्यात् । किं हि नाम तद् वस्त्वस्ति यस्य वस्त्वन्तरैः सह कैश्चिद् धर्मैर्न साम्यमस्ति, तस्मात् स्वाम्यादिभिस्तुत्यत्वेऽपि लक्षणा- १० दिभिर्मति-श्रुतयोर्भेदः । ते च मति-श्रुतभेदनिवन्धना लक्षणादयः सम्पिण्डैवैकगाथयोच्यन्ते । सा चेयम् —

लक्षणभेद्या हेतु-फलभावओ भेद्य-इंदियविभागा । वाग-ऽक्खर-मूर्णवरभेद्या भेदो मह-सुयाणं ॥१॥ [विशेषा० गा० ९७]

‘लक्षणभेदाद्’ भिन्नलक्षणत्वान्मति-श्रुतयोर्भेदः । तथा मतिज्ञानं हेतुः श्रुतं तु तत्फलं—तत्कार्यमिति हेतु-फलभावात् तयोर्भेदः । तथा “भेद” त्ति विभागशब्दो अत्रापि युज्यते, ततश्च भेदानां विभागः—विशेषो भिन्नत्वं भेदविभागस्तस्मादपि मति-श्रुतयोर्भेदः । अवग्रहादिभेदादष्टविशेषादिभेदं हि मतिज्ञानं वद्यते, “अक्खर सण्णी सम्म”स्मित्यादिवश्यमाणवचनाच्चतुर्दशादिभेदं १५ च श्रुतज्ञानमिति भेदविभागात् तयोर्भेद इति भावः । “इंदियविभाग” त्ति तत्त्वतः श्रोत्रविषयमेव श्रुतज्ञानम्, शेषेद्रियविषयमपि मतिज्ञानमित्येवं वश्यमाणादिन्द्रियविभागाच्च तयोर्भेदः । “वागे”त्यादि, वल्कश्च अक्खरं च मूकं च वल्कादिप्रतिपक्षभूतानीतराणि च वल्का-ऽक्खर-मूकेतराणि तैयोऽसौ भेदस्तस्मादपि मति-श्रुतयोर्भेद इत्यर्थः । तथाहि—

“अन्ने मन्त्रं मई वागसमा, सुंवसरिसयं सुत्तं ।” [विशेषा० गा० १५४] इत्यादिना ग्रन्थेन कारणत्वाद् वल्कसदृशं मतिज्ञानम्, शुम्बसदृशं तु श्रुतज्ञानम्, कार्यत्वादित्यमिहितम् । तत्र वल्कः—पलाशादित्वग्रूपः, शुम्बं तु इतरशब्देनेहोपात्तम्, २० तज्जनिता दवरिकोच्यते । ततश्चायमभिप्रायः—यथा वलनादिसंस्कृतो विशिष्टावस्थाप्राप्तः सन् वल्को दवरिकेत्युच्यते, तथा परोपदेशाहृदृचनसंस्कृतविशिष्टावस्थाप्राप्तं सद् मतिज्ञानं श्रुतमभिधीयत इत्येवं वल्केतरभेदान्मति-श्रुतयोर्भेदः । तथा—

“अन्ने अणक्खर-ऽक्खरविसेसओ मह-सुयाँ भिदन्ति ।

जं महनाणमग्रक्खरमक्खरमियरं च सुयनाणं ॥१॥” [विशेषा० गा० १६२]

इत्यक्षेतरभेदात् तयोर्भेदः । तथा—

“स-परप्पच्चायणओ भेदो मूर्णवराण वाऽभिहिओ ।

जं मूयं महनाणं स-परप्पच्चायगं सुत्तं ॥१॥” [विशेषा० गा० १७१]

इति वचनान्मूकेतरभेदाद् मति-श्रुतयोर्भेद इति गाथार्थः ॥

[पृष्ठ ४५]

पं. १. तत्रानयोर्लक्षणभेदाद् भेदं तावत् सूत्रकारः प्राह ‘अभिनिबुद्ध्यते’ इत्यादिना—यद ज्ञानं कर्तु वस्तु कर्मतापन्- ३० मभिनिबुद्ध्यते—अवगच्छति तद् ज्ञानमाभिनिवोधिकम्, मतिज्ञानं तदित्यर्थः, यज्ञोति तत् श्रुतम् इत्येवं सूत्रोक्तलक्षण-भेदादनयोर्भेदः । यदि ‘यदात्मा श्रृणोति तत् श्रुतमिति श्रुतस्य लक्षणमुच्यते तर्हि शब्दमेव जीवः श्रृणोतीति सकल-

जगत्प्रतीतमेवेति स एव श्रुततां प्राप्नोति, नाऽस्त्वमः परिणामविशेषः, अत्रोच्यते, तत्त्वतो जीवः श्रुतम्, ज्ञान-ज्ञानिनोरभेदाद् जीवः शृणोतीति कृत्वा श्रुतकारणत्वात् श्रुतशब्दः स्यादुपचारतः । पं. २. प्रकारान्तरेणापि मति-श्रुतयोर्लक्षणभेदमाह एतदुक्तमित्यादिना—इन्द्रियाणि च मनश्च तानि निमित्तं यस्य तत् तथा, इन्द्रिय-मनोद्वारेण यद् विज्ञानसुपजायते तत् श्रुतम्, श्रुतज्ञानमित्यर्थः । इन्द्रिय-मनोनिमित्तं च मतिज्ञानमपि भवत्यतस्तद्वच्चेदार्थमाह—श्रुतग्रन्थानुसारिणेति, श्रूयते इति श्रुतं-शब्दं ५ उच्यते, स च सङ्केतगोचरपरोपदेशरूपः श्रुतग्रन्थात्मकस्येह गृह्णते, तदनुसारेण यदुपजायते तत् श्रुतज्ञानम्, नान्यत् । एतदुक्तं भवति—सङ्केतकालप्रवृत्तं श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनं वा घटादिशब्दमनुसृत्य वाच्य-वाचकभावेन संयोज्य ‘घटो घटः’ इत्यादन्तर्जल्पाकारमन्तःशब्दोल्लेखान्वितमित्रियादिनिमित्तं यद् ज्ञानसुदेति तत् श्रुतज्ञानमित्यर्थः । शेषमित्रिय-मनोनिमित्तमश्रुतानुसारेण यदवप्रहादि ज्ञानं तन्मतिज्ञानमित्यर्थः । तदुक्तम्—

इन्द्रिय-मणोनिमित्तं जं विज्ञाणं सुयाणुसारेण । निययस्तुतिसमर्थं तं भावसुयं, मई सेसं ॥१॥ [विशेषा०गा० १००]

- 10 सुगमा । नवरमित्रियादिनिमित्तं यद् ज्ञानसुदेति तत् श्रुतज्ञानम् । तत्र कथम्भूतम् ? निजकार्थोक्तिसमर्थम्, अभिलाप्य-वस्तुविषयमित्यर्थः, स्वरूपविशेषणमेतत्, शब्दानुसारिणो ज्ञानस्य निजकार्थोक्तिसामर्थ्यव्यभिन्नारात् । अत्राऽहं कक्षित्—ननु यदि शब्दोल्लेखसहितं श्रुतज्ञानमित्यते, शेषं तु मतिज्ञानम्, तदा वक्यमाणस्तरूपोऽवग्रह एव मतिज्ञानं स्याद्, न पुनरीहा-प्रायादयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वात्, मतिज्ञानभेदत्वेन चैते प्रसिद्धाः, मतिज्ञानभेदतानां चेहा-प्रायादीनां साभिलापत्वेन श्रुतज्ञानप्राप्तिश्च स्यादियुग्मयलक्षणसङ्कीर्णता, अत्रोच्यते—यद्यपीहादयः साभिलापास्तथापि न तेषां श्रुतरूपता, श्रुतानुसारिण एव साभिलाप-
15 ज्ञानस्य श्रुतत्वात् । अथावप्रहादयः श्रुतनिश्रिता एव सिद्धान्ते प्रोक्ताः, तत्र, पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमत्तेरेव ते समुपजायन्त इति श्रुत-निश्रिता उच्यन्ते, न पुनर्व्यवहारकाले श्रुतानुसारित्वमेतेष्वस्ति, तदा हि अभ्यासपादववशात् परोपदेशसङ्केतितशब्दानुसरणमन्तरेणैवाक्षरादिप्रवाचने ईहादिप्रवृत्त्यनुपलक्षणात् कथं श्रुतानुसारित्वं तत्र सङ्गच्छते ? अमुकस्मिन् ग्रन्थे एतदित्थमभिहितमित्येवं श्रुतग्रन्थानुसरणं विनाऽपि पटवभ्यासवशादनवरतं विकल्पपरम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तिदर्शनाच्च । यत्र तु श्रुतानुसारित्वं तत्रै-हादिषु श्रुतरूपताऽस्माभिरपि न निषिद्धते, तस्मात् श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतत्वाभावादीहा-प्राय-धारणानां मतिज्ञानत्वमेव, न 20 श्रुतज्ञानत्वम् । किञ्च—नेह मति-श्रुतयोः परमाणु-करिणोरिवाऽस्त्वयन्तिको भेदः समन्वेषणीयः, यतः प्राग्मिहैवोक्तम्—विशिष्टः कक्षिन्मति-विशेष एव श्रुतमिति वल्कसदृशं मतिज्ञानं तज्जनितदवरिकारूपं श्रुतज्ञानम् । न च वल्क-शुभ्रयोः परमाणु-कुञ्जरवदात्यन्तिको भेदः, किन्तु कारण-कार्यभावकृत एव, स चेहा-प्रस्ति, मते: कारणत्वेन श्रुतस्य तु कार्यत्वेनाभिधास्यमानत्वात् । न च कारण-कार्ययोरै-कान्तिको भेदः, कनक-कुण्डलादिषु मृत्पिण्ड-कुण्डादिषु च तथाऽर्दर्शनात् । तस्मादवप्रहादेष्याऽनभिलापत्वाद् ईहाद्यपेक्षया तु साभिलापत्वात् साभिलापा-अनभिलापं मतिज्ञानं अश्रुतानुसारिैच, सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य 25 व्यवहारकालेऽननुसरणात् । श्रुतज्ञानं तु साभिलापमेव श्रुतानुसार्येव च, सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य व्यवहारकालेऽवश्यमनुसरणादिति स्थितम् ॥ पं. ५. इथं लक्षणभेदाद् भेदोऽभिहितः । सम्प्रति हेतु-फलभावाद-नयोभेदं दर्शयति “मद्युब्दं सुयं, न मई सुयसुच्चिया” इत्यनेन—यदि हेकत्वं मति-श्रुतयोर्भवेत् तदा एवम्भूतो नियमेन पूर्व-पश्चाद्वावो घट-तस्त्वरूपयोरिव न स्थात्, अस्ति चायम्, ततो भेद इति भावः । पृष्ठातुः पालन-पूरणयोरर्थयोः पठ्यते, तस्य च पिपर्तीति पूर्वमिति निषात्यते । पूर्वशब्दश्चायमिह कारणपर्यायो द्रष्टव्यः, कार्यात् पूर्वमेव कारणस्य भावात्, सम्यज्ञानपूर्विका सर्व-30 पुरुषार्थसिद्धिरित्यादौ तथादर्शनात् । ततश्च मतिपूर्वं श्रुतमिति कोऽर्थः ? श्रुतज्ञानं कार्यं मतिस्तु तत्कारणम्, कार्य-कारणयोश्च मृत्पिण्ड-घटयोरिव कथम्भिदं भेदः प्रतीत एव । पं. ६. किमिति पुनर्मति: पूर्वं कारणस्य श्रुतस्य ? इत्याह—तथा चेद-मित्यादि, अनुग्रेक्षादिकालेऽभ्युद्याभ्युद्य श्रुतपर्यायवर्धनेन मत्यैव श्रुतज्ञानं पूर्यते—पोष्यते, पुष्टि नीयत इत्यर्थः, तथा मत्यैवान्यतस्तत् प्राप्यते—गृहीतं सदेतत् परावर्तन-चिन्तनद्वारेण मत्यैव पाल्यते—स्थिरीक्रियते,

अन्यथा मत्यभावे तद् गृहीतमपि प्रणस्येदेवत्यर्थः । श्रुतज्ञानस्यैते पूरण-प्रापण-पालनादयोऽर्था विशिष्टाभ्यूह-धारणादीनन्तरेण कर्तुं न शक्यन्ते, अभ्यूहादयश्च मतिज्ञानमेवेति सर्वथा श्रुतस्य मतिरेव कारणं श्रुतं तु कार्यं इति कारण-कार्यरूपत्वाद् मति-श्रुतयोर्भेदः । पं. १३. भावश्रुतान्मतिर्नास्तीति, भावश्रुतपूर्विका मतिर्न भवतीत्यर्थः, द्रव्यश्रुतप्रभवा तु भवतु, को दोषः ? ।

पं. १४. यद्वेति, भावश्रुतान्मतिर्नास्ति, कार्यतयैव निषिद्धते, न पुनः क्रमेणेति । क्रमशस्तु मतिर्नास्तीत्येवं न, किन्तु क्रमशो मतिरूप्येव, क्रमेण जायमानां भवति को निवारयति ? । तथाहि—मत्या श्रुतोपयोगो जन्यते, तदुपरमे तु निजकारणात् ५ प्रवृत्ता पुनरपि मतिरवतिष्ठते, पुनस्त्वयैव श्रुतं तथैव च मतिरित्येवं क्रमेण भवन्ती मतिरिष्यत एव, यस्मात् श्रुतोपयोगात् श्रुतस्य मतावस्थितिर्भवति, श्रुतोपयोगोपरमे क्रमायातं मत्यवस्थान्तं न निवार्यते, अन्यथा आमरणान्तं केवलश्रुतमात्रोपयोगप्रसङ्गात् ।

पं. १६. अथ श्रुतस्य परो भतिर्पूर्वतां विघटयनाह—

नाणाणऽण्णाणाणि य समकालाहं जओ मह-सुयाहं ।
तो न सुयं महपुचं महनाणे वा सुयनाणं ॥ १ ॥

10

इह मति-श्रुते वद्यमाणयुक्त्या द्विविधे—सम्यदष्टेज्ञानस्वरूपे, मिथ्यादष्टेत्वज्ञानस्वभावे । तत्र ज्ञाने अज्ञाने दैते प्रत्येकं समकालमेव भवतः, तत्क्षयोपशमलाभस्याऽगमे युगपदेव निर्देशात् । यतस्यैते ज्ञाने अज्ञाने च मति-श्रुते पृथक् पृथक् समकाले भवतः ततो न श्रुतं मतिर्पूर्वं युज्यते, नहि सममेवोपन्नयोः सञ्चेतरगोविवागयोरिव पूर्व-पश्चाद्वावः सङ्गच्छते । अथोत्सौत्रोऽयसदाग्रहवशात् स पूर्व-पश्चाद्वावो न त्यज्यते इत्याह “महनाणे वा” इत्यादि । इदमुक्तं भवति—मतिज्ञाने समुत्पन्ने तत्समकालं च श्रुतज्ञानेऽनभ्युपगम्यमाने श्रुतज्ञानं जीवस्य प्रसज्यते, श्रुतज्ञानानुपादेऽद्यापि तैदनिवृत्तेः, न च ज्ञानाऽज्ञानयोः समकालमवस्थिति- 15 रागमे क्वचिदप्यनुमन्यते, विरोधात्, ज्ञानस्य सम्यदष्टिसम्भवित्वात्, अज्ञानस्य तु मिथ्यादष्टिभावित्वादिति गाथार्थः ॥ १ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह—

पं. १७. इह लद्धिमह-सुयाहं समकालाहं, न तूवओगो सिं ।
महपुचं सुयमिह पुण सुओवओगो महप्यभवो ॥ २ ॥

ननु ध्यान्यविजूम्भितमिदं परस्य, अभिप्रायापरिज्ञानात् । तथाहि—द्विविधे मति-श्रुते—तदावरणक्षयोपशमरूपलवितः उपयोग- 20 तश्च । तत्रेह लवितो ये मति-श्रुते ते एव समकालं भवतः, यस्वनयोरुपयोगः स युगपत्र भवत्येव, किन्तु केवलज्ञान-दर्शनयोरिव तथास्वामाव्यात् क्रमेणैव प्रवर्तते । अत्र तर्हि लवितमङ्गीकृत्य मतिर्पूर्वता श्रुतस्योक्ता भविष्यतीति चेत्, नैवमित्याह—मतिर्पूर्वं श्रुतम्, इह तु श्रुतोपयोग एव मतिप्रभवोऽङ्गीकृत्यते, न लवितरिति भावः । श्रुतोपयोगो हि विशिष्टमन्तर्जलयाकारं श्रुतानुसारि ज्ञानमभिधीयते, तच्चावग्रहेहादीनन्तरेणाऽकस्मिकं न भवति, अवग्रहादयश्च मतिरेवेति तत्पूर्वता श्रुतस्य न विरुद्धत इति गाथार्थः ॥ २ ॥

तदेवं मतिर्पूर्वं श्रुतमिति समर्थितम् । परस्तु मतेरपि श्रुतपूर्वताऽपादनेनाविशेषमुद्भावयनाह—

सोऽण जा मई भे सा सुयपुचं त्ति तेण न विसेसो ।
सा दद्वसुयप्यभवा भावसुयाओ मई नत्थि ॥ ३ ॥

25

परस्मात् शब्दं श्रुत्वा तद्विषया ‘भे’ भवतामपि या मतिरूपत्वते सा ‘श्रुतपूर्व’ श्रुतकारणैव, शब्दस्य श्रुतत्वेन प्रागुक्तव्यात्, तस्यात् भते: शब्दप्रभवत्वेन भवतामपि सिद्धत्वात् । ततश्च “न विसेसो” त्ति अन्योन्यं पूर्वभावितायां मति-श्रुतयोर्न विशेष इत्यर्थः, तथा च सति “न मई सुयपुचिय” त्ति यदुक्तं ग्राकृ तदयुक्तं प्राप्नोतीति भावः । अत्रोत्तरमाह—परस्माच्छब्दमाकर्ष्य या मति-

१ श्रुतज्ञान जेटिं ॥ २ श्रुतं पूर्वं यस्याः जेटिं ॥

रुत्पद्यते सा हन्त ! शब्दस्य द्रव्यश्रुतमात्रत्वाद् द्रव्यश्रुतप्रभवा, न भावश्रुतकारणा, एतत्तु न केनापि वार्यते, किन्त्वेतदेव वयं ब्रूमः, यदुत्-भावश्रुतान्मतिर्नास्ति, भावश्रुतपूर्विका मतिर्न भवतीत्यर्थः, द्रव्यश्रुतप्रभवा तु भवतु, को दोषः ? इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

ननु भावश्रुतादूर्ध्वं मतिः किं सर्वथा न भवति ? इत्याह—

पं. १९. कञ्जतया, न उ कमसो, कमेण वा को महं निवारेऽ ? ।

५ जं तत्थावत्थाणं चुतस्स सुक्षेष्वओगाओ ॥ ४ ॥

भावश्रुतान्मतिः कार्यतैव नास्तीत्यनन्तरोक्तगाथावयवेन सम्बन्धः । “न उ कमसो” त्ति क्रमशस्तु मतिर्नास्तीत्येवं न, किं तर्हि ?, क्रमशः साऽस्तीत्येतत् सर्वोऽपि मन्यते, अन्यथा आमरणावधि श्रुतमात्रोपयोगप्रसङ्गात् । यदि क्रमशः साऽस्ति तर्हि क्रमेण भवन्त्यास्तस्या भवन्तः किं कुर्वन्ति ? इत्याह—क्रमेणत्यादि, वाशन्दः पातनार्थं, सा च कृतैव, क्रमेण भवन्ती मतिं को निवारयति ? । मत्या श्रुतोपयोगो जन्यते, तदुपरमे तु निजकारणकलापात् सदैव प्रवृत्ता पुनरपि मतिरवतिष्ठते, पुनस्त्वैव श्रुतम् 10 तथैव च मतिरियेवं क्रमेण भवन्या मतिर्निषेधका वयं न भवाम इत्यर्थः । किम् ? इत्याह—‘यद्’ यस्मात् कारणात् ‘तत्र’ तस्यां मतो ‘अवस्थान्’ स्थितिर्भवति श्रुतोपयोगात् च्युतस्य, ततः क्रमेण मतिं न निषेधयामः । इदमुलं भवति—यथा सामान्यभूतेन सुवर्णेण स्वविशेषरूपाः कङ्गणाऽङ्गुलीयकादयो जन्यन्ते अतस्ते तत्कार्यव्यपदेशं लभन्त एव, सुवर्णं त्वतजन्यत्वात् तत्कार्यतया न व्यवह्रियते, तस्य कारणान्तरेभ्यः काञ्चनोपलादिभ्यः सिद्धत्वात् । कङ्गणादिविशेषोपरमे तु सुवर्णावस्थानं क्रमेण न निवार्यते, एवं मत्याऽपि सामान्यभूतया स्वविशेषरूपः श्रुतोपयोगो जन्यतेऽतस्तत्कार्यं स उच्यते, मतिस्वतजन्यत्वात् तत्कार्यतया न व्यपदिश्यते, 15 तस्या हेत्वन्तरात् तदावरणक्षयोपशमात् सदा सिद्धत्वात् स्वविशेषभूतश्रुतोपयोगोपरमे तु क्रमायातं मत्यवस्थानं न निवार्यते, आमरणान्तं केवलश्रुतोपयोगप्रसङ्गादिति गाथार्थः ॥ ४ ॥

पं. २१. लक्षणमेदाद् हेतु-फलभावाच्च भेदोऽनयोरभिहितः । सम्प्रति भेदविभागात् तमाह—इत्थेत्यादि,

पंचहि वि इंदिएँहि मणसा अथोभग्हो मुणेयव्यो । चर्किखदिय-मणरहियं वंजणमीहाइयं छद्वा ॥१॥ [जीवस०गा० ६२]

इत्यष्टाविंशतिविघ्नवृम् ।

२० पं. २३. सोऽन्दिओवलद्वी होइ-सुयं, सेसयं तु महनाणं ।

मोह्नूणं दृव्यसुयं अव्यवरलंभो य सेसेसु ॥ १ ॥

इन्द्रः—जीवः, तस्येदमिन्द्रियम् । श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्, तच्च तदिन्द्रियं चेति श्रोत्रेन्द्रियम्, उपलम्भनमुपलब्धिः— ज्ञानम्, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरिति तृतीयासमासः, श्रोत्रेन्द्रियस्य वा उपलब्धिः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरिति षष्ठीसमासः, श्रोत्रेन्द्रियद्वारकं ज्ञानमित्यर्थः, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिर्यस्येति बहुवीहिणाऽन्यपदार्थे शब्दोऽप्यविक्रियते, ततश्चाऽवसमासद्वये 25 श्रोत्रेन्द्रियद्वारकमभिलाप्लावितोपलब्धिलक्षणं भावश्रुतमुक्तं द्रष्टव्यम्, बहुवीहिणा तु तस्यां भावश्रुतोपलब्धावनुपयुक्तस्य वदतो द्रव्यश्रुतम्, तदुपयुक्तस्य तु वदत उभयश्रुतमभिहितं वेदितव्यम् । इह च व्यवच्छेदफलत्वात् सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति, इष्टतथावधारणविधिः प्रवर्तते, ततः ‘चैत्रो धनुर्द्वेर एव’ इत्यादिविवेहायोगव्यवच्छेदेनावधारणं द्रष्टव्यम्, तथथा—श्रुतं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव, न तु श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेवेति । श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिस्तु श्रुतं मतिर्वा भवति, यथा धनुर्द्वेरश्रेत्रोऽन्यो वेति, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धेरवप्रहेहादिरूपाया मतिवतात् श्रुतानुसारिण्यास्तु श्रुतत्वादिति । यदि पुनः ‘श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतमेव’ इत्यवधार्येत तदा 30 तदुपलब्धेर्मतित्वं सर्वथैव न स्यात्, इष्यते च कस्याश्चित् तदपीति भावः । यदि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतं तर्हि शेषं किं भवतु ? इत्याह—“सेसयं तु” इत्यादि, श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिविहाय ‘शेषकं’ यच्चक्षुरादीन्द्रियचतुष्प्रयोपलब्धिरूपं तद मतिज्ञानं भवतीति वर्तते । तुशब्दः समुच्चये, स चैवं समुच्चिनोति, न केवलं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिर्मतिज्ञानं किन्तु श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिश्च काचिदवग्रहेहादिमात्ररूपा

मतिज्ञानं भवति, तथा च सत्यनन्तरमवधारणव्याख्यानमुपपनं भवति । “सेसयं तु महानाण” मिति सामान्येनैवोत्ते शेषस्य सर्वस्याप्युत्सर्गेण मतित्वे प्राप्ते सत्यपवादमाह—“मोत्तूणं द्व्यमुयं” ति पुस्तकादिलिखितं यद् द्रव्यश्रुतं तद् ‘मुक्त्वा’ परित्यज्यैव शेषं मतिज्ञानं द्रष्टव्यम्, पुस्तकादिन्यस्तं हि भावश्रुतकारणत्वाच्छब्दवद् द्रव्यश्रुतमेवेति कथं मतिज्ञानं स्यात्? इति भावः । न केवलं श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः श्रुतम्, किन्तु यश्च शेषेषु चतुर्षु चक्षुरादीन्द्रियेषु श्रुतानुसारिसामिलापविज्ञानरूपोऽक्षरलाभः सोऽपि श्रुतम्, न त्वक्षरलाभमात्रम्, तस्येहा-ऽपायाद्यात्मके मतिज्ञानेऽपि सद्वावादिति । आह—यदि चक्षुरादीन्द्रियाक्षरलाभोऽपि श्रुतं तर्हि यदाद्य- 5 गाथावयवे ‘श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव श्रुतम्’ इत्यवधारणं कृतं तत्रोपपदते, अश्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेवपीदानीं श्रुतवेन समर्थितत्वात्, नैतदेवम्, शेषेन्द्रियाक्षरलाभस्यापि श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरूपत्वात्, स हि श्रुतानुसारिसामिलापविज्ञानरूपोऽत्राधिक्रियते, श्रोत्रेन्द्रियो-पलब्धिरपि चैवभूतैव श्रुतमुक्ता, ततश्च सामिलापविज्ञानं शेषेन्द्रियद्वारेणाप्युत्पन्नम्, योग्यतया श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेव मन्तव्यम्, अभिलापस्य सर्वस्यापि श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्यत्वादिति । अत्राह—ननु “सोऽंदिभोवलद्वी होइ सुं” तथा “अक्षरलंभो य सेसेसु” इत्युभयवचनात् श्रुतज्ञानस्य सर्वेन्द्रियनिमित्तानि सिद्धा, तथा “सेसयं तु महानाण” मिति वचनात् तुशब्दस्य समुच्चयाच्च मतिज्ञानस्यापि 10 सर्वेन्द्रियकारणता प्रतिष्ठिता, भवद्विस्त्वन्दियविभागान्मति-श्रुतयोर्भेदः प्रतिपादितुमारब्धः स चैवं न सिध्यति, द्वयोरपि सर्वेन्द्रियनिमित्तायास्तुल्यत्वप्रतिपादनादिति, अत्रोच्यते, साधूकं भवता, किन्तु यद्यपि शेषेन्द्रियद्वारायात्वात् तदक्षरलाभः शेषेन्द्रियोपलब्धिरूपत्वते, तथाप्यमिलापात्मकत्वादसौ श्रोत्रेन्द्रियग्रहणयोग्य एव, ततश्च तत्वतः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरेवायम् । तथा च सति परमार्थतः सर्वं श्रोत्रविषयमेव श्रुतज्ञानम्, मतिज्ञानं तु तेद्विषयं शेषेन्द्रियविषयं च सिद्धं भवति, अत इत्थमिन्द्रियविभागाद् मति-श्रुतयोर्भेदो न विहन्यत इत्यलं विस्तरेणेति पूर्वगतगाथासङ्क्षेपार्थः ॥ 15

पं. २६. आवरणभेदाच्चेति, मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणलक्षणावरणभेदात् तदावार्यस्यापि भेदः ।

[पृष्ठ ४६]

पं. ७. ननु यथा मति-श्रुतम्यां सम्यग्दृष्टिर्घटादिकं जानीते व्यवहरति च तथा मिथ्यादृष्टिरपि, तत् किमिति तस्य सत्कं सर्वमप्यज्ञानमुच्यते? इत्याशङ्काचाऽह—

**सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जदिच्छिओवलंभाओ ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छिदिड्सस अणाणं ॥ १ ॥**

20

सच्च असच्च सदसती, तयोः अविशेषं—अविशेषः तस्माद्वेतोः, मिथ्यादृष्टेः सम्बन्धिव्यवहारमात्रेण ज्ञानमपि निश्चयतोऽज्ञानमुच्यते, सतो ह्यसत्त्वेनासद् विशिष्यते, असतोऽपि च सत्त्वेन सद् भिवते । मिथ्यादृष्टिश्च घटे सत्त्व-प्रमेयत्व-मूर्त्तिवादीन् स्तम्भ-रम्भ-ऽम्भोरहादिव्यावृत्तादीश्च पटादिधर्मान् सतोऽप्यसत्त्वेन प्रतिपदते, ‘सर्वग्रकारैर्घट एवायम्’ इत्यवधारणात् । अनेन ह्यवधारणेन सन्तोऽपि सत्त्व-प्रमेयत्वादयः पटादिधर्माः ‘न सन्ति’ इति प्रतिपदते, अन्यथा सत्त्व-प्रमेयत्वादिसामान्यवर्मद्वारेण घटे पटादीनामपि 25 सद्वावात् ‘सर्वथा घट एवायम्’ इत्यवधारणानुपपत्तेः । ‘कथम्भिद् घट एवायम्’ इत्यवधारणे त्वनेकान्तवादाभ्युपगमेन सम्यग्दृष्टिव्यप्रसङ्गात्, तथा पट-पुट-नट-शक्टादिरूपं घटेऽसदपि सत्त्वेनायमभ्युपगम्यति, ‘सर्वैः प्रकारैः घटोऽस्त्वयेव’ इत्यवधारणात् । ‘स्यादृष्ट्येव घटः’ इत्यवधारणे तु स्याद्वादाश्रयणात् सम्यग्दृष्ट्यप्राप्तेः । तस्मात् सदसतोर्विशेषाभावादुन्मत्तकस्येव मिथ्यादृष्टेभोगोऽज्ञानम् । तथा विपर्यस्तत्वादेव भवहेतुत्वात् तद्बोगोऽज्ञानम् । तथा पशुवध-तिलादिदहन-जलाधवगाहनादिषु संसारहेतुषु मोक्षहेतुत्वबुद्धेर्दया-प्रशाम-त्रिष्णचर्चा-ssकिञ्चन्यादिषु तु मोक्षकारणेषु भवहेतुत्वाद्यवसायतो यदच्छोपलभ्यात् तस्याज्ञानम् । तथा 30 विरत्यभावेन ज्ञानफलाभावाद् मिथ्यादृष्टेज्ञानमिति गाथार्थः ॥

पुणि सुयपरिकम्मियमहस्स जं संपर्यं सुयाईयं ।

तन्निस्सयमियरं पुण अणिस्सयं मइचउकं तं ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० १६९]

तत्रापि प्रायो वैनयिकीवर्ज इष्टव्यम्, तस्यां श्रुतनिश्चित्वस्यापि भावात् । पं. १३. मतिज्ञानमेवाधिकृत्य
पश्चद्वत्रभाहेति वदन् [४६] सूते से कि तं आभिषिखोहियनाणं इति पाठोऽशुद्ध इत्याचष्टे, किन्तु “से कि तं मइनाणं
५ इत्यं भवति । पं. १९. आह—इदमपीत्यादि, कथं पुनरत्रौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेऽवग्रहादयः सम्भवन्ति? तत्र यथा ते
भवन्ति तथा दर्शयते—

किह पडिकुकुडीणो जुज्ज्ञे ? बिवेणऽवगग्हो, ईहा ।

कि सुसिलिदृमवाओ दप्पणसंकंतबिंवं ति ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० ३०४]

इह किलाऽऽगमे—

१० भरहसिल १ मिंड २ कुकुड ३ तिल ४ वालुय ५ हत्थि ६ अगड ७ वणसंडे ८ ।

पायस ९ अहया १० पते ११ खाडहिला १२ पंच पियरो य १३ ॥ [आव० निं० गा० १४१]

इत्यादिना औत्पत्तिक्यादिबुद्धीनां बहून्युदाहरणान्युक्तानि तन्मध्याळ्लेषोपलक्षणार्थं कुकुटोदाहरणमाश्रित्यौत्पत्तिक्यां बुद्धाव-
वग्रहादयो भाव्यन्ते—राजा नटकुमारकस्य भरतस्य किल बुद्धिपरीक्षणार्थमादिष्टम्, यदुत—अयं मदीयः कुकुटो द्वितीयकुकुटमन्त-
१५ रेणैकक एव योधनीयः, ततस्तेन जिज्ञासितं मनसि—कथमयं ‘प्रतिकुकुटहीनः’ प्रतिपक्षभूतद्वितीयकुकुटवर्जितो युध्येत? एतत्त-
जिज्ञासमानस्य तस्य झगित्येव स्फुरितं चेतसि । किम्? इत्याह—‘विम्बेने’ति आत्मीयेन प्रतिविम्बेन पुरो वीक्षितेन दर्पाध्यात-
त्वादयं युध्यत इत्यवगृहीतमित्यर्थः । एतच्च किम्? इत्याह—‘अवग्रहः’ सामान्येनैव विम्बमात्रावग्रहणादवग्रहः, मतिप्रथममेद
इत्यर्थः । ईहा तर्हि का? इत्याह—“ईहा कि सुसिलिंदुं” इति कि पुनस्तत् प्रतिविम्बमस्य योधनाय ‘सुक्षिष्टं’ सुस्तु युज्यमानकं
भवेत्? कि तडागपयःपूरादिगतम्? आहोश्चिद् दर्पणगतम्? इत्यादिविम्बविशेषान्वेषणर्महित्यर्थः । अपायमुपदर्शयति—
“अवाओ दप्पणसंकंतबिंवं” ति कल्लोलादिभिः प्रतिक्षणमपनीयमानत्वादस्पष्टत्वाच्च जलादिगतविम्बमिह न युक्तम्, ततः स्थिर-
२० त्वेन त्यष्टादित्वेन च चरणाधातादिविषयत्वाद् दर्पणसङ्कान्तमेव तदत्र युज्यत इत्येवं विम्बविशेषनिश्चयोऽपाय इत्यर्थः । एवमन्येष्वपि
बुद्धयुदाहरणेषु अवग्रहादयो भावनीयाः । तस्माद् बुद्धिचतुष्टयेऽप्येषां सद्गावात् श्रुतनिश्चित्तमिदमपीति परायाः, अत्रापि श्रुत-
निश्चितानामवग्रहादीनां प्रदर्शितरीत्या सम्भवादिति ॥

पं. २५. औत्पत्तिकी नाम प्रातिभमिति हृदयम् ।

[पृष्ठ ४७]

२५ पं. ४. वैनयिक्यां “भरनित्थरणे”ति अतिगुरुकार्यस्य निस्तरणे—पारप्रायणे या समर्था । “उभओलोगफलवती”
इति तत्रेहलोके सल्कार-द्रव्यादिलाभः, परलोके स्वर्ग-मोक्षादिप्राप्तिरिति ॥

[पृष्ठ ४८]

पं. १०. “भरहसिले”त्यादिद्वारगाथा । अस्याः सप्तदशोदाहरणानि, तदथा—“भरहसिल” ति, भरतशिला १
“पणिय” ति पणितं २ वृक्षः ३ “खड्डुग” ति मुद्रारूपं ४ “पठ सरड काय उच्चारे” इति पठः ५ सरडः ६ काका: ७
३० उच्चारः ८ “गय घयण गोल खंभे” इति गजः ९ “घयण” ति भण्डः १० गोलः ११ स्तम्भः १२ “खड्डुग मणित्य घड
पुत्ते” इति क्षुल्लकः १३ मार्गः १४ छी १५ द्वौ पती १६ पुत्रः १७ इति । एतानि सप्तदशायि पदानि तत्तज्ञातसूचामात्रफलान्येवेति
न सूक्ष्मेक्षिका कार्या ॥ तत्राऽद्वज्ञातस्य सङ्क्षेपगाथा— पं. २९. भरहसिलेत्यादि । भरतः—नटस्तदवृत्तान्तगता शिला

भरतशिला १ ‘भेषः’ मेषः २ ‘कुकुटः’ ताम्रचूडः ३ “तिल” ति तिलः ४ “बालुग” ति बालुकायाः सम्बन्धिनी वरत्रा ५ हस्ती ६ “अगडे” ति ‘अवटः’ कूपः ७ वनखण्डः ८ पायसं ९ “अइय” ति अजिकायाः-छगलिकायाः पुरीषगोलिकाः १० “पते” इति पिपलपत्रम् ११ “खाडहिल” ति तिलहिलिका १२ “पञ्च पितरश्च” तव राजन् ! पञ्च जनकाः १३ ॥ तथा—महुसित्येत्यादि । “महुसित्थ” ति ‘मधुसित्थकं’ मदनं १ मुदिका २ अङ्गश्च ३ ‘नाणकं’ व्यवहाराहूपकलक्षणम् ४ “भिक्खु चेडगनिहाणे” इति भिक्षुः ५ चेटकनिधानं ६ शिक्षा च ७ अर्थः ८ शखं ९ “इच्छा य महं” ति इच्छा च मम १० शतसहस्रः ११ । एवं ५ चाऽऽवसङ्ग्रहगाथायाः सम्बन्धीनि सप्तदश एतानि चैकादश भीलितान्यष्टाविंशतिर्मूलज्ञातान्यौपत्तिक्यां बुद्धाविति ॥

भरहसिल पणित० गाधाए ताव—उज्जेणी नगरी । जणवए तथ णडाणं गामो । तथ एगस्स नडस्स भजा मया । तस्स य पुत्तो ढहसो । नडेण अण्णा आणीया । सा तस्स दारगस्स ण वद्वति विणय-भोयणाइए । तेण दारण्ण भणितं—ममं ण लटुं वद्वसि जह, तहा ते करेमि जहा मम पादेसु पठसि ति । तेण रत्ति पिता सहसा भणितो—एस गोहो ति गोहो ति । तेण णांतं ‘भहिला विणदू’ ति सिद्धिलरागो जातो । सा भणिति—मा पुत्त ! एवं । तेण भणितं—ण लटुं वद्वसि । सा भणिति—वद्वीहामि । १० अहं पि लटुं करीहामि । सा वद्वितुमासद्वा । अण्णदा छाहीए चेव ‘एस गोहो गोहो’ ति भणिते ‘कहिं ?’ ति पुटो नियदेहछाहिं दरिसेति । ततो पिता से लजितो । ‘सो वि एवंविधो’ ति तीसे घणरागो जातो । सो वि विसभीतो पिताए समं जेमेति । अण्णया पिताए समं उज्जेणि गतो, दिट्टा नगरी । निगता पिता-पुत्ता । पिता पुणो वि अझगतो ‘किं पि ठवियं विसरितं’ ति । सो सिप्पाए नदीए पुलिणे नगरि सब्बं आलिहति । तेण णगरी सच्चरा लिहिता । ततो राया एति । तेण राया वारितो, भणितो—मा राउलमज्जेणं एहि ति । रणा कोउहलेणं पुच्छितो । सच्चरा सब्बा कहिया । रणा भणितो—कहिं वससि ? ति । तेण १५ भणितं—अमुगगामे । पिता से आगतो । ते गता । रायणो य एगूणगागि पंच मंतिसवाणि, एंगं भगति ‘जो य सब्बष्पहाणो होज’ ति चिंतियं—एस होज ति । तस्स परिक्षणगणिमित्तं इमागि पेसेति—

**भरहसिल १ मेंद २ कुकुट ३ तिल ४ बालुय ५ हत्थि ६ अगड ७ वणसंडे ८ ।
परमण ९ पत १० लिंडग ११ खाडहिला १२ पंच पियरो य १३ ॥**

लेहं विसज्जेति, जहा—तुञ्चं गामस्स बाहिं महल्ली सिला तीए मंडवं करेह । ते अद्वणा । सो दारओ रोहओ छुहा- २० इओ, पिता से गामेण समं अच्छति, उस्सूरे आगतो । सो रोयइ—अम्हे छुहाइया अच्छामो । सो भगति—तुमं सुहिओ सि । किह ? । तेण से कहियं । भगति—वीसत्था अच्छह, हेट्टा खंभे ठबेत्ता थोवथोवं खगह भूमी । खता, उबलेवणकतोवयरे मंडवे ख्नो निवेदितं । केण कयं ? । रोहगदारण्णं १ । ततो मेंदओ पेसितो—एस पक्खेण अणूणाहियं एत्तिओ चेव पच्चपिण्यव्यो । तेहिं भरहो पुच्छितो । तेण वि विरुवेण समं बंधावितो, जबस दिण्णं, तं चरंतस्स ण हायति बलं, विरुगं पेच्छंतस्स भणेण ण वद्वदति ति २ । एवं ककुडो अदाएण समं जुज्जावितो ३ । ‘तिलसमं तेलं दायवं’ ति तिला अदाएण मिया ४ । बालुयाए—वरहपडिलं देह २५ ५ । हत्थिमि—जुण्णहत्थी गामे छूडो, हत्थी ‘अप्पाउओ मरिहिति’ ति अधितो, ‘मतो’ ति ण जिवेदियवं । हत्थी मतो । तेहिं निवेदितं—जहा ण चरति ण ऊससति न नीससति । रणा भणितं—मतो ? । तेहिं भणितं—तुञ्चे भगह ति ६ । अगडे—आरण्णओ ण तीरह एकल्लतो आणेतुं, पागरं अगडं देह ७ । वणसंडे—पुब्बपासे गतो गामो ८ । परमणं—करिसउम्हाए पला-छुम्हाए ति ९ । एवं परिक्षिवउण समादिंदुं—रोहगेणं आगंतवं, तं पुण ण सुक्रपक्खे ण कण्हपक्खे, ण राहं झं दिवा, न

१ अत्र यद्यपि टिप्पनककृता “अर्थः ८ शख्सम् ९” इति पृथग व्याख्याय “अश्वार्विशतिर्मूलज्ञातान्यौपत्तिक्यां बुद्धे” इति निर्दिष्टस्ति तथाऽप्युदाहरणनिरूपणावसरे पूर्वाचार्यव्याख्यापरम्परानुसारि ‘अर्थशास्त्रम्’ इत्येकमेवोदाहरणमुपन्यस्तं वर्तते । तत् किमित्यत्र टिप्पनककृता “अर्थः ८ शख्सम्” इति व्याख्याय उदाहरणसब्ब्यां चाष्टार्विशार्ति निर्दिष्यापि उदाहरणोल्लिखनावसरे अर्थशास्त्रविषयमेवोदाहरणं निष्ठिकृतम् ? इति विद्वद्विविचारणीयमिति ॥

- छायाए न उप्हेणं, न छत्तेणं न आगासेणं, न पादेहि न जाणेणं, न पंथेणं न उप्पहेणं, ण ष्हाणेणं ण मलिणेणं ति । पञ्च अंगोहर्लीं काऊग चक्रमञ्चभूमीए एडिक्गे एगं पादं काऊग चालणीणिहिउत्तमंगो संज्ञासमयम्भि अमावासाए आगतो । रणा पूतितो “गंधव्वमुरवसद्वो” इथादीमां गाथां स पपाठ । आसणे य सोवितो । जामविउद्ग्रेण रणा सदाइतो—सुतो ? जगसि ? । भणति—सामि ! जगसि । सो सुतो विबुद्धो उट्टितो । रणा भणितो—जगसि ? त्ति । जहा आगवेह । किं तुष्णिको अच्छसि ? । ५ तेण भणितं—चितेमि । किं चितेसि ? । भणति—अस्सत्थयत्ताणं किं बिंटो महङ्गो ? उदाहु छिधा ? । किह ते चितितं ? । भणति—दो वि समाणि १० । वितिए जामे छालियालिंडियाओ वातेण ११ । तइए खाडइला जतिया पंडरगा तेत्तिया कालगा, जतियं च पुँछं तत्तियं सरीरं पि आयामेण १२ । चउत्थे जामे सदावितो वायं ण देति, तेण कंवियाए छित्तो उट्टितो । भणति—किं जगसि ? सुवसि ? । भणति—जगसि । किं करेसि ? । चितेमि । किं चितेसि ? । चितेमि—कतिहिं सि तुमं जातो ? त्ति । कतिहिं ? । तेण भणितं—पंचहिं । केण केण ? । रणा वेसमणेणं चंडालेणं रथएणं विछिएणं । तेण माया पुच्छिया, निबंधे कहियं १० जहा—रायबीयपसूयत्तगओ रणा, उदरथे वेसमणजकखपडिमासवंगालिगगाभिष्पायसंपायगाओ वेसमणेण, उउष्हाणसम-
णंतरमेव चंडाल-रथगदंसणे तदभिलासभावाओ तज्जायत्तगमवि, तहा विछिथभक्खणदोहले जाए कणिकामयस्स तस्स भक्ख-
णेण तस्संपायगाओ विछिएण वि । सो पुच्छितो—किह ते णायं ? त्ति । सो भणति—येन यथा न्यायेन रज्जं पालेसि तेण
णजसि रायपुत्तो त्ति, वेसमणो दाणेण, रोसेण चंडालो, सब्बसहरणेण रथओ, पुण जेण ममं कंवियाए घट्टिहसि तेण
विछितो त्ति १३ । हुद्दो राया, सञ्चेसि उवर्ते ठवितो, भोगो य से दिणो ? ।
- १५ पणियए—दोहिं पणितगं बद्धं । एगो भणति—जो एताओ लोमसियातो खाति तस्स तुमं किं देसि ? । इतरो भणति—
जो जिष्पति तेण जो नगरदारे मोदओ ण णीति सो दायब्बो । एगो जिओ । इतरो मगति । सो से रुवगं देति । इतरो
णेच्छति । ताहे दोणिग, जाहे सतोहिं वि ण तूसति ताहे तेग जूयकारा ओलगिता । बुद्धी दिण्गा । ताहे पूवितावगाओ एगं
मोदगं गहाय इंदखीले ठबेति, मगितो—गीर्हि मोदगा ! । ण णीति । जितो २ ॥
- रुक्खे—फलाणि मकडा ण देति । पाहाणेहिं हता । तेहिं फला खिता ३ ॥
- २० खड्डुए—यसेणंती राया । पुत्तो से सेणिओ रायलक्खगसंपणो, तस्स किंचि ण देति ‘मा मारिजिहि’ त्ति । सो
अद्वितीए निगतो बेणायडं आगतो एगस्स सिद्धिस्स आवणे ठितो । तस्स लाभो तप्पभावेण । सो भत्तं देति । धूताए संपको ।
दिण्गा । रायाए लेहो विसज्जितो । सो आपुच्छति । सा पतिभणति—तुव्वेह कहिं ? । सो भणति—अम्हे पंडरकुड्गा रायगिहे
गोवाला पसिन्ना । गतो । आवण्गसत्ताए दोहलो देवलोगचुतस्स ; अभयं सुणेझामि । सेढ्टी दब्बं गहाय उवट्टितो रणो । रणा
गहितं, उग्गेसियं । पुत्तो जातो, अभओ त्ति णामं कतं । पुच्छति—मम पिता कहिं ? त्ति । ताए कहियं । भणति—बच्चामो त्ति ।
२५ सत्थेण समं वच्चति । रायगिहस्स बहिया ठियाणि । गवेसंतो गतो । राया मंति मगति । सुक्खकूचे खड्डुंगं पाडितं—जो
गेणहति हत्थेणं तडे ठितो तस्स राया विच्चिति देति । अभएण दिट्टं, छागेण आहतं, सुक्खे पाणितं सुकं, तडे संतएण गहितं ।
रणो समीवं णीतो । पुच्छति—को तुमं ? । भणति—तुव्वं पुत्तो त्ति । किह वा ? किं वा ? । सब्बं परिकहितं । तुह्हो, उच्छंगे
कतो । माता पवेसिज्जन्ती मंडेति । तेण वारिया । अमच्चो जातो ४ ॥
- पडे—दो जणा ष्हायन्ति, एगस्स दढो पडो, एगस्स जुणो । जुणहत्तो दढं गहाय पट्टितो । इतरो मगति । सो ण
३० देति । ववहारो । महिलातो कन्तावितातो । दिण्गो जस्स सो । अणे भणंति—सीसाणि ओलिहिताणि, एगस्स उण्णापडतो,
एगस्स सोत्तिओ ५ ॥

सरडे—सणं वोसिरंतस्स सरडा भंडता । एगो तस्स अहिंद्राणस्स हेट्रा विलं पविद्वो पुँछेण छिको । वरं गतो अद्वितीए दुब्लो जातो । वेजो पुच्छितो भणति—जति सतं देह । दिणं । तेग घटए सरडो छूठो लक्खाए चिलिपिता विरेयण दिणं । वोसिरियं, सरडो कप्पेरे दिट्ठो, लट्ठूहतो ॥

वितितो सरडो—भिक्खुणा खुड्डतो पुच्छितो—एस

सरडो किं सीसं चालेति ? । तेण भणितं—तुमं जोएति, किं भिक्खू ? भिक्खुणि ? ति ६ ॥

कागो—तच्छिणएण खुड्डतो पुच्छितो—अरहत्ताः सर्वज्ञाः ? । बाढं । तो केत्तिथा इहं कागा ? ।

सट्टि कागसहस्रा इहं बेण्णातडे परिवसंति । जदि ऊणगा पवसिता, अब्बहिता तथ्य पाहुणगा ॥ १ ॥

वितितो—निहिमि दिट्ठे महिलं परिक्षति—रहस्यं धरेति ? न व ? ति । सो भणति—ममं पंदरओ कागो अहिंद्राणं पविद्वो । ताए सहिजिताणं कहितं, जाव रण्णा सुतं । पुच्छितो । कहियं । रण्णा से मुक्कं, मंती य निउत्तो ॥

ततिओ—विट्टविक्खरणे भागवतो खुड्डगं पुच्छति । खुड्डगो भणति—एस चिंतेति ‘एथ विट्टू अथि ? णथि ?’ ति ७ ॥

उच्चारे—धेजातियस्स भजा तरुणी गामंतरं निजमाणी धुतेण समं लग्गा । गामे बवहारो । विभन्नाणि पुच्छिताणि १० आहारं । विरेयणं दिणं, तिलमोदगा । इतरो धाडितो ८ ॥

गतो—हथी महतिमहालओ । जो तोलेति तस्स सयसहस्रं देमि । णावाए तोलेति । लंछिता णावा । उत्तरेऊण पाहाणाणं भरिया जाव सा रेहा । पाहाणा तोलिया । एत्तियं तुलति । जितो ९ ॥

घतणो—मंडो संब्वरहस्यस्तो । राथा देवीए गुणे कहेति—गिरामयं ति । सो भणति—न भवति । किह ? । जता पुण्याणि केसराणि वा ते ढोएति तदं ति । विण्णासितं । णाए हसितं । निव्वंवे कहियं । निव्विसतो आगतो । उवाहगाणं भारेण १५ उवट्ठितो । उहाहभीयाए रुद्धो १० ॥

गोलतो णकं पविद्वो जतुमतो । सलागाए तावेत्ता कद्दिडतो ११ ॥

खंभो तलागमझे । जो तडे संठितो बंधति तस्स एत्तियं दिजति । तडे खीलगं बंधिऊग परियंचिऊग बद्धो । जितो १२ ॥

खुड्डए—परिवाइया भणति—जो जं करेति तं मए कायब्बं कुसलकम्मं । खुड्डतो गतो भिक्खस्स । पडहतो बारितो । २० गतो राउलं । दिट्ठा । सा भणति—कतो गिलामि ? । तेग सागारियं दाइतं जिता, काइएण य पउमं लिहियं । सा ण तरति । जिता १३ ॥

मग्ग ति—एगो भजं गहाय पवहणेण गामंतरं बचति । सा सरीरचिताए ओतिणा । तीसे रूवेण वाग्मंतरी विलगा । इतरी रडति । बवहारो । दूरं हस्तो पसारितो । णातं १४ ॥

इत्थि ति—मूलदेवो अप्पवितिजओ बचति । इतो य एगो पुरिसो समहिलो आगच्छंतो दिट्ठो । तीए रूवे मुच्छितो २५ एगान्ते उब्बचिऊग अच्छइ । तेण वितियण भणति महिलइतो—मम महिला वितातुकामा, एयं विसजेहि ति । तेण विसजिता । सो तेण समं अच्छति । इतरी वि मूलदेवेण समं रमिऊग आगया ।

निगंतूण य तत्तो पदयं धेतूण कंडरीयस्स । धुत्ती भणति हसंती पियं खु णे दारओ जातो ॥ १ ॥ १५ ॥

पति ति—दोणहं भाउगाणं एगा भजा । लोगे कोइं—दोणह वि समा । रण्णा सुतं, परं विस्मयं गतो । अमच्चो भणति—कतो एवं होहि ? ति, अवस्स विसेसो अथि । तेण लेहो दिणो, जहा—गामं गंतब्बं । एगो पुञ्चेण, एगो अवरेण भजाए अहीं ३० वितो । तीए जो पितो सो अवरं पेसियो, जो वेसो सो पुञ्चं पेसितो । वेसस्स आगच्छंतस्स बचंतस्स वि निडाले सूरो । अस-

दहंतेसु पुणो वि पट्टविक्षग समर्गं पुरिसा पेसिता । ते णं भण्ति—ते ददं अपडुगा । ‘एसो मंदसंघयणो’ त्ति भणितुं तं चेव पवण्णा । एवं नातं १६ ॥

पुर्वे जाते एगो वाणियतो भजाहिं समं अन्नं रजं गतो । तथं मतो । तातो दो वि भण्ति ‘पुत्तो’ त्ति पुत्तनिमित्त-ववहारो न छिजति । अमच्चो भण्ति—दब्वं विरिचितुं दारणं दो भागे करेह करकचणं । एगा भण्ति—एवं होतु । माता ५ भण्ति—एतीसेव पुत्तो, मा मारिज्जउ । तीसेव दिण्णो १७ ॥

मधुसित्ये—काइ कोलिगिणी उभामइलिया । तेणेव विहाणेण दरिसितं । णाता उभामइल त्ति १८ ॥

मुदियाए—पुरोहितो निक्खेवए घेत्तूणं अणेसिं न देति । अणदा दमणेण ठवियं । पडियागतस्स ण देति । सो पिसाओ जातो । अमच्चो बीधीए जाति । भण्ति—देहि भो पुरोहित ! मम तं सहसं । तस्स किवा जाता, रणो कहितं । रणा भणितं—देहि । ‘ण गेहामि’ त्ति भण्ति । अणदा रायाए समं जूयं रमति, नाममुदागहणं । रायाए सलक्खं गहाय मणूसस्स हत्थे १० दिण्णा । [भजा से मगिया—] अमुगं कालं साहस्सो णउलओ दमणेण ठवितो तं देहि, इमं अभिण्णाणं । दिण्णो, आणितो । अणाणं णउलाणं मञ्जे कतो । सो सदावितो । पञ्चभिण्णातो । पुरोहितस्स जिभा छिणा १९ ॥

अंके—तहेव एगेण निक्खेवत्तं लँछेऊणं । इतरेण हेट्टा गहिता उस्सन्विता कूडरुवगाणं भरितो, पञ्चा तहेव सीवियं । आगतस्स अछितो । सा मुदा उग्वाडिया जाव कूडरुवगा । ववहारो । केत्तिया रुवगा ? । सहसं । गणणे ऊणगं जातं । तहा तडियओ ण तीरति सिव्वेउं, एवं णातं २० ॥

१५ **णाणए—तहेव निक्खेवतो । पणा छूढा । आगतस्स दिण्णो णउलतो । पणे पुच्छा । राउले ववहारो । कालो को आसि ? । अमुगो । अहुणत्तगगा एए पणा । सो चिराणओ कालो । डंडिओ २१ ॥**

भिक्खू—तहेव निक्खेवगं न देइ । जूतकारा ओलगिता । तेहिं पुच्छितेण सम्भावो कहितो । ते रत्तवडगवेसेणं गता सुवण्णगतस्स खोडिताओ गहाय । अम्हे वच्चामो, चेइयं वंदामो, इमं अच्छउ । सो य पुञ्चभणितो एतम्मि अंतरे आगओ । तेण मगितं । ताहे लोभिलताए दिण्णं । ‘अणे वि भिक्खू एंतगा, तो एगाए मंजूसाए चेव कजिहिति’ त्ति निगता २२ ॥

२० **चेडगनिहाणे त्ति—दो मित्ता । तेहिं निहाणगं दिट्टुं । कल्पे सुनकखते णेहामो त्ति । एगेण सर्ति उक्खणिऊण इंगाला छूढा । चितियदिवसे गता इंगाले पेच्छंति । सो धुत्तो भण्ति—अहो ! अम्हं मंदपुण्णता, इंगाला जाता । तेग णातं—हरियं, न दरिसेति । तस्स पडिमं करेति, दो मकडए गेहृति, तस्स उवरि भत्तं देति, ते छुहाइया तं पडिमं चडंति । अणदा भोयणगं सजितं । दारगा तस्सच्चया आणिता संगोविता, ण देति, भण्ति—मकडगा जाता । आगतो एथं लेषगठाणे उवेसावितो । मकडगा मुका, किलिकिलेता तस्स उवरि विलगा । णायं । दिण्णो भागो २३ ॥**

२५ **सिक्खा अथे धणुब्बेए—एगो रायपुत्तो जधा सेणितो तहा हिंडंतो एगाथं ईसरपुत्तए सिक्खावेति । दब्वं विहृतं । तेसि पितिमीसगा चितेति—बहुतं दब्वं एतस्स दिण्णं, जइया जाहिति तइया मारेजिहिति । तेण णातं, संचारितं णायगाणं, जहा—हं रत्ति छाणपिंडए णदीए छूमीहामि ते लण्ड्जाह । तेण गोलगा वलिता—एसा अम्हं विहि त्ति । तिहिपञ्चणीसु दारएहिं समं णदीये छूभति । एवं निवाहेऊण नद्वो २४ ॥**

अथसत्ये—एगेण पुत्तेण दो सवर्तीओ । ववहारो ण छिजति । इतो य देवी गुञ्बिणी उजाणियं गता । ताजो उवट्टि-३० ताजो । सा भण्ति—मम पुत्तो जो होहिति सो अथसत्यं सिक्खहिति, एतस्स असोगस्स हेट्टा णिवेट्टो ववहारं हिंदिहिति, ताव दो वि अविसेसेण स्वाह पियह त्ति । जीसे ण पुत्तो सा चितेति—एत्तियो ताव कालो लद्वो त्ति पडिसुतं । णाता—ण एसा २५ ॥

इच्छा—एगाए भत्तारो मतो । वदिदपउत्तं न उगमति । मित्तो भणितो—उगमेहिं । तेण भणितं—मज्ज वि भागं देहि । ताए भणितं—जं तुमं इच्छसि तं ममं देजसि । तेण उगमितं, सतं दिष्णं । सा पेच्छति । बबहारो । आणावितं । दो पुंजका कता । कतरं तुमं इच्छसि ? । भणति—बहुं । ताहे भणितो—एतं चेव इमं देहि—त्ति दवावितो २६ ॥

सतसहस्रं ति—एगो परिमटुओ । तस्स सयसाहस्रं खोरं । सो भगति—जो ममं अपुव्यं सुणावेति तस्स एतं देमि । अणदा एं नगरं गतो, तथ उग्घोसेति । सिद्धपुत्रेण सुतं, भगति—

५

मज्ज पितुं तुञ्ज पिता धारेति अगूणं सयसहस्रं । जति सुयपुव्यं तो देहि, अह न सुयं मुयसु तो खोरं ॥ १ ॥

जितो २७ ॥ उप्पत्तिया गया ।

पं. २०, २२. वैनयिक्यामुदाहरणदर्शनाय “निमित्ते” इत्यादिगाथाद्वयम्—निमित्तं १ अर्थशालं च २ “लेहे” इति लेखनं ३ गणितं च ४ कूपः ५ अश्वश्च ६ गर्दभः ७ लक्षणं ८ ग्रन्थिः ९ अगदं १०. गणिका च रथिकथेति ११ शीता शटी दीर्घं च तृणं अपसव्यकं च क्रोञ्चस्य इत्येकमेव १२ । नवरम्—अतीमितायामपि शीता शटीत्याहुः, शीतं ते कार्यम्, दीर्घं तृणं १० द्वारामितुवं कुर्वतां ‘गच्छ, दीर्घं मार्गं प्रतिपद्यस्व’ क्रोञ्चप्रादक्षिणेनोत्तारणं ‘प्रतिकूलं सम्प्रति ते राजकुलम्’ इत्युपाध्यायेनावगम्यते बुद्ध्या । नीत्रोदकं च १३ गोणः घोटकः पतनं च वृक्षादित्येकमेव १४ । एवं वैनयिक्यां सर्वग्रीष्म चतुर्दश ज्ञातानि ।

निमित्ते—एगस्स सिद्धपुत्रस्स दो सीसगा निमित्तं सिक्कत्वंति । अणदा तण-कटुस्स वच्चति । तेहिं हथिपदा दिट्ठा, एगो भगति—हथिगियाए पदा, कहं ? काइएग । सा य हथियाणी काणा, कहं ? एगपासेण तणाइं खादिताइं । तहा काइएणेव जातं—जहा इत्थी पुरिसो य विलगाणि । सो वि जातो [‘जुवाणो’ ति] । सा य ‘गुविणि’ ति जाता, हथाणि थंभिता उट्टिता । १५ दारतो से भविस्सति, जेण दक्षिंगपादो गुरुः । पोता रत्ता, दसिता रुक्खे लग्गा । णदीतारै एगाए थेरीए पुत्तो पवसियओ तस्स आगमणं पुच्छिता । तथ य घडतो भिणो, तथ य एगो भगति—

तज्जातेण य तज्जायं, तन्निभेण य तन्नियं । तारूपेण य तारूपं, सरिसं सरिसेण निदिसे ॥ १ ॥ [गणिविद्यागा. ७५]

‘मतओ’ ति परिणामेति । वितिओ भणति—जाहि बुड्डे ! सो घरं आगतेल्लओ । सा गता, दिट्ठो पुंचाताओ । सा जुवलयं रूपए य गहाय आगता, सकारितो । वितियओ भणति—मम सब्बावं गुरु न कर्हिति । तेण पुच्छिता । तेहिं जहाभूतं २० कहितं । एगो भगति—‘विवत्ती’ मरणं । एगो भणति—‘भूमिजो भूमि चेव मिलिते’ एवं सो वि दारतो । भणितं च—“तज्जाएण त तज्जातं०” सिलेगो १ ॥

अत्थसत्थे—कृष्णो दधिकुंडग उच्छुकलावग एवमादि २ ॥

लेहे जहा—अट्टारसलिविजागतो ॥ एवं गणिए वि ॥ अणो भणिति—वडेहिं रमंतेण अक्खराणि सिक्खाविता गणियं च । अयं भावार्थः—खटिकामया गोलकास्तथोपाध्यायेन भूमौ पातिताः कुमाराणामक्षरशिक्षणाय यथा भूमावक्षराण्युत्पद्यन्ते ३ । ४ ॥ २५

कूचे—खायजाणएणं पमाणं भणितं—जहा एहूरे पाणितं ति । तेहिं खायं । तो वोलीणं तस्स कहितं । ‘पासे आहणह’ ति भणिता । थासगसदेण जलमुद्भाइतं ५ ॥

आसे—आसवाणियगा बारवइं गता । सब्बे कुमारा शुल्ले वहे य गिणहंति । वासुदेवेण जो दुब्बले लक्खणजुतो सो गहितो ६ ॥

गद्भे—राया तैरुणपितो । अण्णत्थ उद्धाइतो सिणपल्लिए जारिसे । तिसाए पीडितो । थेरं पुच्छति । घोसावितं । एगेण ३०

१ पूर्वायातः ॥ २ तरुणप्रियः ॥

पितिप्यितेण आणितओ । तेण कहियं । थेरो भगति-मुयह गदभे, जत्थ गदभा उर्सिंघंति लेईति य तथ पाणितं । खइत, पीता य । अणो भणति-उर्सिंघणाए चेव जलासतगमणं ७ ॥

लक्खणे-पारसविसए आसरकखओ । धीताए तस्स समं संपत्ती । ताए भणितो-वीसथाणं घोलचम्मं पाहणाणं भरेऊं
रुक्खाओ मुयाहि, तथ जो ण उत्तसति तं लएहि; पडहयं च तालेहि, बुज्जावेहि य खक्खरेण, जो ण उत्तसति तं लएहि ।
5 सो वेतणगकाळे भणति-मम दो देहि अमुंगं च अमुंगं च । तेण भणितं-सब्बे गेण्हाहि, किं ते एतेहि ? । णेच्छति । भजाए
कहणं-धीता से दिजउ । सा नेच्छति । सो तीसे वङ्गदतिदारणं कहेति-लक्खणजुतेण कुङ्बं परिवङ्गति त्ति-एगस्स मातुलएण
धूता दिणा । कम्मं न करेइ । भजाए चोतितो दिवे दिवे अडवीओ रित्तओ एति, छट्टे मासे लङ्गं । कुल्लो सतसहस्रेण सेट्टिणा
लह्हओ 'अक्खयणिहि' त्ति ८ ॥

गंधिमं-पाडलिपुत्ते नवरे पालित्तगआयरिया अच्छंति । इतो य जाणएहि इमाणि विसज्जिताणि याडलिपुत्तं-सुतं
10 मोहियं १ लट्टी समा २ समुग्गओ ३ त्ति । केणह ण पाताणि । पालित्तयायरिया सदाविता-तुव्वे जाणह भगवं !? ति ।
बाढं जाणामि । सुतं उण्होदये छूँदं, मयणं विरायं, दिट्टाणि अगयाणि । दंडओ पाणिते छूँदो, मूँलं गरुयं । समुग्गतो जउणा
घोलितो उण्होदए कढितो, उग्वाडितो य । तेण वि य लाउं राइलेऊग रयगाणि छूँदाणि, तेगगसिन्वणीए सिव्वेऊग विसज्जितं ।
अभिंदंता फेडह । ण सक्रितं ९ ॥

अगदे-‘परवलं णगरं रेहेउं एति’ त्ति रायाए ‘पाणिताणि विणासियव्वाणि’ [त्ति] विसकरो पाडितो । पुंजा कया ।
15 वेज्जो भणति-सयसहस्रवेही । कहं ? । खीणाऊ हत्थी आणितो, पुँछवालो उपाडितो, तेण चेव वालगेणं तथ विसं दिणं,
विवणं करेंतं चरंतं दीसति । एस सब्बो विसं, जो वि खाति एं सो वि विसं, एवं सतसहस्रवेही । अतिथ निवारणविधी ? ।
बाढं । तथेव अगदो दिणो, पसमंतो जाति १० ॥

रहियगणियाए एगं चेव-पाडलिपुत्ते दो गणियातो-कोसा उवकोसा य । कोसाए समं थूलभद्दसामी अच्छितओ
आसी । पच्छा पञ्चहितो । ताहे वरिसारतो तथेव कतो । साविगा जाता, अबंभस्स पञ्चक्खाति णडणत्थ रायाभियोगेण ।
20 रहिएण रायां आराहितो । सा दिणा । सा थूलभद्दसामिस्स अभिक्खणं अभिक्खणं गुणे गेण्हति, तं ण तहा उवचरति । सो
ताए अप्पणो विणाणं दरिसेउकामो । असोगवरणियभूमि गतेण अंबपिंडी छोडिता कंडपुंखं अण्णोणं लाएंतेग अच्चभासं आणेता
अद्वचंदेण छिणा गहिता य । तहि वि ण तूसति, भणति-किं सिक्किखतस्स दुकरं ? । भणति-‘पेच्छ मम’ त्ति सिद्धत्थगरा-
सिम्मि णच्चिया सूर्यीण अगयम्मि य कणियारपुङ्कपोद्यासु । सो आउट्टो । सा भणति-

ण दुकरं तोडिय अंबपिंडी, ण दुकरं णच्चिउ सिन्निवयाए ।

25 तं दुकरं तं च महाणुभागं, जं सो मुणी पमयवणम्मि वुत्थो ११ ॥

“सीता साडी दीहं च तणं अवसव्वं च कोंचस्स” एगं चेव-राश्रयुता आयरिएण सिक्किखाविता । दब्बलोमी
य सो राया तं मारेउ इच्छति । तो दारगा चिंतेति-एतेण अम्हं विजा दिणा, उवाएण निथारेमो । जाहे सो जेमतो एति ताहे
ण्हाणसाडियं भगति । ते सुक्खयं भणति-अहो ! सीता साडी । वारमुहं तणं देति, भणन्ति-अहो ! दीहं तणं । पुञ्च कोंचपणं
पदाहिणीकरेति, तहिवसं अपयाहिणीकतो । परिगतं जहा-विरत्ताणि, पंथो दीहो-सीताणं, तं ममं काउ मग्नंति-त्ति णट्टो १२ ॥

30 णेच्छोदये-वणियमज्जा चिरपउत्थे पतिम्मि दासीए सब्बावं कहेति-पाहणां आणेहि-त्ति भणिता । तीए पाहुणतो
आणीतो, आयुसं च से कारियं । रच्चि पवेसितो तिसाइह्हो । नेब्बोदगं दिणं । भतो । देउलियाए उज्जितो । ‘अहुणकय-

कम्भो' ति एहाविता पुच्छिता—केण आउसं कारितं ? । तेग(एग) भणितं—दासीए । सा पहता । ताए कहितं । वाणिणी पुच्छिता । साहति सम्भावं । तयाविसो गोणसो त्ति दिट्ठो १३ ॥

गोण घोडग रुक्खपटणं च—एगो अकतपुण्गो जं जं करेति तं तं से विवजति । मित्तरस्स जाइर्हि बइल्लेहिं हलं 5
वाहेति । विगाले आणिता वाडे छूढा । सो य मित्तो से जेमेति, सो लज्जाए ण ढुको । तेण वि दिडा । ते निष्फिडिता
वाडाओ, हरिता । गहितो 'देहि' त्ति । राउलं निजति । पडिहेण घोडणं पुरिसो एति । सो तेण पाडितो आसेण । सो १०
पालतेण भणितो—आहण त्ति । तेण ममे आहतो मतो । तेण वि लहओ । विगाले नगरस्स वाहिरियाए वुथा ; तत्थ लोमं-
ठिया सुता, इमे वि तहिं चेव । सो चितेति—जावजीवबंदणो करिस्सामि, वरं मे अप्या ओवद्दो । तेसु सुतेसु सो डंडिक्खंडेण
तम्मि बडरुक्खे अप्याणं उक्लंबेति । तं दुब्बलं तुइं । तेग लोमंथितमहतरतो मारितो । तेहिं वि गहितो । पभाए करणं यीते तिहिं
वि कहितं जहावतं । सो पुच्छितो भणति—आमं त्ति । कुमारामचो भणति—तुमं बलदे देहि, एतस्स अच्छीणि उक्खम्मंतु । वितितो
भणितो—एतस्स आसं देउ, तुज्ञ जीहा उक्खम्मउ । इतरे भणिता—एस हेडा होउ, तुम्बं एगो उबंधितुं निष्पडउ त्ति काउं १५
मंतिणा मुको १४ ॥ वेणतिया गता ॥

पं. २८. कर्मजबुद्धयुदाहरणेष्वियं गाहा—“हेरन्निए” इत्यादि । ‘हेरण्यकः’ सौवर्णिकः १ ‘कर्षकः’ कृषीबलः २
“कोलिय” त्ति कोलिकः—तनुवायः ३ “दोवे य” त्ति दर्वी—चटकश्च, परिवेषक इत्यर्थः ४ “मुत्ति” त्ति मौक्किकप्रोता ५ “घय”
त्ति वृत्तप्रक्षेपकः ६ प्लवकः ७ “तुनाय” इति ‘तुनवायः’ तुनं—त्रुटिं वयति—सीञ्यति यः स तथा ८ वर्द्धकिः ९ “पूझए य”
इति ‘पूषिकः’ कान्दविकः १० “घड-चित्तकारे य” इति घटकारः—कुम्भकारः ११ चित्रकारः—चित्रकर्मविधाता १२ । एवं द्वादश १५
दृष्टान्ताः कर्मजायां मतौ ॥

हेरण्यते अभिक्खजेगेण अंधकारे वि रुवगं जाणेति हत्थपरामोसेण १ ॥

करिसतो अभिक्खजेगे जाणति फलनिष्फत्ति । तत्थ उदाहरणं—एगेण चोरेण स्वतं पउमागारेण छिन्नं । सो जणवत्तं
निसामेति । करिसतो भणति—किं सिक्खितस्स ढुकरं ? । चोरेण सुतं । पच्छतो गंतूण छुरियं अंछिङण भणति—मारेमि ते । तेण
पडयं पथरेता दीधियाण सुटी भरितो, भणति—किं परम्मुहा पडंतु ? ओहम्मुहा ? पासछिया ? । तहेव कतं । तुटो २ ॥ २०

कोलितो मुटिणा गहाय तंतू जाणति—एत्तियाएहिं वा कंडएहिं बिजिहिति त्ति ३ ॥

डोए बड्डई जाणई—एत्तियं माहिति ४ ॥

मोत्तियं आयिणेन्तो आगासे उक्खविता तहा निक्खवति जहा कोलवाले पडति ५ ॥

घते—सगडे संतज्जो जदि रुचति कुंडियाए णालए लुहति धारं ६ ॥

पैँझो आगासे ताणि करणाणि करेति ७ ॥

तुण्णाओ पुबं थुडाणि पच्छा जहा ण णर्जति सूतीए तत्तियं गेणहति जत्तिणं समप्पति । जहा सामिस्सै तं दूसं
धीँखरेण कारितं ८ ॥

बड्डई अमवेऊण देवकुलरहाण पमाणं जाणति ९ ॥

घडगारो पमाणेण मद्विं गेणहति, भाणस्स वि पमाणं अमिणिता करेति १० ॥

पूवियो वि पगलपरिमाणं अमवेऊण करेति ११ ॥

चित्तकारो पच्छा अमवेऊणं पमाणजुतं करेति, तत्तियं वा वण्णयं करेति जत्तिणं समप्पति १२ ॥ कम्मया समता ॥

१ नवः जेटिं ॥ २ नवः जेटिं ॥ ३ वर्द्धमानजिमविभोः ॥ ४ ब्राह्मणेन जेटिं ॥

[पृष्ठ ४९]

पं. ५. पारिणामिकबुद्धावुदाहरणानि यथा “अभए” इति अभयकुमारः १ “सेद्धि” ति काष्ठश्रेष्ठी २ “कुमारे” इति क्षुलककुमारः ३ “देवी” पुष्पवत्यमिथाना ४ उदितोदयो भवति राजा ५ साधुश्च ‘नन्दिषेगः’ श्रेणिकपुत्रः ६ ‘धनदत्तः’ सुंसुमापिता ७ श्रावकः ८ अमात्यः ९ क्षपकः १० अमात्यपुत्रः ११ चागक्यश्चैव १२ स्थूलभद्रश्च ५ १३ “नासिकसुंदरीनंद” ति नासिकनामनि नगरे सुन्दरीनन्दो वणिक् १४ “वद्दर” इति वैरस्वामी १५ । ‘पारिणामिकीं’ बुद्धिः इत्यनेन वाक्येनात्र पारिणामिकबुद्धियुक्ता त्राहणी पुत्रिकाचतुष्टयस्य शिक्षादायिनी देवदत्ता च गणिका गृह्णते । इयं च चित्रकर्मणा सर्वजनाभिप्रायग्राहिका १६ ॥

“चलणाहण” ति चलनाहननं १७ “आमंड” ति कृत्रिमामलकं १८ मणिश्च १९ सर्पश्च २० “खग” ति खड़गः १२ स्तुपेन्दः २२-२३ पारिणामिक्यां बुद्धौ एवमादीनि भवन्त्युदाहरणानि । एवं च पारिणामिक्यां बुद्धौ सूत्रोपात्तानि १० द्वाविंशतिर्जातानि ॥

अभयस्स कहं पारिणामिता बुद्धी?—जदा पञ्जोओ गतो, रायगिहं रोहितं, तदा अभयेण संधावारनिवेसजाणएण पुञ्चनिक्षित्ता कूड़खवगा नूर्मिता । कहियं-च से जघा-भेदितो संधावारो । दावितेसु णटो एस ॥ अहवा जाहे गणियाहिं कव-डेणाऽऽणीतो बद्धो जाव तोसितो चत्तारि वारे । चितियं च जेण-मोतावेमि अप्याणं । वरे मणितो-अर्गिं अतीमि ति मुक्तो । ताहे भणति—अहं तुमे छलेण आणितो, अहं पुण ते दिवसतो ‘पञ्जोओ हीरति’ ति कंदंतं नगरमज्जेण नेमि । गतो रायगिहं । १५ दासो उभ्मत्तओ कतो, गणियाओ वाणियदारियाओ, गहितो, रडंततो हियो । एवमादिगातो बहुतातो अभयमि पारिणामियातो बुद्धीतो १ ॥

सेद्धि ति—कट्टो णामं सेद्धी एगथं नगरे वसति । तस्स वज्जा णामं भजा । तस्स णेच्छइलो देवसम्मो बंभणो । सेद्धी दिसाजत्ताए गतो । भजा से तेण समं संपल्लगा । तस्स य घरे तिणिं पक्खी—सूतओ १ मयणसलाइया २ कुकुड्तो ३ । सो ताणि अप्पाहेता गतो । सो धेजाइतो रत्ति अर्तीति । मदणसलाइया भणति—को तायस्स ण बीहिति? । सूतओ वारेति—२० जो अणियाए दइओ अहं वि पियछतो होइ । मदणसलाइया अगधियासिता धेजातियं परिस्सवति । तीए मारिता । सूयओ ण मारितो । तीसे पुत्तो लेहसालाए पढति । अण्णदा तत्थ साधुणो मिक्खस्स अतिगता । तं कुकुडं पेच्छिऊण एगो भणति—जो एयस्स सीसं खाति सो राया होहिति ति । तं तेग धिजाइएण किह वि अंतरिण सुतं । अविरइयं भणति—मारेहि, जाव खामि । सा भणति—अणं आणिजउ, मा पुत्तभंडं व संवडिडतओ । निवंधे मारितो । जाव ष्हातो गतो ताव सो दारतो लेहसालाओ आगतो । तं च मंसं सिज्जति, सो रोवति, तस्स सीसं दिणं । इतरो आगतो—भाजए छूँदं, सीसं मग्गति । २५ भणति—चेड़स्स दिणं । सो रुटो भणति—मए एयस्स कजे मारावितो । पच्छा भणति—जति परं एतस्स दारगस्स सीसं खातेजा तो कतत्थो होज । निवंधे ववसिता । दासीए सुतं । सा तं दारगं ततो चेव धेतूण पलाया । अणं नगरं गताणि । तत्थ राया मरति । आसेण परिक्खितो सो तत्थ राया जातो । इतरो वि सेद्धी आगतो जाव सडितं पासति । सा पुच्छिता न कहेति । सूएण पंजरसुक्केण कहितो बंभणामिसंबंधो । सो तहेव चितेति—अहं एतीसे कतेण, एसा पुण एवं—ति पब्बद्तो । इतराणि वि बंभणो वज्जा य तं चेव नगरं आगताणि सब्बं गहाय । अणगदा विहरंतो सो साधू तत्थाऽऽगतो तीए पच्छमिणातो । ३० भक्खेण समं मासगा दिणा । पच्छा कूचितं । गहितो रायाए मूलं पीतो । धावीए नाओ । इतराणि निविसयाणि आगताणि । पिता भोगेहिं निर्मतितो । नेच्छति । राया सङ्घो कतो । वरिसारते पुणे बच्चंतस्स अकिरियानिर्मितं धेजाइएहिं दुअक्षरियाए परिभट्टितारूपं कतं गुञ्चिगीय । राया अणुवजति । तीए गहितो । ‘भा पवयग्रस्स उहाहो होहिति’ ति भणति—जदि मज्जंचओ जोणीए णीतु, अहं ण होति ममं तो पोईं मिदिता णीतु । एवंभणिते पोईं भिणं । मता । वणो य जातो २ ॥

कुमारो—खुडगकुमारो जहा जोगेसंगहैहि ३ ॥

देवी—पुष्कभदे णगरे पुष्कसेणो राया, अग्गमहिसी य पुष्कनती देवी । तीसे दो चेड़खवाणि पुष्कचूलो पुष्कचूला य । ताणि अग्गुरत्ताणि भोगे सुंजंति । देवी पव्वइता देवलोणे उवक्षणा देवो जातो । सो देवो एवं चिंतेति—जति एताणि एवं मरंति तो नरण-तिरिएसु उववज्जिहिन्ति । सुविणए सो देवो नरए देवलोए य उवदंसेति । सा भीता जाया पुच्छति पासंडिते । ते ण जाणंति । अण्णियपुत्ता तथ आयरिया ते सद्विता । तहेव सुतं कहूङंति । सा भणति—किं तुब्मेहि सुविणतो दिट्ठो ? । ५ सो भणति—अम्हं एरिसं सुते दिट्ठुं । पव्वइता । देवस्स पारिणामिता ४ ॥

पुरिमितालं नगरं । उदितोदयो रायां । सिरिकंता देवी । दोणिं वि सावगाणि । परिव्वाइया जिता । दासीहि॒ मुहम्कडिताहि॒ वेलविता णिच्छूढा पदोसमावणा । वाणारसीए धम्मर्हई राया । तथ गता फलयपट्टियाए रूबं सिरिकंताए॒ लिहिऊं दाणंति धम्मर्हयिस्स रण्णो । सो अज्ञोववणो दूतं विसज्जेति । पडिहतो निच्छूढो । ताहे सब्बबलेण आगतो गगरं रोहेति । सो सावगो चिन्तेति उदितोदयो राया—किं वडेणं जगक्खणेण ? ति उववासं ठितो । वेसमणेणं देवेणं सनगरं १० साधितो । उदितोदयस्स परिणामिता ५ ॥

शायू य णंदिसेणे ति—सेण्णियपुत्तो नंदिसेणो । सीसो य तस्स ओहागुणेही । तस्स नंदिसेणस्स चिता—भगवं जति एज्जा तौ देवीओ अणो वि य अतिसए पैच्छिऊग जदि थिरो होज ति । भट्टारओ आगतो । सेणिओ सञ्जेतउरो णीति, अणो य कुमारा संतेपुरा । णंदिसेणस्स अंतेपुरं सेतवरवसणं, पठमिणिमज्जे हंसीओ व्व ओमुक्कआभरणाओ सञ्चासिं छायं हूंति । सो ताओ दट्टूणं चितेति—जदि भट्टारणेणं एरिसियाओ मुक्काओ, किमंग ! पुण मज्जा मंदभगस्स असंताणं परिच्छइय- १५ वियाण ति निवेगमावणो, आलोह्य-पडिकंतो थिरो जातो ६ ॥

धणदत्तो सुंसुमाते परिणामेति—जति एतं ण खामो तो अंतरा मरामो ति ७ ॥

सावओ सावियवयंसियाए॒ मुच्छितो॒ । तीसे परिणामो जातो—मा अट्टवस्टो मरिहि तो णरएसु तिरिएसु वा उववज्जिहिति, संसारं हिंडिहिति । तीसे आभरणेहि विणीतो । संवेगो कहणं च ८ ॥

अमच्चो ति—वरधणुगपिता जउधेरे कते चिंतेति—इस कुमारो मारितो होति, वाहिं पि रकिखजिति ति सुरुंगाते २० णीणितो पलातो ॥ अणो भणंति—एगो राया, देवी से अतिपिया कालगता । सो य मुद्दो । सो तीए वियोगदुक्खितो ण सरीर-टिउं करेति । मंतीहि॒ भणितो—देव ! एरिसी संसारटिउति ति किं कीरड ? । सो भगति—नाहं देवीए सरीरटिउति अकरंतीए करेमि । मंतीहि॒ परिचितियं—‘न अणो उवाओ’ ति पच्छा भणितं—देव ! देवी सगं गता, तं तथटिउतियाए चेव से सबं पेसि-जउ, लट्टुकतदेविटिपउत्तीए पच्छा करेजसु ति । रण्णा पडिस्सुतं । माइट्टाणेग एगो पेसितो । अणो आगंतूण साहति—कता सरीरटिउती देवीए । पच्छा राया करेति । एवं पदिदिणं करेताण कालो वच्चति । देवीपेसगवदेसेण बहुं कडिसुत्तगादि २५ खजनियरा य । एगेण चितियं—अहं पि पवर्ति कहेमि । पच्छा राया दिट्ठो । तेण भणितो—कतो तुमं ? । भणति—देव ! सगगातो । रण्णा भणितं—देवी दिट्ठु ? ति । सो भगति—तीए चेव पेसितो कडिसुत्तगादिनिमित्तं ति । दावियं से जहिच्छियं किं पि ण संपडति । रण्णा भणियं—कदा गमिरससि ? । तेण भणितं—कल्लं ? । रण्णा भणितं—कल्लं ते संपाडिस्सं । मंती आदिट्ठा—सिघं संपाडेह । तेहि॒ चितियं—विगटुं कज्जं, को एथ उवाओ ? ति विसण्णा । एगेण भणितं—धीरा होह, अहं भलिस्सामि । तेणं तं संपाडिऊग राया भणितो—देवीए कहं जाहिति ? । रण्णा भणितं—अच्चे कहं जंतगा ? । तेण भणितं—अम्हे जं पट्टवेंता तं जल- ३० णप्पवेसेणं, ण अणगहा सगं गमति ति । रण्णा भणितं—तहेव पवेसेह । तहेव आढत्तो । सो विसण्णो । अणो य बुत्तो

वायालो रणो समक्खं बहुं उवहसति तं विसन्नं—जहा देवि भणिजासि, सिणेहवंतो ते राया, पुणो वि जं कजं तं संदिसेजासि, अणं च इमं च इमं च बहुविहं भणेजासि । तेण भणितं—देव ! पाहमेत्तिगमविगलं भणितं जाणामि, एसो चेव लटो, पेसिजउ । रणा पडिस्थुतं । सो तहेव निजिउमादत्तो । इतरो मुक्तो । इतरस्स माणुसाणि विसण्णाणि पलवंति—हा देव ! अहे किं करि-जामो ? । तेण भणितं—नियतुंडं रक्खेजह । पच्छा मंतीहिं खरंटित मुक्तो, मढगं दड्डं । मंतिस्स पारिणामिता ९ ॥

५ खमए—खमओ चेल्लण समं भिक्खं हिंडति । तेण मंदुक्कलिथा मारिया । आलोयणवेलाए णाऽऽलोएति । खुड्डणं भणिओ—आलोएह ति । सो रुटो ‘आहणामि’ ति पधावितो खंभं आवडिओ मओ । एगलथ विराहितसामण्णाणं सप्पाणं कुलं तथं उव्वरणो दिट्टीविसो सप्पो जातो । जाइस्सरणेण अवरोपरं जाणंति, रत्ति चरंति ‘मा जंवे मारेहामो’ ति, फासुगमाहारेति । अण्णया रक्ते पुत्तो अहिणा खद्दतो मतो य । राया सप्पाणं पयोसमावणो भणति—जो सप्पं मारेति तस्स दीणारं देभि । अण्णता आहिडिएणं ताणं रेहातो दिट्टाओ, तं बिलं ओसहीहिं धम्मति, सीसाणि निताणं छिदति । सो अभिमुहो ण पीति ‘मा 10 कंचि मारेहामि’ ति जातिस्सरत्तणेण, तं निगयनिगतं छिदति । पच्छा रणो उवणीताणि । सो राया णागदेवताए बोहिजति—मा मारेहि, नागदिणो ते कुमारो होहि ति । सो खमगसप्पो मतो समाझो तथं राणियाए पुत्तो जातो । उम्मुकबालभावो साधुं दद्दुं जाति संभरिता पव्वतितो । सो य लुहालुओ अभिगहं गेष्हति—न मए रुसियव्वं ति । दोसीणस्स य हिंडति । तथं आय-रियस्स गच्छे चत्तारि खवगा—मासितो दोमासितो तिमासितो चउमासितो । रत्ति देवता आगता ते अणे खमए अतिकमित्ता तं वंदति । खमएण निगछंती हत्ये गहिता, भणिता य—कडपूतणे ! एतं तिकालभोइं वंदसि, इमे महातवस्सी ण वंदसि । सा 15 भणति—अहं भावखमगं वंदामि, ण दव्वखमए ति गता । पभाए दोसीणस्स गतो निमंतेति । एगेण पातं गहाय खेलो छूदो । सो भणति—मिच्छा मि दुकडं जं मए खेलमछ्यं तुब्बं णोवणीतं । एवं सेसेहिं वि । जिमिउमारद्दो । तेहिं वारितो । निवेयमावणो । पंच वि सिद्धा विभासा १० ॥

अमच्चपुत्तो वरथणुओ । तस्स तेचु तेयु प्रयोजनेषु पारिणामिता । जहा—माता मोताविता, सो पलावितो एवमादी सञ्चं विमासियव्वं ॥ अणे भणंति—एगो मंतिपुत्तो कप्पडियगयकुमारेण समं हिंडति । अणदा नेमित्तिओ घडितो । रत्ति देवकुडि 20 ठिताणं सिवा रडति । कुमारेण नेमित्तिओ पुच्छितो—किं एसा भणति ? ति । तेण भणितं—इमं भणति, इमम्मि णदितिथंसि पूराणीयं कलेवरं चिटूति, एयस्स कडीए सयं पातंकाणं, कुमार ! तुमं गेष्हाहि, तुज्जा पायंका, मम य कलेवरं ति, मुदियं पुण ण सकुणोमि ति । कुमारस्स कोहुं जातं, ते वंचिय एगागी गतो, तहेव जातं । पायंके वेत्तूण पच्चागतो । पुणो रडति । पुणो वि पुच्छितो । सो भणति—चप्पलिगाइतं । कहं ? ति । एसा भणइ—कुमार ! तुज्जा वि पायंकसतं जातं, मज्जा वि कलेवरं ति । कुमारो तुसिणीओ जातो । अमच्चपुत्तेण चितियं—पेच्छासु से सतं—किं किमिणत्तणेण गहितं ? आहा सोडीरताए ? जति किमिण-25 त्तणेण कैतं, ण तस्स रजं ति नियत्तामि । पच्चूसे भणति—वच्छह तुब्बे, मम पुण सूलं कजति, न सकुणोमि गंतुं । कुमारेण भणितं—न जुत्तं तुमं मोत्तूण गंतुं किंतु कोइ एगलथ जागिहिति तेण वच्चामो । पच्छा कुलपुत्तधरं नीतो, समप्तिं च सञ्चं पेजा-मुळं दिणं । मंतिपुत्तस्स अवगयं जहा—सोडीरताए ति । भणितं च णेण—अहिथ मे विसेसो अतो गच्छामि । पच्छा गतो । कुमारेण रजं पतं । भोगा वि से दिणा । एतस्स पारिणामिगी ११ ॥

चाणको—एगलथ णागरं ण पडति । पविट्रो तिदंडिवेसेण चाणको । वथूणि जोएति, इंद्रकुमारियातो, तासि तणएण 30 ण पडति । मैताए णीणाविताओ, पडितं नगरं । एवं दो वि सालि-रथणाइं मणिऊण कोट्टागाराणि सालीणं भरियाणि, रथणाइं गदभियादीणि तेण, जेण छिणाणि छिणाणि पुणो पुणो जाथंति, आसा एगदिवसज्ञाता भणिता, एगदिवसितं णवणीतं मणियं । एसा पारिणामिया चाणकस्स बुद्धी १२ ॥

थूलभद्रसामित्स पारिणामिता—पितुमि मारिते कुमारो भण्णति—अमच्चो होहि त्ति । सो असोगवणियाए चितेति—केरिसा भोगा वाउलाणं । ति । ताहे पञ्चयितो । राया भणति—पेच्छह, मा कवडेण जाएज्जा । गिंतस्स सुणगमडो वावण्गो, जासंण ठएति, वच्छ पडिलेहंतो । रण्गो कहितं—विरतभोगो त्ति । सिरितो ठवितो १३ ॥

णासिकं णगरं, नंदो वाणियओ, सुंदरी से भजा, सुंदरिणंदो से णामं जातं । तस्स माता पुञ्चेपञ्चतिततो सो सुणेति—जहा तीए अज्ञोववन्नो । पाहुगतो आगतो, पडिलाहितो, भागं तेग गहितं । ‘इह एथ विसज्जेहिति’ त्ति उज्जागे णीतो । ५ ‘मा भोगगिद्दो णरगे जाहिति’ त्ति अहिगयरेण उवप्पलोभेमि । सो य वेउवितलद्वीए मकडिं दरिसेत्ता पुञ्छति—का सुंदरि । त्ति । सुंदरी । पञ्चा विज्ञाहरीए, तुला । पञ्चा देवीए, ‘देवी अतिसुंदरि’ त्ति मुञ्चितो भगति—कहं एसा छमति ? । ‘धमेण’ त्ति पञ्चइतो । साधुस्स पारिणामिकी १४ ॥

वद्रसामित्स देवेहिं परिणामो, तओ माता णागुवत्तिया ‘मा संघो अवमाणिहिति’ त्ति । पाडलिपुते वेउविए ‘मा परिभविहि’ त्ति । पुरियाए ‘पवयगओभावणा मा होहिति’ त्ति सञ्चं कहितब्बं १५ ॥

10

चलणाहणगे—राया तरुणेहिं बुगाहिज्जति—जहा थेरा कुमारामच्चा अवणिज्जन्तु त्ति । सो तेसि मतिपस्तिखगनिमित्त भणति—जो रायं सीसे पाएण आहगति तस्स को दंडो ? । तरुणा भण्णति—तिलं तिलं छिदियव्वतो । थेरा पुञ्चिता । ‘चितेमो’ त्ति ऊसरित्ता चितेत्ता ‘णूणं देवीए को अण्गो आहणिहिति ?’ त्ति आगता भण्णति—सक्करेयब्बओ १६ ॥

आमलगं कित्तिमं । एगेण णातं—अकालो, बिंबं होहिति त्ति १७ ॥

मणिमि—सत्थो पक्खीयं अंडगाणि खाति रुखं विलगित्ता । तथ गिद्देग आलयं विलगो मारितो । तथ मणी 15 पाडितो । हेद्वा कूचो, तं पाणीयं रत्तीभूतं । कूचातो णीणियं साभावितं । दारण्यं थेरस्स कहितं । तेण विलगिङ्गण गहितं १८ ॥

सप्तो चंडकोमिओ चितेति—एरिसो महप्पा १९ ॥

खगो—सावगपुत्रो जोव्वणबलुम्मतो धमं नेच्छति । तत्तो खगेसु उववण्गो पटुस्स दोहि वि पासेहिं जहा पक्खरा तहा चम्माणि लंबति । अडवीए चउमुहापहे जणं मारेति । साहुणो य तेणेव पहेण अइक्कमंति । वेगेण आगतो तेण ण तरति अछिविउं । चितेति । जाती संभरिता । पच्चक्खाणं । देवलोगगमणं २० ॥

20

थूभो—वेसालीए नगरीए णगरनाभीए मुणिसुच्चयसामित्स थूभो । तस्स गुणेग कूणितस्स ण पडति । देवया आगासे कूणितं भणति—

समणं जदा कूलशालयं, मागहिता गणिया रमेहिती । राया य असोगचंदण, वेसालिं नगरि गहिच्छिती ॥ १ ॥

सो मणिज्जति । का तस्स उप्पत्ति ? । एगस्स आयरियस्स चेळुओ अविगीतो । आयरितो अंबाडेति । वेरं वहति । अण्णया आयरिया सिद्धसिलं तेण समं वंदगा विलगा । ओयरंताणं वहाए सिला मुक्का । दिट्टा आयरिणं, पादा ओसारिता, 25 इहरा मारितो होन्तो । सावो दिणो—दुरात्मन् ! इत्थीहितो विणसिसहिसि त्ति । ‘मिच्छावादी भवतु’ त्ति काउं तावसासमे अच्छति, णदीए कूले आयावेति, पंथव्वासे जो सत्थो एति तत्तो आहारो होइ । णदीए कूले आयावेमागस्स सा नदी अण्णतो पद्गदा तेग कूलवारतो जातो । तथ अच्छंतो आगमितो । गणियाओ सदाविताओ । एगा भणति—अहं आणेमि । कवड-साविगा जाता । सत्येण गता वंदति—उदाणमोङ्ग म्हि, चेह्याहं वंदामि, तुझे य सुता, आगता मि । पारणगे मोदगा संजो-इया, अतिसारो जातो, पयोगेग ठविओ । उच्चतणादीहिं संभिणं चितं, आगितो, भणिओ—रण्गो वयणं क्लोहि । किं ? । जहा 30 वेसाली घेषह । थूभो णीगावितो । गहिया २१ ॥

इदकुमारियाप्रोगाओ चाणके पुव्वभणितं । एसा परिणामिता २२ ॥
एए चउच्चिद्वुद्धिअवताणयासमता ॥

पं. १६. अवग्रह इत्यादि । ‘किमपीदम्’ इत्यव्यक्तज्ञानरूपार्थावग्रहादयोऽव्यक्ततरं ज्ञानमात्रमित्यर्थः । ‘किमपीदम्’ इत्यव्यक्तज्ञानं वाऽर्थावग्रहः । व्यञ्जना-अर्थायोरेवावग्रहणेन विषयद्वैविद्यादवग्रहस्य द्वैविद्यं भवति । पं. २४. तत्रापि ५ ग्राप्यकारिच्छिद्रियेषु व्यञ्जनावग्रहादनन्तरमेवार्थावग्रहो भवतीति व्यञ्जनावग्रह आदौ निरूपितः । पं. २६. नयन-मनसो-स्थियादि, विषयभूतं वस्तु अप्राप्य—संश्लेष्टद्वैरेणानासाद्य करोति—परिच्छिनति चक्षुःकर्तुं विषयपरिच्छेदमित्यग्राप्यकारि तदुच्यते । अप्राप्यकारि लोचनम्, ग्राद्यवस्तुकृतानुग्रहोपधातशून्यत्वात्, मनोवत्, यदि हि लोचनं ग्राद्यवस्तुना सह सम्बद्धं तत्परिच्छेदं कुर्यात् तदाऽन्यादिदर्शने स्पर्शनस्येव दाहाद्युपधातः स्यात्, कोमलतूल्याद्यवलोकने लवनुग्रहो भवेत्, न चैवम्, तस्मादप्राप्य-कारि लोचनम् । अथ प्रागुक्तोऽसिद्धो हेतुः, ग्राद्यवस्तुकृतानुग्रहोपधातदर्शनात् । तथाहि—जल-पृष्ठ-नीलवसन-वनस्पती-न्दुमण्डलाद्य-१० वलोकने नयनस्य परमाश्रासलक्षणोऽनुग्रहः समीक्ष्यते, सूर-सितमित्यादिदर्शने तु जलविगलनादिरूपं उपधातः सन्दर्शयत इति, अत्रोच्यते, नहि वयमेतद् ब्रूमः—यदुत चक्षुषः कुतोऽपि वस्तुनः सकाशात् कदापि सर्वथैवानुग्रहोपधातौ न भवतः, किंतु भवत एव, रविकरान् चिरमवलोकयतो द्रष्टुः चक्षुः स्पर्शनेन्द्रियमिव दद्येत, शीतलं च शीतरस्मि-जल-पृष्ठादिकं वस्तु चिरमवलोकयतो-१५ ऽनुग्रहं मन्येत चक्षुरित्येतावता अप्राप्यकारिचक्षुर्वादिनामस्माकं न कथिद् दोषः, दृष्टस्य बाधितुमशक्यत्वात् । केवलमिदमेवा-स्माभिर्निर्मयते—यदुत विषयदेशं गत्वा आदित्यमण्डलादिसमाक्रान्तदेशं समाप्तिष्ठ चक्षुःकर्तुं न रूपं परिच्छिनति, नाप्यन्यत-२० अक्षुःदेशमागतं रूपमक्षिस्थमञ्जन-तेजो-मल-शलाकादिकं स्वयं चक्षुः पश्यति, किन्त्वप्राप्तमेव योग्यदेशस्थं विषयं तत् पश्यतीति । परिच्छेदानन्तरं तु पश्चात्याप्तेन केनाप्युपधातकेनानुग्राहकेग वा मूर्तिमता द्रव्येण चक्षुष उपधाताऽनुग्रहौ न निषिद्यते, विष-शर्करादिभक्षणे मूर्च्छा-स्वास्थ्यादय इव मनसः । पं. ३० परः प्राह—नयनान्नायना रूपयो निर्गत्य प्राप्य च रविविम्ब-रूपय इव वस्तु प्रकाशयन्तीति सूक्ष्मत्वेन तैजसवेन च तेषां वहचादिभिर्दहादयो न भवन्ति, रविरसिषु तथादर्शनादिति नय-नस्य प्राप्यकारिताऽभिधीयते, तदयुक्तम्, महाज्वालादौ प्रतिस्खलनदर्शनात् आदिग्रहणात् तेषां प्रत्यक्षादिप्रमाणाग्राह्यत्वेन २५ श्रद्धातुमशक्यत्वात्, प्रमाणाग्राह्यस्याप्यस्तित्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गादिति ग्राद्यम् । तथाऽचेतननायनस्मीनां वस्तुपरिच्छेदाभ्युपगमे नख-दन्त-भालतलादिगतशरीरस्त्रीनामपि स्पर्शविषयवस्तुपरिच्छेदप्रसङ्गाचेति ।

[पृष्ठ ५०]

पं. १०. “तस्म णं इमे” । इत्यादिं पं. ११. एकार्थिकानि परमार्थत एकार्थविषयाणि नानाघोषाणि पृथग्मन्त्रो-दात्तादिस्वराणि नानाव्यञ्जनानि पृथग्मन्त्रकारावक्षणाणि नामधेयानि पर्यायव्यवनयः । यथाऽवग्रहस्य पञ्च नामधेयानि २५ एवमीहायाः षड्भेदायास्तथाऽपायस्य धारणायाश्च पञ्च नामधेयानि क्रमेण दर्शयिष्यति ।

पंचहिं वि इंदिषहिं, मणसा अत्थोग्रहो मुणेयब्दो ।

चक्रिखदिय-मणरहियं, वंजणमीहाइयं छद्मा ॥ १ ॥ [जीवसमाप्त गा० ६२]

पं. २१. किं मन्द्र इति गम्भीरः तार उच्चस्तर्व्यनिमान् । पं. २२. यत्रेति नयन-मनसोर्विषये व्यञ्जनावग्रहो नास्ति । तत्र चतुर्विधव्यञ्जनावग्रहविषये अवग्रहणता-उपधारणतालक्षणमेदद्वयस्याभावः । पं. ३०. इहायां मार्गणतेति ३० किमयं स्थाणुः पुरुषो वा ? इति वितर्के ‘वल्लुत्सर्पण-काकनिलयनादिर्वर्मदर्शनात् स्थाणुना भाव्यम्, नेतरेण, शिरःकण्ठयन-चलनादितदीयधर्मादर्शनात्’ इत्येवं व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरोऽन्यवर्धमष्टनप्रवृत्तश्चापायाभिमुख एव बोध इहा इति । एवमीहाया-मेषां धर्मणां यदन्वेषणं सा मार्गणता ॥

[पृष्ठ ५१]

- पं. २. सद्गमानुगत इति, सद्गमणि—वस्तुनि अनुगतः सद्गमानुगतः । पं. १३. अप अयः—सामर्ख्येन परिच्छेदोऽपायः, भधुर-स्त्वादिगुणत्वात् ‘शङ्कस्यैवायं शब्दः; न शङ्कस्य’ इत्यादि यद् विशेषविज्ञानं सोऽपायः ।
- पं. २२. अपायेन निश्चितेऽर्थे तदनन्तरं यावदयापि तदथोपयोगे सातत्येन वर्तते, न तु तस्मान्निर्वर्तते, तावत् तदथोपयोगाद अविच्छुतिर्नाम धारणायाः प्रथमभेदो भवति । पं. २५. यत् कर्मज्ञयोपशमवशाजीवस्य कालान्तरे इन्द्रियव्यापारादि ५ सामग्रीवशात् पुनरप्यपायावशारितोऽर्थः स्मृतिरूपेणोन्मीलति सा संस्काररूपा वासना नाम धारणाभेदः । कालान्तरे च वासना-वशात् तदथस्येन्द्रियैरुपलब्धस्याथ्वा तैरनुपलब्धस्यापि मनसि या स्मृतिराविर्मवति सा तृतीयस्तद्वेदः । पं. २७. अत्र मति-दौर्बल्यादिकारणकलापादवग्रहेहादीनां दुर्विज्ञेयत्वेऽपि सर्वज्ञमतप्रामाण्यादवितथात्वमेव भावनीयमित्यावेदयन्नाह—इह चेत्यादि ।
- पं. २९ एकाधिकरणत्वाद् एकाश्रयत्वात् ।

[पृष्ठ ५२]

10

- पं. ३. न पुनर्विशेषत्येत्यादि, विशतिदिनापेक्षया यथा अपान्तराल आसनो योऽसावागमनसमयः कालविशेषरूपस्तदिन-भावी अतिक्रान्तप्राचीनदिननिरपेक्षः पथिकस्य गृहप्रवेशकारणम्, न तथा प्रकृते प्राचीनसमयरहितचरमासंख्येयसमयप्रविष्ट-पुद्गलराशिरप्यर्थावप्रहकारणम्, किन्त्यादित आरम्भ्य प्रतिसमयप्रवेशेन निरन्तरमसंख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गलाः शब्दविज्ञानजनकार्थावप्रहेत्वे भवन्तीति भावः । स्फुटशब्दविज्ञानहेतवश्च चरमसमयप्रविष्टा एव यद्यपि भवन्ति, नेतरे, तथापीतरे तत्साहाम्यभावेन व्याप्रियन्त इत्योघतः सर्वेषां सामान्येन ग्रहणमुच्यते ।

15

[पृष्ठ ५४]

- पं. १. अथ ‘केयं मलुककृष्टान्तेन व्यञ्जनावप्रहप्ररूपणा?’ इति पृष्ठे तां वक्तुमाह—तद् यथेत्यादिना । पं. ४. “मलुयं पवाहेहि” ति प्लावयिष्यति । पं. ५. व्यञ्जनं पूरितं भवति तोयेन मलुकमिव । पं. ६. सम्बन्धो वेति द्रव्य-इन्द्रियोः सम्बन्धः । यदा द्रव्यं व्यञ्जनमिति, शब्दादिविषयपरिणतपुद्गलसमूहरूपम् । पं. ७. स्वविषयव्यक्ताविति स्वप्राहकज्ञानजनने । पं. ८. आभृतमिति, वासितमित्यर्थः । पं. ९. नाम-जात्यादिकल्पनाराहितमिति, एतच्च “ताहे २० हुं ति करेह” इत्यस्य व्याख्यानम् । पं. ११. अत्रार्थावप्रहात् पूर्वमिति अन्तर्मुहर्त्ता द्रव्यप्रवेशादिरूप इत्यर्थः ।
- पं. १२. इदानीं “से जहानामए केह पुरिसे अबतं सदैं सुणोजा” इत्यादिकस्य वक्ष्यमाणसूत्रस्य व्याख्यानाय समवतारं कुर्वन् पातनात्रयं करोति—अत्राहेत्यादिना आदेयम्, अथवा यदुक्तमित्यादिका द्वितीया, अथवा सुप्रेत्यादिना तृतीयेति । पं. १७. अव्यक्तमिति अनिर्देश्यम्, कोर्थः ३ ‘शब्दोऽयम्, रूपादिव॑’ इत्यादिप्रकरणं निर्देशुमशक्यमव्यक्तम् । स्वरूप-नामादीति, आदिशब्दाद् जाति-गुण-क्रिया-द्रव्यप्रहः । पं. १८. तस्य चेति अर्थावप्रहस्य । पं. १९. आहेति परो ब्रूते । 25 पं. २३. सम्बद्धमिति युक्तमित्यर्थः । नैतदेवमित्यादिना सुरिः प्रतिविधत्ते । पं. २५. न तु शब्दबुद्धयेति ‘शब्दोऽयम्’ इत्यध्यवसायेनेति न । तस्यैवेति, अर्थावप्रहं विनैव ‘तस्यैव’ शब्दमात्रस्यापायप्रसङ्गात् । पं. २८. तस्माद् व्यञ्जनापूरणे जातेऽव्यक्तमनिर्देश्वस्वरूपं शब्दाद्युलेखरहितमर्थमात्रमवगृह्णाति । एतदेवाऽह भाष्यकारः—अव्यक्तेत्यादि ।

सामण्णमणिदेसं सरूप-नामाइकप्पणारहियं ।

जह एवं जं ‘तेण गहिए सहे’ त्ति तं किह णु ? ॥ १ ॥

30

“अव्यक्तमनिर्देश”मिति वृत्तौ पाठो दृश्यते । तत्र “अव्यक्तं” इति विवृणोति । सामण्णमिति । ग्राहवस्तुनः सामान्य-

१ यद्यपि एतत् पदं वृत्तौ न वर्तते तथापि “शेषं सुगमम्” इत्यादिना सूत्रगतमवबोद्धव्यम् ॥

विशेषात्मकत्वे सत्यपूर्वावग्रहेण सामान्यरूपमेवार्थं गृह्णाति, न विशेषरूपम्, अर्थावग्रहस्यैकसामयिकत्वात्, समयेन च विशेष-
ग्रहणायोगादिति । सामान्यार्थश्च कश्चिद् ग्राम-नगर-वन-सेनादिशब्देन निर्देश्योऽपि भवति तद्यवच्छेदार्थमाह—‘अनिर्देश्यं’ केनापि
शब्देनानभिलभ्यम् । कुतः पुनरेतत् ? इत्याह—यतः स्वरूप-नामादिकल्पनारहितम्, आदिशब्दाजाति-क्रिया-गुण-द्व्यपरिग्रहः ।
5 तत्र रूप-रसाद्यर्थानां य आत्मीयश्चक्षुरादीन्द्रियगम्यः प्रतिनियतः स्वभावः तत् स्वरूपम् । रूप-रसादिकस्तु तदभिधायको ध्वनि-
नाम । रूपव-रसत्वादिका तु जातिः । ‘प्रीतिकरमिदं रूपम्, पुष्टिकरोऽयं रस’ इत्यादिकस्तु शब्दः क्रियाप्रधानत्वात् क्रिया ।
कृष्ण-नीलादिकस्तु गुणः । पृथिव्यबादिकं पुनर्द्व्यम् । एषां स्वरूप-नाम-जात्यादीनां कल्पना—अन्तर्जल्पारूपितज्ञानरूपा तथा
रहितमेवार्थमर्थावग्रहेण गृह्णाति यतो जीवः, तस्मादनिर्देश्योऽयमर्थः प्रोक्तः, तत्कल्पनारहितत्वेन स्वरूप-नाम-जात्यादिप्रकारेण केनापि
निर्देष्टुमशक्यत्वादिति । एवमुक्ते सति परः प्राह—“जह एव”मित्यादि, यदि स्वरूप-नामादिकल्पनारहितोऽर्थोऽर्थावग्रहस्य विषय
इत्येवं व्याख्यायते भवद्विस्तर्हि “जं” ति यद् नन्द्यध्ययनसूत्रे प्रोक्तम्, किम् ? इत्याह—“तेण गहिष सदे” त्ति, उपलक्षणत्वादित्थं
10 समूर्णं द्रष्टव्यम्—“से जहानामए केह पुरिसे अव्वत्तं सदं सुणेजा, तेण ‘सदे’ त्ति उग्गहिष, न उण जाणइ ‘के वेस सदाइ’ त्ति
“तं किह पु” त्ति तदेतत् कथमविरोधेन नीयते ?, युष्मदद्वचात्यानेन सह विरुद्धत एवेदमित्यर्थः । तथाहि—अस्मिन् नन्दिसूत्रेऽयमर्थः
प्रतीयते, यथा—अनेन प्रतिपत्ताऽर्थावग्रहेण शब्दोऽवगृहीत इति, भवन्तस्तु शब्दाद्युल्लेखरहितं सर्वथाऽमुं प्रतिपादयन्ति तत्कथं न
विरोधः ? इति भाव इति गाथार्थः ॥ १ ॥ अत्रोत्तरमाह—

पं. २९. सदे त्ति भणइ वत्ता, तम्मत्तं वा न सद्बुद्धीए ।

15 जह होज्ज सद्बुद्धी तोऽवाओ चेव सो होज्जा ॥ २ ॥

‘शब्दस्तेनावगृहीतः’ इति यदुक्तं तत्र ‘शब्दः’ इति ‘वक्ता’ प्रज्ञापकः सूत्रकारो वा ‘भणति’ प्रतिपादयति, अथवा ‘तन्मात्रं’
शब्दमात्रं रूप-रसादिविशेषव्यावृत्याऽनवधारितत्वाच्छब्दतयाऽनिश्चितं गृह्णातीति एतावतांसेन शब्दस्तेनावगृहीत इत्युच्यते, न पुनः
‘शब्दबुद्ध्या’ शब्दोऽयमित्यव्यवसायेन तच्छब्दवस्तु तेनावगृहीतम्, शब्दोऽल्लेखस्यान्तर्मौहृत्तिकल्पाद् अर्थावग्रहस्य त्वेकसामयिकत्वाद-
सम्भव एवायमिति भावः । यदि पुनस्तत्र शब्दबुद्धिः स्यात् तर्हि को दोषः स्यात् ? इत्याशङ्क्य सूत्रकारः स्वयमेव दूषणान्तर-
20 माह—“जई”त्यादि यदि पुनरथावग्रहे ‘शब्दबुद्धिः’ शब्दनिश्चयः स्यात् तदाऽपाय एवासौ स्यात्, न त्वर्थावग्रहः, निश्चयस्यापाय-
स्वरूपत्वात् । ततश्चार्थावग्रहेहाभाव एव स्यात्, न चैतद् दृष्टमिष्टं वेति गाथार्थः ॥ २ ॥ अत्राह परः—ननु प्रथमसमय एव
रूपादिव्यपोहेन ‘शब्दोऽयम्’ इति प्रत्ययोऽर्थावग्रहत्वेनाभ्युपगम्यताम्, शब्दमात्रत्वेन सामान्यत्वात्; उत्तरकालं तु प्रायो माधुर्यादयः
शङ्खशब्दधर्मा इह घटन्ते, न तु शार्ङ्गधर्माः खर-कर्कशत्वादय इति विमर्शबुद्धिरीहा, तस्मात् ‘शङ्ख एवायं शब्दः’ इति तद्विशेषस्त्व-
पायोऽस्तु, तथा च सति “तेण सदे त्ति उग्गहिष” इदं यथाश्रुतमेव व्याख्यायते, “नो चेव णं जाणइ के वेस सदाइ ? तथो
25 ईहं पविसई”त्याद्यपि सर्वमविरोधेन गच्छतीति । तदेतत् परोक्तं सूरि: प्रत्यनुभाष्य दूषयति, यथा—

पं. ३०. जह सद्बुद्धिमेत्तायभवग्गहो, तच्चिवसेसणमवाओ ।

नणु सहो नासहो, न य रूवाई विसेसोऽयं ॥ ३ ॥

भोः पर ! यदि ‘शब्दबुद्धिमात्रं’ शब्दोऽयमिति निश्चयज्ञानमपि भवताऽर्थावग्रहोऽभ्युपगम्यते ‘तद्विशेषणं तु’ तस्य—शब्दस्य
विशेषणं—विशेषः ‘शङ्ख एवायं शब्दः’ इत्यादिविशेषज्ञानमित्यर्थः, ‘अपायः’ मतिज्ञानतृतीयभेदोऽङ्गीक्रियते, हन्त तर्हि अवग्रहलक्षणस्य
30 तदाधभेदस्याभावप्रसङ्गः, प्रथमत एवावग्रहमतिकम्यापायाभ्युपगमत्वात् । कथं पुनः शब्दज्ञानमपायः ? इति चेत्, उच्यते—तस्यापि
विशेषग्राहकत्वात्, विशेषज्ञानस्य च भवताऽप्यपायत्वेनाभ्युपगमत्वात् । ननु ‘शङ्ख एवायं शब्दः’ इत्यादिकमेव तदुत्तरकालभावि
ज्ञानं विशेषग्राहकम्, शब्दज्ञाने तु शब्दसामान्यस्यैव प्रतिभासनात् कथं विशेषप्रतिभासः ? येनापायप्रसङ्गः स्यात्, इत्याह—“नणु”

इत्यादि, 'ननु' इति अक्षमायां परामन्त्रणे वा, ननु 'शब्दोऽयम्, नाशब्दः' इति 'विशेषोऽयं' विशेषप्रतिभास एवायमित्यर्थः, कथं पुनः 'नाशब्दः' इति निश्चीयते ? इत्याह—न च रूपादिरिति, चशब्दो हिशब्दार्थे, आदिशब्दाद् गन्ध-रस-स्पर्शप्रिग्रहः । ततश्चेदमुक्तं भवति—यस्मान् रूपादिरयम्, तेष्यो व्यावृत्तत्वेन गृहीतत्वात्, अतो 'नाशब्दोऽयम्' इति निश्चीयते, यदि तु रूपादिभ्योऽपि व्यावृत्तिर्गृहीता न स्यात् तदा 'शब्दोऽयम्' इति निश्चयोऽपि न स्यादिति भावः । तस्मात् 'शब्दोऽयम्, नाशब्दः' इति विशेष-प्रतिभास एवायम् । तथा च सति अस्याप्यपायप्रसङ्गतोऽवग्रहाभावप्रसङ्ग इति स्थितमिति गाथार्थः ॥ ३ ॥

५

अथ परोऽवग्रहाऽपाययोर्बिषयविभागं दर्शयन्नाह—

पं. ३१. शेवमियं नावाओ, संखाइविसेसणं अवाओ त्ति ।
तव्येयावेकखाए नणु धोवमियं पि नावाओ ॥ ४ ॥

'इदं' शब्दबुद्धिमात्रकं शब्दमात्रस्तोकविशेषावसाग्रित्वात् 'स्तोकं' स्तोकविशेषग्राहकम्, अतोऽपायो न भवति, किन्त्ववग्रह एवायमिति भावः । कः पुनस्तर्हपायः ? इत्याह—“संखाई”त्यादि, 'शाङ्कोऽयं शब्दः' इत्यादिविशेषणविशिष्टं यद् ज्ञानं तदपायः, १० बहुद्विरोधावसाग्रित्वादिति हृदयम् । हन्त यदि यद् यत् स्तोकं तत् तद नापायस्तर्हि निवृत्ता साम्रतमपायज्ञानकथा, उत्तरोत्तरार्थ-विशेषघणपेक्षया पूर्वपूर्वार्थविशेषाव्यवसायस्य स्तोकत्वात् । एतदेवाह—“तव्येये”त्यादि तस्य—शाङ्कशब्दस्य ये उत्तरोत्तरभेदा मन्द्र-मधुरत्वादयः तस्मा-मध्यम-वृद्ध-खी-पुरुषसमुद्ववत्वादयश्च तदपेक्षया तदपेक्षयां सत्यामिदमपि 'शाङ्कोऽयं शब्दः' इति ज्ञानं ननु 'स्तोकं' स्तोकविशेषग्राहकमेवेति नापायः स्यात् । एवमुत्तरोत्तरविशेषग्राहिणामपि ज्ञानानां तदुत्तरोत्तरभेदापेक्षया स्तोकत्वाद-पायत्वाभावो भावनीय इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

१५

तदेवं “से जहानामए केह पुरिसे अब्बत्तं सदं सुणोजे”त्यादिसूत्रानुरोधेन शब्दमाश्रित्यावग्रहादयो भाविताः ।

[पृष्ठ ५५]

पं. ७. अथ सूत्रकारेणैव यदुक्तम्—“एवं एणां अभिलावेणं अब्बत्तं रूवं रसं गंवं फास”मित्यादि तच्चेतसि निधाय भाष्य-कारोऽप्यतिदेशमाह—

सेसेसु वि रूवाइसु विसएसुं हुंति सूपलक्खाइं ।
पायं पचासन्नत्तणेणमीहाइवत्थूणि ॥ १ ॥

२०

यथा शब्दं एवं शेषेष्वपि रूपादिषु विषयेषु साक्षादनुकान्यपि 'सूपलक्ष्याणि' कथितानुसारप्रसरप्रज्ञानां चतुरचेतसां सुज्ञेयानि भवति । कानि ? इत्याह—ईहादीन्याभिनिबोधिकज्ञानस्य भेदवस्तुनि । केन सूपलक्ष्याणि ? इत्याह—प्रायः प्रत्यासन्नलेन चक्षुरादिना गृह्यमाणस्य स्थापादेस्तत्रागृह्यमाणेन पुरुषादिना सह प्रायो बहुभिर्धर्मैर्थत् प्रत्यासन्नत्वं—या प्रत्यासत्तिः सादृश्य-मिति यत्वत्, तेनेहादीनि ज्ञेयानि, न पुनरत्यन्तैलक्षण्यस्थापादेस्त्रूटादिना सहेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—अवग्रहे तावत् सामा- २५ न्यमात्रग्राहकत्वाद् द्वितीयवस्त्वपेक्षाऽपि न विद्यते, ईहा पुनरुभयवस्त्ववलम्बिनी, तत्र पुरोद्धर्यमानस्य वस्तुनो यत् प्रतिपक्षभूतं वस्तु तत् प्रायो बहुभिर्धर्मैः प्रत्यासनं ग्रायम्, न पुनरत्यन्तविलक्षणम्; पुरतो हि मन्दमन्दप्रकाशे दूराद् दृश्यमाने स्थापादौ 'किमयं स्थाणुः ? पुरुषो वा ?' इत्येवमेवेहा प्रवर्तते, ऊर्ध्वस्थाना-SSरोह-परिग्राहतुञ्यतादिभिः प्रायो बहुभिर्धर्मैः पुरुषस्य स्थाणुप्रत्यासन्नत्वादिति, 'किमयं स्थाणुः ? उष्ट्रो वा ?' इत्येवं तु न प्रवर्तते, उष्ट्रस्य स्थापायेक्षया प्रायोऽत्यन्तविलक्षणत्वात् । अत एव सामान्य-मात्रग्राही अवग्रहोऽत्राऽदौ न कृतः, किन्तु 'ईहादीनि' इत्येवमेवोक्तम्, उभयवस्त्ववलम्बितवेनेहाया एव “पायं पचासन्नत्तणेणे”— ३० ति विशेषणस्य सफलत्वात् । अपायस्यापि 'स्थाणुरेवायम्, न पुरुषः' इत्यादिरूपेण प्रवृत्तेः किञ्चिद् विशेषणस्य सफलत्वादादि-

शब्दोऽप्यविरुद्ध इति गाथार्थः ॥ १ ॥ इह ‘किं शब्दः ? अशब्दो वा ?’ इति श्रोत्रेन्द्रियस्य [प्रत्यासन्नवस्तूपदर्शनं कृतमेव । अथ शेषचक्षुरादीन्द्रियाणां विषयभूतानि] प्रत्यासन्नवस्तूनि क्रमेण दर्शयति—

पं. ८. थाणुपुरिसाइ-कुष्ठुप्लाइ-संभिष्यकरिष्टमंसाई ।
सप्तप्लनालाइ व समाणरूपाइविसयाइ ॥ २ ॥

५ “ईहादिवस्तूनि सूपलक्ष्याणि” इत्युक्तम् । कथम्भूतानि सन्ति पुनर्स्तानि सूपलक्ष्याणि ? इत्याह—समानः—समानधर्मा रूप-रसादिर्विषयो येषामीहादीनां तानि समानरूपादिविषयाणीति पूर्वगाथायां सम्बन्धः । कः पुनर्स्मीषां समानधर्मा रूपादिर्विषयः ? इत्याह—स्थाणु-पुरुषादिवदिति, पर्यंते निर्दिष्टो विषयोपदर्शनाभियोदत्को वच्छब्दः सर्वत्र योग्यते, ततश्चक्षुरिन्द्रियप्रभवस्येहादेः स्थाणुपुरुषादिवत् समानधर्मा रूपविषयो द्रष्टव्यः, आदिशब्दात् ‘किमिं शुक्तिका रजतखण्डं वा ? मृगतृष्णिकाः पयःपूरो वा ? रज्जुः विषधरो वा ?’ इत्यादिपरिग्रहः । ग्राणेन्द्रियप्रभवस्येहादेः कुष्ठोप्लादिवत् समानगन्धो विषयः, ततः कुष्ठं—गन्धिकहृष्टविक्रेयो वस्तुविशेषः उत्पलं—पद्मं अनयोः किल समानो गन्धो भवति तत ईद्धेन गन्धेन ‘किमिदं कुष्ठम् ? उत्पलं वा ?’ इत्येवमीहाप्रवृत्तिः, आदिशब्दात् ‘किमत्र सप्तच्छदाः मत्तकरिणो वा ? कस्तूरिका वनगजमदो वा ?’ इत्यादिपरिग्रहः । रसनेन्द्रियप्रभवस्येहादेः सम्मृतकरील-मांसादिवत् समानरसो विषयः, तत्र सम्भूतानि—संस्कृतानि सन्वानीकृतान्यस्थितानि यानि वंशजालिसम्बन्धीनि करीलानि तथा मांसम्, अनयोः किलाऽस्वादः समानो भवति, ततोऽन्धकारादावन्यतरस्मिन् जिह्वाप्रप्रदत्ते भवत्येवम्—‘किमिदं सम्भूत-वंशकरीलम् ? आमिषं वा ?’ इति, आदिशब्दाद् ‘गुडः खण्डं वा ? मृद्वीका शुक्कराजादनं वा ?’ इत्यादिपरिग्रहः । स्पर्शनेन्द्रिय-15 प्रभवस्येहादेः सर्पोत्पलनालादिवत् समानस्पशोः विषयः, सर्पोत्पलनालयोश्च तुल्यस्पर्शवेनेहाप्रवृत्तिः सुग्रैव, आदिशब्दात् लीपुसुष-लेप्घप्लादिसमानस्पर्शवस्तुपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ २ ॥ अथ यदुक्तं सूत्रे “से जहानामए केह पुरिसे अवतं सुमिषं पासेजा” इत्यादि, तदनुसृत्य स्वप्ने मनसोऽप्यवग्रहादीन् दर्शयनाह—

पं. ९. एवं चिय सिमिणाइसु मणसो सहाइएसु विसएसु ।
होर्तिंदियवावाराभावे वि अवगगहाईया ॥ ३ ॥

२० ‘एवमेव’ उक्तानुसारेणेन्द्रियव्यापाराभावेऽपि स्वनादिषु, आदिशब्दाद दत्तकपाट-साध्यकारापवरकादीनीन्द्रियव्यापाराभाव-वन्ति स्थानानि गृहन्ते, तेषु केवलस्यैव मनसो भन्यमानेषु शब्दादिविषयेषु ‘अवग्रहादयः’ अवग्रहेहा-ऽपाय-धारणा भवन्तीति स्वयमन्युद्धाः । तथाह—स्वप्नादौ चित्तोत्प्रेक्षामात्रेण श्रूयमाणे गीतादिशब्दे प्रथमं सामान्यमात्रोत्प्रेक्षायामवग्रहः ‘किमयं शब्दः ? अशब्दो वा ?’ इत्याद्युत्प्रेक्षायां त्वीहा, शब्दनिश्चये पुनरपायः, तदनन्तरं तु धारणा । एवं देवतादिरूपे, कर्पूरादिगन्धे, मोदकादिरसे, कामिनीकुचकल्पादिस्पर्शे चोत्प्रेक्ष्यमाणेऽवग्रहादयो मनसः केवलस्य भावनीया इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

२५ मतिज्ञानमिदं द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधम् । यदाह भाष्यकृत—

तं पुण चउच्चिवहं नेयभेयओ तेण जं तदुवउत्तो ।
आएसेणं सञ्चं दव्याइ चउच्चिवहं मुणाइ ॥ १ ॥

‘तत् पुनः’ आभिनिवोधिकज्ञानं ‘चतुर्विधं’ चतुर्भेदम् । नन्वग्रहादिभेदेन भेदकथनं प्रागस्य कृतमेव, किमिह पुनरपि भेदो-पन्यासः ? सत्यम्, हेयभेदेव द्रव्यादिभेदेन चतुर्भेदम्, ज्ञानस्य तु हेयभेदादेव भेदोऽत्राभिधीयते, सूत्रे तथैवोक्तवात् । तच्चेदं सूत्रम्—“तं समासओ चउच्चिवहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्यओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्यओ पं आभिजिवेहियनाणी आएसेणं सञ्चदव्याइ जाणाइ न पासई”त्यादि । हेयभेदादपि तत् कथं चतुर्विधम् ? इत्याह—“जं तदुवउत्तो” इत्यादि, ‘यद्’ यस्मात् कारणात् ‘तेन’ आभिनिवोधिकज्ञानेन सर्वं द्रव्यादि मुण्ठाति सम्बन्धः । कथम्भूतम् ? इत्याह—‘चतुर्विधं’ चतुर्भेदं द्रव्य-क्षेत्र-काल-

भावभेदभिन्नमित्यर्थः । कथम्भूतः सन् मुण्ठि ? इत्याह—तस्मिन्नेव—आभिनिबोधिकज्ञाने उपयुक्तः तदुपयुक्तः । केन ? इत्याह—आदेशेनेति ॥ १ ॥ कोऽयमादेशः ? इत्याह—

पं. २८. आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सञ्चवदञ्चाहं ।
धर्मस्तिथ्याह्याहं जाणाह, न उ सञ्चवभेण ॥ २ ॥

इह ‘आदेशो नाम’ ज्ञातव्यवस्तुप्रकारः । स च द्विविधः—सामान्यप्रकारो विशेषप्रकारश्च । तत्र ‘ओघादेशोन्’ सामान्य- ५ प्रकारेण द्रव्यजातिसामान्येनेत्यर्थः, सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, ‘असंख्येयप्रदेशात्मको लोकव्यापकोऽमूर्त्तः प्राणिनां पुद्गलानां च गत्युपष्टम्भेतुर्भर्मास्तिकाय’ इत्यादिरूपेण कियत्पर्यायविशिष्टानि षडपि द्रव्याणि सामान्येन मतिज्ञानी जानातीत्यर्थः । अनधिमतप्रकारप्रतिवेधमाह—‘न तु सर्वभेदेन’ न सर्वैर्विरोधैर्न सर्वैरपि पर्यायैः केवलिदृष्टिविशिष्टानि तानि द्रव्याण्यसौ जानातीत्यर्थः, केवलज्ञानगम्यत्वादेव सर्वपर्यायाणामिति भावः ॥ २ ॥

धर्मास्तिकायादिभेदेन कथितं सामान्येन द्रव्यम् । अथ क्षेत्रादिस्वरूपं विशेषतः प्राह—

10

[पृष्ठ ५६]

पं. १. खेतं लोगालोगं, कालं सञ्चवद्धमहव तिविहं पि ।
पंचोदह्याहाए भावे, जं नेयमेवह्यं ॥ ३ ॥

क्षेत्रमपि लोका-ऽलोकस्वरूपं सामान्यादेशेन कियत्पर्यायविशिष्टं सर्वमपि जानाति, न तु विशेषादेशोन् सर्वपर्यायैविशिष्टमपि । एवं कालमपि सर्वाद्वारापम्, अतीता-ऽनागत-वर्तमानभेदतत्त्वविधं वा इत्येक एवार्थः । भावतस्तु सर्वभावानामनन्तभावं १५ जानाति, औदयिकौपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकान् वा पञ्च भावान् सामान्येन जानाति, न परतः । कुतः ? इत्याह ‘यद्’ यस्मादेतत्त्वदेव ज्ञेयमस्ति, नान्यदिति । इह क्षेत्रकालौ सामान्येन द्रव्यान्तर्गतावेव, केवलं भेदेन रूढवात् पृथगुपादानमवस्यमिति ॥ ३ ॥ आदेशस्य व्याख्यानान्तरमाह—

पं. २. आएसो त्ति व सुत्तं, सुओवलञ्चेसु तस्स महनाणं ।
पसरइ तब्भावणया विणा वि सुत्ताणुसारेण ॥ ४ ॥

20

अथवा आदेशः सूत्रमुच्यते । तेन सूत्रादेशेन सूत्रोपलब्धेष्वर्थेषु ‘तस्य’ मतिज्ञानिनः सर्वद्रव्यादिविषयं मतिज्ञानं प्रसरति । ननु श्रुतोपलब्धेष्वर्थेषु तद् ज्ञानं तत् श्रुतमेव भवति, कथं मतिज्ञानम् ? इत्याह—“तब्भावणये”त्यादि, तद्वावनया श्रुतोपयोग-मन्तरेण तद्वासनामात्रत एव यद् द्रव्यादिषु प्रवर्तते तत् सूत्रादेशेन मतिज्ञानमिति भावः । एतत्र पूर्वमपि—

पुबं सुयपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयाइयं ।

तत्रिस्त्वयमियं पुण, अणिस्त्वयं महचउक्तं तं ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० १६९]

25

इत्यादिप्रक्रमे ग्रोक्तमेवेति गाथाच्चतुष्टयार्थः ॥ ४ ॥

पं. ५. अत्र श्रुतनिश्चितानवग्रहादीस्तावदाह—

उगगहो ईह अवाओ य धारणा एव होति चत्तारि ।

आभिणिबोहियनाणस्स भेयवत्थू समासेण ॥ सू. गा. ७२ ॥

रूप-रसादिभेदैरनिर्देशस्य अव्यक्तस्वरूपस्य सामान्यार्थस्यावग्रहणं-परिच्छेदनमवग्रहः । तेनावगृहीतस्यार्थस्य भेद- ३० विचारणं वस्यमाणगत्या विशेषाचेषणमीहा । तया ईहितस्यैवार्थस्य व्यवसायः-तद्विशेषनिश्चयोऽपायः । चशब्दोऽवग्रहादीनां पृथक्

पृथक् स्वातन्त्र्यं प्रदर्शनार्थः, तेनैतदुक्तं भवति—अवग्रहादेरीहादयः पर्याया न भवन्ति, पृथग्भेदवाचकत्वादिति । निश्चितस्यैव वस्तुनोऽविच्युत्यादिरूपेण धरणं धारणा । एवकारः क्रमघोतनपरः, अवग्रहादीनामुपन्यासस्यायमेव क्रमः, नान्यः, अवगृहीतस्यैवेहनात्, ईहितस्यैव निश्चयात्, निश्चितस्यैव धारणादिति । एवमेतान्याभिनिरोधिकज्ञानस्य चत्वार्येव भेदवस्तुनि ‘समासेन’ सङ्खेपेण भवन्ति । विस्तरतस्त्वशार्विशत्यादिभेदभिन्नम् । इदं प्रागुक्तमेवेति भावः । तत्र भिन्नते परस्परमिति भेदाः—विशेषाः त ५ एव वस्तुनि भेदवस्तुनीति समाप्त इति ग्राथार्थः ॥ अथ सूत्रकार एवावग्रहादीन् व्याल्यानयन्नाह—

पं. ७. अत्थाणं उग्रहणं अवग्रहं, तह वियालणं ईहं ।

ववसायं च अवायं, धरणं पुण धारणं वेति ॥ सू. गा. ७३ ॥

‘अर्थानां’ रूपादीनां प्रथमदर्शनानन्तरमेव ‘अवग्रहणं’ अवग्रहं ब्रुवत इति सम्बन्धः । तथा ‘विचारणं’ पर्यालोचनम्, अर्थानामिति वर्तते, ईहनमीहा तां ब्रुवते । इदमुक्तं भवति—अवग्रहादुक्तीणोऽपायात् पूर्वं सद्गूतार्थविशेषोपादानाभिसुख्सोऽसद्गूतार्थ-१० विशेषस्यागसमुखश्च ‘प्रायः काकनिलयनादयः स्थाणुधर्मा अत्र निरीह्यन्ते, न तु शिरःकण्ड्रयनादयः पुरुषधर्मा’ इति मतिविशेष ईहेति । विशिष्टोऽवसायो व्यवसायः—निश्चयस्तं व्यवसायम्, अर्थानामितीहापि वर्तते, अपायमवायं वा ब्रुवते । एतदुक्तं भवति—स्थाणुरेवायमित्यवधारणात्मकः प्रत्ययोऽपायोऽवायो वेति । चशब्द एवकारार्थः, व्यवसायमेव अवायमपायं वा ब्रुवते इत्यर्थः । धृतिर्धरणम्, अर्थानामिति वर्तते, अपायेन विनिश्चितस्यैव वस्तुनोऽविच्युति-स्मृति-वासनारूपं धरणमेव धारणं ब्रुवत इत्यर्थः । पुनःशब्दस्यावधारणार्थत्वाद् ब्रुवत इत्यनेन शास्त्रस्य पारतन्त्र्यमुक्तम्, इत्थं तीर्थकर-गणधरा ब्रुवत इति । अन्ये त्वेवं पठन्ति—१५ “अत्थाणं उग्रहणमिति उग्रहो” इत्यादि तत्रार्थानामवग्रहणे सति अवग्रहो नाम मतिभेद इत्येवं ब्रुवते । एवमीहादिष्वपि योज्यम् । भावार्थस्तु पूर्ववदेव । अथवा “प्राकृतशैल्याऽर्थवशाद् विभक्तिपरिणामः” इति सतमी द्वितीयार्थे द्रष्टव्येति गाथार्थः ॥

अथैतदेवावग्रहादिस्वरूपं भाष्यकारेण विवृतं यथा—

सामण्ठावग्रहणमोग्रहो, मेयमगणमहेहा । तस्सावगमोऽवायो, अविच्युद्द धारणा तस्स ॥ [विशेषा० गा० १८०]

अन्तर्भूताशेषविशेषस्य केनापि रूपेणानिर्देशस्य सामान्यस्थार्थस्यैकसामयिकमवग्रहणं सामान्यार्थवग्रहणम्, अथवा २० सामान्येन—सामान्यरूपेणार्थस्त्रावग्रहणं सामान्यार्थवग्रहणमवग्रहो वेदितव्यः । अथानन्तरमीहा प्रवर्तते । कथम्भूतेयम्? इत्याह—‘भेदमार्गाणं’ भेदाः—वस्तुनो धर्मस्तेषां भार्गाणं—अन्वेषणं विचारणं ‘प्रायः काकनिलयनादयः स्थाणुधर्मा अत्र वीक्ष्यन्ते, न तु शिरःकण्ड्रयनादयः पुरुषधर्मा’ इत्येवं कर्तुधर्मविचारणमीहा इत्यर्थः । तस्यैव ईहया ईहितस्य वस्तुनस्तदनन्तरमवगमनमवगमः ‘स्थाणुरेवायम्’ इत्यादिरूपो निश्चयोऽवायोऽपायो वेति । तस्यैव निश्चितस्य वस्तुनोऽविच्युति-स्मृति-वासनारूपं धरणं धारणा, सूत्रोऽविच्युतेरूपलक्षणत्वादिति गाथार्थः ॥

२५ तत्रामूषामिदं स्वरूपम्—अपायानन्तरमवगतमर्थमविच्युत्याऽजघन्योऽकृष्टमन्तर्मुहूर्तमात्रं कालं धारयतो धारणाऽविच्युत्यारूप्या । तमेवार्थमुपयोगात् च्युतं जघन्येनान्तर्मुहूर्ताऽकृष्टतोऽसंख्येयकालात् परतः स्मरतः धारणा स्मृत्यारूप्या । अपायावधारितमेवार्थं पूर्व-ऽपरालोचितं ह्वदि स्थापयतो धारणा वासनारूप्या । नवरं संख्येयवर्षायुषां संख्येयं कालं स्मृति-वासनारूपा धारणा भवति, असंख्येयवर्षायुषामसंख्येयं कालं स्मृति-वासनारूपा धारणा भवति, असंख्येयवर्षायुषामसङ्घचेयं कालं द्विरूप-ऽपीयं धारणा भवति ॥

३० पं. ११. पुट्ठ० [सूत्र गा. ७५] गाहा । श्रोत्रेन्द्रियं कर्तुं, शब्दं कर्मतापनं शृणोति । कथम्भूतम्? इत्याह—स्पृश्यत इति सृष्टस्तं स्पृश्यम्, तनौ रेणुवदलिङ्गितमात्रमेवेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—स्पृष्टमात्राणेव शब्दद्रव्याणि श्रोत्रमुपलभते, यतो प्राणादीन्द्रियविषयभूतद्रव्येभ्यः तानि सूक्ष्माणि वहनि भावुकानि च, पटुतरं च श्रोत्रेन्द्रियं विषयपरिच्छेदे ग्राणेन्द्रियादिगणादिति ।

श्रोत्रेन्द्रियस्य चेह करुत्वं शब्दश्रवणान्यथा नुपपत्तेर्लभ्यते । एवं प्राणेन्द्रियादिष्वपि वाच्यम् । तानि पुनः कथं गन्धादिकं गृह्णन्ति? इत्याह—गन्धयत इति गन्धस्तमुपलभते प्राणेन्द्रियम्, रस्यत इति रसस्तं च गृह्णति रसनेन्द्रियम्, सृष्टयत इति स्पर्शस्तं च जानाति स्पर्शनेन्द्रियम् । कथम्भूतं गन्धादिकम्? इत्याह—‘बद्धसृष्टं’ तत्र स्पृष्टमिति—पूर्ववदेव, बद्धं तु—गाढतरमाल्लिष्टं आत्मप्रदेशैस्तोयवदात्मीकृतमित्यर्थः । ततश्च गन्धादिद्रव्यसमूहं प्रथमं सृष्टम्—आलिङ्गितं ततश्च स्पर्शनानन्तरं बद्धम्—आत्मप्रदेशैर्गाढतरमागृहीतमेवोपलभते प्राणेन्द्रियादिकमित्येवं व्यागृणीयात् प्रशापकः, यतो प्राणेन्द्रियादिविषयभूतानि गन्धादिद्रव्याणि शब्दद्रव्यापेक्षया 5 स्तोकानि बादराणि अभावुकानि च, विषयपरिच्छेदे श्रोत्रापेक्षयाऽपदूनि च प्राणादीनि, अतो बद्धसृष्टमेव गन्धादिद्रव्यसमूहं गृह्णन्ति, न पुनः स्पृष्टमात्रमिति भावः । ननु यदि स्पर्शनानन्तरं बद्धं गृह्णति तर्हि “पुटुबद्धं” इति पाठे युक्त इति चेत्, उच्चते—विचित्रवात् सूत्रगतेस्थिं निर्देशः, अर्थतस्तु यथाऽन्वयोक्तं तथैव द्रष्टव्यम् । अपरस्वाह—यद बद्धं तत् सृष्टं भवत्येव, विशेषवन्वे सामान्यवन्धस्यान्तर्भावात्, ततः किं सृष्टप्रहणेन्ति, तदयुक्तम्, सकृतश्रोतुसावारगत्वाच्छान्नारम्भस्य प्रपञ्चितज्ञानुग्रहार्थमर्थापतिगम्यार्थाभिधानेऽप्यदोषादिति । चक्षुरिन्द्रियं त्वप्राप्तमेव विषयं गृह्णातीत्याह—“रूपं पुण वासई अपुद्दु तु” इति रूपं 10 कर्मतापन्नं चक्षुः ‘असृष्टम्’ अप्राप्तमेव पश्यति । पुनः शब्दस्य विशेषगार्थत्वादसृष्टमपि योग्यदेशस्थमेव पश्यति, नायोग्यदेशस्थं सौधर्मादि कट्कुडव्यादिव्यवहितं वा घटादीति गाथार्थः ॥

पं. १३. भासासमसेदीओ सदं जं सुणइ मीसयं सुणइ ।

बीसेदी पुण सदं सुणइ नियमा पराधाए ॥ सू. गा. ७६ ॥

भाष्यत इति भाषा, वक्त्रा शब्दतयोत्सृज्यमाना द्रव्यसंहतिस्थित्यर्थः, तस्याः समाः—प्राञ्जलाः ऐणयः—आकाशप्रदेश- 15 पङ्क्तयो भाषासमश्रेणयः, समग्रहणं विश्रेणिव्यवच्छेदार्थम्, भाषासमश्रेणिषु इतः गतः स्थित इत्यनर्थान्तरं भाषासमश्रेणीतः । इदमुक्तं भवति—भाषकस्यान्यस्य वा भेयदिः समश्रेणिव्यवस्थितः श्रोता यं ‘शब्दं’ पुरुष-अश्व-भैरवादिसम्बन्धिनं ध्वनिं शृणोति तं मिश्रकं शृणोतीत्यवग्नान्तव्यम्, भाषकाद्युत्सृष्टशब्दद्रव्याणि तद्वासितापान्तरालस्थद्रव्याणि चेत्येवं मिश्रं शब्दद्रव्यराशिं शृणोति, न तु वासकमेव वास्यमेव वा केवलमित्यर्थः । “बीसेदी पुणे” त्यादि “मञ्चाः कोशन्ती” ति न्यायाद विश्रेणिव्यवस्थितः श्रोताऽपि विश्रेणिरुच्यते, स विश्रेणिः पुनः श्रोता शब्दं ‘नियमाद्’ नियमेन ‘पराधाते’ वासनायां सत्यां शृणोति । इदमुक्तं भवति—यानि 20 भाषकोत्सृष्टानि शब्दद्रव्याणि भैरवादिशब्दद्रव्याणि वा ते: ‘पराधाते’ वासनाविशेषे सति यानि वासितानि समुत्पन्नशब्दपरिणामानि द्रव्याणि तान्येव विश्रेणिस्थः शृणोति, न तु भाषकाद्युत्सृष्टानि, तेषामनुश्रेणिगामित्वेन विदिगमनासम्भवात् । न च कुडव्यादि-प्रतिधातस्तेषां विदिगमतिनिमित्तं सम्भवति, लेष्वादिवादद्रव्याणामेव तत्कुडव्यादिप्रतिधातसम्भवात्, एषां च सूक्ष्मत्वात् । न च वक्तव्यम्—द्वितीयादिसमयेषु तेषां स्वयमपि विदिक्षु गमनसम्भवात् तत्स्थस्यापि मिश्रशब्दश्रवणसम्भव इति, निसर्गसमयानन्तरं समयान्तरेषु तेषां भाषापरिणामेनानवस्थानात्, “भाष्यमाणैव भाषा भाषा, समयानन्तरं भाषा अभाषैते” ति वचनात् । यदपि 25 “चउहिं समएहिं लोगो भासाए निरंतरं तु होइ फुडो” इति वक्ष्यति, तत्रापि द्वितीयादिसमयेषु भाषाद्रव्यैर्वासितवात् तेषां भाषात्वं द्रष्टव्यम् । अत्राह—ननु यदिवकूनिसृष्टानि भाषाद्रव्याणि प्रथमसमये दिव्यवेव गच्छन्ति, समयान्तरं नावतिष्ठन्ते, तर्हि तद्वासित-द्रव्याणि द्वितीयसमये विदिक्षु गच्छन्ति, ततश्च दिग्-विदिग्न्यवस्थितयोः समयभेदेन शब्दश्रवणं प्राप्नोति, अविशेषेण च सर्वोऽपि शब्दं शृण्वनुपलभ्यते, नैष दोषः, समयादिकालभेदस्यातिसूक्ष्मवेनालक्षणादिति । भवत्वेवम्, तथापि “भाष्यमाणैव भाषे” ति वचनान्त्रिसर्गसमयवर्त्तन्येव भाषा, ततो ‘विश्रेणिस्थो द्वितीयसमयेऽभाषां शृणोती’ त्यायातम्, नैतदेवम्, भाषाद्रव्यैर्वासितानामपि 30 द्रव्याणां भाषाऽविशेषाद भाषात्वं न विरुद्ध्यते, अत एव “बीसेदी पुण सदं” मित्यत्र पुनरपि यत् शब्दग्रहणं तत् पराधातवासित-

१ शब्दपदग्रहणमित्यर्थः । अयं भावः—गाथायां “सदं जं सुणइ मीसयं सुणइ” इत्यत्र सकृत् सदं इति पदे गृहीतेऽपि यत् पुनरपि “बीसेदी पुण सदं” इत्यत्र ‘सदं’ इति पदं गृहीतं तदित्याद्यभ्ये सम्बन्धः ॥

द्रव्याणामपि तथा विधशब्दपरिणामस्थापनार्थं कृतमिति तावद् वयमवगच्छामः, तत्वं तु बहुश्रुतादयो विदन्तीति । प्राणादीन्य-पीन्द्रियाणि गन्धादिद्रव्याणि मिश्राष्याददते, तेषां चानुश्रेणिगमननियमो नास्ति, बादरत्वात्, वातायनोपलभ्यमानरेणुवदिति द्रुद्धटीकाकार इति गाथार्थः ॥

पं. १५. ईहा अपोह वीमंसा मग्गणा य गवेषणा ।

५ सणणा सर्वे भई पण्णा सव्वं आभिणिवोहियं ॥ सू. गा. ७७ ॥

“ईह चेष्टायाम्” ईहनमीहा—सतामन्वयिनां व्यतिरेकिणां चार्थानां पर्यालोचना । अपोहनमपोहः—निश्चयः । विमर्षं विमर्षः—अपायात् पूर्वः ईहायाश्चेत्तरः ‘प्रायः शिरः कण्ठश्चनादयः पुरुषधर्मा इह घटन्ते’ इति सम्प्रत्ययः । तथा मार्गणम्—अन्वयधर्माचेषणं मार्गणा । ‘चशब्दः’ समुच्चयार्थः । गवेषणं—व्यतिरेकधर्मालोचनं गवेषणा । तथा संज्ञानं संज्ञा—अवग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेष एव । स्मरणं स्मृतिः—पूर्वानुभूतार्थालभ्यवः प्रत्ययः । मननं मतिः—कथञ्चिदर्थपरिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्मालोचनरूपा 10 बुद्धिः । तथा प्रज्ञानं प्रज्ञा—विशिष्टक्षयोपशमजन्या प्रभूतवस्तुगतयथावस्थितधर्मालोचनरूपा मतिः । सर्वमिदमाभिनिवोधिकम्, कथञ्चित् किञ्चिद् भेददर्शनेऽपि तत्त्वतः सर्वं मतिज्ञानमेवेदमित्यर्थः इति निर्युक्तिश्चोकार्थः ॥

अत्रैतद्वाचाख्यानाय भाष्यम्—

होइ अपोहोऽवाओ, सर्वे धिई, सव्वमेव मङ्ग-पण्णा ।

ईहा सेसा, सव्वं इदमाभिणिवोहियं जाण ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० ३९७]

15 अपोहस्तावत् किमुच्यते ? इत्याह—अपोहो भवत्यपायः, योऽयमपोहः स मतिज्ञानतृतीयमेदोऽप्यायो निश्चय उच्यते इत्यर्थः । स्मृतिः पुनः ‘धृतिः’ धारणोच्यते, धारणाभेदत्वेनावयवे समुदायोपचारादिति । ‘मति-प्रज्ञे’ मति-प्रज्ञाशब्दाभ्यां सर्वमेव मतिं-ज्ञानमुच्यते । “ईहा सेस” ति ‘शेषाभिधानानि तु’ ईहा विमर्ष-मार्गणा-गवेषणा-संज्ञालक्षणानि सर्वाण्यपि ‘ईहा’ ईहान्तर्भावीनि द्रष्टव्यानीत्यर्थः । एवं विशेषतः कथञ्चिद् भेदसद्वावेऽपि सामान्यतः सर्वमिदमाभिनिवोधिकज्ञानमेव जानीहि । इदमुक्तं भवति—प्रदर्शितेहा-ऽपोहादयोऽवग्रहादयोऽपि च सर्वेऽपि मतिज्ञानस्य पर्यायाः, अवगृहीतस्येहादिसम्भवात् । ततोऽवग्रहशब्दोऽवग्रहण-20 लक्षणेनार्थेन सर्वमाभिनिवोधिकं सङ्ग्रहाति, ईहाशब्दस्तु चेष्टालक्षणेन, अपायस्त्ववगमनलक्षणेन, धारणा तु धरणलक्षणेन सर्वं सङ्ग्रहाति । समर्थितं मतिज्ञानम् ॥ श्रुतज्ञानमुच्यते—

[पृष्ठ ५८]

पं. २८. अक्षरश्रुतमित्यादि, अक्षरादीनि सप्त द्वाराणि अनक्षरादिप्रतिपक्षसहितानि चतुर्दश भवन्तीति चतुर्दशभेदं श्रुतं भवति ।

[पृष्ठ ५९]

पं. ९. तत्र सङ्क्षेपतः स्वरूपमिदम्—अक्षरश्रुतं त्रिविधम्—संज्ञा-व्यञ्जन-लघिभेदात् । पं. १२. संज्ञाक्षरं नाम—लेख्यलिपिरूपम्, यथा घटाकृतिः ठकार इत्यादि । लिपिभेदतोऽनेकस्वरूपमकारावक्षरं संज्ञाभरमुच्यते । पं. १६. भाष्यमाणः शब्दो व्यञ्जनाक्षरम्, तदेतद् द्वितयमज्ञानात्मकमपि श्रुतकारणत्वादुपचारेण श्रुतमुच्यते । पं. २४. लब्ध्यक्षरं तु—शब्दशब्दवण-स्वरूपदर्शनादेरर्थप्रत्ययनगर्भाऽक्षरोपलघिः, यस्तदावरणक्षयोपशमो यः श्रुतज्ञानोपयोगश्च एतौ द्वावपि लब्ध्यक्षरम् । 30 ततश्च श्रेत्रेन्द्रियलब्ध्यक्षरवत् शेषेन्द्रियविषयाऽक्षरोपलघिरपि श्रुतम्, घट-कर्पूर-शर्करा-हंस-रूततूलीरूपे विषयोपलभ्ये एतद्वाच-काक्षरोपलभ्यसद्वावात् । मनः प्रति च यद् दृष्टं स्वने रूपादि तदक्षरोपलघिग्राह्या ।

[पृष्ठ ६०]

पं. ८. अनक्षरश्रुतं क्वेडित-शिरः कम्पादिनिमित्तमाहयति वारयति वेत्यादिरूपमभिप्रायादिपरिज्ञानम् । पं. १०. “ऊससियं” गाहायां शेषितादि चानक्षरश्रुतमिति आदिग्रहणात् पूर्वत-सौकारादिग्रहः । पं. १४. ध्वनिमात्रत्वादिति शब्दमात्रत्वात्, शब्दश्च भावश्रुतस्य कारणमेव, यच्च कारणं तद द्रव्यमेव भवति । भवति च तथाविधोच्छ्वसित-निःश्वसितादि-श्रवणे ‘स्त्रियोकोऽयम्’ इत्यादि ज्ञानम् । एवं चेष्टाभिसन्धिर्पूर्वकनिष्ठृत-काशित-श्रुतादिश्रवणेऽयात्मज्ञापनादि अन्यं प्रति ज्ञानं ५ वाच्यम् । पं. १५. सर्वं एव व्यापारं इति उच्छ्वसितादिकः । तद्भावेन श्रुतविज्ञानोपयुक्तजन्तुभावेन । आहेत्यादि, यदेवं गमना-स्त्रियन-चलन-रूपन्दन-शिरोधून-करचालनादिकाऽपि चेष्टा व्यापारं एवेत्येषाऽपि श्रुतं किं न भवति ? हन्त ग्रामो-त्यनेन न्यायेन साऽपि श्रुतम्, किन्तु रूढचेति शास्त्रज्ञलोकप्रसिद्धा रूढिरियम्—यदुतोच्छ्वसिताद्येव श्रुतं रूढम्, न चेष्टा, श्रूयत इति श्रुतमित्यन्वर्थवशात्, चेष्टा तु द्रव्यत्वात् कदापि न श्रूयत इति कथमसौ श्रुतं स्यात् ? । पं. १७. अनुस्वारेत्यादि, अकारादिवर्णा इवेति भावः । पं. १९. समनस्कस्य मनःसहायैरन्द्रियैर्जनितं साभिलापमर्थसंवेदनं यत् तत् संज्ञिश्रुतम् । १० अमनस्कस्येन्द्रियं मनोरहितं यत् संवेदनं चलनादिचेष्टालिङ्गितं तद् असंज्ञिश्रुतम् । से किं तमित्यादि, संज्ञिनः सम्बन्धि श्रुतं संज्ञिश्रुतम् । संज्ञी चोच्यते यस्य संज्ञाऽस्ति । सा च त्रिविधा दीर्घकालिकोपदेशादिभेदात् । त्रिविधसंज्ञायोगात् संज्ञिश्रुतं त्रिधा । पं. २७. तत्र प्रभूतमतीतमर्थं स्मरति ‘कथमेतत् कर्तव्यम् ?’ इति भावि च विमृशति ‘इदमकार्षम्, इदं करिष्ये’ इत्यादिचिन्तामात्रिय यस्यां दीर्घः कालो भवति सा दीर्घकालिकी ।

[पृष्ठ ६१]

पं. ८. प्रयुक्तः सन्तः प्रतिहता उपाया यस्य स प्रयुक्तप्रतिहतोपायायस्तस्येति विग्रहः । पं. ९. अयं वेत्यादि, अयं दीर्घकालिकसंज्ञी विज्ञेयो यो मतिज्ञानविषय[क]मनोज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमाद् मनोलब्धिसम्पन्नः मनोयोग्याननन्तान् स्कन्धान् मनोर्वर्णाभ्यो गृहीत्वा मनस्वेन परिणमय्य भन्यते चिन्तनीयं वस्तिवति, स च गर्भजतिर्यङ् मनुष्यो वा देवो नारकश्वेति, नान्यः, सोऽयं कालिकयुपदेशेन संज्ञिश्रुतव्यपदेश इति वाक्यशेषः । पं. २०. कृम्यादीनां प्रायो वर्तमान एव काले इष्टा-अनिष्टेषु प्रवृत्ति-निवृत्ती स्तः, न त्वतीता-अनागतदीर्घकालावलम्बितया ते स्तः, असञ्चिन्त्य वा । तथाहि—संज्ञिनो द्वीन्द्रियादयः, सञ्चिन्त्य २० सञ्चिन्त्य हेयोपादेयेषु निवृत्ति-प्रवृत्तेः, देवदत्तादिवदिति । तदेवं हेतुवादिनोऽभिप्रायेण निश्चेष्टाः पृथिव्यादय एवासंज्ञिनः । पं. २९. आह—संज्ञादशकयोगात् पृथिव्यादेकेन्द्रिया अपि संज्ञिनः किं नेष्यन्ते ? इति ग्रेरणायां प्रतिविधते इहौघसंज्ञा स्तोक-त्वादित्यादिना, उपयोगमात्रमोवसंज्ञा, इयं च वृत्याद्यारोहणो वल्यादिषु प्रतीता, इयं च स्तोका—अतिस्वल्पा ततोऽत्र नाथिक्यते, न तया संज्ञी वक्तुं युज्यत इति भावः, न हि कार्षीपणमात्रास्तित्वेन लोके धनवानुज्यते । आहार-भय-मैथुनादिसंज्ञामिका भूयस्यपीह नाथिक्यते, तामप्याश्रित्य न संज्ञी वक्तुं युज्यते, अनिष्टत्वाद् अशेभन्तवात्, मोहोदयजन्त्यत्वेन नासौ विशिष्टेत्यर्थः । न २५ चाविशिष्या संज्ञया संज्ञीत्यभिधातुं युज्यते, नहि लोकेऽप्यविशिष्टेन मूर्तिमात्रेण रूपवानित्यभिधीयते । तहिं कीदृश्या संज्ञाऽत्र संज्ञी प्रोत्यते ? इत्याह— पं. ३०. किन्तु यथेत्यादि, महती शोभना चेति, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजन्यमनोज्ञानसंज्ञयैव संज्ञी व्यपदिश्यते । संज्ञानं संज्ञा—मनोविज्ञानं स्पष्टा-अस्पष्टरूपं तदस्ति येषां ते संज्ञिनः, नान्ये एकेन्द्रियाः, अमनस्कत्वात् । तदुक्तं नन्दिचूर्णिकृता—

कृमि-कीट-पतङ्गाद्याः समनस्का जडमाश्तुर्मेदाः । अमनस्का: पञ्चविधाः पृथिवीकायादयो जीवाः ॥ १ ॥ [पत्र ४८] ३० इति । अयमत्र परमार्थः—यथा मूर्खितादीनां सर्वेष्वर्थर्थेष्वर्थत्वमेव ज्ञानं भवत्येवमतिप्रकृष्टावरणोदयादेकेन्द्रियाणामपि, ततः शुद्धतरं शुद्धतमं च द्वीन्द्रियादीनां आ पञ्चेन्द्रियसम्मूर्छजेन्यः, ततः सर्वं त्वप्तमं संज्ञिनामिति । पं. ३२. आह—कुतः पुनर्थैतन्ये समानेऽपि जन्तुनामिदमुपलब्धिनानात्मम् ? उव्यते—सामर्थ्यभेदात्, स च क्षयोपशमवैचित्रियात्, यथा तुल्येऽपि छेदकभावे चक्र-टी० २०

वर्तिचक्ररनस्य यत् छेदनसामर्थ्यं तदन्येषां स्वङ्ग-दात्र-शर-कुरिकादीनां छेदकवस्तूनां न भवत्येव, किन्तु क्रमशो हीयमानमेव तत् तेषु स्यात्, एवं चैतन्ये तुल्येऽपि मनोविषयिणां संज्ञिनामवप्रहेहादिषु या वस्त्वबोधपदुता भवति सा तथाविषयोपशमविकलानां यथोक्तदीर्घकालिकसंज्ञारहितानां सम्मूर्छजपञ्चेन्द्रिय-विकलेन्द्रियैकेन्द्रियाणामसंज्ञिनां न भवत्येव, क्रमशो हीनत्वादिति । अत एवोक्तम् अलं विस्तरेणेति ।

५

[पृष्ठ ६२]

पं. ४. दृष्टिवादोपदेशेन क्षायोपशमिके ज्ञाने सम्यग्दृष्टिरेव वर्तमानः संज्ञी, विशिष्टसंज्ञायुक्तत्वात् । मिथ्यादृष्टिस्तु असंज्ञी, विपर्यस्तत्वेन वस्तुतः संज्ञारहितत्वात् । यदि सम्यग्दृष्टिरेव संज्ञी तर्हि क्षायिकज्ञानेऽप्यसावस्तु ? किं क्षायोपशमिके ज्ञाने वर्तमानोऽसाविष्यते ? उच्यते—क्षयिकज्ञानं केवलिनो भवति, स च संज्ञी असंज्ञी वा नोच्यते, यतः संज्ञानं संज्ञोच्यते, अतीतार्थस्य स्मरण-मनागतस्य च चिन्तनम्, एतच्च तस्य नास्ति, सर्वदा सर्वार्थवभासकत्वेन केवलिनां स्मरण-चिन्ताधतीतत्वादिति क्षायोपशमिक-
१० ज्ञान्येव सम्यग्दृष्टिः संज्ञीति । यदेवं मिथ्यादृष्टिरैहिकार्थीविषयकहिता-ऽहितविभागज्ञानात्मकस्यष्टसंज्ञासमन्वित एव दृश्यते तत् किमित्यसौ प्रकृतसंज्ञया संज्ञी न भवति ? उच्यते—अशोभनसंज्ञोपेतत्वात् सत्याऽपि तयाऽसंज्ञी प्रोच्यते, मिथ्यादृष्टेज्ञानमप्यज्ञानमेव ।

जह दुव्ययणमवयणं, कुच्छियसीलं असीलमसर्दैष ।

मण्णइ, तह नाणं पि हु मिच्छदिविस्स अन्नाणं ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० ५२०]

कुत्सितं वचनं सदपि अवचनम्, एवं संज्ञाऽप्यसंज्ञोच्यते इति भावः, “सदसदविसेसणाओ” इत्यादिप्रागुक्तवचनात्, अतो १५ नेह देवादिरपि मिथ्यादृष्टिः संज्ञीति भावः । त्रिविदसंज्ञामध्ये कर्त्य जन्तोः का भवति ? इति निरूप्यते—

पंचणहमूहसन्ना, हैऊसन्ना विइंदियाईं । सुर-नारय-गन्मुद्भवजीवाणं कालिमी सन्ना ॥ १ ॥

छउमत्थाणं सन्ना, सम्मद्दीण होइ सुयनाणं । मइवावारविमुक्ता सन्नाईया य केवलिणो ॥ २ ॥

[विशेषा० गा० ५२३-२४]

‘पञ्चानां’ पूर्थिव्यादीनां ‘ऊहसंज्ञा’ वृत्याद्यारोहणाभिप्रायरूपा ओघसंज्ञा भवति, एकेन्द्रियाणां संज्ञात्रयनिषेधेन ऊहसंज्ञैव २० भवति, न तु हेतुवादादिसंज्ञेति भावः । ऊहसंज्ञायां चासंश्येवेति प्रागेवोक्तम् । नन्वाहारादिका अपि संज्ञा एकेन्द्रियाणामभिहिताः सूत्रे, कथमेकौबोहसंज्ञाऽत्रोच्यते ? सत्यम्, वल्ल्यादिष्वियं व्यक्तौबोपलभ्यते किञ्चिदिति शेषोपलक्षणमेवेति । पं. १७ अन्ना-हेत्यादि, अयमर्थः—अविशुद्धत्वात् प्रथमं हेतुवादसंज्ञा, ततो विशुद्धत्वात् कालिकसंज्ञा, ततोऽपि विशुद्धतरत्वाद् दृष्टिवादसंज्ञेत्येवं यथोत्तरविशुद्धमसुं क्रमं मुक्त्वा किं कालिकसंज्ञोपदेश आदौ निर्दिष्टः ? उच्यते—आगमे योऽप्यं संश्यसंज्ञीति व्यवहारः स सर्वोऽपि प्रायः कालिकोपदेशेनैव कियते, तेनाऽदौ स एव कालिकोपदेशः कृतः । तथाहि—यः स्मरण-चिन्तादिदीर्घकालिकज्ञानसहितः २५ समनस्कपञ्चेन्द्रियः स संज्ञीति व्यवहृयते । ततोऽसंश्यपि पर्युदासाश्रयणादमनस्कः सम्मूर्छजपञ्चेन्द्रिय एवाऽगमे प्रायो व्यवहृयते ।

[पृष्ठ ६३]

पं. ६. बहवश्च कैश्चिदिष्यन्ते इति अनादिसंशुद्धा इति बहुवचनम् । पं. ८. इङ्गनेति संज्ञा । पं. १८. तुल्य-तामवशङ्गच्य आह चेति, अर्हद्विः सह तेषां तुल्यतानिषेधायाऽहेत्यर्थः । पं. १९. नातस्त्वमसि नो महानिति, ‘अतः’ एतेभ्यो देवागमादिकारणेभ्यः ‘नः’ अस्माकं त्वं पूज्योऽसि इति न, यत एते हेतवः सुगतादिष्वियं मायाविषु तुल्याः । पं. २३. ३० न निहाणेत्यादि, ये ‘भग्ना’ अतिक्रान्तास्ते न निघानगताः सन्ति, न चानागतेषु पुञ्जः समस्ति, येऽपि च वार्तमानिकास्तेऽपि न ‘निर्वृताः’ स्वस्थात्तिष्ठन्ति, किं तर्हि ? आराग्रे सर्षपा इव भावाः—यथा ह्याराग्रे सर्षपाणामुपरि क्षिप्यमाणानां नावस्थितिः एवं भावानामपि, किन्तु स्वकारणादुत्पवन्ते विनश्यन्ति चेति तत्वम्, न पुनरतीतोऽनागतो वा तेषां कश्चित् सङ्गावोऽस्ति, नाशा-ऽनुपत्त्या ।

[पृष्ठ ६४]

पं. १३. सम्यग्दृष्टेर्हृष्णीतशाखमितरद्वा श्रुतं यथात्वरूपावगमात् सम्यक्श्रुतम् । तदेव मिथ्यादृष्टेर्मिथ्याश्रुतम्, अन्यावगमात् ।

[पृष्ठ ६५]

पं. १०. सत्यादय इवेति सम्प्रदायगम्यं संविधानकम् । अथ कियता श्रुतेन सम्यग्दृष्टिः स्यात् ? कियता मिथ्यादृष्टिः ? ५ यद्वा कियत् सम्यक्श्रुतमेव भवति ? कियच्च मिथ्याश्रुतम् ? शेषस्य च मत्यादिज्ञानचतुष्टयस्य मध्ये मिथ्यात्वोदयात् कस्य विपर्यासो भवति ? कस्य च न ? इत्याशङ्क्योच्यते—

चोदस दस य अभिष्णे नियमा सम्मं तु, सेसए भयणा ।

मह ओहिविवज्ञासे वि होइ मिच्छं, न उण सेसे ॥ १ ॥ [विशेषा० गा० ५३४]

चतुर्दशपूर्वेभ्यः समारभ्य यावत् सम्पूर्णदशपूर्वाणि तावन्नियमात् सम्यक्श्रुतमेव भवति, न मिथ्याश्रुतम्, एतावच्छृतसद्वावे १० सम्यग्दृष्टेरेव भवति न मिथ्यादृष्टिरिति भावः । “सेसए भयण” ति ‘शेषे’ भिन्नदशपूर्वादिके सामायिकपर्यन्ते श्रुते ‘भजना’ विकल्पना, एतच्छ्रुतसद्वावे कोऽपि सम्यग्दृष्टिः कश्चित्तु मिथ्यात्वोदयाद् विपर्यस्तो मिथ्यादृष्टिरपि भवति । ततश्चैतच्छ्रुतं सम्यक्त्व-परिग्रहात् सम्यक्श्रुतम्, मिथ्यात्वोदयाद् मिथ्याश्रुतमपि रूपादिति भावः । न केवलं चतुर्दश-दशपूर्व-सम्पूर्णश्रुतादन्यत्र मिथ्यात्वोदयः, किन्तु मत्यवधिविपर्यासे ‘मिथ्यात्वं’ मिथ्यात्वोदयो भवति, न पुनः ‘शेषे’ मनःपर्याय-केवलज्ञानद्वये । इदमुक्तं भवति—मिथ्यात्वोदया-न्मतिज्ञानं विपर्यस्तं सद् मत्यज्ञानं भवति, अवधिरपि तदुदयाद् विपर्यासमापनो विभङ्गव्यपदेशं लभते, मनःपर्याय-केवलज्ञाने तु १५ कदाऽपि मिथ्यात्वोदयाद् विपर्यासं न गच्छतः, तद्वावे मिथ्यात्वोदयस्यैवासम्भवात्; मनःपर्यायज्ञानं हि चारित्रिण एव भवति, केवलज्ञानं तु क्षीणधातिचतुर्थस्येति कुतस्तद्वावे मिथ्यात्वोदयः ? इति । एतच्चेह गाथोत्तराद्वौक्तमर्थजातं मिथ्यात्वोदयसम्भवा-५-सम्भवप्रस्तावादनुषङ्गत एवोक्तम्, प्रस्तुतं पुनरत्र सम्यग्-मिथ्याश्रुतमेवेति ॥ अत्र किल परः किञ्चित् प्रेरयति—

तत्त्वावगमसहावे सह सम्म-सुयाण को पहविसेसो ? । जह नाण-दंसणाणं भेओ तुलेऽवबोहम्मि ॥ १ ॥

नाणमवाय-धिँओ, दंसणमिदुं जहोगहेहाओ । तह तत्तर्है सम्मं रोइजइ जेण तं नाणं ॥ २ ॥

20

[विशेषा० गा० ५३५-३६]

उभयत्रापि तत्त्वावगमस्वभावत्वे तुल्ये सति कः सम्यक्त्व-श्रुतयोः प्रतिविशेषः ? येनोच्यते ‘सम्यक्त्वपरिग्रहात् सम्यक्श्रुतम्’ इति । एतदुक्तं भवति—‘रागादिदोषरहित एव देवता, तदाज्ञापारतन्यवृत्तय एव गुरुः, जीवादिकमेव तत्त्वम्, जीवोऽपि नित्या-नित्याद्यनेकत्वभावः कत्तो भोक्ता मिथ्यात्वादिहेतुभिः कर्मणा वृद्ध्यते, तपः-संयमादिभिस्तु ततो मुच्यते’ इत्यादि बोधात्मकमेव सम्यक्त्वमुच्यते, श्रुतमध्येवमायभिलापात्मकमेव, तदनयोः को विशेषः ? येनोच्यते ‘सम्यक्त्वपरिगृहीतं सम्यक्श्रुतम्’ इति । अत्रो- २५ तरमाह—“जहे”त्यादि, यथा वस्त्वबोधरूपत्वे तुल्येऽपि कथञ्चिद् ज्ञान-दर्शनयोर्भेदस्तथा तत्त्वावगमस्वभावे तुल्येऽपि सम्यक्त्व-श्रुतयोरिहापि कथञ्चिद् भेदः ॥ १ ॥ कथं पुनर्ज्ञान-दर्शनयोरन्यत्र तावद् भेद उक्तः ? इति चेत्, इत्याह—

“नाणे”त्यादि । यथा अपायश्च धृतिश्चापाय-धुती, एते वचनपर्यायग्राहकत्वेन विशेषावबोधस्वभावत्वाद् ज्ञानमिष्टम्, अव-ग्रहश्चेहा चार्थपर्यायविषयत्वेन सामान्यावबोधाद् दर्शनम्, तथाऽत्रापि जीवादितत्त्वविषया हन्ति:—श्रद्धानं सम्यक्त्वं भण्यते, येन पुनर्स्तद् जीवादितत्त्वं ‘रोच्यते’ श्रद्धीयते तद् ज्ञानम् । अयमत्राभिग्रायः—दर्शनमोहनीयकर्मक्षयोपशमादिना या तत्त्वश्रद्धानामिका ३० तत्त्वरूपिण्यायते तया तत्त्वश्रद्धानात्मकं जीवादितत्त्वरोचकं विशिष्टं श्रुतं जन्यते, ततस्तत् श्रुताज्ञानव्यपदेशं परिदृश्य श्रुतज्ञानसंज्ञां समासादयति, एवं च सति परो मन्यते—विशिष्टतत्त्वावगमस्वरूपं श्रुतमेव सम्यक्त्वम्, न पुनर्स्तत् श्रुतं सम्यक्त्वादतिरिक्तं किञ्चिदुप-

लभ्यत हति कथमुच्यते 'सम्यक्त्वपरिग्रहात् सम्यक्क्षुतम्' ? इति । सिद्धान्तवादी तु मन्यते—यथा ज्ञान-दर्शनयोर्वर्त्तवबोधरूपतया एकत्रेऽपि विशेष-सामान्यग्राहकवेन भेदस्तथाऽत्रापि शुद्धतत्त्वावगमरूपे श्रुते तत्त्वश्रद्धानांशः सम्यक्त्वम्, तद्विशिष्टं तु तत्त्वरोचकं श्रुतज्ञानमित्यनयोर्भेदः । एतयोश्च सम्यक्त्व-श्रुतयोर्युग्मप्लाघेऽपि कार्य-कारणभावाद् भेदः । उक्तं च—

कारण-कज्जिभागो दीव-पगासाण जुगवजमे वि । जुगवुप्यन्तं पि तहा हेऊ नाणसस सम्मतं ॥१॥

५ जुगवं पि समुप्यन्तं सम्मतं अहिगमं विसोहेइ । जह कयगमंजणाइ जल-दिन्हीओ विसोहिति ॥२॥ []

अतो युक्तमुक्तं सम्यक्त्वपरिगृहीतं सम्यक्क्षुतम्, विपर्यायातु मिथ्याश्रुतमिति गाथाद्वयार्थः ॥२॥ गतं सप्रतिपक्षं सम्यक्क्षुतम् ॥

- पं. १५. अधिकारवशादिति प्रतिपक्षसम्बन्धवशादित्यर्थः । पं. १६. पर्यायास्तिक-द्रव्यास्तिकनयाभ्यां साद्यनादि-
श्रुतविचारोऽभिधीयते—व्यवच्छित्तिनयस्यानित्यवादिनः पर्यायास्तिकस्य मतेन सादि सपर्यन्तं च श्रुतम्, अनित्यवात्, जीवस्य
नारकादिगतिपर्यायवत् । तथाहि—श्रुतज्ञानिनां निरन्तरमपरापरे द्रव्याद्युपयोगाः प्रसूयन्ते प्रलीयन्ते च, न च तेभ्योऽन्यत् किमपि
१० श्रुतमस्ति, श्रुतकार्यभूतस्य जीवादितत्त्वावबोधस्य श्रुतज्ञानरहिते वस्तुनि अदर्शनादिति, द्रव्यादिषु च श्रुतोपयोगः सादिः सपर्य-
वसित एवेति । पं. १९. अव्यवच्छित्तिनयस्य नित्यवादिनो द्रव्यास्तिकस्याभिप्रायेणदं श्रुतं अनादि अपर्यन्तं च, नित्यवात्,
पञ्चास्तिकायवत् । तथाहि—यैर्जीवदव्यैः श्रुतमिदमधीतम् यान्यधीयन्ते यानि चाद्येष्यन्ते तानि तावन्न कदाऽपि व्यवच्छिद्यन्ते इति
१५ तेषामनादिताऽपर्यन्तता च । ततः श्रुतस्यापि जीवद्रव्यपर्यायभूतस्य तदेवतिरेकान्तियद्रव्यरूपतैव, नहि सर्वथाऽसत् काष्ठुपूष्यते,
सिकतास्वपि तैलाद्युपत्तिप्रसङ्गात्; नापि सती निरन्वयनाशेनात्यन्तोच्छेदः, सर्वशून्यतापत्तेः, तस्मात् श्रुताधारद्रव्याणां सर्वदैव
सत्त्वात् तदव्यतिरेकिणः श्रुतस्यापि द्रव्यरूपतैवेति स्थितम् ।

[पृष्ठ ६६]

- पं. ३. अथवा नयविचारमुत्सुज्य द्रव्यादिचतुष्टयमाश्रित्याधिकृतमेवार्थं साद्यादिस्वरूपं चिन्तयति—तत्र द्रव्य-क्षेत्र-काल-
मावैः श्रुतं सादिकमनादिकं सान्तमनन्तं च भवति । इह च द्रव्यतः श्रुतमेकं बहूनि च पुरुषद्रव्याण्याश्रित्य चिन्तनीयम् ।
२० तत्रैकपुरुषद्रव्यमङ्गीकृत्य सादि सनिधनं च श्रुतं भावयति कथमित्यादिना—यो येन भावेन पूर्वं नासीद् इदानीं च जातः स तेन
भावेन तत्प्रथमो भवति, सम्यक्त्ववतः श्रुतस्य पाठस्तत्प्रथम इति सादिः, सम्यक्त्वात् श्रुतस्य पुनर्मिथ्यात्वप्राप्तौ सपर्यवसितत्वम्,
२५ सति वा सम्यक्वे श्रुतलाभात् सादित्वम्, कारणान्तराद्वा [त]प्रतिपाते सान्तत्वम् । पं. ४. तान्येवाह—प्रमादेति, इहभवेऽपि
प्रमादात् श्रुतस्य नाशो भवति, अपरस्य ग्लानावस्थायां नश्यति, कस्यचित् सुरलोकाख्यभवान्तरगमनेन नश्यति । किल कथि-
३० चतुर्दशपूर्वघरः साधुर्मृत्वा देवलोकं गतः, तत्र देवत्वे तत् पूर्वाधीतं श्रुतं न स्मरति सर्वमणि, देशेन त्वेकादशाङ्गलक्षणेन कथित्
स्मरत्यविः इति सम्पूर्णं भवान्तरगमनान्तरश्यति । केवलोत्पत्तौ च कस्यचिदिहभवेऽपि श्रुतं नश्यति, “नदृमिं तु छाउमस्थिए नाणे”

- ३५ [आद० नि० गा० ५३५] इति वचनात्, ततो लाभकाले तस्य सादित्वम्, प्रतिपाते तु सान्तत्वम् । पं. ५. एक-
जीवद्रव्यपेक्षया चिन्तितं सादि-सपर्यवसितत्वम् । नानाजीवद्रव्यपेक्षया तु तदेव चिन्तयति—बहूनित्यादि, द्रव्यविषये नानापुरुषान्
नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवगतान् नानासम्यगदृष्टिजीवानाश्रित्य सम्यक्क्षुतं सततं वर्तते, अभूद् भवति भविष्यति च, न तु कदाचिद्
४० व्यवच्छिद्यते, ततस्तानाश्रित्येदमनाद्यर्पयवसितं भवति । पं. ६. अथ क्षेत्रत एकद्रव्यं प्रतीत्य प्रथमभूङ् निरूपयति—क्षेत्रत
इति, क्षेत्रे चिन्त्यमाने भरतैरान्तरक्षेत्रेषु प्रथमतीर्थकरकाले सुषमदुष्मारूपे तद् भवतीति सादित्वम् । चरमतीर्थकृतीर्थान्ते त्ववश्यं
४५ व्यवच्छिद्यत इति सपर्यवसितत्वम् । पञ्च महाविदेहक्षेत्राणि प्रतीत्य श्रुतज्ञानं सततं सर्वदैव वर्ततेऽतोऽनाद्यर्पयवसितम् । सामान्येन
हि महाविदेहसूत्रसर्पिण्यवसर्पिण्यभावरूपनिजकालविशिष्टेषु द्वादशाङ्गश्रुतं कदापि न व्यवच्छिद्यते, तीर्थकर-गणधरादीनां तेषु सर्वदैव

भावात् । पं. ८. काले त्वधिक्रियमाणे उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ समाश्रित्य भरतैरावतेषु द्वयोरपि समयोस्तृतीयारके ग्रथमं भावात् सादित्वम्, उत्सर्पिण्यां चतुर्थस्थाऽऽदौ अवसर्पिण्यां तु पञ्चमस्थान्तेऽवश्यं व्यवच्छेदात् सपर्यवसित्वम् । पं. १२. कालचक्रगाथाब्योविशतिसंख्याः सुगमाः । पं. १८. नवरम्—तुडिताङ्गेषु सज्जीतं भवति, तत्र प्रेक्षार्थं गीतवादं सज्जीत-मुच्यते । त्रुटितानि—बाहुरक्षकादीन्याभरणानि च । पं. २०. अण्डेष्वेषु च त्ति अनान्येषु । पं. २१. अन्नेषु य त्ति दशातिरिक्तेषु । भवियपुण्ड्रभवरहिर्य त्ति युगलधार्मिकत्वमनुभूय मृत्वा भूयोऽध्यनन्तरभावेन युगलधार्मिका न भवन्ति, किन्तु ५ देवत्वेनोऽप्यवन्ते, असंक्षिप्तपरिणामयोगात् ।

[पृष्ठ ६७]

पं. ७. भावओ णमित्यादि, भावे पुनर्विचार्यमाणे प्रज्ञापकं गुरुं श्रुतप्रज्ञापनीयांश्चार्थीनासाद्य सादिसपर्यवसितं स्यात् । पं. १२. कथम्? प्रज्ञापकसम्बन्धयुपयोग १ स्वर २ प्रथत्न ३ आसनविशेषतः ४, उपयोगः—आन्तरः श्रुतपरिणामः, स्वरः—ध्वनिः, प्रथत्नः—ताल्वादिव्यापारविषयो यत्नः, आसनविशेषश्च—स्थानविशेषः । ततश्च ‘प्रज्ञापके’ गुरौ व्याख्यानादि कुर्वति १० सत्येते भावा भवन्ति । एते च प्रतिक्षणमन्यथाभवनतोऽनित्यत्वात् सादि-सपर्यवसिताः । ततश्चैतानाश्रित्य वक्तुरनन्यत्वात् श्रुतमपि सादि-सपर्यवसितं भवति । पं. १४. एतदर्थाभिधायिनी [उवयोगसर०] गाथा सुगमैव । पं. १६. अथवेत्यादिना प्रज्ञापनीयार्थगतान् भावानाह । तत्र अण्वादीनां गत्यादिप्रतिपादनात् सादि-सान्तत्वम् । नवरं गतिः—अण्वादीनां गमन-परिणामः, स्थितिः—तेषामेवावस्थितिपरिणामः, वर्णः—कृष्णादिः, आदिराघ्वाद भेद-सज्जात्-शब्द-रस-नान्व-स्पर्श-संस्थानादिपरिग्रहः । नवरं भेदः—अण्वादीनामेवान्यसंयुक्तानां विघटनम्, सज्जातस्तु—अन्यैः सह संयोगः, शब्दः—मन्द्र-मधुरादिः, रसादयः प्रतीताः । १५ एते गतिस्थित्यादयो भावाः पर्याया धर्माः प्रज्ञापनीयार्थेषु परमाण्वादिषु भवन्ति, अनित्यत्वाचामी सादि-सपर्यवसिताः, एते श्रुतस्य ग्राह्याः । ग्राहकं च ग्राह्यनिवन्धनं भवति, ग्राह्यं यत्त्वरूपं किल गृह्यते ग्राहकं तत्त्वरूपं ततो भवति, अतः श्रुतमपि सादि-सपर्यवसितम् । क्षायोपशमिकभाव-भावश्रुतमावापेक्षयाऽनाद्यनन्तत्वं श्रुतस्य । पं. १८. यद्वा श्रुतस्य सादिदिप्ररूपणायां सादि-सपर्यवसानपदद्वयोत्था चतुर्भङ्गी सम्भवति—सादिसपर्यवसितमित्यादिकेति । क्रमेण भावयति— पं. २३. द्वितीयस्तु प्ररूपणामात्रम्, असम्भवात् । विवक्षया सम्भवति वा, तामेवाऽह—अभव्यस्येत्यादि, वर्तमानकालपेक्षया सादित्वम्, २० अनागताद्वयापेक्षयाऽपर्यवसितत्वम् । इह किल सम्यग्-मित्याभावेनाविशेषितं श्रुतसामान्यमात्रं ग्राह्यम्, अत एव भव्यस्य एतत् श्रुतमात्रम्, भव्यत्वत्, अनादिकालादारभ्य भावादनादि, केवलोत्पत्तौ न भविष्यतीति सपर्यन्तम् । अभव्यस्य त्वमव्यत्ववद् जीवत्वद्वा नियतं अनाद्यपर्यन्तम्, अभव्यस्य कदाचिदपि श्रुतमात्राव्यवच्छेदात् । पं. २६. अथ तृतीय-चतुर्थमङ्गौ श्रुतविषये भव्या-भव्यौ प्रतीत्याभिहितौ । मते: श्रुताविनाभूतायास्तहिं का वार्ता? इत्याशङ्काचाऽह—इह चेत्यादि, एवमेव दृष्टव्य इति । भव्या-भव्यद्वारेण तृतीय-चतुर्थमङ्गद्वयं अनादिमतिभावेऽपि योज्यम्, अनादिमतिभावः सपर्यवसितः अनादिमतिभावोऽपर्यवसितः २५ भव्या-भव्यौ प्रतीत्य । लाभकाले तस्य सादित्वम्, प्रतिपाते तु सान्तत्वमिति सादिसान्तता । कथं पुनस्तत्प्रतिपातसम्भवः? यदि जीवात् तत् श्रुतं भिन्नं तदा श्रुतस्य युज्येत नाशः, नाभिन्नस्य; अथ भिन्नमेव तत् तस्मात् तर्हि भिन्नश्रुतसद्वावेऽपि जीवोऽज्ञा-न्येव नित्यं स्यात्, श्रुतस्वभावरहितत्वाच्छ्रुतप्रकाश्यमर्थं न पश्येत्, यथाऽन्वः आत्मव्यतिरिक्तेन हस्तगतेनापि प्रदीपेन न तत् प्रकाश्यमर्थं पश्यति । अत्रोच्यते-हन्त! श्रुतज्ञानं नियमाजीवस्वभावमेव, नाजीवस्वभावम्; जीवः पुनः श्रुतमेव केवलं न भवति, किन्त्वसौ श्रुतज्ञानं भवेत् श्रुतज्ञानं वा, मतिज्ञानं मत्यज्ञानं वा, विभङ्गोऽवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानं वेति । यदि ‘श्रुतज्ञानं ३० जीवस्वभावमेव’ इतीच्यते तर्हि ‘जीवात् तदव्यतिरिक्तम्’ इति स्वत एवाभ्युपगतम्, युक्तं चैतत्, एवं हि सति युज्यते जीवस्य श्रुतकृतत्वस्ववबोधाद ज्ञानित्वम्, केवलं श्रुतस्य नाशे जीवस्य नाशः स्यात्, तदव्यतिरिक्तात्, यद् यतोऽव्यतिरिक्तं तस्य विनाशे तद् विनश्यत्येव, यथा घटस्वरूपविनाशे घटवस्त्रिवति, तदयुक्तम्, अस्तु श्रुतस्य नाशे जीवस्य तत्पर्यायविशिष्टतामात्रान्वितस्य नाशः;

न पुनः सर्वाभिना पर्यायान्तरविशिष्टस्यापि जीवस्य नाशः । यस्मादसौ जीव उत्पाद-न्यय-प्रौद्यधर्माऽन्तपर्यायक्ष वर्तते । ततो यदैवाऽसौ श्रुतपर्यायेण विनश्यति तदैव श्रुतज्ञानादिपर्यायेणोपघते, सचेतनत्वा-भूतत्व-सत्त्व-प्रमेयवादिभिरनुगतैरन्यव्यावृत्तैश्चानन्तैः पर्यायैविविष्टाऽसौ सर्वावस्थास्ववतिष्ठते; अतः कथं श्रुतपर्यायमात्रविनाशे जीवस्य सर्वथा विनाशः स्यात् ? । यदि हि तस्यायमेवैकः पर्यायो भवेत् तदा तदिनाशे तस्य सर्वनाशः स्यात्, एतच्च नास्ति, श्रुतपर्यायमात्रेण विनश्यस्यापि तस्य श्रुतज्ञानादि-५ पर्यायेणोपादाद् यथोक्ते शानन्तपर्यायैः पर्यावृत्तादिरूपैविविष्टस्य सर्वदैवावस्थानादिति न किञ्चिद् दूषणमापतति । तदेवं सादिश्रुतं ज्ञानात्मकं सम्यग्दृष्टेः, अज्ञानात्मकं वा सादि सम्यक्त्वाच्युतस्य जन्तोर्मिथ्यादृष्टेः सतः । अलब्धपूर्वसम्यक्त्वस्य तदेवानादिश्रुतम् । सर्पर्यवसितं भव्यानाम्, केवलोत्पत्तौ ध्रुवं पर्यवसानात् । अपर्यवसितमभव्यानाम्, केवलोत्पादानर्हत्वादिति साद्यादिभावार्थः ।

[पृष्ठ ६८]

पं. ३. पर्यायाग्राक्षरं निष्पद्यते इत्यादि, यद्यपीह केवलसर्वाकाशप्रदेशपर्यायराशिप्रमाणमक्षरपर्यायमानसुक्तं तथापि

- १० धर्मास्तिकायादिपञ्चद्रव्यपर्याया अप्यक्षरस्य पर्यायमानतया द्रष्टव्याः, अत एवोक्तं सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणमिति भावार्थं इति । यदेवं धर्माऽधर्मा-ऽकाश-पुद्गलास्तिकाय-काललक्षणसर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणं अक्षरपर्यायमानं सूत्रकृता किमिति नोक्तम् ? इत्याह-स्तोकत्वाचेति, सूत्रे धर्मास्तिकायादीनां पञ्चद्रव्याणां पर्याया नाभिहितासाक्षात्, आकाशपर्यायेभ्यः स्तोका अनन्तभागवर्त्तनस्त इति वृत्त्वा, किन्तु य एव तेभ्यो अतिवहोऽनन्तगुणात्म एव सर्वाकाशपर्यायाः साक्षातुक्ताः, अर्थतस्तु धर्मास्तिकायादिपर्याया अपि स्वीकृता एव द्रष्टव्याः । एवं च सर्वाकाशप्रदेशानां यावन्तः सर्वेऽपि पर्यायाः सर्वद्रव्यपर्यायाश्च तावदेकस्थाक्षरस्य पर्यायमानं १५ भवति । अथ किमिति सर्वाकाशप्रदेशानां सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तगुणसुक्तम् ? उच्यते—यत एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे अभन्ता अगुरुलघुपर्यायाः सन्ति अत इदमुक्तम् । अयमर्थः—इह निश्चयनयमतेन बादरं वस्तु सर्वमपि गुरुलघु, सूक्ष्मं त्वगुरुलघु, तत्रागुरुलघुवस्तु-सम्बन्धिनः पर्याया अप्यगुरुलघुः समयेऽभिधीयन्ते, आकाशप्रदेशाश्चागुरुलघुवोऽत्स्तत्पर्याया अप्यगुरुलघुवो भण्यन्ते, ते चाऽकाशप्रदेशेषु प्रत्येकमनन्ताः सन्ति अतस्तैरनन्तगुणसुक्तम् । पं. ९. अथेदं सर्वद्रव्य-पर्यायपरिमाणाक्षरं कीदृशम् ? इत्याह-इह चेत्यादि, न क्षरति—न चलत्यनुपयोगेऽपि न प्रच्यवत इत्यक्षरम्, स च चेतनाभावः, जीवस्य ज्ञानपरिणाम इत्यर्थः १ । तज्ज्ञेय-२० मिति तस्य-ज्ञानस्य हेयं—घट-व्योमादि तज्ज्ञेयम्, सामिलापज्ञानविषयभूतधटाद्यमिलाप्यार्थस्तुपं हेयमप्यक्षरमुच्यते । कथम् ? इति चेत्, यतो घट-व्योमाद्यमिलाप्यं द्रव्यार्थतया न क्षरति—स्वरूपान्न चलति नित्यत्वादित्यक्षरम् २ । तथा अकारादीन् अर्थान् अभिधेयान् क्षरति—संशब्दयतीति निरुक्तविधिना अर्थ-कारलोपादक्षरम्, ‘अकारादि’ वर्णस्तुपम्, वर्णश्च वर्णयते—प्रकाशयतेऽर्थोऽनेनाकार-ककारादिनेति वर्णः अकारादिरेव ३ । त्रिविधेऽप्यक्षरे गृह्यमाणेऽदोषोऽत्र । नन्वेतत् सर्वपर्यायपरिमाणाक्षरं किं सर्वमपि ज्ञानावरण-कर्मणा आव्रियते ? न वा ? इत्याह—अस्य चेत्यादि, अस्य च सामान्येनैव सर्वपर्यायपरिमाणाक्षरस्यानन्तभागः ‘नित्योदधाटितः’ २५ सर्वदैवानावृत एवाऽस्ते, केषाम् ? सर्वजीवानामपि, चकारात् केवलिवर्जनामिति दृश्यम्, तदक्षरस्य सर्वात्मनोदधाटात् । स च जघन्य-मध्यमोक्षाद्यभेदादनेकविधिः । पं. १०. तत्र सर्वजघन्यस्याक्षरानन्तभागस्य स्वरूपमाह—तत्रेत्यादि, सर्वजघन्यो-३० ऽक्षरानन्तभाग आत्मनो जीवत्वनिवन्धनं चैतन्यमात्रं उत्कृष्टावरणेऽपि सति जीवस्य कदाचिदपि नाऽविष्यते, जीवस्वाभाव्यात्, अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गात् । यथा सुष्ठूपि जलदच्छलार्क-चन्द्रप्रकाशो दिन-रात्रिविभागनिवन्धनं किञ्चित्प्रभामात्रकारि मेघेन नाऽविष्यते, एवं जीवस्यापि चैतन्यमात्रं कदापि नाऽविष्यते । केषां पुनरसौ सर्वजघन्यः प्राप्यते ? उच्यते—स्त्यानर्दिमहानिदोदय-सहितोक्षज्ञानावरणोदयादसौ सर्वजघन्योऽक्षरानन्तभागः पुथियादेकेन्द्रियाणां प्राप्यते, ततः क्रमविशुद्धया द्वीन्द्रियादीनामसौ क्रमेण क्रमेण वर्षते । अथोक्षो मध्यमश्चाक्षरानन्तभागः केषां भवति ? अत्रोच्यते—उत्कृष्टोऽसावुक्ष्माद्यश्रुतविदः स्यात्, सम्पूर्णश्रुत-ज्ञानस्य द्वादशाङ्गविद इति भावः । नवस्य कथमक्षरानन्तभागः ? यावता श्रुतज्ञानाक्षरं सम्पूर्णमप्यस्य प्राप्यत एव ? सत्यम्, किन्तु संलुलितसामान्यश्रुतकेवलाक्षरापेक्षयैव समस्तश्रुतविदोऽक्षरानन्तभागो विवक्षितः, सामान्ये चाक्षरे विवक्षिते केवलाक्षरापेक्षया

सम्पूर्णश्रुतविदोऽक्षरस्यानन्तभागवर्तिवं युज्यत एव, केवलज्ञानस्वपर्ययेभ्यः श्रुतज्ञानस्वपर्याणामनन्तभागवर्तिवात्, श्रुतज्ञानस्य परोक्षविषयत्वेनास्पष्टत्वाच्च । यच्च समुदितस्व-परपर्यायापेक्षया श्रुत-केवलाक्षरयोस्तुल्यत्वं तदिह न विवक्षितम् । विमध्यमाक्षरानन्त-भागश्चोऽकृष्टश्रुतज्ञानविदः सकाशादवशेषाणां पृथिव्यादेकेन्द्रिय-सम्पूर्णश्रुतज्ञानिनोर्मध्ये वर्तमानानामनन्तभागादिष्टस्थानपतितानां प्रायेणासौ भवति । प्रायोग्रहणाद् विवक्षितादेकस्मादुक्तष्टश्रुतज्ञानिनोवशेषाणामपि केषाच्चिदुक्तष्टश्रुतज्ञानवतां ततुल्य एवाक्षरा-नन्तभागो भवति, उक्तष्ट इत्यर्थः, न तु विमध्यमः । ‘त्रिविदेऽप्यक्षरे गृह्णामणेऽविरोधः’ इत्युक्तम् । ‘अक्षरस्य चानन्तभागः सर्व-जघन्यश्वैतन्यमात्रम्, स च पृथिव्यादेकेन्द्रियादीनामसंज्ञि-संज्ञिभेदानां सर्वजीवानामपि च सर्वदैवानावृत एवाऽस्ते’ इति चोक्तम् । ‘अपर्यवसितश्रुताधिकारादकारादेव चाक्षरं न्यायानुपातिः’ इति चोक्तम् । अत्राऽच्छेषे—पुरुष-ली-नपुंसक-घट-पटादिवर्णविज्ञानरूपो-ऽक्षरलाभः ‘संज्ञिनां’ समनस्कजीवानां भवतु, एतत् श्रहम्भवे, ‘असंज्ञिनां तु’ अमनस्कानां वर्णविज्ञानरूपोऽसौ न युज्यते; अक्षरलाभस्य परोपदेशज्ञवात्, मनोविकलानां तु तदसम्भवात्; न च वाच्यम् ‘मा भवत्वसौ तेषाम्’ इति, यतोऽसावेकेन्द्रियाद्यसंज्ञिनामपि वर्णविज्ञानाक्षरलाभोऽभिहितः; श्रुतज्ञानाक्षरस्य तेषामपि श्रुते भणनात्; तदेतत् कथमुपपदते ? । अत्रोच्यते—यथा ‘चैतन्यं’ जीवत्व- 10 मकृत्रिममाहारादिसंज्ञाद्वरेणासंज्ञिनामवगम्यते तथा लब्ध्यक्षरात्मकमहाज्ञानमपि तेषामवगन्तव्यम्, स्तोकव्वेनास्पष्टत्वात् स्थूलदर्शि-भिस्तद्वृहज्ञानं नोपलक्षयते, पृथिव्यादेकेन्द्रियाणां जीवत्वमिव । यदपि परोपदेशज्ञवमक्षरस्योच्यते तदपि संज्ञा-न्यज्ञनाक्षरयोरवसेयम् । लब्ध्यक्षरं तु क्षयोपशमेन्द्रियादिनिमित्तमसंज्ञिनां न विरुद्ध्यते, तदेव च श्रुतज्ञानाधिकारे मुख्यतः प्रस्तुतम्, न तु संज्ञान्यज्ञनाक्षरयोर । किञ्च गौरपि शब्दा-बहुलादिशब्देनाऽकारिता सती स्वनाम जानीते, ग्रवृत्ति-निवृत्यादि च कुर्वती दृश्यते । न चैषां गवादीनां तथाविधः परोपदेशः समस्तिः । अथ चाऽस्ति लब्ध्यक्षरम्, नरादिविज्ञानसद्वावात्, पुली-न्द्र-बाल-गोपालादीनामक्षरागामपि वा 15 यथा तदस्ति एवमसंज्ञिनामपि किमपि तदेष्टव्यम् । तदेवं साधितमेकेन्द्रियादीनामपि यच्च यावच्च लब्ध्यक्षरम्, इन्द्रिय-मनोनिमित्तं श्रुतप्रन्थानुसारि विज्ञानम्, श्रुतज्ञानोपयोग इत्यर्थः, यश्च तदावरणकर्मक्षयोपशामः, एतौ द्वावपि लब्ध्यक्षरमिति भावार्थः ।

पं. १६. अत्राहेत्यादि, ‘अत्र’ अस्मिन् प्रकृते नन्दिसूत्रे ‘अविशेषितं’ सामान्येनैव ‘अक्षरं’ ज्ञानसुक्तम्, अविशेषाभिधाने च केवलज्ञानस्य महत्वात् तदेवात्राक्षरं गम्यते, इह तु श्रुतज्ञानविचाराधिकारात् श्रुताक्षरमकारादेवाक्षरशब्दवाच्यतया प्रकृतम्, तद अकारादिश्रुताक्षरं कथं केवलपर्यायमानतुल्यं भवेत् ? न कथच्चिदित्यर्थः; अयमभिप्रायः—केवलस्य सर्वद्व्यपर्यायवेचूत्वाद् भवतु 20 सर्वद्व्यपर्यायमानता, श्रुतस्य तदेनन्तभागविषयत्वात् कथं तत्पर्यायमानतुल्यता ? इति । अत्रोच्यते—नन्यत्रापि “अक्षर सन्ती सम्मं साईंयं खलु” इयादिप्रक्रमेऽपर्यवसितश्रुते विचार्यमाणे “सञ्चागासपएसगं” [सूत्र ७६] इत्यादिसूत्रस्य पाठात् श्रुताधिकाराद-क्षरमकारादेवात्र गम्यते, न तु केवलाक्षरम् । पं. १८. अथ ब्रूषे—“सञ्चजीवाणं पि य ण”मित्यादिद्वितीयसूत्रात् केवलाक्षरं प्रथमसूत्रे गम्यते, न तु श्रुताक्षरम्, श्रुताक्षरपक्षे हि सकलद्वादशाङ्गविदां सम्पूर्णस्यापि श्रुताक्षरस्य उद्घाटसद्वावात् ‘सर्वजीवा-श्रितोऽक्षरस्यानन्तभागो नित्योदधाटः’ इति नोपपदते । पं. २०. अत्रोर्थे यदेवमित्यादिना सूरित्रौते—हन्त ! एवं सति 25 केवलाक्षरमपि तत्र नोपपदते, केवलिनां सम्पूर्णस्यापि केवलाक्षरस्य सद्वावात् ‘सर्वजीवानामक्षरस्यानन्तभागो नित्योदधाटः’ इत्य-स्यार्थस्यानुपपत्तिरेव, न अतस्तदिति, तत् सूत्रोक्तं केवलाक्षरमपि नोपपदते इत्यर्थः । अथ मनुषे—तत्राविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणाद् अपिशब्दाद्वा केवलिनो विहायान्येषामेवाक्षरस्यानन्तभागो नित्योदधाट इति केवलाक्षरग्रहणोऽविरोधः, हन्त ! तदेतच्छ्रुताक्षरग्रहणेऽपि समानम्, यतस्तत्राविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणाद् अपिशब्दाद्वा समस्तद्वादशाङ्गविदो विहायान्येषामेवास्मदादीनामक्षरस्यानन्तभागो नित्योदधाट इतीहापि शक्यत एव वकुम् । यस्मात् प्राक्तनसूत्रे केवलाक्षरम्, द्वितीये चाऽकार- 30 राद्यक्षरमपि च भवतु, न कथित् दाषः । पं. २३. न च श्रुताक्षरस्य सर्वद्व्यपर्यायपरिमाणता विरुद्ध्यते इति वाच्यम्, स्व-परपर्यायमेदादुभयस्यापि तदुपपत्तेः । उभयं श्रुताक्षरं केवलाक्षरं चेत्यर्थः । तथाऽप्यत्रेत्यादि, ‘तत् पुनः’ अकाराद्यक्षरमेकैकमप्य-

नन्तपर्यायम् । इदमुक्तं भवति—इह समस्तत्रिभुवनवर्तीनि यानि परमाणु-द्वयुक्तादीनि, एकाकाशप्रदेशादीनि च यानि द्रव्याणि, ये च सर्वेऽपि वर्णस्तदभिधेयाश्चार्थाः, तेषां सर्वेषामपि पिण्डितो यः पर्यायराशिर्भवति स एकैकस्याप्यकाराद्यक्षरस्य भवति, पिण्डित-राशिर्भव्ये छाकारस्य केचित् स्तोकाः स्वपर्यायाः, ते चानन्ताः, शेषास्त्वनन्तानन्तपुणाः परपर्याया इत्येवं सर्वसङ्ग्रहः । अर्थं च सर्वोऽपि सर्वद्रव्यपर्यायराशिः सद्ग्रावतोऽनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया किल लक्षम्, पदार्थाश्चाकारेकारादयो धर्मस्तिकायादयः ५ सर्वाकाशप्रदेशसहिताः सर्वेऽपि किल सहस्रम्, तत्रैकस्याकारपदार्थस्य सर्वद्रव्यगतलक्षणपर्यायराशिमव्यादस्तित्वेन सम्बद्धाः किल शतप्रमाणाः स्वपर्यायाः, शेषास्तु नास्तित्वेन सम्बद्धाः सर्वेऽपि परपर्यायाः । एवमिकारादेः परमाणु-द्वयुक्तादेश्चैकैकद्रव्यस्य वाच्यम् । पं. २५. आह—के पुनः स्वपर्यायाः ? के च परपर्यायाः ? यद्वेनानन्तपर्यायिता स्यादिति दर्शयति—उदात्ता-उनुदातेत्यादिना । पं. २६. एवं यावत इति यानुदात्ता-उनुदात्ता-सानुनासिक-निरनुनासिकादीनामगतान् पर्यायान् ‘केवलः’ अन्यवर्णेनासंयुक्तोऽन्यवर्णसहितो वा [अकारो] ‘लभते’ अनुभवति ते तस्य स्वपर्यायाः प्रोच्यन्ते, अस्तित्वेन १० सम्बद्धत्वात्, ते चानन्ताः, तद्राच्यस्य विष्णुपरमाणवादिद्रव्यस्यानन्तत्वात् । यस्मात् सङ्घचेयानाम्यक्षराणामभिधेयं पञ्चास्ति-कायगोचरमन्योन्यविलक्षणमनन्तम् । तथाहि—परमाणोः प्रारम्भ्य क्रमशः प्रदेशवृद्ध्या पुद्गलस्तिकायेऽपि सर्वदैवानन्तानि भिन्नरूपाणि द्रव्याणि प्राप्यन्ते, भिन्नाभिधानानि चैतानि । यथा—परमाणुः द्वयुक्तः द्वयुक्तः चतुरणुको यावदनन्तप्रदेशिक इति । प्रत्येकं चातेकाभिधानान्येतानि, तथथा—अणुः परमाणुः निरंशो निर्भेदो निरवयवो निष्प्रदेशोऽप्रदेश इत्यादि । तथा द्वयुक्तो द्विप्रदेशिको द्विभेदो द्वयवयव इत्यादि सर्वद्रव्य-पर्यायिष्वायोजनीयम् । पं. २७. यतोऽभिधेयमनन्तं १५ भिन्नरूपं भिन्नाभिधानं च तेन यत्परिमाणमभिधेयं तत्परिमाणमभिधानमपि भवति, अभिधेयभेदेनाभिधानस्यापि भेदात् । न हि येनैव स्वरूपेण घटादिशब्देऽकारादिवर्णाः संयुक्तास्तेनैव स्वरूपेण पठादिशब्देऽपि, अभिधेयैकत्वप्रसङ्गसङ्गात्, एकरूपशब्दभिधेयत्वाद् घटतस्वरूपविदिति, अतोऽभिधेयाऽनन्त्यादभिधानाऽनन्त्यभित्येनमर्थं वकुमाह अभिलाप्येत्यादिना । पं. २९. साङ्केतिकेत्यादि, शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः साङ्केतिक एव, पृथुबुध्नोदराकारे द्वयं घटशब्दः सङ्केतितो व्यवहाराय, न पुनस्त्वात्त्विकः शब्दस्य कश्चिन्निजाभिधेयोऽर्थः समस्ति, एवं कुटादिष्वपीति, एतत् साङ्केतिकशब्दार्थवादिमतम् । तदेतदयुक्तम्, घटः कुटः २० कुम्भं हृत्यादयो हि शब्दा भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताः भिन्नार्थगोचराः । तथाहि—घटनाद् घटः, विशिष्टचेष्टावानथो घटः; तथा “कुट कौटिल्ये” कुटनात् कुटः, कौटिल्ययोगात् कुटः, “उभ उम्भ पूरणे” कौ उम्भनात् कुस्थितपूरणात् कुम्भः निपातनादिति । एवं निजाभिधेयमर्थं प्रतिपादयतां शब्दानां वाच्य-वाचकभावः शब्दार्थयोरस्ति सम्बन्धः, न तु सङ्केतमात्रम् । शेषास्त्वत्यादि, शेषास्त्विकारादिसम्बन्धिनो घटादिगताश्चास्य परपर्यायाः, तेषां तत्राभावात् तेभ्यो व्यावृत्ततया नास्तित्वेन सम्बन्धात् । एव-मिकारादीनामपि भावनीयम् । इदमुक्तं भवति—अकारेकाराद्यक्षरेष्व घटादिपर्याया अस्तित्वेन न सम्बद्धा इति तेषां परपर्यायव्यपदेशः, २५ यतो घटादिपर्याया अस्तित्वेन घटादिवेव सम्बद्धा इत्यक्षरस्य ते परपर्यायाः, केवलमक्षरव्यावृत्तेन रूपेण तेऽपि सम्बद्धा एव, इत्यतस्तेषामपि परपर्यायाणां व्यावृत्तरूपतया पारमार्थिकं स्व-परपर्यायत्वं न विरुद्ध्यते । द्विविधं हि वस्तुनः स्वरूपम्—अस्तित्वं नास्तित्वं च, ततो ये यत्रास्तित्वेन प्रतिबद्धास्ते तस्य वस्तुनः स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तित्वेन सम्बद्धास्ते तस्य परपर्यायाः प्रतिपादयन्ते, अतोऽक्षरेष्व घटादिपर्याया अस्तित्वेन न सम्बद्धा इति परपर्याया उच्यन्ते, न पुनः सर्वथा ते तत्र न सम्बद्धाः, नास्तित्वेन तत्रापि सम्बन्धात् ।

[पृष्ठ ६९]

पं. १. आहेत्यादि, ये घटादीनां पर्यायास्ते कथं ‘तस्येति अक्षरस्य सत्का भवन्ति ? तेषामक्षरेऽसम्बद्धत्वादिति पराशयः । अत्रोच्यते—देवदत्तस्वधनवदक्षरेऽसम्बद्धा अपि घटादिपर्याया अक्षरस्य पर्याया भवन्ति । कुतः ? इत्याह— पं. २. स्वपर्याय-विशेषणोपयोगात् स्वपर्यायाणां विशेषणे-विशेषव्यवस्थापक्त्वेन परपर्यायाणामप्युपयोगात्, परपर्याया अप्यक्षरस्योपयुज्यन्त

इत्यर्थः । पं. ४. तानन्तरेणोत्यादि, नहि परपर्यायेष्वसत्तु स्वपर्यायाः केचिद् भेदेन सिध्यन्ति, स्व-परशब्दयोरपेक्षिक-
त्वात्; अन्यथा तदक्षरं घटादिम्यो व्यावृत्तं न सिध्येत् । प्रयोगश्चापरोऽपि—घटादिपर्याया अप्यक्षरपर्यायाः, तत्र तेषामुपयुज्यमान-
त्वात् । इह यद् यस्योपयुज्यते तद् भेदवर्त्यपि तस्येति व्यपर्दिश्यते, यथा देवदत्तादेः स्वधनम्, उपयुज्यन्ते च स्वपर्यायविशेषण-
भावेन घटादिपर्याया अप्यक्षरस्य, अतस्ते तस्यापि भवन्ति । एवमक्षरपर्याया अपि घटादेवाच्याः । तथा वस्तुस्थित्याऽपि चेत्यादि-
ग्रन्थो भावितार्थं एव ।

पं. ८. “जे एं जाणइ” इत्यादि, एतदुक्तं भवति—‘एकं’ किमपि वस्तु सर्वैः स्व-परपर्यायैर्युक्तं ५
जानन्—अवबुद्ध्यमानः ‘सर्वं’ लोका-लोकातं वस्तु सर्वैः स्व-परपर्यायैर्युक्तं जानाति, सर्ववस्तुपरिज्ञानान्तरीयक्त्वादेकवस्तुज्ञानस्य ।
यश्च ‘सर्वं’ सर्वपर्यायोपेतं वस्तु जानाति स एकमपि सर्वपर्यायोपेतं जानात्येव, एकपरिज्ञानाविनाभावित्वात् सर्वपरिज्ञानस्येति । अतः
सर्वं सर्वपर्यायोपेतं वस्तु अजानानो नाऽकारस्तपमक्षरं ‘सर्वथा’ सर्वप्रकारैः सर्वपर्यायोपेतं जानाति । तस्माच्छेषसमस्तवस्तुपर्यायैः
परिज्ञातैरेव एकमक्षरं ज्ञायते, नान्यथेति भावः । अक्षरविचारस्येह प्रक्रान्तत्वादेकैकमक्षरं सर्वद्रव्यपर्यायरशिमानमुच्यते, अन्यथाऽ-
न्येषामपि परमाणु-द्रव्याणुक-घटादिद्रव्याणामिदमेव पर्यायमानं दृष्टव्यम्, एतद् वक्तुमाह—

पं. ११. ततश्चास्मात् द्वत्रादि- १०

त्वादि । पं. १५. असौ अनन्तभागो नित्योदधाटोऽकारादिश्रुताक्षरस्य तज्ज्ञानस्य वा दृष्टव्यः, न शेषज्ञानानामित्यर्थः ।

पं. १८. भिन्नेर्थजाते यत् सदशाक्षरालापकं तद् गमिकम् । असदृशं त्वगमिकम् । अन्यच्च गाथा-लोक-वेष्टकाधसदश-
पाठात्मकत्वादगमिकम् । पं. २४. अन्नादेत्यादि, अङ्गा-अङ्गप्रविष्टभेदद्रव्यस्य ग्राधान्यख्यापनार्थम् । पं. २७. गायदुगद्धं

तु इति, पूर्व-पश्चिमउरः-पृष्ठिरूपम् । पं. ३०. गणहरकय० गाहा, अङ्गा-अङ्गप्रविष्टश्रुतयोरिदं नानात्वम् । किम्? इत्याह—

गणधराः—गौतमस्वाम्यादयः तत्कृतं श्रुतं द्वादशाङ्गरूपमङ्गप्रविष्टमुच्यते । स्थविराः—भद्रबाहुस्वाम्यादयस्तैः ‘यत् कृतं’ १५
यद् दृष्टं श्रुतमावश्यकनिर्युक्त्यादिकं तद् ‘अङ्गबाह्यम्’ अनङ्गप्रविष्टमुच्यते । द्वितीयं भेदकारणमाह—निययमित्यादि, सर्व-
तीर्थकरतीर्थेषु ‘नियतं’ निश्चयभावि यत् श्रुतं तदङ्गप्रविष्टमुच्यते, द्वादशाङ्गमित्यर्थः । यत् पुनः ‘अनियतम्’ अनिश्चयभावि
प्रकीर्णकादिकं श्रुतं तदङ्गबाह्यं भणितम् । आह—ननु प्रथमं पूर्वाण्येवोपनिवन्नाति गणधर इत्यागमे श्रूयते, पूर्वकरणादेव चैतानि
पूर्वाण्यभिधीयन्ते, तेषु च निःशेषमपि वाङ्मयमवतरति, अतश्चतुर्दशपूर्वात्मकं द्वादशमेवाङ्गमस्तु, किं शेषाङ्गविरचनेन? अङ्गबाह्य-
श्रुतरचनेन वा? इति, अत्रोच्यते—यदपि दृष्टिवादे सर्वस्यापि वाङ्मयस्यावतारोऽस्ति तथापि दुर्मेधसां तदवधारणादयोग्यानां २०
मन्दमतीनां तथा श्रावकादीनां स्त्रीणां चानुग्रहार्थं विशेषश्रुतस्य पूर्वेभ्यो विभिन्नस्याङ्गबाह्य-शेषाङ्गरूपस्य विरचना कृतेति । स्त्रीणां
दृष्टिवादे अधिकार एव नास्ति । यदुक्तम्—

तुच्छा गारवबहुला चर्लिदिया दुष्कला धिर्देय । एएण कारणेण भूतावाओ य नो थीणं ॥१॥ ति

[विशेषा० गा० ५५२]

अशेषविशेषान्वितस्य समग्रवस्तुस्तोमस्य भूतस्य—सदभूतस्य वादः—भणनं यत्रासौ ‘भूतवादः’ दृष्टिवादोऽभिधीयते । दीर्घत्वं २५
तकारस्याऽर्थत्वात् ।

[पृष्ठ ७०]

पं. ९. सावज्ज० गाहा । सावधयोगविरतिरथार्थाधिकारः सामायिकस्य १ । जिनगणोत्कीर्तनं चतुर्विंशतिस्तत्वस्याधिकारः २ ।
गुणवतः प्रतिपत्तिर्वन्दनकर्त्यार्थाधिकारः ३ । स्वलितस्य निन्दा प्रतिक्रमणस्यार्थाधिकारः ४ । वणचिकित्साऽर्थाधिकारः कायो-
त्सर्गस्य ५ । गुणधारणा च प्रत्याख्यानस्यार्थाधिकारः ६ । इति गाथाक्षरार्थमात्रम् ॥ १५. यदिह दिवस-निशा- ३०
प्रथम-चरमपौरुषीलक्षण एव काले कालग्रहणपूर्वकं पठयते, नान्यत्र, तत् कालिकम् उत्तराध्ययनादि । यत्तु कालवेलामात्रवर्जी
शेषकालानियमेन पठयते तद् उत्कालिकम् आवश्यकादि । अन्यच्च तन्दुलविचारणादिग्रकीर्णकेषु स्वाध्यायप्रस्थापनं योगो-
त्स्थेपकायोत्सर्गश्च न क्रियते ।

[पृष्ठ ७१]

पं. १. महाकर्मेन्यनप्रभवशासाविष्यातशासौ दुःखानलक्ष्य तस्य ज्वालाकलापस्तेन परीतं-व्याप्तं संसारवासगृहं पश्यन् यत् क्रियानुष्ठानविमुख एवाऽस्ते सत्त्वः स प्रमाद इति योगः। पं. ९. जातौ इति जन्मनि। पं. १५. दद्वाऽप्यालोकमिति “मौ यौ पञ्चाऽशैर्वैश्वदेवीति नामा” [जयदेवचन्द्रः० अ० ६ सू० ३७] इति वैश्वदेवीदं छन्दः। आलोक्यते-ज्ञायतेऽनेतेयालोकः-मत्यादिज्ञानचतुष्यं छाव्यस्थिकम्, तं ‘दद्वा’ लब्ध्वाऽपि विश्रम्यः-विश्वासो न विदेयः, यदुत ‘लब्धं मया यछुव्यव्यम्’ इति ततो धर्मं प्रति मन्दादरो भवेयमिति। यतो हि तीरं नीताऽपि ‘आम्यते’ इतस्ततः प्रेर्यते व्याख्याट्यते वा नौर्वातेन। तथाहि-व्रह्मदत्तोऽत्र दद्वान्तः ‘नरेशः’ चक्री चित्रसम्भूतजन्मनि सम्भूतपर्याये वर्तमानः लब्ध्वा वैराग्यं संयमानुष्ठानहेतुं ‘प्रमादाद’ विषयव्यामूढचित्तेन निदानकरणाद् भ्रष्टयोगोऽजनि, ततः ‘व्यावृत्तः’ व्याख्याटितो धर्मात्। चित्रमनेकशो भण्यमानोऽपि चक्रिभवे वाऽनेकशः साधुना भण्यमानोऽपि धर्माद् भ्रष्टयोगोऽजनि इति प्रमादफलमिदम्। पं. २०. अङ्गलस्याष्टाकि-

१० त्यादि । तदुक्तम्—

अद्वैगसद्विभागा पद्दियहं अंगुलस्स वद्वदंति । उत्तरअयणम्भि पुणो ते चिय हायंति पद्दियहं ॥१॥ []

पं. २५. तत्राविशेषेऽपीति ज्ञानस्य सामान्यशिक्षणोऽपि अयं विशेषः-उयोतिषं च निमित्तं च तयोर्ज्ञानं सूरः प्रवाजनादिकर्ये उपयुक्यते इति तिथि-करणादि च ज्योतिष्कविषये ज्ञातव्यम् । तदन्यथा विवाहादिविषयव्यापारणे ‘दोषः’ आरम्भादिसमुक्तः ।

[पृष्ठ ७२]

पं. २. संलेखनाश्रुतमिति, संलिख्यतेऽनया देहा-ऽस्मादीति संलेखना, शरीराद्यपकर्षणरूपा संलेखना । सा च किल त्रिविधा—जघन्या घण्मासिकी १ मध्यमा संवत्सरग्रमाणा २ उक्तात्र तु द्वादशवर्षीरूपा ३ । सा चैवस्— पं. ४-५-६. चत्तारि० गाहा, नाइविगिद्वो य० गाहा, चास० गाहा । प्रथमं चत्वारि वर्षाणि यावद् ‘विचित्रं’ चतुर्थ-षष्ठा-७ष्ठम-दशम-द्वादशादिकं तपः करोति, पारणके च विकृतीर्गृह्णाति न वेत्यनियमः। अपराणि तु चत्वारि वर्षाणि तपस्तथैव विचित्रमेव करोति, पारणके तु सर्वथा विकृतिवर्जमस्त्रियं भुड्कते । अन्यतु संवत्सरद्विकं एकान्तरितमाचाम्लं विदधाति-चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारथति, पुनश्चतुर्थं २० कृत्वा आचाम्लेनैव पारथतीत्यर्थः, एवं पुनः पुनर्यावद् वर्षद्वयम् । एकादशस्य तु वर्षस्याऽवान् घण्मासान् ‘नातिविकृष्टं’ नातिगाढं तपः करोति, चतुर्थं वर्षं वा विधत्ते, नाष्टमादिकमित्यर्थः। पारणके तु ‘परिमितं’ किञ्चिद्दूनोदरतासम्पन्नमाचाम्लं करोति । अपरांस्तु घण्मासान् ‘विकृष्टम्’ अष्टम-दशम-द्वादशादिकं तपः करोति, पारणके त्वाचाम्लमूनोदरतया न करोति, किञ्चु प्रवेणेत्यर्थः । द्वादशं तु वर्षं कोटीसहितं निरन्तरमाचाम्लं करोतीत्यर्थः । चतुर्थं कृत्वा आचाम्लेन पारथति, पुनश्चतुर्थं विधायाऽवाम्लेनैव पारथतीत्यादीन्यपि मतान्तराणि द्वादशवर्षविषयाणि दृश्यन्ते । इह च भोजनं कुर्वन् प्रतिदिवसमूनोदरतां तावत् करोति यावदेकं कवलमाहा-२५ रथति, तमस्येकं द्वि-व्यादिसिक्षेन तावदाहारयति यावदेकमेव सिक्षं भुड्कते । अपरं चेह द्वादशवर्षस्य पर्यन्तवर्तिनश्चतुरो मासान् यावदेकान्तरिकेषु पारणकदिवसेषु सुचिरं तैलगण्डूष्मसौ मुखे धार्यते, ततः खेलमल्के भस्ममध्ये प्रक्षिप्य मुखमुष्णोदकेन शोधयति । यदि पुनस्तैलगण्डूष्मविधि न कार्यते तदा वायुना मुखमीलनसम्बवे पर्यन्तसमये नमस्कारमुच्चारयितुं न शक्नोति । तदेवमुकुष्ट-संलेखनानुसारेण जघन्य-मध्यमे अयि कार्ये । तदन्ते च भक्तप्रत्याख्यानादिमरणानामन्यतरत् ग्रतिपद्यते, अत एवाह-गिरिकिंदर-मित्यादि । पं. ११. गिलाणं किरियाईयं ति उत्थानादिक्रियाकरणासमर्थं ज्ञात्वा । पं. १२. [सञ्चदव्य]दायण-३० याए ति सर्वद्रव्यदर्शनेन । निच्छणस्स त्ति भक्ते विगततृष्णस्य । पं. २९. आवलिकाप्रविष्टेभ्य इतरविमानानि पुष्पावकीर्णकानि ।

[पृष्ठ ७३]

पं. ४. उवउत्ते समागे त्ति उपयुक्तः सन् अमणः ‘परिवर्तते’ गुणयति । पं. ७. ओवयइ त्ति आकाशाद् ‘अवपतति’ अवतरति अंतद्विष्ट त्ति ‘अन्तर्हितः’ आकाशस्थः । पं. ११. सिंगनाइयकज्जेसु त्ति, शृङ्गज्ञातेन तुल्यानि शृङ्गज्ञातीयानि,

तानि च तानि कार्याणि चेति विग्रहः । यथा गवि स्थितं शृङ्गं सर्वजनप्रकटं भवति, एवं यत् सर्वजनविदितं महदद्रुतं किञ्चिच्चैत्य-
गुरु-सञ्चादिविषयमनर्थरूपं प्रत्यनीकेन क्रियमाणं भवति तत् शृङ्गातीयमुच्यते इत्येके । शृङ्गानादितकार्यमित्यपरे, तत्र ताद्यो
कार्ये उत्पन्ने शृङ्गानादः—शृङ्गापूरणपूर्वकं सञ्चमिलनलक्षणः स सञ्चातो यत्र तच्च तत् कार्यं चेति व्याचक्षते । ज्ञातीयं शृङ्ग-
कार्यमुच्यते इति तात्पर्यम् । पं. १२. आमुरुमः रुषः, अत एव ‘अप्रसन्नलेश्यः’ अप्रशस्तचित्ताध्यवसायः । पं. १३.
सललियं ति सलीलं यथा भवति एवमागत्य स्वस्थाने निवसति । पं. २३. जाणि कर्पविमाणाणि ति देव्युपत्ति- ५
विषयाणीत्यर्थः ।

[पृष्ठ ७४]

पं. १३. अन्ने इत्यादि, उसभाईणं संधराणं ति जीवतामित्यर्थः । पं. १४. पवाहेण ति निर्वृतानां पुनरेकैक-
तीर्थं वहनि द्रष्टव्यानि । पं. २०. तच्छिष्यभाव इति शासनप्रणेतृतीर्थकरशिष्यभावः ग्रत्येकतुद्रानामप्यदुष्टः ।
पं. २१. अनियोगत (न तु नियोगत) इति न व्यवस्थामावेनेत्यर्थः । पं. २६. अन्नेषु प्रविष्टम्—अन्तर्गतमङ्गप्रविष्टुं १०
श्रुतमाचारादि ।

[पृष्ठ ७५]

पं. १०. बाह्याऽभ्यन्तरग्रन्थरहितानामिति, तत्र बाह्यः—धन-धान्यादिकः ग्रतीतः, अभ्यन्तरक्ष-मिथ्यात्वं नव नोकषायाः
क्रोधादिकषायचतुष्टयं चेति चतुर्दशविधः । पं. १७. इह च यत्रेत्यादि आचार-गोचर-विनयेत्यादौ सूत्रे । पं. २३.
निसंसंकिय० गाहा, ‘निःशङ्कितः’ निर्गतशङ्को जीवादिषु । ‘निःकाहितः’ निर्गतकाङ्क्षोऽन्यतीर्थिकमतेषु । ‘निर्विचिकित्सः’ निः- १५
सन्दिग्धोऽनुष्ठानफलं प्रति । अमूढदृष्टिः कुतीर्थिकविद्यादिदर्शनैः । ‘चः’ समुच्चये । एवं गुण-गुणिनोः कथञ्चिदभेदावेदनद्विरेण दर्शना-
चारमभिदधता तद्वदभिधानमुखेनाऽसाकुक्तः, अतस्तं गुणिनो भेदेनाप्याह—उपबूङ्गमुपबूङ्गा—गुणवत्सुतिरूपा । ‘स्थिरीकरणं’ धर्मं
चलाचलस्य स्थिरत्वापादनलक्षणम् । तथा ‘वासल्यं’ वसलमावः, साधर्मिकाणामाहारादिभिरुपष्टम्भकरणमित्यर्थः । तथा प्रकर्षण
भावना—जिनशासनमाहात्म्याविकरणरूपा । अष्टावर्षी दर्शनाचारा इत्यर्थः । पं. २५. प्रभावकानष्टावुद्दिष्टानाह—अइसेस०
गाहा, व्याख्या—अतिशेषा—अवस्थिज्ञानादयः, ते तैर्वा क्षद्रियस्याऽसावतिशेषार्दिः, भिन्ने वा पदे, तदन्तौ दृश्यौ १ । ‘आचार्वः’ २०
प्रावचनिकः २ । ‘वादी’ वादलविष्मान् ३ । ‘धर्मकथी’ धर्मकथालविष्मयुक्तः ४ । ‘क्षपकः’ विकृष्टतपःकर्ता ५ । ‘नैमित्किः’ सुनि-
श्चितातीतादिनिमित्तवेदी ६ । विदेव्युपलक्षणत्वाद् विद्यावान् ७ । ‘राज-गणसम्मता’ पृथिवीपति-महाजनादिबहुमताः, स्थानद्रव्यमिदं
एकं वा ८, अतिशेषद्वयंकविवक्षायाम् । ‘तीर्थं’ प्रवचनं स्वसमृद्धच्चा ‘प्रभावयन्ति’ मध्यस्थप्रागिनां बहुमानगोचरीकुर्वत्तीति
गाथार्थः ॥ पं. २८. प्रणिधानं—चित्तकाग्रता, तेन मनो-वाक्यायेषु योगेषु युक्तः—तन्निग्रहपरः । पं. ३२. न इहलोका-
दर्थमाजीवति तपसा यः सोऽनाजीवी ।

[पृष्ठ ७६]

पं. ७. ‘वेदाः’ छन्दोविशेषाः ‘एकार्थप्रतिवद्वचनसङ्कलिकर्त्यर्थः’ इत्यन्ये । पं. ९. द्रव्याधम्युपगमाः प्रतिपत्तयः,
मतान्तराणीत्यर्थः । सूत्रादर्थो गरीयान्, अत एव सूत्रधरार्दध्यधरः प्रधान इत्युच्यते । पं. ११. स्थापनामित्यादि, रचना-
पेक्षया तु द्वादशमङ्गं प्रथमम्, पूर्वगतस्य पूर्वं प्रवचनात् पूर्वं क्रियमाणत्वात् पूर्वाण्युच्यन्ते । स्थापनामधिकृत्य च आचारः प्रथम-
मङ्गम् । पं. १३. सत्थपरिक्षेत्यादिगाथायामत्र चतुर्थपादो महापरिक्षोवहाणमुयमिति वदयमाणव्याख्यानेनायमेवात्र ३०
पाठः । अन्यत्र च “उवहाणसुयं महयरिक्षे” ति पठयते तच्चैव नोपपद्यते, उदेशनकालसंख्याया विषट्नात्, महापरिक्षायास्तत्र
प्रथममुपादानात् पश्चादुपधानश्रुतस्येति । प्रथमश्रुतस्कन्धो नवाद्ययननिष्पत्तो भवति । पिंडेसणेत्यादिना द्वितीयश्रुतस्कन्धाद्य-
यनपोडशकम् । तत्र —

पं. १५. पिङ्गेसण १ सेजिररिया ३ भासजाया य ४ वर्थ ५ पाएसा ६ ।

उगगहपडिमा ७ सतेकसतया १४ भावण १५ विमुक्ती १६ ॥१॥

पं. १९. शस्त्रपरिज्ञादिषु पञ्चविशत्यव्ययनेषु क्रमेणैते उद्देशनकाला यथा—एवं सत्यपरिज्ञाए इत्यादिना कथयतीति ।

पं. २५. सत्त य छ चेत्यादिगाथापूर्वार्द्धेनाऽद्यश्रुतस्कन्धे कालः ५१, एकारेत्याद्यश्रुतरार्द्धेन द्वितीयश्रुतस्कन्धगोचरकालः ५४ अभिहिताः, सर्वे ८५ ।

पं. २७. जइ दो मुष्यकखंधा इत्यादि एवं विरुद्धादि ति, श्रुतस्कन्धद्वयादिके उच्यमने “नवबंभवेरमहृत्” ति एवं विरुद्धादि, यतोऽनेन एक एव श्रुतस्कन्धो नवाध्ययनात्मक आचारस्य प्राप्नोति ।

पं. २८. सूरिराह— एत्य चित्ति आचारनिर्युक्तावेत्कम् । तदेवाह— पं. २९. “हवह य सपंचचूलो” ति द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्च चूडाः । यदा आचारस्य यदम् चूडादिकं तत्सहितस्य श्रुतस्कन्धद्वयादिकं परिमाणमुच्यते, नवाध्ययनमयस्य चाषादशपदसहस्राण्येव परिमाणम् ।

[पृष्ठ ७७]

पं. ५. अण्टता पञ्जव ति, पर्यवा: पर्याया धर्मा इत्यर्थः, तेऽनन्ताः, एककस्याप्यकाराद्यक्षरस्य तदभिधेयस्य जीवादिवस्तुनः प्रत्येकमनन्तपर्यायत्वात् स्व-परभेदभिन्नत्वेन । पं. ६. त्रसाः परीत्ताः, नानन्ताः, एवंरूपत्वादेव तेषाम् । पं. ७. सासयकडेत्यादौ निकाइय ति निकाचिताः—प्रतिष्ठिता इत्यर्थः । पं. ९. भावाः पदार्थाः, अन्येऽप्यजीवादयः आधविज्ञंति ‘आह्यायन्ते’ सामान्य-विशेषाभ्यां कथ्यन्ते जिनोक्ता भावाः । पञ्चविज्ञंति प्रज्ञाप्यन्ते नामादिभेदतः । प्ररूप्यन्ते नामादिस्वरूपकथनेन, यथा “पर्यायानभिधेयं च नामे” यादि । दर्शयन्ते उपमामात्रतः, यथा गौत्तथा गवय इत्यादि । निद-१५ ईयन्ते हेतु-दृष्टान्तोपन्यासेन । उपदर्शयन्ते उपनय-निगमनाभ्यां सकलनयाभिग्रायतो वा । इत्थं सर्वत्र व्याख्या वाच्या ।

पं. २७. सूयगडेत्यादि रूढधोच्यते इति, सूत्रकृतशब्देन द्वितीयमेवाङ्गमुच्यते, नान्यत् । पं. २९. व्यूहं कृत्वेति तिरस्कारं विधाय ईश्वरकारणिन इति, तथा च पठ्यते—

अज्ञो जन्तुरनीराः स्यादात्मनः सुख-दुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् अभ्यं वा स्वर्गमेव वा ॥१॥ [] इति ।

[पृष्ठ ७८]

पं. १०. किया पूर्ववदिति ‘व्यूहं कृत्वे’त्यादिका । अनवस्थितस्येति क्षणिकत्वेनानवस्थितत्वम् । पं. २१. लघुत्वात् प्रक्रमस्येति, प्रक्रमः ‘लघुः’ अल्पाक्षरो यथा भवति तथा कार्यम्, मत्वर्थीयेन चाक्षराधिक्याद् गुरुः स्यात्, अतो मत्वर्थीयात् ‘प्रागेव’ आदित एव बहुवीहिणा अज्ञाना इति वक्तुमुचितम्, तदसत्, बहुवीहिणा हि अज्ञानिकशब्दवाच्योऽथो न प्रतीयते, किन्तु न ज्ञानं यस्येति ज्ञानाभाव एव ग्रतीयते, न चेदमिष्टम्, किन्तु नन्त्रा कुत्सार्थवृत्तिनाऽज्ञानमित्यविशिष्टं ज्ञानान्तरमेव प्रतीयते, कुत्सितत्वं च तस्य मिथ्यादर्शनसमन्वितत्वात्, अतो मत्वर्थीयोऽत्र युक्तः । पं. २२. यथा गौरस्वरवदरण्यमित्यत्र श्वापदविशेषो गौरस्वरः, तदुपेतमरण्यम् । अत्र जातिशब्दत्वाद् बहुवीहिणोक्तार्थवेऽपि मत्वर्थीयः प्रवृत्तः एवं प्रक्रतेऽपि ।

पं. २३. असञ्चित्यकृतः— अज्ञाततया कृतो जीवेन योऽसौ बन्धः तस्य वैफल्यादयः—विफलत्वादयः उदयपरिशाटादयः तेषां प्रतिपत्तिः सैव लक्षणं येषां ते तथा । पं. २५. सत्त्वमित्यादि एत एव सप्त सदादयः जैनमते स्यात्पदलाज्जिताः सप्तमङ्गीति व्यपदेश्या भवन्ति । सर्वे वस्तु सप्तमङ्गीत्यभावम् । ते चामी-स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया स्यादस्ति १ । परद्रव्याद्यपेक्षया स्यानास्ति २ । तथा कस्यचिदंशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् कस्यचित्वंशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया स्यादस्ति च नास्ति चेति ३ ।

पं. ३०. सदसतोरेव धर्मयोर्योगपदेनाभिधातुमशक्यत्वात् स्थादवक्तव्यम् ४ । तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षयाऽपरस्य तु सामस्तेन स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति चावक्तव्यं चेति ५ । तथैकांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षयाऽपरस्य तु यौगपदेन स्व-परद्रव्याद्यपेक्षया स्यानास्ति चावक्तव्यं चेति ६ । तथैकांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परद्रव्याद्यपेक्षयाऽपरस्य तु यौगपदेन स्व-परद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं चेति ७ । इयं सप्तमङ्गी । पं. २७. अज्ञानिकास्तु ‘को जानाति जीवः

सन् ?' इत्यादज्ञानवादाभ्युपगमपराः इत्यथावादित्वात् प्रतिक्षेपार्हाः । पं. ३१. अनवधृतम् अनियतं लिङ्गमाचारः
शाखां च येषां ते तथा । विनयप्रतिपत्तिरेव लक्षणं येषाम् । पं. ३२. अवमः लघुः । सूत्रे [पत्र ७७ पंक्ति ३०]
तेत्तीसं उद्देशणकालं ति—

चउ तिय चउरो दो दो एकारस चेव हुंति एगसरा । सत्तेव महज्जयणा एगसरा बीयमुयखंधे ॥१॥

[] सर्वे ३३ । ५

[पृष्ठ ७९]

पं. ५. ठाणद्वृत्रं सुगमम् । पं. ९. नवरम्—एक उत्तरो येषु द्वादिषु तानि एकोत्तराणि । पं. २५.
समवायद्वृत्रं सुगमम् । पं. २८. नवरम्—ठाणगमसयचिवडिद्याणं ति स्थानकशतं यावद् विवर्धितानाम् । पं.
२९. पल्लवग्ने समासिज्जइ ति पर्यवपरिमाणम्—अभिवेयादितद्वर्मसंख्यानम्, यथा—परित्ता तसा इत्यादि । पर्यङ्कः पल्यङ्कः
इत्यादिवत् पल्लवनिर्देशः प्राकृतत्वात् पर्यवशब्दस्यैव । यद्वा “पल्लवा इव पल्लवाः—अवयवास्तदग्रं—तत्परिमाणं ‘समासिज्जइ’ 15
प्रतिपादते” इति समवायाङ्गवृत्तौ व्याख्यातम् [पत्र ११३—२] ।

[पृष्ठ ८०]

पं. २४. केयं व्याख्येति, व्याख्यायन्ते जीवादयोऽर्थां यस्यां सा व्याख्या, पञ्चममङ्गं रुद्धया उच्यते । पं. १८.
सूत्रे एगे साइरेगेऽज्ञयणसह ति पदं चिरन्तनवाचनागम्यमिदम्, नेदानीम् । सम्प्रतिवाचनायामेकचत्वारिंशतसङ्क्षेपशतानि
सन्ति । शतशब्देन अध्ययनसंज्ञा । पं. २६. यद्वा ज्ञातानि च धर्मकथाश्च ज्ञाताधर्मकथाः । तद्वोगाद् ग्रन्थोऽपि तथोच्यते । 15
पदमसुयक्षेपे नायाणि एगूणवीसं । नायाणं नगराइ इत्यादिमूत्रम् । उद्यानानि पुष्प-फल-च्छ्रायोपगवृक्षोपशोभितानि ।
यद्वा यत्र वस्त्राद्यलङ्कृतदेहाः सन्निहिताशनादाहारा लोका येषु क्रीडन्ति तानि उद्यानानि । पं. २७. चैत्यानि व्यन्त-
रायतनानि । वनष्ठाः अनेकजातीयैरुत्तमैर्वृक्षैरुपशोभिताः । समवसरणानि तीर्थकरादीनां धर्मदेशनामूसयः । ऐहलौकिका
ऋद्धिविशेषाः अनेककोटीसङ्क्लिप्ताः इत्यादिसम्पद्विशेषाः, पारलौकिकाश्च स्वर्गादिसमृद्धिरूपाः । भोगपरित्यागाः व्रतप्रहणेन ।
प्रवर्जयापर्यायाः व्रतपरिपालनकालमानरूपाः ।

20

[पृष्ठ ८१]

पं. १. पाओवगमणाइ ति पादपोपगमाभिधानमनशनम्, तत्प्रतिपत्तयः । ग्रेत्य जिनधर्मप्रातिबोधिलाभः । पं.
२. भवापेक्षया अन्त्याश्च ताः क्रियाश्च अन्त्यक्रियाः, ताश्च शैलेश्यवस्थाद्या गृह्णन्त इति । एवं नगरादीन्याख्यायन्ते । पं.
१८. द्वितीयश्रुतस्कन्धवरूपमाह—विद्विष्यादि । तत्त्विसेसणविसिद्धेत्यादि ततश्चार्थाद्यिकारसमूहात्मकान्यव्ययनान्येव दश वर्गा
द्रष्टव्याः । पं. २३. इग्नीसं कोडिसयं० गाहा । अस्यानयनम्—५४००९ अनेन प्राचीनस्य गुणने ४८६० जातम्, 20
अस्य च पञ्चशतैर्गुणने २४३००००, अस्यापि पञ्चशतैर्गुणने १२१५०००००० आपन्नम् । एवं ठिए समाणे ति प्रथम-
श्रुतस्कन्धवक्तव्यतायां भणितायां अहिग्रयसुत्तस्स पत्थावो ति प्रथमश्रुतस्कन्धकथानकसङ्क्लिप्ताख्यानानन्तरं द्वितीयश्रुतस्कन्ध-
कथानकभेदप्ररूपणाय प्रस्तावः दसधर्मकहाणं वगेत्यादिकस्य ॥ तदेवाह— पं. २५. तं जहेत्यादि । पं. २८.
पणुवीसं कोडिसयं० गाहा । अस्य दशकस्य १० पञ्चशतगुणने ५०००, अस्यापि पञ्चभिः शतैर्गुणने २५०००००, अस्यापि
च पञ्चशतैर्गुणने १२५०००००० जातम् । “समलक्षणमतिगच्छन्ति” इति समलक्षणातिगानि ज्ञातानि यस्मात् सन्ति ततस्तानि 30
शोध्यन्ते इमाओ रासीउ ति १२५००००००० एतस्मादयं राशिः १२१५०००००० विशेष्यः ऊर्ध्वधोभावेन द्रावपि
विन्यस्य $\frac{१२५०००००००}{१२१५००००००}$ । ततो भवतीदं ३५०००००० सङ्क्लयानम् ॥

[पृष्ठ ८२]

पं. ७. उवासगदस ति दशाध्ययनात्मिका उपासकसमाचारगोचरा ग्रन्थपद्धतयः । अत्र श्रमणोपासकानामानन्द-कामदेवादीनां नगरादीन्यास्यायन्ते । पं. ९. सीलब्रव्येत्यादि, शीलव्रतानि-अणुव्रतानि, गुणः-गुणव्रतानि, विरमणानि-रागादिविरतयः, प्रत्याख्यानं-नमस्कारसहितादि, पौष्ट्रोपवासः-पर्वदिनोपवसनं आहारादित्यागस्त्रपः, एतेषां प्रतिपादनानि-५ प्रतिपत्तयः तान्यास्यायन्ते । “पडिमाउ” ति एकादशोपासकप्रतिमाः कायोत्सर्गा वा । ‘उपसर्गः’ देवतादिकृतोपद्रवाः । “पाओवगमणाइ” ति पादपोषगमनेनेव यदनशनं तदत्र ग्राह्यम्, न पुनः श्रावकाणां साक्षात् पादपोषगमनप्रतिपत्तिरस्ति, भक्त-परिज्ञयैव तन्मरणास्युपगमात् । यदुक्तम्—

सव्वा वि य अज्ञाओ सव्वे वि हु पढमसंवयणवज्ञा । सव्वे वि देसविरया पञ्चकखाणेण उ मरंति ॥१॥

[मरणसमाधि गा. ५४१]

१० प्रत्याख्यानं नाम भक्तपरिज्ञायते । पं. २३. अंतगडदशासुत्रं सुगमम् । पं. २५. नवरम् भोगपरि-भोगा इति पदम्, तत्र “परिहरणा होइ परिभोगो” [] ति वचनाद् भोगविषयः परिभोगः—परित्याग एवोच्यते ।

[पृष्ठ ८३]

पं. ११. अत्र सव्वाणि अज्ञायणाणि जुग्वमित्यादि, अध्ययनसमूहात्मके वगों यतो युगपदुदिश्यते, अतः सर्वाण्येकवर्गतानि युगपदुदिश्यन्ते ॥

१५ [पृष्ठ ८४]

पं. ४. पण्डावागरणाइ इत्यादि । प्रश्नानां च व्याकरणानां च योगात् प्रश्नव्याकरणानि तेऽविति, बहुवचनं बहुवात् स्यात् । अट्ठुत्तरमित्यादि, तत्राङ्गुष्ठ-बाहुप्रश्नादिका मन्त्रविद्या: प्रश्नाः । याः पुनर्विधिना जप्त्यमाना अपृष्टा एव शुभा-शुभं कथयत्येता अप्रश्नाः । तथा अङ्गुष्ठादिप्रश्नमावं तदभावं च प्रतीत्य या विद्याः शुभा-शुभं कथयन्ति ताः ‘प्रश्नाप्रश्ना’ उभयस्त्रपा हेयाः । तथाऽन्ये ‘दिव्याः विचित्रा विद्यातिशयाः’ स्तम्भ-स्तोभ-वशीकरण-विद्वेषीकरणोच्चाटनादयः अङ्गुष्ठक-बाहु-आदर्शकादि-२० सम्बन्धिनीभिः प्रश्नविद्याभिः अङ्गुष्ठादीनामावेशनात् शुभा-शुभं कथ्यते । ‘नाग-सुपर्णैः’ सह भवनपतिविशेषैः उपलक्षणात्माद् यक्षादिभिश्च सह साधकस्येति गम्यते ‘दिव्याः’ तात्त्विकाः ‘संवादाः’ शुभा-शुभमगताः संलापा आल्यायन्ते, नागादयोऽवतारिताः सृता वा सन्त आगत्य शुभा-शुभं कथयन्ति । पं. ९. नवरम्—यद्यपीहाध्ययनानां दशवाद् दैवोदेशनकाला भवन्ति, तथापि वाचनान्तरापेक्षया पञ्चत्वार्थिनिर्दिति सम्भाव्यते इति पण्यालीसमित्याच्यविरुद्धम् । पं. २०. फलविवाग इति, फलरूपो विपाकः फलविपाकः स आल्यायते ।

२५ [पृष्ठ ८५]

पं. १७. प्रायो व्यवच्छिन्नमिति, प्रायोग्रहणेन ग्रथमानुयोगमात्रस्यास्तित्वं तत्काले सूचयति ।

[पृष्ठ ८६]

पं. २३. उत्तरभेदयो तेयासीतिविहं ति, मूलभेदसप्तसु भव्यादावद्यस्य प्रत्येकं चतुर्दशभेदत्वात् २८, तृतीयादिशेष-भेदपञ्चकस्य प्रत्येकमेकादशभेदत्वात् ५३, सर्वभेदाः ८३ त्र्यशीतिर्मवन्ति ।

३० [पृष्ठ ८७]

पं. ६. नयचिंताए वि ति नयचिन्तायामपि । पं. २१. सुतं छिन्नं ति अपरनिरपेक्षम् । पं. ३०. चउरो बावीसाउ ति छिन्नच्छेदनय२२अच्छिन्नच्छेदनय२२त्रिकनय२२चतुर्षकनया२२भिप्रायतः चतसः ।

[पृष्ठ ८८]

पं. २५. सव्वेंसि आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए । सेसाहं अंगाहं एकारस आणुपुञ्चीए ॥१॥

[आचाराङ्गनि० गा० ८] इति सम्पूर्णगाथा ।

३५ किंतु सा ठवण ति स्थापनामाश्रित्य निर्युक्तावभिहितं प्रथमवम् । अक्षररचनया तु पूर्वं पूर्वीणि स्वयन्ते ।

[४८६]

पं. ८. अद्यमे कम्मप्पवायपुब्वे पयड-ठिड-अणुभाग-पएसाइएहिं ति एतत्स्वरूपं यथा—

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता, स्थितिः कालावधारणम् । [ए]तदसोऽनुभागः स्यात्, प्रदेशो ऽ(हं)शकल्पनम् ॥१॥

यहाँ—

ठिठ्ठिवंधु दलस्स ठिड्ड, पएसवंधो पएसगहणं जे । ताण रसो अणुभागो, तस्समुदाओ पगाइवंधो ॥१॥

5

[पञ्चसङ्क्रान्ति ग्रहण ४३२]

पं. १४. बारसमे अद्वे य पाणा वश्चिय ति, इन्द्रियादयः । पं. १६. तेरसमे छंद-क्रियाविहाणा य ति, पदविषयाणि तन्मध्या(?)शार्दूलादिरूपाणि छंदांसि क्रियाश्च-करोति-भवत्यादय एतासां विधानानि वर्ण्यन्त इति क्रियाविशालम् । [पत्र ८८ पंक्ति ४] उप्यायपुञ्जस्सणमित्यादि । नवरम्—‘वस्तु’ नियतार्थाधिकारप्रतिबद्धो ग्रन्थविशेषः, अस्ययनवत् । पं. २६. ‘समत्तमुयनाणिणो’ चउदसपुञ्वधरा । पं. २०. एकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगता वाक्यपद्धतयो गणिका उच्यन्ते ।

[४४९०]

पं. ५. दसारगंडिगुरुति दशाहीः—समुद्रविजयादयो दश वसुदेवान्ताः तत्प्रतिबद्धा गणिडका दशाहीगणिडकाः ।

पं. १५. आइच्चजसाईणमित्यादि । ऋषभनिर्वृतिप्राप्त्यनन्तरं क्रषभस्य पओप्पए आदित्ययशः प्रभृतीनां नरपतीनां सङ्घाचां सिद्धि-सर्वधर्मसिद्धिगमनविषयां सगरसुतानामप्रतः सुबुद्धिनामाऽमात्यः परिकथयति । पं. १६. नृपतीनां चतुर्दश लक्षाः सिद्धाः, एको लेखः सर्वधर्मे, एवमेकैकस्थाने पुरुषयुगान्यसङ्घचेयानि भवन्ति । तदनन्तरं चतुर्दश लक्षाः सिद्धाः द्वौ लक्षौ सर्वधर्मे, 15

१ अत्र ह्यानुलोम-प्रतिलोमसिद्धगणिकायुग्मे श्रीमलयगिरिसूरिविचितनन्दिसूत्रवृत्ति-श्रीदेवेन्द्रसूरिनिमित्सिद्धगणिकाप्रकरण-तदवचूरी-श्रीविनयविज्ञयोपाध्यायरचितलोकप्रकाशादिषु एक-द्वि-त्रि-चतु-पञ्च-यावत्तम्बाशत्संख्याः वर्तन्ते, न तु एकलक्ष-द्विलक्ष-त्रिलक्षादिकाः; यथा श्रीसहृदासगणिवाचकविहितष्टसुदेवद्विण्डीप्रथमखण्डान्तर्गतसिद्धगणिकायाः [पत्र ३०] श्रीजिनदास-गणिमहत्तरनिमित्तनन्दीसूत्रचूर्णिगतसिद्धगणिकायाः [पत्र ७८] श्रीहरिभद्रसूरिस्त्रितनन्दिसूत्रलघुवृत्तिगतसिद्धगणिकायाः [पत्र ९१] च आद्यानुलोम-प्रतिलोमसिद्धगणिकायन्त्रयुग्मे दृश्यन्ते। अत एव तदनुसारेण श्रीश्रीबन्द्राचार्यगांडः अत्राद्यानुलोम-प्रतिलोमसिद्धगणिकायुग्मे एकलक्ष-द्विलक्ष-त्रिलक्षादिव्याख्यानं कृतमस्ति।

अपि च- एतद्वयाख्यानमेदविषये एतदप्यवधेयमस्ति यत्- सिद्धगण्डिकास्वरूपवेदकोपरिनिर्दिष्टचूर्णि-वृत्त्यादिसर्वप्रन्थेषु सिद्धगण्डिका-स्वरूपावेदकोलिखितगाथाकदम्बकावलोकनेन केवलैक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-यात्रपञ्चाशतसंख्यान्तरितसिद्धि-सर्वार्थगमनप्रतीतिरेवोपजायते, न लक्षा-न्तरितप्रतीतिरिति । तथा वसुदेवहिण्डि-नन्दिचूर्णि-नन्दीलघुवृत्तिषु सिद्धगण्डिकास्वरूपवेदकगाथानां व्याख्यानं स्पष्टीकरणं वा छेष्टोऽपि न वर्तते, किन्तु गाथाभावावेदकानि यन्त्रकायेव केवल वर्तन्ते । तेषु च अन्तरितैक-द्विकादिस्थानेषु लक्षनिर्देश एव वर्तते । किञ्च-श्रीमलयगिरिनन्दीवृत्तौ सिद्धगण्डिकाप्रकरणे लोकप्रकाशे च चूर्णि-वृत्तिकृदायुलिखितसिद्धगण्डिकास्वरूपवेदकगाथानां व्याख्यानं यन्त्रकाणि चापि वर्तन्ते, तत्रान्तरितैक-द्विकादिसंख्यानिर्देश एव वर्तते, न लक्षनिर्देश इत्यत्र तात्त्विकनिर्णयविषये बहुश्रताः प्रमाणम् ।

अथ चात्र द्वितीयप्रतिलोमसिद्धगण्डिकाविषयेऽपि एतदवधानीयमस्ति, यत्-चूर्णि-लघुवृत्ति-बृहदवृत्ति-सिद्धदण्डकाप्रकरणावच्चूरी-लोकप्रकाशादिसर्वशब्देषु प्रतिलोमसिद्धगण्डिकायन्त्रं सुद्वित्स्वरूपमेवोपलभ्यते, किन्तु चूर्णिकृद-लघुवृत्तिरुद्धिखितप्रतिलोमसिद्धगण्डिकास्वरूपावेदकगाथासु तथा श्रीमलयगिरिबृत्ति-सिद्धदण्डकाप्रकरण-तदवच्चूरी-लोकप्रकाशेषु च “ततोऽनन्तरं (अनुलोमसिद्धगण्डिकासमाप्त्यनन्तरं) चतुर्दश लक्षा भरपतीनां निरन्तरं सर्वार्थसिद्धे एकः सिद्धौ, भूयश्चतुर्दश लक्षाः सर्वार्थे एकः सिद्धौ, एवं चतुर्दशलक्षान्तरित एकैकः सिद्धौ तावद् वक्तव्यो यावत् तेऽप्येकका असंख्येया भवन्ति” इत्यादि निर्दिष्टं वर्तते, किंचात्र निर्देशे अनुलोमगण्डिकाचरमपश्चाशत्सर्वार्थसिद्धानन्तरं प्रतिलोमसिद्धगण्डिकाप्रारम्भश्वेत् चतुर्दशलक्षसर्वार्थसिद्धेनैव क्रियेत तदा प्रतिलोमगण्डिकाप्रारम्भः सम्यक्या न प्रतीतिमायाति, एवमेव द्वितीयप्रतिलोमगण्डिकाचरमपश्चाशत्सिद्धगमनानन्तरं तृतीयसमसंख्यगण्डिकाप्रारम्भश्वेत् सिद्धिपदेनैव आयेत तत्रापि तृतीयगण्डिकाप्रारम्भो न सम्यक् प्रतीतिमायास्थिति हति यन्त्रकानुसारि व्याख्यानमेव सञ्ज्ञितमङ्गति । किन्तु तथाव्याख्याने

अत्रापि पुरुषयुगान्यसङ्घचेयान्यतिक्रान्तानि अनया रीत्या । नवरम्—एको य होइ सब्बटे इत्यादि, गाथासु सर्वत्र सञ्चटुशब्देन विजय-वैजयन्तादिकं विमानपञ्चकमणि ज्ञेयम्, न पुनर्मध्यवर्त्यैकम्, अन्यथा तस्य लक्ष्योजनप्रमाणतया कथमेतावन्तस्तत्र मान्ति ? त्रयस्तिशस्तागरोपमायुष्कवाच सर्वेषामपि च्यवनकालोऽपि न जटित्येवास्ति तेषाम् । न च मध्यवर्त्यैव रूढं सर्वार्थशब्देनेति वाच्यम्, इह विमानपञ्चकाधारस्य तप्रस्तटस्य सर्वार्थताम्ना रूढवादिति सर्वत्र गाथास्वनुत्तरविमानाधारः प्रस्तटो द्रष्टव्यः, तत्थ-५ विमानेषुपदन्ते देवा इति सम्प्रदायः, देवेन्द्रनरकेन्द्रकश्चले पञ्चोत्तरविमानप्रस्तटस्य सर्वार्थशब्देन भणनात् । तानि चासङ्घचेय-योजनकोटिप्रमाणानि सन्तीति न कञ्चिद् विरोधः । पं. २०. विवरीयं० गाहा । चोदस लक्खा सब्बटे एगो लक्खो सिद्धीए । एयाए परिवारीए ताव नेयं जाव सिद्धीए पञ्चास लक्खा, सब्बटे चोदस लक्खा ॥ पं. २३. चित्तंतरगंडिया तथो चउरो त्ति, प्रथमा एकाधिकोत्तरा । नवरम्—परस्परापेक्ष्या एकाधिकोत्तरत्वं वाच्यम्, अध-उपरिभावेन १ । द्वितीयायां गणिकायामप्यध उपरि च एकादिद्विकोत्तरत्वम् २ । तृतीयायामेकादित्युत्तरत्वमध उपरि च कार्यम् ३ । चतुर्थ्यां पंक्तिद्वयेन ऊर्ध्वा-उधोभावेन १० एकूणतीसं तिगा मंडेयव्वा, सा च ऋदिका द्वचादिविषमोत्तरा ४ । पं. २६. जाव असंखेज दो वि चि, ‘दे’ सिद्धि- सर्वार्थगमने असङ्घचेयपुरुषयुग्मपेण वाच्ये एकादिद्वित्युत्तरायां चित्रान्तरगणिकायाम् २ । तृतीयायामेकादित्युत्तरायां गणिकायामेकः शिवगतौ चत्वारः सर्वार्थं उत्पदन्ते । अनया रीत्या द्वावपि राशी एकादित्युत्तरस्वरूपेणासङ्घचेयपुरुषयुगानि यावद् भवतः ३ । पं. २८. ऋदिकायां द्वचादिविषमोत्तरायां चतुर्थगणिकायां सेसेसु इमो भवे खेवो ति राशिद्वयभावेन एकोनत्रिंश-१५ तसङ्घच्यस्थापितत्रिकेष्वादं विमुच्य शेषेष्वष्टाविंशतिसङ्घचेष्वयस्तनोपरितेषु त्रिकेष्वयं द्विकादिको वस्यमाणगाथात्रयोक्तोऽङ्गस्तेषुः कार्यः, ततोऽधस्तनत्रिकमध्ये द्विकेष्वेषे जाताः पञ्च १, उपरितनत्रिकमध्ये पञ्चेष्वेषे जाता अष्टौ २, अनया रीत्या सर्वं वाच्यम्, यावदेकत्रिंशसङ्घच्या (१ यावदष्टाविंशतिसङ्घच्या) धस्तनत्रिकस्य शतकेष्वेषे जातं १०३, उपरितनत्रिकस्य च मध्ये षड्विंशत्या क्षित्याऽत्येजाता एकोनत्रिंशत् । एवमियमाद्या गणिका विषमोत्तरा । अनया दिशा असङ्घच्या अन्या विषमोत्तरा ज्ञेयाः । परं सर्वस्यामप्यन्यस्यां गणिकायां प्ररूप्यमाणायां यद[न्यम]क्रस्थानं किञ्चित् प्राचीनायामागतं तदेकोनत्रिंशसङ्घचत्वाराः स्थाप्यम्, ततः प्रथमं स्थानं विमुच्य शेषासु एकोनत्रिंशस्वष्टाविंशतिसंख्यासु “दुग षण नवग”मित्यादि प्रागुक्तगाथात्रयोक्तो द्विकादिष्वप्रक्षेषः अध उपरि च २० प्रागरीत्या कार्यः । पञ्चाशलक्षाः सागरोपमकोटीनां किल ऊषभा-उजितयोरन्तरम्, एतावदन्तरे च प्रभूतकालस्वरूपे प्रभूत-सङ्घचेयासङ्घचेयसङ्घच्यानेन एतावन्तः सिद्धाः सर्वार्थं च गता इति सगरपुत्राणां सुबुद्धिर्जगाद् ।

चूर्णिकृदादिनिर्दिशा “विवरीयं सब्बटे चोदस लक्खा उ निब्बुतो एगो ।” इत्यादिगाथा सामान्यनिर्देशरूपैव प्रत्येतत्या, न कमावेदिकेति बोद्धव्यम् । यदप्यस्मिन् व्याख्याने श्रीमलयगिरिसूरि-श्रीदेवेन्द्रसूरि-श्रीविनयविजयोपाध्यादिव्याख्यानेन सह स्पष्ट एव विरोधस्तथापि तैरेव लिखितयन्त्रकेण सहानाहूतो विरोधोऽपि स्पष्ट एवेत्यपि विचार्यमस्ति ।

अपरं च-श्रीदेवेन्द्रसूरिसूत्रितचैत्यवन्दनभाष्यसत्कशीघर्मघोषसूरिविचितसंधाचारटीकायां रत्नसारकधारायां सिद्धगणिकायावर्णने सिद्धदण्डिकाप्रकरणगाथा एकोद्धताः सन्ति, तत्र सङ्घच्याचारवृत्तिरचनासमये तैः स्वगुहश्रीदेवेन्द्रसूरिसूत्रिता एव गाथा यथावद्दुहृताः किन्तु तद्वृत्तिपुनःप्रमाजनसमये उपर्युक्तगणिकान्त-प्रारम्भाप्रतीतिदोषमुद्भव्य यन्त्रकानुसारेण सिद्धदण्डिकाप्रकरणगतगाथायाः परावृत्तिः स्वव्याख्यायां कृताऽस्ति । सा चैवम्—

आइच्छजसाइ सिवे चउदस लक्खा उ, एगु सब्बटे । एवं जा इकिका असंख, इय दुग-तिगाई ति ॥

जा पञ्चासमसंखा १, तो सब्बटुम्म लक्खचउदसगं । एगो सिवे, तहेव य असंखा जाव पंणासं ॥

अत्र द्वितीयगाथायां “तो सब्बटुम्म लक्खा०” इत्यादिगाथापाठस्थाने श्रीधर्मघोषसूरिपादैः “तो सिवि इगु चउद लक्ख सब्बटे । पुण इगु सिवे तहेव य०” इति अतिसुसङ्गतपाठपरावृत्तिर्विहिताऽस्ति । यद्यपि जैसलमेह-पत्तनादिस्थितताडपत्रीयादिप्रतिष्ठ नास्तीय पाठपरावृत्तिः किन्तु स्तम्भतीर्थीयश्रीशान्तिनाथताडपत्रीयभाण्डागारे संशोधित-परिवर्धितादर्थे इयं सुसङ्गता पाठपरावृत्तिर्विषयत इति । प्रतिश्वेषं तदन्तः प्रतिपत्रं तथा स्थाने स्थाने नवीनपरिवर्धितानेकपत्रेषु पूजादिविषयकानेकमतमतान्तरचर्चायुक्तेन बृहदवृत्तिप्रतिष्ठा जाताऽस्ति, अतीवोपयोगिनी चाप्यस्ति ॥

[पृष्ठ ९३]

पं. ५. पणवीसुत्तराणि दो सयाणि ति, इहोत्पादादीनां विन्दुसारपर्यन्तानां चतुर्दशानां पूर्वाणां “दस चोदस अदृढ़दूरसेव बारस दुवे य वथूणि” । [सू. १०९ गा. ७९-८०] इत्यादिना प्राक् सूत्रोक्तगाथाद्येनाभिहितदशादिपञ्चविंशत्यन्तानामङ्गानां मीलने पञ्चविंशत्युत्तरशतद्वयं भवति । पं. ६. चउतीसं ति “चउ बारस अदृ य दस हवंति” [पंक्ति ४] इतिगाथोक्तचतुर्प्रमृतीनां मीलने ३४ भवति । पं. १२. इच्चेयमिम्न इत्यादि । पं. १६. अन्ये तु—५ धर्मापेक्षया अनन्ता भावाः प्रतिवस्त्वस्तित्वप्रतिबद्धाः, कोऽर्थः—एकस्यैव वस्तुनोऽनुवृत्तिरूपाः [भावाः] धर्मा अनन्ताः सन्ति, तदारम्भकाणामणूनामनन्तगुणकृणादिर्घर्मयुक्तवात् । अनन्ता अभावा प्रतिवस्तु नास्तित्वप्रतिबद्धाः, एकस्यापि वस्तुनस्यैलोक्यव्यावृत्तत्वादित्यभावानामनन्तत्वम् । पं. २३. सिद्धा अनन्ताः निषितार्था लोकान्तवर्तिनः । असिद्धास्तु संसारिणस्तेऽप्यनन्ताः, असिद्धसर्वजीवराशेः सिद्धास्यपेक्षया अमन्तगुणवस्यापनार्थमित्यर्थः ।

[पृष्ठ ९४]

पं. ५. उभयाज्ञया युनरिति सूत्रार्थोभवैर्विराध्य । पं. ६. अथवेत्यादि एतदिराधनयेति, आज्ञाऽकरणेनेत्यर्थः । पं. ९. वर्तमाने विशिष्टविराधका ये मनुष्यजीवास्तेषाम् । पं. १६. विइवइंसु ति व्यतिवजितवत्तः । पं. १७. प्रत्युपनस्त्रे व्यतिवजन्ति व्यतिक्रामन्ति । विइवइस्संति ‘व्यतिवजिष्यन्ति’ व्यतिक्रमिष्यन्तीर्थः ।

[पृष्ठ ९५]

पं. ११. श्रुतज्ञानी दत्तोपयोगः जानाति स्पष्टावभासिना श्रुतज्ञानेनावबुध्यते । पं. १२. मतिविशेषत इति, १५ तदुक्तम्—

अश्वरलंभेण समा ऊगऽहिया हुंति महिविसेषेण । ते वि य मईविसेसा सुयनागम्भंते जाण ॥१॥ [विशेषा. गा. १४३]

श्रुतज्ञानाश्रयास्ते इत्यर्थः ॥ पं. १८. आगमसत्थ० गाहा । पूर्वेषु विशारदाः विपश्चितो ‘धीरा’ वतानु-पालनस्थिराः श्रुतज्ञानस्य लाभं ‘ब्रुवते’ प्रतिपादयन्ति । किं तत्? इत्याह—“तं” ति तदेवाऽऽगमशास्त्रप्रहणम् । यत् किम्? इत्याह—यद् ‘बुद्धिगुणैः’ वस्यमाणस्वरूपैरष्टभिर्दृष्टं शास्त्रे इत्यक्षरयोजना । अयमर्थः—शिष्यते—शिष्यते बोध्यते प्राणी अनेनेति २० शास्त्रम्, तत्त्वाविशेषितं सामान्येन सर्वमपि मत्यादिज्ञानमुच्यते, सर्वेणापि ज्ञानेन जन्मनां बोधनात् । अतो विशेषे स्थापयितुमाह—आगमस्वरूपं शास्त्रमागमशास्त्रम्, श्रुतज्ञानमित्यर्थः, तस्य प्रहणं—गुरुसकाशादादानं तदेव श्रुतलाभं ब्रुवते, यद् बुद्धिगुणैरष्टभिः शास्त्रे दृष्टम्, नान्यदिति, वस्यमाणशुश्रूषादिगुणाष्टकमेषौ श्रुतज्ञानं ग्राद्यम् नान्ययेति तात्पर्यमिति गाथार्थः ॥ पं. २०. सुस्मृसङ्ग० गाहा । अथवा यद् यदाज्ञापयति कार्यजातं गुरुस्तत् तत् सम्यग्नुग्रहं मन्यमानः श्रोतुमिच्छति शुश्रूषते । पूर्वनिरूपितश्च कार्यकरणकाले पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति । इथं चाऽऽराधितस्य गुरुरन्तिके सूत्रं तदर्थं वा सम्यक् शृणोति । २५ श्रुतं चावग्रहणं गृह्णाति इत्यादि पूर्ववत् । यद्वा प्रतिपृष्ठेन गुरुणा पुनरादिष्टश्च सन् तद्रचः सम्यक् शृणोति । श्रुतं चाऽवग्रहणं सम्यग् गृह्णातीत्यादि तथैव, यावत् करोति च गुरुभणितं सम्यगिति । एवं गुर्वाराधनविषयत्वेनाष्टावपि गुणा व्याख्यायन्ते, श्रुतावासौ मूलोपायत्वाद् गुर्वाराधनाया इति गाथार्थः ॥

श्रीधनेश्वरसूरीणां पादपद्मोपजीविना । नन्दिवृत्तौ कृता व्याख्या श्रीमच्छ्रीचन्द्रसूरिणा ॥१॥

समाप्ता चेयं नन्दिध्ययनटीकायां श्रीश्रीलभद्र-प्रभुश्रीधनेश्वरसूरिशिष्य-

श्री-श्रीचन्द्रसूरिविरचिता दुर्गपदव्याख्या ॥

से च नंदी समत्तेति वचनादाचार्यपदस्थापनायामनुयोगानुज्ञाविषयेयं नन्दिरेताक्ष्यमागा समर्थितेति ॥

श्री-श्रीचन्द्रसूरिविनिर्मितटीकासमेता
लघुनन्दिः—अनुज्ञानन्दिः ।

इत ऊर्ध्वं से किं तमणुज्ञा हत्यादि प्रन्थपद्धतिर्या किलाऽपरा इत्यते सूत्रपुस्तके सा गणानुज्ञाविषया लघुनन्दिरिति
५ सम्भाव्यते, अतोऽस्या अपि गमनिका काचिदुच्यते—

१. से किं तं अणुण्णा ? अणुण्णा छटिवहा पण्णत्ता, तं जहा—नामाणुण्णा १ ठवणाणुण्णा २
दब्बाणुण्णा ३ खेत्ताणुण्णा ४ कालाणुण्णा ५ भावाणुण्णा ६ ।

१. तत्रानुज्ञानमनुज्ञा, ‘समर्पितं सम्भ्राति तव गण-शिष्य-वक्त्र-पत्रादिकं सर्वं मयेति तवाऽस्यत्तमिदं सर्वं सम्भ्राति’ इत्येवंरूपों
गुरुवचनविशेषोऽनुज्ञोच्यते । अनुज्ञायते वाऽनयेति ‘अनुज्ञा’ गुरुक्तिरेव । सेशर्वद्वैथशब्दार्थं, अथशब्दश्च वाक्योपन्यासार्थः ।
१० अथ किंरूपा साऽनुज्ञा ? अत्र प्रतिवचनम्—षट्विधा प्ररूपिता । तद्यथा नामाणुज्ञेत्यादि । नाम—अभिधानं तदूपाऽनुज्ञा
नामानुज्ञा, अनुज्ञेति नामैव नामानुज्ञेत्यर्थः । अथवा नाम्ना—नाममात्रेण अनुज्ञा नामानुज्ञा, जीवादीत्यर्थः ॥ नामानुज्ञास्वरूप-
निरूपणायाह—

२. से किं तं नामाणुण्णा ? २ जस्सं णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाणं वा अजीवाणं
वा तदुभयस्स वा तदुभयाणं वा अणुण्णा त्ति णामं कीरह । से त्तं पामाणुण्णा १ ।

१५ २. से किं तमित्यादि । अत्र द्विकल्पणेनाङ्केन द्वितीयमपि नामाणुज्ञा ति पदं सूचितं दृष्टव्यम्, एवमन्यत्रापि
यथासम्भवमन्यूद्यम् । एमिति वाक्यालङ्कारे । ‘यस्य’ जीवा—जीवादिवस्तुनोऽनुज्ञेति नाम क्रियते तदेव जीवादिकं वस्तु नामानुज्ञा,
‘नाम्ना—नाममात्रेणानुज्ञा नामानुज्ञा’ इति व्युत्पत्त्या । वाशब्दः पक्षान्तरसूचकः, तत्र जीवस्य गो-सुतादेः कश्चित् स्वाभिप्रायवशाद्
अणुज्ञ त्ति नाम करेति, एवं शेषेष्वपि, सेयं नामानुज्ञा १ ॥ इदानीं स्थापनानुज्ञोच्यते—

३. से किं तं ठवणाणुण्णा ? ठवणाणुण्णा जणां कटुकम्मे वा पोत्थकम्मे वा लेप्पकम्मे वा
२० चित्तकम्मे वा गंधिमे वा वेदिमे वा पूरिमे वा संघातिमे वा अक्खे वा वराडे वा एगे वा अणेगे
वा सद्भावद्वणाए वा असद्भावद्वणाए वा अणुण्णा त्ति ठवणा ठविज्जति । से त्तं ठवणाणुण्णा २ ।

३. से किं तमित्यादि । अथ केयं स्थापनानुज्ञा ? स्थापनानुज्ञा जणामित्यादि । तत्र स्थाप्यते—अमुकोऽयमित्यमिप्रायेण
क्रियते—निर्वर्त्यत इति स्थापना काष्ठकर्मादिगताऽनुज्ञानामकवस्थाकाररूपा, ततः स्थापना च सा अनुज्ञा च स्थापनानुज्ञा, यत्
साकारमनाकारं वा तदभिप्रायेण क्रियते सा स्थापनेत्यर्थः । जणां ति, ‘णं’ पूर्ववत् । यत् काष्ठकर्मणि चित्रकर्मणि वा यावद्
२५ वराटके वा एको वाऽनेके वा सद्गावस्थापनया वा असद्गावस्थापनया वा अणुज्ञा ति अनुज्ञा-तद्रत्तोरमेदोपचारात् तदानिह
गृहते ठवणा ठविज्जइ त्ति काष्ठकर्मादिषु स्थापनारूपः ‘स्थाप्यते’ क्रियते, आवृत्या बहुवचनान्तत्वे स्थापनारूपाः ‘स्थाप्यन्ते’
क्रियन्ते सेयं स्थापनानुज्ञेति आदिपदेन सम्बन्ध इति समुदायार्थः । अवयवार्थस्तु—क्रियत इति कर्म, काष्ठे कर्म काष्ठकर्म,
काष्ठनिकुट्टिरूपकर्मेत्यर्थः । पोत्थकम्मे व त्ति अत्र पोत्थं—पोत्तं वक्त्रमित्यर्थः तत्र कर्म—तत्यङ्गविनिष्पन्नं धीउल्लिकारूपमित्यर्थः,
अथवा पोत्थं—पुस्तकं तच्चेह सम्पुटकरूपं ग्राह्यम्, तत्र कर्म तन्मध्ये वर्तिकालिखितं रूपकमित्यर्थः, अथवा पोत्थं—ताडीपत्रादि
३० तत्र कर्म तच्छेदनिष्पन्नं रूपकम् । ‘लेप्पकर्म’ लेप्परूपकम् । ‘चित्रकर्म’ चित्रलिखितं रूपकम् । ‘ग्रन्थिमं’ कौशलातिशयाद्
ग्रन्थिसमुदायनिष्पादितरूपकम् । ‘वेष्टिमं’ पुष्पवेष्टनक्रमेण निष्पन्नरूपम्, यद्वा एकं द्वयादीनि वा वस्त्राणि वेष्टयन् कश्चिद् रूप-

कसुत्थापयति तद् वेष्टिमम् । ‘पूरिम्’ भरिम् पित्तलादिमयप्रतिमावत् । ‘सद्गतिम्’ बहुवक्षादिस्त्रणसद्गतिनिष्पन्नं कन्चुकवत् । ‘अक्षः’ चन्दनकः । ‘चराटकः’ कपर्दकः । वाशन्दा: पक्षान्तरसूचकाः । तत्र काष्ठकर्मादिष्वाकारवती सद्गावस्थापना, अनुज्ञावदाकारस्य तत्र सद्गावात् ; अक्षादिष्वनाकारवती असद्गावस्थापना, आकारस्य तत्रासद्गावात् । सेयं स्थापनानुज्ञा २ ॥

४. णाम-ठवणाणं को पतिविसेसो ? णामं आवकहियं, ठवणा इत्तिरिया वा होज्जा आवकहिया वा ।

४. नाम-स्थापनयोः कः प्रतिविशेषः ? न कश्चित्, तथा हि—यथा जीवादावर्थशून्ये द्रव्यमात्रेऽनुज्ञेति नाम क्रियते तथैव तच्छून्ये काष्ठकर्मादौ द्रव्यमात्रे स्थापनाऽपि क्रियते, अतोऽनुज्ञाशब्दार्थशून्ये द्रव्यमात्रे उभयोः क्रियमाणत्वान्नानयोः कश्चिद् विशेषः । अत्रोत्तरमाह—नामं आवकहियमित्यादि, नाम ‘आवक्तकिं’ स्वाश्रयद्रव्यस्यास्तिवक्रथां यावदनुवर्तते, न पुनरन्तराऽप्युपरमते । स्थापना पुनः ‘इत्वरा’ स्वल्पकालभाविनी वा स्याद् यावक्तकिका वा, स्वाश्रयद्रव्येऽवतिष्ठमानेऽपि काचिदन्तराऽपि निवर्तते, काचित्तु तत्सत्तां यावदवतिष्ठत इति भावः ॥ सम्प्रति द्रव्यानुज्ञाश्वाचित्यासया प्रश्नयति—

५. से किं तं दव्वाणुण्णा ? २ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—आगमतो य णोआगमतो य ।

५. से किं तमिति । अथ केयं द्रव्यानुज्ञा ? हन्त द्रव्यानुज्ञा द्विविधा प्रज्ञता, तद्यथा । नवरं द्रवति—गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं—विवक्षितयोरतीत-भविष्यद्वावयोः कारणम्, अनुभूतविवक्षितभावं अनुभविष्यद्विवक्षितभावं वा वस्त्वत्यर्थः, द्रव्यं च तदनुज्ञा च द्रव्यानुज्ञा, अनुभूतानुज्ञाशब्दार्थपरिणामं अनुभविष्यदनुज्ञाशब्दार्थपरिणामं वा देहादीत्यर्थः । द्रव्यलक्षणं च सामान्यत इदम्—

भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यष्टोके । तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥ १ ॥ []

प्रागेव व्याख्यातेयं नन्दिशब्दार्थप्रस्तावे [पत्र ९९] । तत्रागमतो नोआगमतथेति, आगमतोऽनुज्ञाशब्दार्थपरिज्ञानमेव, नोआगमतस्तु अनुज्ञाशब्दार्थपरिज्ञानरहितता ॥

६. से किं तं आगमतो दव्वाणुण्णा ? आगमतो दव्वाणुण्णा जस्स सं अणुण्ण त्ति पदं सिविखयं ठितं जितं मितं परिजितं णामसमं घोससमं अहीणक्तवरं अणच्चक्तवरं अेवाइद्वक्तवरं २० अखलियं अभिलियं अविच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोद्विष्पमुक्तं गुरुवायणोवगयं । से सं तत्थ वायुण्णाए पुच्छणाए परियद्वणाए धम्मकहाए, नो अणुप्पेहाए, कम्हा ? “अणुवओगो दव्व”मिति कहु । णेगमस्स एगे अणुवउत्ते आगमतो एगा दव्वाणुण्णा, दोणिण अणुवउत्ता आगमतो दोणिण दव्वाणुण्णाओ, एवं जावतिया अणुवउत्ता तावतियाओ दव्वाणुण्णा । एवमेव बबहारस्स वि । संगहस्स एगो वा अणेगो वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्ता वा दव्वाणुण्णा दव्वाणु- २५ ण्णाओ वा सा एगा दव्वाणुण्णा । उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते आगमतो एगा दव्वाणुण्णा पुहत्तं नेच्छह । तिष्ठं सद्दणयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थू, कम्हा ? जति जाणए अणुवउत्ते ण भवति । से त्तं आगमतो दव्वाणुण्णा ।

७. अथ केयमागमतो द्रव्यानुज्ञा ? अत्रोत्तरम्—आगमतो द्रव्यानुज्ञा जस्स णमित्यादि । णं वाक्यालङ्कारे, ‘यस्य’ कस्यचिदनुज्ञापदं अनुज्ञापदविषया व्युत्पत्तिरित्यर्थः, शिक्षितं जितं यावद् वाचनोपगतं भवति । ‘सः’ जन्तुः ‘तत्र’ अनुज्ञापदेऽनु- ३० प्रेक्षावर्जशेषवाचनादिभिर्वर्तमानोऽप्यनुज्ञापदाथोपयोगेऽवर्तमानः ‘आगमतः’ आगममात्रिय द्रव्यानुज्ञेति समुदायार्थः ।

१ अव्वाइद्व इति पाठान्तर ईकायां निष्ठहितं व्यरख्यातं च ॥

तत्रादित आरम्भ्य पठनक्रियया यदन्तं नीतं तच्छिक्षितमुच्यते । इहानुज्ञापदस्य प्रकृतव्येऽपि तदितशास्त्रविषये शिक्षितादि-
पदानामर्थो व्याख्येयः; तदनुसारेणानुज्ञापदेऽपि तथा योज्यः । ठियं ति पठनक्रियया यदन्तं नीतं तदेवाविस्मरणतश्चेतसि स्थितत्वात्
स्थितम्, अप्रच्युतमित्यर्थः । परावर्तीनं कुर्वतः परेण वा कचित् पृष्टस्य यच्छीप्रमागच्छति तज्जितम् । विज्ञातश्लोक-पद-वर्णादिसङ्घचं
मितम् । परि-समन्तात् सर्वप्रकारैर्जितं-परावर्तीनं कुर्वतो यत् क्रमेणोत्क्रमेण वा समागच्छतीत्यर्थः । नाम-अभिवानं तेन समं
5 नामसमम् । इदमुक्तं भवति—यथा स्वनाम कस्यचिच्छिक्षितं स्थितं जितं मितं परिजितं भवति तथैतदपीत्यर्थः । धोषाः—उदात्ता-
दयस्तैर्वाचनाचार्याभिहितधोषैः समं धोषसमम्, यथा गुरुगा अभिहिता धोषास्तथा शिष्योऽपि यत्र शिक्षते तद् धोषसमिति
भावः । एक-द्वयादिभिरक्षरैर्हीनं हीनाक्षरम्, न तथा अहीनाक्षरम् । एकादिभिरक्षरैरधिकमत्यक्षरम्, न तथा अनत्यक्षरम् ।
अव्याइद्धक्षरं ति विपर्यस्तरत्नमालागतरत्नानीव व्याविद्वानि—विपर्यस्तान्यक्षराणि यत्र तद् व्याविद्वाक्षरम्, [न तथा
अव्याविद्वाक्षरम्] । अव्याइद्धमिति क्वचित् पाठः; तत्रापि व्याविद्वाक्षरयोगाद् व्याविद्वम्, न तथा अव्याविद्वम् । उपलशक्ला-
10 चाकुलभूमागे लाङ्गलमिव स्वलति यत् तत् स्वलितम् । अनेकशास्त्रसम्बन्धीनि सूत्राण्येकत्र मीलयित्वा यत्र
पठति तद् मिलितम्, असद्विधान्यमेलकवत्, अथवा परावर्तीमानस्य यत्र पदादिविच्छेदो न ग्रतीयते तद् मिलितम्, न तथाऽ-
मिलितम् । एकस्मिन्नेव शास्त्रेऽन्यान्यस्थाननिवद्वानि एकार्थानि सूत्राण्येकत्र स्थाने समानीय पठतो व्यत्याप्रेडितम्, अथवा
आचारादिसूत्रमध्ये स्वमतिचर्चितानि तत्सद्विद्वानि सूत्राणि कृत्वा प्रक्षिपतो व्यत्याप्रेडितम्, अस्थानविरतिकं वा व्यत्याप्रेडितम्,
न तथाऽन्यत्याप्रेडितम् । सूत्रो बिन्दु-मात्रादिभिरन्यूनर्थतस्वव्याहारा-ऽकाङ्क्षादिरहितं प्रतिपूर्णम् । उदात्तादिधोषैरविकलं प्रति-
15 पूर्णधोषम् । अत्राह—धोषसमित्युक्तमेव तत् क इह विशेषः? इति, उच्यते—धोषसमिति शिक्षाकालमधिकृत्योक्तम्, प्रतिपूर्णधोषं
तु परावर्तीनादिकालमधिकृत्येति विशेषः । कण्ठश्च ओष्ठश्च कण्ठोष्ठमिति, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारः, तेन विग्रमुक्तं कण्ठोष्ठविग्रमुक्तम्,
बाल-मूकमाषितवद् यदव्यक्तं न भवतीत्यर्थः । गुरुग्रदत्तया वाचनया उपगतं—प्रातं गुरुवाचनोपगतम्, न तु कर्णाघाटकेन
शिक्षितं न वा पुस्तकात् स्वयमेवाधीतमिति भावः । तदेवं यस्य जन्तोरनुज्ञेति पदं शिक्षितादिगुणोपेतं भवति स जन्मुः ‘तत्र’ पदे
‘वाचनया’ शिष्याध्यापनलक्षणया ‘प्रच्छनया’ अ[०]न्यवताथर्दिर्गुरुं प्रति प्रश्नलक्षणया ‘परावर्तीनया’ पुनः पुनः सूत्रार्थान्यास-
20 लक्षणया ‘धर्मकथया’ अहिंसादिधर्मप्ररूपणस्वरूपया वर्तमानोऽप्यनुपयुक्तत्वादिति साव्याहारमागमतो द्रव्यानुज्ञेत्यनेन सम्बन्धः ।
ननु यथा वाचनादिभिस्तत्र वर्तमानोऽपि द्रव्यानुज्ञा भवति तथाऽनुप्रेक्षयाऽपि तत्र वर्तमानः सा भवति? नेत्याह—नो
अणुप्पेहाए त्ति ‘अनुप्रेक्षया’ अर्थानुचिन्तनरूपया तत्र वर्तमानो न द्रव्यानुज्ञेत्यर्थः, अनुप्रेक्षया उपयोगमन्तरेणाभावादुपयुक्तस्य च
द्रव्यानुज्ञात्वायोगादिति भावः । अत्राह परः—कम्ह त्ति ननु कस्माद् वाचनादिभिस्तत्र वर्तमानोऽपि द्रव्यानुज्ञा? कस्माच्चानुप्रेक्षया
तत्र वर्तमानोऽपि न तथा? इति प्रच्छकाभिप्रायः । एवं पृष्टे सत्याह—अणुवओगो द्रव्यमिति कट्टु त्ति ‘अनुपयोगो द्रव्यमिति
25 कृत्वा’ उपयोजनमुपयोगः—जीवस्य बोधस्त्रो व्यापारः, स चेह विवक्षितर्थं चित्तस्य विनिवेशस्वरूपो गृह्यते, न विद्यते उपयोगो
यत्र सोऽनुपयोगः पदार्थः, स विवक्षितोपयोगस्य कारणमात्रत्वाद् द्रव्यमेव भवति ‘इति कृत्वा’ अस्मात् कारणादनन्तरोक्तमुपपदत
इति शेषः । एतदुक्तं भवति—उपयोगपूर्वका अनुपयोगपूर्वकाश्च वाचना-प्रच्छनादयः सम्भवन्येव, तत्रेह द्रव्यानुज्ञाचिन्ता-
प्रस्तावादनुपयोगपूर्वकाः गृह्यन्ते । इह जिनमते सर्वमपि सूत्रमर्थश्च श्रोतृजनमपेत्य नैवर्विचार्यते,

नत्थि नएहि विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि । आसज उ सोयारं नए नयविसारओ बूया ॥१॥ []

30 इति वचनात्, अत इयमपि द्रव्यानुज्ञा नैवश्रित्यते । ते च मूलमेदमाश्रित्य नैगमादयः सत् । तदुक्तम्—

नेगम संगह ववहार उजुसुए चेव होति बोधन्वे । सदे य समभिरुद्धे एवंभूते य मूलनया ॥१॥ []

तत्र नैगमस्तावत् कियत्यो द्रव्यानुज्ञा इच्छति? इत्याह—नेगमस्तेत्यादि सामान्य-विशेषादिप्रकारेण नैकोऽपि तु बहवो

गमाः—वस्तुपरिच्छेदा यस्यासौ निरुक्तविधिना ककारस्य लोपाद् नैगमः, सामान्य-विशेषादिप्रकारैर्बहुरूपवस्तुभ्युपगमपर इत्यर्थः । तस्य नैगमस्यैको देवदत्तादिरनुज्ञाशब्दार्थज्ञोऽनुपयुक्त आगमत एका द्रव्यानुज्ञा, द्वौ देवदत्त-यज्ञदत्तावनुपयुक्तौ आगमतो द्वे द्रव्यानुज्ञे, त्रयो देवदत्त-यज्ञदत्त-सोमदत्ता अनुपयुक्ता आगमतस्तिस्रो द्रव्यानुज्ञाः, किं बहुना ? एवं यावन्तो देवदत्तादयोऽनुपयुक्तास्तावस्य एव ता अतीतादिकालत्रयवर्तिन्यो नैगमतो द्रव्यानुज्ञा इति, न पुनः ग्रंथवत् सामान्यवादिवादेकैवेति भावः । एवमेव व्यवहारस्स वि ति व्यवहरणं व्यवहारः—लौकिकप्रवृत्तिरूपः, तत्प्रधानो नयोऽपि व्यवहारः, तस्यापि ‘एवमेव’ नैगमवदेको देव- 5 दत्तादिरनुपयुक्त आगमत एका द्रव्यानुज्ञा इत्यादि सर्वं वाच्यम् । इदमुक्तं भवति—व्यवहारनयो लोकव्यवहारोपकारिण एव पदार्थानभ्युपगच्छति, न शेषान्, लोकव्यवहारे च जलाहरण-त्रयपिण्डीप्रदानादिके घट-निम्बादिविशेषा एवोपकुर्वाणा दृश्यते न पुनस्तदत्तिरिक्तं तत् सामान्यमिति विशेषानेव वस्तुसत्त्वेन प्रतिपद्यते असौ न सामान्यम्, व्यवहारानुपकारिणाद विशेष-व्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वाच्चेत्यतो विशेषवादिनैगममतसाम्येनातिदिष्टः । अत्र चातिदेशैवेषार्थसिद्धेष्ट्रिन्थलाघवार्थं सङ्ग्रह-मतिक्रम्य व्यवहारोपन्यासः कृत इति भावनीयम् । संग्रहसेत्यादि सर्वमपि भुवनत्रयान्तर्वर्ति वस्तुनिकुरुम्बं सङ्ग्रहाति—सामान्य- 10 रूपतयाऽध्यवस्थर्ताति सङ्ग्रहः तस्य मते एको वाऽनेके वाऽनुपयुक्तो वाऽनुपयुक्तो वा यदागमत एका द्रव्यानुज्ञा बहुत्रो वा तत् किम् ? इत्याह—से एगे ति सेयमेका द्रव्यानुज्ञाः । इदमत्र हृदयम् सङ्ग्रहनयः सामान्यमेवाभ्युपगच्छति न विशेषान्, अभिदधाति च—सामान्याद विशेषा व्यतिरिक्ता वा स्युः ? अव्यतिरिक्ता वा ? । यथादः पक्षः तर्हि न सन्त्यमी, निःसामान्यत्वात्, खर-विशेषवत् । अथापरः पक्षः तर्हि सामान्यमेव ते, तद्व्यतिरिक्तत्वात्, सामान्यस्वरूपवत् । तस्मात् सामान्यव्यतिरेकेण विशेष-सिद्धेर्याः काश्चन द्रव्यानुज्ञास्ताः तत्सामान्याव्यतिरिक्तत्वादेकैव संग्रहस्य द्रव्यानुज्ञेति । उज्जुमुष्यसेत्यादि क्रजु—अतीता-ज्ञा- 15 गत-परकीयपरिहारेण प्राञ्जलं वस्तु सूत्रयति—अभ्युपगच्छति क्रजुसूत्रः । अयं हि वर्तमानकालभाव्येव वस्तु अभ्युपगच्छति, नातीतम् विनष्टत्वाद, नाप्यनागतम् अनुत्पन्नत्वात् । वर्तमानकालभाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वात्, स्वधनवत्; परकीयं तु नेच्छति, स्वकार्यप्रसाधकत्वात्, परधनवत् । तस्मादेको देवदत्तादिरनुपयुक्तोऽस्य मते आगमत एका द्रव्यानुज्ञाऽस्ति । सुहर्त्रं नेच्छइ त्ति अतीता-ज्ञागतमेदतः परकीयमेदतश्च ‘पृथक्त्वं’ प्रार्थक्यं नेच्छल्यसौ, किं तर्हि ? वर्तमानकालीनं स्वगतमेव वाऽभ्युपैति, तच्चैकमेवेति भावः । तिष्ठं सदनयाणमित्यादि शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः शब्द-समभिरूढैवम्भूताः, ते हि शब्दं प्रधानमिच्छन्ति 20 अर्थं तु गौणम्, शब्दवरेनैवार्थप्रतीतेः । तेषां त्रयाणां शब्दनयानां ज्ञायकोऽथ चानुपयुक्त इत्येतदवस्तु, न सम्भवतीदभियर्थः । कम्ह त्ति कस्मादेवमुच्यते ? इत्याह—यदि ज्ञायकस्तर्वानुपयुक्तो न भवति, ज्ञानस्योपयोगरूपत्वात् । इदमत्र हृदयम्—अनुज्ञापदार्थश-स्त्र चानुपयुक्त आगमतो द्रव्यानुज्ञेति प्राग् निर्जीतम्, एतचामी न प्रतिपद्यन्ते, यतो यद्यनुज्ञापदार्थं जानाति कथमनुशुक्तः ? अनुपयुक्तश्चेत् कथं जानाति ? तस्योपयोगरूपत्वात् । सेयमागमतो द्रव्यानुज्ञा ॥ उक्ता आगमतो द्रव्यानुज्ञा । सम्प्रति नोआगमतः सोच्यते—

25

७. से किं तं जोआगमतो द्रव्याणुण्णा ? जोआगमतो द्रव्याणुण्णा तिविहा पणता—जाणगसरीरद्रव्याणुण्णा भवियसरीरद्रव्याणुण्णा जाणगसरीर-भवियसरीरवतिरिक्ता द्रव्याणुण्णा ।

८. से किं तमित्यादि । नोशब्दोऽत्रागमस्य सर्वनिषेधे वर्तते, आगमश्च परिज्ञानम्, अभुज्ञापदार्थावगम इत्यर्थः, तत् आगमाभावमात्रित्य द्रव्यानुज्ञा त्रिविधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा—ज्ञानसरीरद्रव्यानुज्ञा भव्यशरीरद्रव्यानुज्ञा ज्ञगरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त-द्रव्यानुज्ञेति ॥ तत्राद्यामाह—

30

९. से किं तं जाणगसरीरद्रव्याणुण्णा ? जाणगसरीरद्रव्याणुण्णा ‘अणुण्ण’त्तिपदत्थाहिगा-रजाणगस्स जं सरीरगं ववगथ्यचुतचतियचत्तदेहं जीवविष्पजहं सिज्जागयं वा संथारगयं वा निसी-

हियगयं वा सिद्धिसिलातलगतं वा अहो णं इमेणं सरीरसमुस्सएणं ‘अणुणा’ति पयं आघवियं पण्णवियं परुवियं दंसियं णिदंसियं उवदंसियं, जहा को दिङ्टो? अयं घयकुंभे आसी, अयं महुंभे आसी। से त्तं जाणगसरीरदब्बाणुणा।

८. से ति अथ केयं ज्ञशरीरदब्बानुज्ञा? उच्यते—अणुष्ठ ति इत्यादि, ज्ञातवानिति ज्ञः तस्य शरीरं—देहो ज्ञशरीरं

- ५ तदेवानुभूतभावत्वाद् द्रव्यानुज्ञा। यच्छ्रीरकं द्रव्यानुज्ञा तत् कस्य सम्बन्धिः इत्याह—अनुज्ञेति यत् पदं तस्य योऽसावर्थाधिकारः—
अर्थधृनव्युत्पत्तिरूपः तं ज्ञातवतः सम्बन्धिः। कथम्भूतं सदिदं ज्ञशरीरं द्रव्यानुज्ञा भवति? इत्याह—व्यपगतच्युतच्यावितत्यक्तदेहं
जीवविग्रसुक्तमित्यक्षरघटना। तत्र व्यपगतं—चैतन्यपर्यायादचैतन्यलक्षणं पर्यायान्तरं प्राप्तम्; अत एव च्युतं—उच्छ्वास-निःश्वास-
जीवनादिदशविधप्राणेभ्यः परिभ्रष्टम् अचेतनस्योच्छ्वासाद्योगात्; प्राणेभ्यश्च स्वभावतो न परिभ्रंशः किन्तु च्यावितं—बलीयसा
आयुःक्षेयं तेभ्यः परिभ्रंशितम्। एवं च सति कथम्भूतं तत्? इत्याह—त्यक्तदेहं—“दिह उपचये” त्यक्तो देहः—आहारपरिणति-
१० जनित उपचयोऽनेन तत् त्यक्तदेहम्, अचेतनस्याहारप्रहण-परिणत्योरभावात्। एवं प्रदर्शितविधिना जीवेन—आत्मना विविधम्—
अनेकधा प्रकर्षेण मुक्तं जीवविप्रमुक्तम्। तदेतदनुज्ञापदार्थज्ञस्य शरीरकमतीतानुज्ञाभावस्य कारणत्वाद् द्रव्यानुज्ञा, नोआगमत्वं
चास्यास्तदानीमागमस्य सर्वथाऽभावात्। भूयः कथम्भूतं शरीरकम्? इत्याह—सेज्जागयं वेत्यादि शर्या—महती सर्वाङ्गप्रमाणा तां
गतं शश्यास्थितमित्यर्थः। संस्तारः—अर्द्धतृतीयहस्तमानस्तं गतं तत्रस्थम्। नैषेधिकी—शब्दपरिस्थापनभूमिस्तां गतं—प्राप्तम्। यत्र
महर्षिः कथित् सिद्धस्तत् सिद्धशिलातलं तद्रतं तत्र स्थितमिति। भक्तपरिज्ञाच्यनशनप्रतिपत्तिभूमिर्वा सिद्धशिलातलं तद्रतम्। अहो
१५ णमिति अहोशब्दो अन्यपार्श्वस्थितामन्त्रणे, ‘अनेन’ प्रत्यक्षतया दृश्यमानेन शरीरमेव पुद्गलसङ्घातत्वात् समुच्छूयस्तेन अनुज्ञेति पदं
‘आघवियं’ति छान्दसत्वाद् गुरोः सकाशादगृहीतं तदावरणकर्मक्षयोपशमात्, ‘प्रज्ञापितं’ अन्येभ्यः कथितम्, ‘प्रसूपितं’ तेभ्य
एव तदर्थकथनतः, ‘दर्शितं’ सान्वयोऽयं शब्दो न तु मण्डपादिवन्निरन्वय इत्येवं शिष्येभ्यः प्रकटितम्, ‘निदर्शितं’ परस्य कथश्चिद-
गृह्णतः परथाऽनुकम्पया निश्चयेन पुनः पुनर्निवेदितम्, ‘उपदर्शितं’ पुनः पुनः स्मरणतः। आह—नन्दनेन शरीरसमुच्छूयेणाऽनुज्ञा-
पदमागृहीतमित्यादि नोपपथते, ग्रहण-प्रसूपयणादीनां जीवधर्मवेन शरीरस्याद्यग्निस्तमानक्त्वात्, सत्यम्, किन्तु भूतपूर्वगत्या जीव-
२० शरीरयोरभेदोपचारादित्थमुपन्यास इत्यदेषः। यथा कोऽत्र दृष्टान्तः? इति पृष्ठे सत्याह—यथा अयमित्यादि। एतदुक्तं भवति—
यथा चृते मधुनि वा प्रक्षिप्यापनीते तदाधारत्वपर्यायेऽतिक्रान्तेऽपि अयं चृतकुम्भ इत्यादि व्यष्टदेशो लोके प्रवर्तते तथाऽनुज्ञा-
पदार्थवेत्तृव्यपर्यायेऽतिक्रान्तेऽप्यतीतपर्यायानुवृत्त्या द्रव्यानुज्ञेयमुच्यते। इतीयं ज्ञशरीरदब्बानुज्ञा॥

९. से किं तं भवियसरीरदब्बाणुणा? भवियसरीरदब्बाणुणा जे जीवे जम्मणजोणीणि-
कर्खंते इमेणं चेव सरीरसमुस्सएणं आदत्तेणं जिणदिङ्टेणं भावेणं ‘अणुणा’ति पयं सेयकाले
२५ सिक्किखस्सह, न ताव सिक्कह। जहा को दिङ्टो? अयं घयकुंभे भविस्सति, अयं महुंभे भविस्सति। से त्तं भवियसरीरदब्बाणुणा।

१०. अथ केयं भव्यशरीरदब्बानुज्ञा? इति पृष्ठे सत्याह—जे जीवे इत्यादि विवक्षितपर्यायेण भविष्यतीति भव्यः—विवक्षित-
पर्यायाहः तदोग्य इत्यर्थः तस्य शरीरं तदेव भाविभावानुज्ञापदार्थवेत्तृव्यकारणत्वाद् द्रव्यानुज्ञा भव्यशरीरदब्बानुज्ञा। किं पुनरस्ततः?
इत्यत्रोच्यते—यो जीवो योनीजन्मत्वनिष्क्रान्तोऽनेनैव शरीरसमुच्छूयेण ‘आत्मेन’ गृहीतेन ‘जिनदृष्टेन’ तीर्थकराभिमतेन ‘भावेन’
३० तदावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणेनानुज्ञेति पदमागामिनि काले शिक्षित्यते न तावच्छिक्षते तद् जीवाविष्टिं शरीरं भव्यशरीरदब्बानुज्ञेति
समुदायार्थः। अवयवार्थस्तु—यः कथिद् ‘जीवः’ जन्तुः योन्याः—योषिदवाव्यदेशलक्षणायाः परिपूर्णसमस्तदेहो जन्मत्वेन—जन्म-

समयेन निष्क्रान्तः, न युनरामगर्भावस्थ एव पतितो योनिजन्मत्वनिष्क्रान्तः, अनेनैव शरीरमेव पुद्रलसङ्घातत्वादुत्पत्तिसमयादारभ्य प्रतिसमयं समुत्सर्पणादा समुच्छ्यस्तेन ‘आत्मेन’ आग्रहीतेन प्राकृतशैलीवशादात्मीयेन वा जिनोपदिष्टेनेत्यादि पूर्ववत् सेयकाले त्ति छान्दसत्वादागामिनि काले ‘शिक्षिष्यते’ अध्येष्यते साम्प्रतं तु न तावदयापि शिक्षते तद् जीवाधिष्ठितं शरीरं द्रव्यानुज्ञा । नोआगमत्वं चात्राप्यागमाभावमाश्रित्य मन्त्रव्यम्, तदार्ती तत्र वपुष्यागमाभावाद् नोशब्दस्य चात्रापि सर्वनिषेधवचनत्वादिति । यथा कोऽत्र दृष्टान्तः ? इति निर्वचनमाह—यथाऽयं वृत्तकुम्भो भविष्यतीत्यादि । एतदुक्तं भवति—यथा धृते मधुनि वा प्रक्षेप्तुमिष्टे तदा- 5 धारत्वपयापि भविष्यत्यपि लोके अयं वृत्तकुम्भो मधुकुम्भो वेत्यादिव्यपदेशो दृश्यते तथाऽत्राप्यनुज्ञापदार्थवेत्तुवपयापि भविष्यत्यपि तदस्तिवपरनयाऽनुवृत्त्या द्रव्यानुज्ञेयमुच्यते इति भावः । निगमयन्नाह—से त्तमित्यादि तदेतद् भव्यशरीरद्रव्यानुज्ञेति ॥

उक्तो नोआगमतो द्रव्यानुज्ञाद्वितीयमेदः । तृतीयमेदनिरूपणार्थमाह—

१०. से किं तं जाणगसरीर-भवियसरीरवतिरित्ता द्रव्याणुण्णा ? जाणगसरीर-भवियसरीर-वतिरित्ता द्रव्याणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—लोइया कुप्पावयणिया लोउतरिया य । 10

१०. से किं तमित्यादि । यत्र ज्ञशरीर-भव्यशरीरयोः सम्बन्धि पूर्वोक्तं लक्षणं न घटते तत्र आभ्यां व्यतिरिक्ता—मिन्ना द्रव्यानुज्ञोच्यते । सा च त्रिविधा प्रज्ञना, तवथा—लौकिकी कुप्रावचनिकी लोकोत्तरिकी च ॥ तत्र प्रथममेदं जिज्ञासुराह—

११. से किं तं लोइया० द्रव्याणुण्णा ? लोइया० द्रव्याणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया ।

१२. से किं तं सचित्ता० ? सचित्ता० से जहाणामए राया इ वा जुवराया इ वा ईसरे इ 15 वा तलवरे इ वा कोडुंबिए इ वा माडंबिए इ वा इब्बे इ वा सेढ़ी इ वा सत्थवाहे इ वा सेणावई इ वा कस्सइ कम्हिं कारणे तुझे समाणे आसं वा हस्तिं वा उडं वा गोणं वा खरं वा घोडयं वा एलयं वाँ अयं वा दासं वा दासिं वा अणुजाणेज्जा । से त्तं सचित्ता० ।

११-१२. से किं तमित्यादि सुगमम् । नवरं ‘राजा’ चक्रवर्ती वासुदेवो बलदेवो महामाण्डलिकश्च । ‘ईश्वरः’ युवराजः राजो द्वितीयस्थानवर्तीं सामान्यमाण्डलिकोऽमात्यश्च । अन्ये तु व्याचक्षते—अणिमायष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वरः । परितुष्टनरपति- 20 प्रदत्तरत्नालङ्कृतसौर्वर्गपट्टविभूषितशिरास्तलवरः । यस्य पार्थित आसनमपरं ग्राम-नगरादिकं नास्ति तत् सर्वतश्चित्तं जनाश्रय-विशेषहूपं मडम्भमुच्यते, तस्याऽधिपतिर्माणिक्षिकः । कतिपयकुटुम्बप्रमुः कौटुम्बिकः । इमः—हस्ती तत्प्रमाणं द्रव्यमर्हतीतीभ्यः, यस्य सलक्षुञ्जीकृतहिरण्य-रत्नादिव्येणान्तरितो हस्तयिं न दृश्यते सोऽधिकतरद्रव्यो वा इम्य इत्यर्थः । श्रीदेवताध्यासितसौर्वर्ण-पट्टविभूषितोत्तमाङ्गः पुरज्येष्ठो वणिमिवशेषः श्रेष्ठो । हस्तयश्च-रथ-पदातिसमुदायलक्षणायाः सेनायाः प्रमुः सेनापतिः ।

“गणिम धरिम मेज्जं पारिच्छं चेव द्रव्यजायं तु । धेत्तूणं लाभत्वी वच्चति जो अन्नदेसं तु ॥ १ ॥

निववहुमओ पसिद्धो दीगा-णाहाण वच्छलो पंथे । सो सत्थवाहनामं धणो व्व लोए समुब्बहइ ॥ २ ॥”

एतलक्षणयुक्तः सार्थवाहः । एतदन्यतरः कश्चिद् राजादिः कश्चिद् व्यतिकरे कस्यचित् तुष्टः सनश्चादिकं परिमोगायानु-जानीयात् सेयं सचित्तानुज्ञा ॥

१३. से किं तं अचित्ता० ? अचित्ता० से जहाणामए रँया ति वा जुवराया इ वा ईसरे इ 30 वा तलवरे इ वा कोडुंबिए इ वा माडंबिए इ वा इब्बे इ वा सत्थवाहे इ वा सेढ़ी इ वा सेणावई

१ वा माडंबिए इ वा कोडुंबिए इ वा इब्बे इ वा सत्थवाहे इ वा सेढ़ी इ वा सेणा० जे० ॥ २ वा आलयं वा वालयं वा अयं वा ख० ॥ ३ वा वालयं वा दास० जे० ॥ ४ रँया ति वा जाव सत्थवाहे ति वा कस्सइ ख० ॥

इ वा कस्सइ कम्हि कारणे तुडे समाणे आसणं वा सयणं वा छत्तं वा चामरं वा पङ्डगं वा मउडं वा हिरण्यं वा सुवण्णं वा कंसं वा दूसं वा मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरथणमादीयं संतसार-सावदिज्जं अणुजाणिज्ञा । से त्तं अचित्ता० दैववाणुण्णा ।

१३. यदा राजादिरेव छत्र-चामरादि अनुजानीयात् कस्यचित् सेयमचित्तानुज्ञा । नवरं कंसं व ति 'कांस्यं' कांस्य-पात्र्यादिकम् । मणयः—चन्द्रकान्ताद्याः । मौक्किकानि शङ्खाश्च प्रसिद्धाः । श्रीप्रवालं—वर्णादिगुणोपेतं विद्वमम् । रत्तरथणं—रत्तरत्नं पद्मरथादिकम् । सत्सारं—शोभनसारं शू(स्थ)लमण्यादिकम् । स्वापतेयं—रिक्थजातम् ॥

१४. से किं तं मीसिया० दैववाणुण्णा ? मीसिया० दैववाणुण्णा से जहाणामए राया ति वा जुवराया ति वाँ ईसरे इ वा तलवरे इ वा कोडुंबिए इ वा माडुंबिए इ वा इब्मे ति वा सेही ति वा सेणावती ति वा सत्थवाहे ति वा कस्सइ कम्हि कारणे तुडे समाणे हत्तिं वा मुहभंडगमंडियं, १० आसं वा थासग-चामरमंडियं, सकडगं दासं वा, दासिं वा सव्वालंकारविभूसियं अणुजाणिज्ञा । से त्तं मीसिया० दैववाणुण्णा । से त्तं लोहया० दैववाणुण्णा ।

१५. हस्त्यादिकं मुखाभरणाद्यलङ्घतम्, अबं वा स्थासकः—आदर्शकः चामरे च तन्मणितकटीकम्, दासः—स्वदासी-सुतः, दासी—कर्मकरी रूपादिगुणान्विता तां सर्वालङ्घारविभूषितां कृत्वा 'अनुजानीयात्' सर्वप्रयेत् कस्यचिद् राजादिस्तुष्टः सन् सेयं मित्रिकी लौकिकी द्रव्यानुज्ञा, हस्त्यादेः सचेतनत्वाद् भाभरणादेरचेतनत्वाद् उभययोगे मिश्रद्रव्यता ॥

१६. से किं तं कुप्पावयणिया० दैववाणुण्णा ? कुप्पावयणिया० दैववाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया ।

१७. से किं तं सचित्ता० ? सचित्ता० से जहाणामए आयरिए इ वा उवज्ज्ञाए इ वा कस्सइ कम्हि कारणे तुडे समाणे आसं वाँ हत्तिं वा उद्दं वा गोणं वा खरं वा घोडं वा अयं वा एलं वाँ दासं वा दासिं वा अणुजाणिज्ञा । से त्तं सचित्ता कुप्पावयणिया० दैववाणुण्णा ।

१८. से किं तं अचित्ता० ? अचित्ता० से जहाणामए आयरिए इ वा उवज्ज्ञाए इ वाँ कस्सइ कम्हि कारणे तुडे समाणे हत्तिं वा मुहभंडगमंडियं, आसं वा थासग-चामरमंडियं, सकडगं दासं वा, दासिं वा सव्वालंकारविभूसियं अणुजाणिज्ञा । से त्तं मीसिया कुप्पावयणिया० दैववाणुण्णा । से त्तं कुप्पावयणिया० दैववाणुण्णा ।

१९. १ पडं वा म० ड० ॥ २ दैववाणुण्णा इति ल०पुस्तके नास्ति ॥ ३ वा जाव तुडे समाणे ख० ॥ ४ वा जाव दासिं वा ख० ॥ ५ घोडयं वा वलयं वा दालं ल० ॥ ६ वा वलवं वा दासं जे० ॥ ७,१० कुप्पावयणिया० दैववाणुण्णा इति पाठे ल०पुस्तके नास्ति ॥ ८ वा जाव तुडे समाणे आसणं वा सयणं वा जाव संतसारं दिज वा अणुजा० ख० ॥ ९ वा वासं वा मणि० ल० ॥ ११-१२ दैववाणुण्णा इति जे०पुस्तके नास्ति ॥ १३ इ वा जाव तुडे समाणे हत्तिं वा मुहभंडगमंडियं जाव दासिं वा अणुजा० ख० ॥

१५—१६. कुप्रावचनिक्यां आयरिष्टि ‘आचार्यः’ दर्शनान्तरीयो विग्जातीयादिः ‘उपाध्यायः’ गीत-नृत्तादिकलाशिक्षयिता यदा तुष्टः सन्नश्चादिकमनुजानीयात् तदा कुप्रावचनिकी सचित्तदव्यानुज्ञा ॥

१७. स एव यदा ‘आसनं’ आसन्दकादि ‘शयनं’ खट्वादि अनुजानीयात् तदाऽचित्तदव्यानुज्ञा ॥

१८. स एवाश्चाद्यामरणाद्यलङ्कृतं यदाऽनुजानीते तदा मिश्रिकी दव्यानुज्ञा ॥

१९. से किं तं लोउत्तरिया० दव्याणुण्णा ? लोउत्तरिया० दव्याणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, ५ तं जहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया ।

२०. से किं तं सचित्ता० ? सचित्ता० से जहाणामए आयरिष्टि इ वा उवज्ञाए इ वा थेरे इ वा पवत्ती इ वा गणी इ वा गणहरे इ वा गणावच्छेयए इ वा सीसस्स वा सिस्सिणीए वा कम्हिं कारणे तुडे समाणे सीसं वा सिस्सिणि वा अणुजाणेज्जा । से त्तं सचित्ता० ।

२१. से किं तं अचित्ता० ? अचित्ता० से जहाणामए आयरिष्टि इ वा उवज्ञाए ति वा १० थेरे ति वा पवत्ती ति वा गणी ति वा गणधरे ति वा गणावच्छेतिए ति वा सिसस्स वा सिस्सिणियाए वा कम्हिय कारणे तुडे समाणे वत्थं वा पादं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पादपुच्छणं वा अणुजाणेज्जा । से त्तं अचित्ता० ।

२२. से किं तं मीसिया० ? २ से जहाणामए आयरिष्टि इ वा उवज्ञाए इ वा थेरे इ वा पवत्ती इ वा गणी इ वा गणहरे इ वा गणावच्छेयए इ वा सिस्सिणीए वा कम्हिय १५ कारणे तुडे समाणे सिसं वा सिस्सिणियं वा सभंड-मत्तोवगरणं अणुजाणेज्जा । से त्तं मीसिया० । से त्तं लोउत्तरिया० । से त्तं जाणगसरीर-भवियसरीरवइरित्ता० दव्याणुज्ञा । से त्तं णोआगमतो दव्याणुण्णा । से त्तं दव्याणुज्ञा ३ ।

१९-२२. लोकोत्तरा:—साधवस्तेषमियं लोकोत्तरिकी । साधवश्चाचार्यादिभेदतः पञ्चविधा भवन्ति । तानेव दर्शयति—आयरिष्टि इत्यादि । एते हि यदा सचित्ता-अचित्ता-मिश्रान्यतरद् दव्यमनुजानते तदा तत्तदेवानुज्ञा भवति । नवरं ‘आचार्यः’ २० अनुयोगाचार्यः । ‘उपाध्यायः’ सूत्रपाठयिता । येषु तपः-संयमादिषु यः साधुयोग्यो भवति तं तत्र प्रवर्त्तयति अक्षमं च निवर्त्तयति स गच्छस्थसाधुतसिपरः प्रवर्तकः । यदाह—

“तव-संज्ञमजोगेसुं जो जोगो तत्थं तं पवत्तेह । असहुं च नियर्तेह गगतत्तिलो पवत्ती उ ॥ १ ॥” []

प्रवर्त्तकव्यापारितार्थवस्थितसाधूनामेव कथश्चित् प्रमादतां तपः-संयमादिषु यस्तान् स्थिरीकरोति स स्थविरः । गच्छस्यैव क्षेत्रोपद्यादिसम्पादनपरो य आहिण्डते गच्छप्रयोजनेष्वविषादी गीतार्थः स गणावच्छेदकः । शेषं निगदसिद्धं जाव से त्तं २५ दव्याणुज्ञा ति ३ ॥

२३. से किं तं खेत्ताणुण्णा ? खेत्ताणुण्णा जो णं जस्स खेत्तं अणुजाणति, जत्तियं वा खेत्तं, जम्मि वा खेत्ते । से त्तं खेत्ताणुण्णा ४ ।

२४. क्षेत्रानुज्ञा तु यो राजादिर्यस्य परितुष्टः सन् ‘क्षेत्रं’ ग्राम-नगरादिरूपं तन्मध्येऽपि यावन्मात्रं वा तदंशतया अनुजानीते मुक्तलयति समर्पयति सा क्षेत्रानुज्ञा । यदा यस्मिन् क्षेत्रेऽनुज्ञापदं व्याख्यायते तदपि क्षेत्रं क्षेत्रानुज्ञा ४ ॥

२४. से किं तं कालाणुण्णा ? कालाणुण्णा जो एं जस्त कालं अणुजाणति, जन्तियं वा कालं, जम्मि वा काले अणुजाणइ, तं०—तीतं वा पदुष्पण्णं वा अणागतं वा बसंतं वा हेमंतं वा पाउसं वा अवत्थाणहेउं । से तं कालाणुण्णा ५ ।

२४. कालानुज्ञायां यो राजादिर्यस्य तुष्टः सन् कालमनुजानीते सर्वकालं मुक्तलयति त्वया यावज्जीवमपि मम न ५ दातव्यमिदं करादीति जन्तियं वा कालं ति यथा दुर्लभमांसव्यतिकरे परिमितकालराज्यमभयकुमारमन्त्रियाचितेन श्रेणिकेन नियतदिनरूपकालानुज्ञा राज्यं प्रत्यभयकुमाराय कृता । यस्मिन् वा कालेनुज्ञा वर्ण्यते सेयं कालानुज्ञा ५ ॥

२५. से किं तं भावाणुण्णा ? भावाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—लोइया कुप्पावयणिया लोगुत्तरिया ।

२६. से किं तं लोइया भावाणुण्णा ? २ से जहानामए राया इ वा जुवराया इ वा जाव १० तुष्टे समाणे कस्सइ कोहाइभावं अणुजाणिज्ञा । से तं लोइया भावाणुण्णा ।

२७. से किं तं कुप्पावयणिया भावाणुण्णा ? २ से जहानामए केइ आयरिए इ वा जाव कस्सइ कोहाइभावं अणुजाणिज्ञा । से तं कुप्पावयणिया भावाणुण्णा ।

२८. से किं तं लोगुत्तरिया भावाणुण्णा ? २ से जहानामए आयरिए इ वा जाव कम्हि कारणे तुष्टे समाणे कालोचिथनाणाइगुणजोगिणो विणीयस्म खमाइपहाणस्स सुसीलस्स सिस्सस्स तिवि-१५ हेणं तिगरणविसुद्धेण भावेण आयारं वा सूयगडं वा ठाणं वा समवायं वा विवाहपण्णत्ति वा नायाधम्मकहं वा उवासगदसाओ वा अंतगडदसाओ वा अणुत्तरोववाह्यदसाओ वा पण्हावागरणं वा विवागसुयं वा दिट्ठिवायं वा सञ्चवदब्ब-गुण-पज्जवेहिं सञ्चवाणुओगं वाँ अणुजाणिज्ञा । से तं लोगुत्तरिया भावाणुण्णा ६ ।

२५-२८. भावानुज्ञा क्षायोपशमिकभाववर्त्याचारादिश्रुतानुज्ञाविषया । ततश्च य आचार्यादिर्यस्य शिष्यस्य तुष्टः सन् २० ‘भावेन’ कर्मनिर्जरामिप्रायेण मनो-वाक्यायैः करण-कारणा-इनुमतिभिः शुद्धेन न वैहूलौकिकवज्रादिलिप्सया आचारादिकं यावद् दृष्टिवादं वा ‘अनुजानाति द्रव्य-गुण-पर्यवैः’ मुक्तलयति व्याख्यानाय अन्येषामध्यापनाय च सेयं भावानुज्ञा ६ ॥

सम्प्रत्यनुज्ञाया यतः प्रवृत्तिरस्यामवसर्पिण्यां प्रथमं जाता तदभिधितुः प्रश्नानि तावदाह—

२९. किमणुण्ण ? कस्सइणुण्णा ? केवतिकालं पवत्तियाइणुण्णा ? ।

आदिकर पुरिमताले पवत्तिया उसभसेणस्स ॥ १ ॥

२९. किमणुष्ट० गाहा । किमनुज्ञाल्यं वस्तुच्यते ? तच्च षड्विघत्वेन वर्णितमेव । कस्यानुज्ञा क्रियते ? यो हि गाम्पीर्य-२५ धैर्य-क्षमादिगुणान्वितो भवति तस्येयं भवति । क्रियति च काले प्रवर्तिताइनुज्ञा ? अवसर्पिण्यां तृतीयारकर्पर्यन्ते । केन प्रवर्तिता ? क ? कस्य ? इत्याह—आदीत्यादि उत्पन्नानेनाऽदितीर्थकरेण भगवता ‘उसभसेनस्य’ पुण्डरीकस्य पुरिमतालनगरे ‘अनुज्ञा प्रवर्तिता’ अनुज्ञा कृता द्वादशाहृविषया शिष्यविषया ॥ १ ॥ इदानीमनुज्ञाया एकार्थभिधायि गाथाद्वयमाह—

३०. अणुण्णा १ उण्णमणी २ णमणी ३ णामणी ४ ठवणा ५ पभवो ६ पभावणं ७ पयारो ८ ।

तंदुभय ९ हिय १० मज्जाया ११ णाओ १२ मग्गो १३ य कप्पो १४ य ॥ १ ॥

१ वियाह० ल० ॥ २ वा इति ख० मुद्रिते च नास्ति ॥ ३ तदुभयहिय ९ मज्जाया १० णायो ११ मग्गो १२ य कप्पो १३ य ॥ १ ॥ संगह १४ संवर १५ णिङ्गर १६ ठितिकरण १७ चेव जीवदुड्डि १८ पयं १९ । पदपवरं २० चेव तद्वा जै० ल० मुद्रिते च ॥

संगह १६ संवर १६ गिज्जर १७ ठिहकरण १८ चेव जीवबुद्धिपयं १९ ।
पदपवरं २० चेव तहा, वीसमणुण्णाए णामाइं ॥ २ ॥

अणुण्णानंदी समता ॥

३०. अणुन्ना० गाहा । [संगह० गाहा ।] आद्यगाथायां चरुदशानुज्ञाभिधानानि, द्वितीयायां षट्, सर्वाणि २० ।
तथाथ—अनुज्ञा१ उन्नमनी२ नमनी३ नामनी४ स्थापना५ प्रभवः६ प्रभावना७ प्रचारः८ तदुभयं९ हितं१० मर्यादा११ ५
न्यायः१२ मार्गश्च१३ कल्पश्च१४ संप्रहः१५ संवरः१६ निर्जरा१७ स्थितिकरणं१८ जीतवृद्धिपदं१९ पदप्रवरं२० इति
विश्वासिः । एतेषां च पदानामर्थः सम्प्रदायाभावान्वोच्यते ॥ १-२ ॥

॥ इति समाप्ता श्रीशीलभद्र-प्रभुश्रीधनेश्वरसूरिशिष्यश्री-श्रीचन्द्रसूरिविरचिता नन्दिटीकाया दुर्गपदव्याख्या ॥

[व्याख्याकारप्रशस्तिः—]

स्वं कष्टेऽतिनिधाय कष्टमधिकं मा मेऽन्यदा जायतां, व्याख्यानेऽस्य तथाविषे सुमनसामल्पश्रुतानामसुम् (?नामपि) । १०

इत्यालोचयता तथापि किमपि ग्रोक्तं मया तत्र च, दुर्व्याख्यानविशेषधनं विदधतु प्राज्ञाः परार्थोच्यताः ॥ १ ॥

दुःसम्प्रदायादसदूहनाद्वा, प्रकाशितं यद् वितर्थं मयेह ।

तद् धीधनैर्मार्मिनुक्षयद्विः, शोध्यं मतार्थक्षतिरस्तु मैवम् ॥ २ ॥

॥ ग्रन्थाग्रम् ३३०० ॥



जोगणंदी

नाणं पञ्चविहं पण्णत्तं, तंजहा—आभिणिवोहियनाणं १ सुयनाणं २ ओहिनाणं ३ मणपञ्चव-
नाणं ४ केवलनाणं ५ । तत्थं च चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं नो उद्दिस्सिज्जंति नो समुद्दि-
५ सिज्जंति नो अणुण्णविज्जंति, सुयनाणस्स पुण उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ य
पवत्ताइ ।

जह सुयनाणस्स उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्ताइ किं अंगपविट्टस्स
उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्ताइ ? किं अंगबाहिरस्स उद्देसो १ समुद्देसो २
अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्ताइ ? गो० ! अंगपविट्टस्स वि उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणु-
१० ओगो ४ पवत्ताइ, अंगबाहिरस्स वि उद्देसो १ समुद्देसो २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्ताइ, इमं
पुण पट्टवणं पडुच्च अंगबाहिरस्स उद्देसो० ४ ।

जह पुण अंगबाहिरस्स उद्देसो जाव अणुओगो पवत्ताइ किं कालियस्स उद्देसो० ४ ?, किं उक्का-
लियस्स उद्देसो० ४ ? गो० ! कालियस्स वि उद्देसो० ४ उक्कालियस्स वि उद्देसो० ४, इमं पुण पट्टवणं
पडुच्च उक्कालियस्स उद्देसो० ४ ।

१५ जह उक्कालियस्स उद्देसो० ४ किं आवस्सगस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्ताइ
आवस्सगवइरित्तस्स० ४ ? गो० ! आवस्सगस्स वि उद्देसो० ४ आवस्सगवइरित्तस्स वि उद्देसो० ४ ।

जह आवस्सगस्स उद्देसो किं सामाइयस्स १ चउवीसत्थयस्स २ वंदणस्स ३ पडिक्कमणस्स ४
काउस्सगस्स ५ पच्चक्कखाणस्स ६ ? सब्बेसिं एतेसिं उद्देसो० १ समुद्देसो॒ २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४
य पवत्ताइ ।

२० जह आवस्सगवइरित्तस्स उद्देसो० ४ किं कालियसुयस्स उद्देसो० ४ उक्कालियसुयस्स उद्देसो०
४ ? कालियस्स वि उद्देसो० ४, उक्कालियस्स वि उद्देसो० ४ ।

जह उक्कालियस्स उद्देसो० ४ किं दसकालियस्स १ कप्पियाकप्पियस्स २ चुल्कप्पसुयस्स ३
महाकप्पसुयस्स ४ उववाइयसुयस्स ५ रायपसेणीयसुयस्स ६ जीवाभिगमस्स ७ पण्णवणाए८ महा-
२५ पण्णवणाए९ पमायप्पमायस्स १० नंदीए११ अणुओगदाराणं १२ देविंदथयस्स १३ तंदुलवेयालि-
यस्स १४ चंदाविज्ञयस्स १५ सूरपणात्तीए१६ पोरिसिमंडलस्स १७ मंडलप्पवेसस्स १८ विज्ञा-
चरणविणिच्छयस्स १९ गणिविज्ञाए२० संलेहणासुयस्स २१ विहारकप्पस्स २२ वीयरागसुयस्स
२३ झाणविभत्तीए२४ मरणविभत्तीए२५ मरणविसोहीए२६ आयविभत्तीए२७ आयविसोहीए२८
चरणविसोहीए२९ आउरपच्चक्खाणस्स ३० महापच्चक्खाणस्स ३१ ? सब्बेसिं एएसिं उद्देसो॑
१ समुद्देसो॒ २ अणुण्णा ३ अणुओगो ४ पवत्ताइ ।

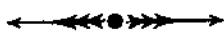
३० जह कालियस्स उद्देसो जाव अणुओगो पवत्ताइ किं उत्तरज्ञयणाणं १ दसाणं २ कप्पस्स ३
ववहारस्स ४ निसीहस्स ५ महानिसीहस्स ६ इसिभासियाणं ७ जंबुदीवपणत्तीए८ चंदपणत्तीए

९ दीवषणन्तीए १० सागरपणन्तीए ११ खुड़ियाविमाणपविभत्तीए १२ महल्लियाविमाण-
पविभत्तीए १३ अंगचूलियाए १४ वगचूलियाए १५ विवाहचूलियाए १६ अरुणोववायस्स १७
वरुणोववायस्स १८ गरुलोववायस्स १९ धरणोववायस्स २० वेसमणोववायस्स २१ वेलंधरोववा-
यस्स २२ देविंदोववायस्स २३ उड्डाणसुयस्स २४ समुद्राणसुयस्स २५ नागपरियावणियाणं २६
निरयावलियाणं २७ कप्पियाणं २८ कप्पवडिंसियाणं २९ पुष्कियाणं ३० पुष्कचूलियाणं ३१ [वणि- ५
याणं ३२] वणिहदसाणं ३३ आसीविसभावणाणं ३४ दिढ्ठिविसभावणाणं ३५ चारणभा० ३६ सुमि-
णभा० ३७ महासुमिणभा० ३८ तेयग्निसग्गाणं ३९ ? सव्वेसिं पि एएसिं उदेसो जाव
अणुओगो ४ पवत्तइ ।

जह अंगपविट्ठस्स उदेसो जाव अणुओगो पवत्तइ किं आयारस्स १ सूयगडस्स २ ठाणस्स ३
समवायस्स ४ विवाहपणन्तीए ५ नायाधमकहाणं ६ उवासगदसाणं ७ अंतगडदसाणं ८ अणु- १०
त्तरोववाइयदसाणं ९ पण्हावागरणाणं १० विवागसुयस्स ११ दिढ्ठिवायस्स १२ ? सव्वेसिं एएसिं
उदेसो १ समुदेसो २ अणुणा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ, हमं पुण पढ्वणं पडुच्च हमस्स साहुस्स हमाए
साहुणीए उदेसो १ समुदेसो २ अणुणा ३ अणुओगो ४ पवत्तइ खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं
अत्थेणं तदुभएणं उदेसामि समुदेसामि अणुजाणामि ॥

॥ जोगणंदी समत्ता ॥

आचार्यश्रीविमलसूरिशिष्यश्री-चन्द्रकीर्तिसूरिविरचितं
 याकिनीमहत्तराधर्मद्वयुश्रीहरिभद्रसूरिप्रणीतायाः
 नन्दिसूत्रवृत्तेः विषमपदटिष्ठनकम् ॥



ॐ नमो जिनाय ॥

[पृष्ठ १]

पं. २. जयतीति जेतव्यजयेन विजयते । पं. ९. एकान्तिक इति नैश्चयिकः । आत्यन्तिक इति अव्यवच्छेदपरः ।

पं. १२. प्राय इति माष्टुषादिभिर्व्यभिचारो मा भूदिति प्रायोग्रहणम् ।

[पृष्ठ २]

पं. ३. यस्येति इश्व अश्व यं तस्य । पं. ४. नन्दन्त्यनयेति समृद्धिमाप्नुवन्ति । पं. १७. आगमतो भावनन्दी(न्दिः), आगमत इति गमनं गमः—परिच्छेदः, आ—सामस्येन गम आगमः तस्माद् आगमतः ।

[पृष्ठ ३]

पं. १३. न अज्ञावेयव्वा बुद्ध्या, न पूरिघेत्तव्वा सञ्ज्ञेने, न परितावेयव्वा ऋमः, न उहवेयव्वा विनाशः समेव विज्ञाय, स्वेयज्ञेहिं खेदज्ञैः । पं. २४. इञ्जनेति संज्ञा ।

[पृष्ठ ४]

पं. २४. वेदिका-जलान्तररमणलक्षणा, वेदिका-जलयोरन्तरे यद् रमणं तल्लक्षणा जलवृद्धिलक्षणा वा वेदिका पर्यवसानं मर्यादा वा वेलेति ।

[पृष्ठ ५]

पं. २१. उज्ज्वलानि सप्रकाशानि । चित्यते—संज्ञायते ।

[पृष्ठ ६]

पं. ११. समवायाः साधुवृन्दानि । पं. १३. संवरः अभसां प्रसवः । पं. १४. उज्ज्वरमिति निर्झरणम् ।

पं. १७. कुहराणि पर्वतदेशाः ।

[पृष्ठ ११]

पं. २६. गा. २७. घेयाला विचाराः ।

[पृष्ठ १२]

पं. ९. बोधानां श्रद्धानाम् । चरणपरिग्रहः गुणशब्देन वा ।

[पृष्ठ १३]

पं. १४. फिडियाणं निर्गतानाम् । पं. १८. संधरे सन्धृतः—जीवितः ।

[पृष्ठ १४]

पं. १२. उल्लेजण आदीर्कर्तु—जलेन भेतुमिति । पं. १३. रविति त्ति द्रविति [इति] । उल्लो मि न व त्ति

30 आद्रोऽस्म्यहं न वेति । पं. १९. इमो गमो इति प्रकारः । छिङ्ग इति बुद्धे, भिन्न इति कण्ठे, खंड इति कण्ठैकदेशे ।

पं. २२. तावसखउर इति तापसानां भोजनादिनिमित्तं उपकरणविशेषः खउरकाठिनकमुच्यते, वंशीपत्रमयं पुटकमिति लक्ष्यते । परिषूणग इति सुधरीरचितो नीडविशेषः । पं. २४. कूचिया चरेडिकाः । पं. २६. सुहिंओ सङ्कुचिताङ्गः ।

पं. २९. जियमिति परिचितम् ।

[पृष्ठ १७]

पं. ४. पुयजुञ्ज्ञमिति अधिष्ठानिकामुदवाट्च पुतान्धां पराङ्मुखीभूय । पं. ८. विज्ञामेलियमिति व्यथाप्रेडितः ।

[पृष्ठ १८]

पं. ३. तदेवेति ज्ञानमात्मानं जानाति । ननु कथमेक एव कर्ता कर्म वा ? इति भेदादिति । पं. १०. कुव्यारुद्याऽविध इत्यकारान्तोऽयमित्यस्य । पं. १९. तन्मयं अभिनिबोधस्य विकारः मनस्वेन परिणमिताः [? पुद्गलाः] । ५

[पृष्ठ १९]

पं. १६. आदेश[त] इति, आदेशः—प्रकारः, स च सामान्यतो विशेषतश्च, सामान्यतो द्रव्यजातिं जानीते, विशेषतो धर्मस्तिकायस्तस्य च देश इत्यादिविभागं जानीते । पं. १८. विशिष्ट इति विशिष्ट एव कश्चिद् भूतिविशेष एव श्रुतम् ।

पं. ३०. सामान्येन इति मनोर्वाणगाविशेषतो विशेषो यस्याः ।

[पृष्ठ २०]

पं. १०. अपर इति न परम्—अक्षादि निमित्तं यस्य, द्रव्यं मनस्तेत्यत्राद्याहारः, कृतः(अतः) परत्वमनयोः ।

[पृष्ठ २३]

पं. १५. अपवरकादिशालान्तरस्थप्रदीपप्रभानिर्गमस्थानानीव अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यानि अवधिज्ञाननिर्गमस्थानानीह फडुकानि उच्यन्ते ।

[पृष्ठ २६]

पं. २७. नान्य इति किं त्रिसमयाहारकोऽत्र गृह्णते ? अत्रोत्तरम् ।

[पृष्ठ २८]

पं. २४. द्रव्यं भाज्यमिति अवस्थितेऽपि हि द्रव्ये तथाविधक्षयोपशमवृद्धौ पर्याया वर्द्धन्ते एव । पं. २५. अक्रमवर्तिनामिति एककालवर्तिनां रूपादीनाम् । ननु यदि द्रव्यवृद्धौ वर्धन्ते ततः पर्यायाणां क्रमवर्तित्वात् कालवृद्धिः कथं न भवति ? उच्यते—कालवृद्धीत्यादि ।

[पृष्ठ ३३]

पं. ७. उत्पत्तिस्वामीति उत्पत्तेः स्वामी तस्य मार्गणा प्राग्भृत् ।

पं. १४. अणाइसेसीति अनतिशयी ।

[पृष्ठ ३४]

पं. २४. घटोऽनेन चिन्तित इत्यादिना दर्शितरूपः ।

[पृष्ठ ३५]

पं. १७. मन्तार इति चिन्तकाः मन्येरन् चिन्तयेयुः । पं. १८. भिन्नालभ्वनमिति एतदीयदर्शनं न भिन्नं किलोक्तम् । तत्र चेति चतुर्विधदर्शने । पं. २८. संवद्धू(द्वौ) इति सङ्कोचनम् ।

[पृष्ठ ३६]

पं. १३. तदायुष्क इति आगामिभवः । पं. १६. हेतुवाद इति तापादिसन्तसछायादिसमाश्रयणात् ।

पं. २५. बध्यमान इति तास्तम्येन ।

[पृष्ठ ३७]

पं. २८. [? सयोगीति] सह योगेनेति—जीवव्यापारेण ।

[पृष्ठ ३९]

पं. १६. नोतित्थसिद्धा इति प्रत्येकबुद्धसिद्धाः । पं. १७. तित्थकरिसिद्धा इति केवलिक्षी । नोतित्थगर इति सामान्यकेवलिपुरुषाः । पं. १८. न [हु] नशुसक इति तीर्थकृतः स्यः । 35

[पृष्ठ ४१]

पं. २. मिथ्यावरण इति ज्ञानावरणादिक्षयो विहितः स मिथ्या जिनस्य प्राप्नोति, समयादूर्ध्वं केवलज्ञान-दर्शनोपयोगयोः पुनरप्यभावात् ।

[पृष्ठ ४३]

5 पं. १५. सूक्तक्रमोदेश[त] इति नन्द्यादिसूत्रे इत्थमेवोपन्यस्तम् । पं. १९. भेदोपचार इति केवलज्ञानभेदेऽपि व्यभिचार इति, न केवलमुभयपदव्यभिचारे यथा नीलोत्पलम् । पं. २६. क्षयस्येति समस्तावरणक्षयसम्भूतवात् ।

[पृष्ठ ४४]

पं. ६. निबन्धनत्वादिति वाक्यरिस्पन्दस्य ।

[पृष्ठ ४५]

10 पं. १६. नाणाणऽज्ञाणाणि य समकालाइमित्यादि, न तूवयोगो इति समकालः । पं. १९. कज्जतया निषेध इति । पं. २१. भेदादिति भेदानां भेदः । पं. २३. सोऽद्विदिय इति भावशुतप्रन्थः । अवधरलंभ इति यथा गन्धं गृहीत्वा सुरभिअक्षरप्रहणम् । सेसेसु इति इन्द्रियेषु । पं. २६. आवरण० इति मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरण० ।

[पृष्ठ ४६]

पं. ६. सदसतोरविशेषादिति स्यात्पदवैधुर्यात् । पं. ७. द्रव्यत्वेन मिछ्छिद्विस्स इति सर्वो बौधोऽज्ञानम् ।

15 पं. ९. देवादिधर्ममिति देवतत्त्वम् । पं. १९. औत्पत्तिक्यादि इति प्रातिभमिति हृदयम् ।

[पृष्ठ ४९]

पं. १४. अविच्युति-स्मृति-वासनारूपा [!] । पं. २८. न पश्यतीति चक्षुः कर्तु । नालम्बत इति मनः कर्तु ।

[पृष्ठ ५०]

पं. १६. श्रूयतेऽनेनेति अत्र व्युत्पत्तिर्नादियते किन्तु अर्थमात्रम् ।

20

[पृष्ठ ५१]

पं. १३. अपाय इति सामस्त्येन परिच्छेदः ।

[पृष्ठ ५४]

पं. ६. द्रव्यं व्यञ्जनमिति द्रव्यादिविषयपरिणतपुद्गलसमूहरूपम् । पं. ७. स्वविषयव्यञ्जकाविति ग्राहकज्ञनने ।

पं. ९. तर्मर्थमिति व्यञ्जनार्थम्, इन्द्रिय-मनोव्यापारेणालम्बते इत्यर्थः । पं. १०. कल्पनारहितमिति एतच्च “ताहे

25 हुं ति करेति” [सूत्र. ५८. पत्र. ५३ पं. १५] इत्यस्य व्याख्यानम् । पं. १४. अथवा यदुक्तं इत्यादिकपातनिका-द्रव्यस्य व्याख्या । पं. १७. अव्यक्तमिति शब्दोऽयं रूपादिर्वा इत्यादिग्रारेण वक्तव्यम् । स्वरूप(पं) नामादीति आदि-शब्दाद् जाति-क्रिया-गुण-द्रव्यग्रहः । पं. १८. तस्य चेति अर्थवप्रहस्य । पं. २३. नैतदेवमिति सूरिराह ।

30

पं. २५. शब्दबुद्ध्या इति शब्दोऽयमित्यध्यवसायेन । तस्यैवेति अर्थावप्रहस्य । पं. २८. जइ एवमिति पर आह । जं इति यज्ञन्द्यध्ययनग्रोक्तं तेन इत्यादि ।

[पृष्ठ ५१]

पं. १५. अन्यत्रापीति स्वप्नादन्यत्र सान्धकारापवरकादौ ।

[पृष्ठ ५६]

पं. १. यंचोदद्वयाद्या इति औदयिकौपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकाः । जं नेयमिति यतो द्वेयमेतत्व-

देव । पं. २. तद्वा(?)भा)वनया इति श्रुतोपयोगमन्तरेण तद्वासनामात्रत एव ।

[पृष्ठ ५८]

- पं. १. स्तोकद्व्यलादिति शब्दद्व्ययेक्षया गन्धादिद्व्याणि स्तोकानि । विनिश्चिनोति इति घाणादि इन्द्रियं कर्तृ ।
पं. ४. तद्योग्य इति भाषायोग्यः । पं. ६. क्षेत्र इति आकाशम् । पं. १२. पराघाए(ते) इति आसनायां सत्याम् ।

[पृष्ठ ५९]

- पं. २६. यस्तदावरणक्षयोपशमो यथा तज्ज्ञानोपयोगश्च एतौ द्वावपि लब्ध्यक्षरम् ।

[पृष्ठ ६०]

- पं. १. एवं शेषेष्वपि इति घट-कर्पर-कर्करा-हंसतूली[बु] । पं. १५. व्यापार इति उच्छ्वसितादिः ।
पं. २७. कालिक्युपदेश इति संज्ञिश्चतन्यपदेशः ।

[पृष्ठ ६१]

- पं. २८. न सन्ति लोका इति “अपुत्रस्य गतिनास्ति०” इत्यादि ।

[पृष्ठ ६३]

- पं. २९. भग्ना इति ये भग्नास्ते न निधानगताः । निव्युया इति वर्तमानकाले सुखिनः ।

[पृष्ठ ६४]

- पं. ३. आयारम्मि इति आचारनिर्युक्तौ ।

[पृष्ठ ६५]

- पं. १५. अधिकारवशादिति प्रतिपक्षसम्बन्धवशादिति । पं. २२. अधिकृतमिति साद्यादिस्वरूपम् ।

[पृष्ठ ६६]

- पं. १८. गु(तु)डियाणि नी(त)तादीनि । पं. २०. आयन्नेसु य इति अनान्येषु । पं. २१. अन्नेसु य
इति दशतिरिक्तेषु । पुण्डभवरहिया इति मृत्वा पुनर्युगलधार्मिका न(न) ।

[पृष्ठ ६७]

- पं. १६. गति-स्थित्यादीत्यत्र द्रव्य-सेत्र-काल-भावभावना कार्या ।

[पृष्ठ ६८]

- पं. ९. नज्ञे(तज्ज्ञे)यमिति वटाधमिलान्यार्थरूपम् । आ(अ)कारादि इति अर्थान् क्षरति संशब्दयति वाऽर्थलोपादक्षरम् ।
पं. १०. अक्षरस्येति सर्वपर्यायपरिमाणाक्षरस्य । पं. १६. सञ्चागास इति लोका-लोकाकाश इति ।
पं. २२. अत एवेति प्रकरणाद् अपिशब्दाद् । पं. २३. उभयमयीति श्रुताक्षरं केवलाक्षरम् ।

[पृष्ठ ६९]

- पं. ३. स्वपर्यायविशेषण इति स्वपर्यायाणां विशेषणे-विशेषव्यवस्थापकेन उपयोगात् । पं. ८. अविरोध इति
विशेषणत्वेन । पं. १८. गमिकमिति भिन्ने अर्थजाते यत् सद्वाक्षरालापकं तद् गमिकम्, असदृशं त्वगमिकम् ।
पं. २७. गायदुग्दमिति पूर्व-पश्चिमउदर-पृष्ठरूपम् । पं. ३१. निययमिति सर्वतीर्थकरतीर्थेषु नियतम् ।

[पृष्ठ ७१]

- पं. २०. दिनमिति कर्कसंकान्तिदिनम् । पं. २९. चेत्यादि इति मरणम् ।

[पृष्ठ ७३]

पं. ४. समाणे इति सन् । पं. ७. अंतद्विषेद इति आकाशस्थ इत्यर्थः । पं. ११. सिंगनाइयमिति
सह्यकार्यम् । पं. २७. द्विषिदशा इति अवस्थाः ।

[पृष्ठ ७४]

५ पं. २०. तच्छिष्यभाव इति शासनप्रणेतृतीर्थकरः ।

[पृष्ठ ७५]

पं. १७. इह चेति अथवा आचारगोचरविनयेत्यादौ ।

[पृष्ठ ७६]

पं. ९. प्रतिपत्तय इति मतान्तराणि । पं. १४. महापरिन्नोवहाणसुयं इति पठमो सुयनखंघः(धो) ।

१० पं. २९. सर्वंचूलो इति द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्च चूडाः । पं. ३०. आयारग्मा इति चूडादिकम् ।

[पृष्ठ ७७]

पं. ८. निकाचिता इति प्रतिष्ठिताः । पं. २८. रुद्ध्या उच्यते इति द्वितीयमेवाङ्गम् । पं. २९. व्यूह-
मिति तिरस्कारम् ।

[पृष्ठ ७८]

१५ पं. ५. ईश्वरकारिण(कारणिन) इति “अज्ञो जन्तुर्नीशः स्यादात्मनः सुख-दुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वन्नं वा
स्वर्गमेव वा ॥१॥” । पं. १०. पूर्ववदिति व्यूहं कृत्वा निवार्थ । पं. २६. उत्पत्तेरिति अग्रेतनानां त्रिविकल्पानाम-
सम्भवात् । पं. २७. सत्त्वमिति जीवः सन्, ततः किम्? इति विकल्पाः कार्याः । पं. ३२. अव्रमः लघुभासा ।

[पृष्ठ ८१]

पं. १९. ते ददृच्चा इति अर्थाधिकारसमूहात्मकान्येवाव्ययनानि दश वर्गां द्रष्टव्याः । पं. २४. एवं ठिए इति
२० प्रथमश्रुतस्कन्धवक्तव्यताथां भणितायाम् । पं. २८. अति(इ)ग्मा इति अतिगच्छत्तीति ।

[पृष्ठ ८४]

पं. १६. साहं(धें)ति इति शुभा-शुभम् ।

[पृष्ठ ८५]

पं. १७. इदं प्राय इति प्रायोग्रहणेन प्रथमानुयोगमात्रस्यास्तिवं तत्काले सूचयति ।

२५ पं. ६. चिंताए चि इति चिन्तायामपि ।

[पृष्ठ ८९]

पं. १६. छंदकिरिया इति छन्दः—शार्दूलादि करोति ।

[पृष्ठ ९०]

३० पं. १५. पउप्पए पञ्चोपके । सगरसुयाण इति पर्यन्ते, यतः सगरस्य जितशत्रुः भातृजः ।

॥ इति नन्दीविषमपदपर्यायाः समर्थिताः ॥

प्रथमं परिशिष्टम्

नन्दीसूत्रान्तर्गतानां सूत्रगाथानामकारादिवर्णकमेणानुक्रमणिका ।

गाथा	सूत्राङ्क	गाथाङ्क	गाथा	सूत्राङ्क	गाथाङ्क	गाथा	सूत्राङ्क	गाथाङ्क
अवधर सष्ठी सम्म	१२०	८३	काले चउण्ह बुड्डी	२४	५१;	पढमेत्थ इंदभूती	४	२०
[आव. नि. गा. १९]			[आव. नि. गा. २६]	११८	८	परतितिथगहपृष्ठणा-	२	१०
अद्भुतरहपृष्ठणे	६	३६	किमणुष्ण ? कस्सड्गुण्णा ?	१७८	८	पुङ्क सुषेति सह	६०	७५
अणुमाण-हेउ-दिहंत-	४७	६८	[अनुज्ञानन्दौ]			[आव. नि. गा. ५]		
[आव. नि. गा. १४८]			केवलणाणेणउत्थे	४२	५७	पुत्र अदिष्टमसुयम-	४७	५९
अथमहत्थक्खाणी	६	४१	[आव. नि. गा. ७८]			[आव. नि. गा. १३९]		
अत्थाणं उग्गहण	६०	७३;	खमए अमच्चपुते	४७	७०	आरस एकारसमे	१०९	८०
[आव. नि. गा. ३]	१५०	८६	[आव. नि. गा. १५०]			भणग करगे झरये	६	२८
अभए सेढ्टि कुमारे	४७	६९	गुणभक्षणगहण ! सुय-	२	४	भद्र धिवेलापरि-	२	११
[आव. नि. गा. १४९]			चत्तारि दुवालस अड्ड	१०९	८१	भद्र सव्वजगुजो-	१	३
अयलपुरा णिक्खते	६	३२	चलणाहण आमडे	४७	७१	भद्र सीलपडागू-	२	६
अह सब्बदव्वपरिणाम-	४२	५६	[आव. नि. गा. १५१]			भरणित्थरणसमत्था	४७	६३
[आव. नि. गा. ७७]			जञ्जणाधाडसम-	६	३१	[आव. नि. गा. १४३]		
अंगुलमावलियाणी	२४	४७	जयइ जगजीवजोणी-	१	१	भरहस्मि अद्वसासो	२४	४९
[आव. नि. गा. ३२]			जयइ सुयाणं पभवो	१	२	[आव. नि. गा. ३४]		
आगमसत्थगहण	१२०	८४	जसभहं तुगिये वंदे	६	२४	भरहसिल पणिय रुख्ले	४७	६०
[आव. नि. गा. २१]			जावतिया तिसमया-	२४	४५	[आव. नि. गा. १४०]		
ईहा आपोह वीमसा	६०	७७;	[आव. नि. गा. ३०]			भरहसिल मिठ कुकुड	४७	६१;
[आव. नि. गा. १२]	१५२	८४	जीवद्यासुंदरकंद-	२	१४	[आव. नि. गा. १४१]	१३३	१८
उग्गह ईहाऽवाओ	६०	७२;	जे अण्णे भगवंते	६	४३	भावमभावा हेउम	११५	८२
[आव. नि. गा. २]	१४९	८८	जैसि इमो अणुओगो	६	३३	भासासमसेढीओ	६०	७६
उग्गहो एकं समयं	६०	७४	णाणम्मि दंसणम्मि य	६	२९	[आव. नि. गा. ६]	१५१	१३
[आव. नि. गा. ४]			णाणवररयणदिप्तं-	२	१७	भूअहियथगव्वमे	६	३९
उत्पत्तिया वेणद्या	४७	५८	पिमिते अत्थसत्थे य	४७	६४	मणपञ्जवणाणं पुण	३३	५५
[आव. नि. गा. १३०]			[आव. नि. गा. १४४]			[आव. नि. गा. ७६]		
उवओगदिष्टसारा	४७	६६	पियमूसियकणयसिला-	२	१३	महुसित्थ मुहियके	४७	६२
[आव. नि. गा. १४६]			गेरतियदेवतिथंकरा	२९	५४	[आव. नि. गा. १४२]		
ऊससियं णीससियं	६६	७८	[आव. नि. गा. ६६]			मंडिय मोरियपुते	४	२१
[आव. नि. गा. २०]			णेब्बुइप्पहसासणयं	५	२२	मिउमद्वसंपणो	६	३६
प्लावच्चसगोत्तं	६	२५	तत्तो हिमवंतमहंत-	६	३४	मूर्यं हुंकारे वा	१२०	८६
ओही भवपच्चतियो	२९	५३	तवसंजमयलंछण !	२	९	[आव. नि. गा. २६]		
कम्परयजलोहविणि-	२	७	तिसमुद्लायक्रिंति	६	२७	बड्डउ वायगवेसो	६	२०
कालियसुयअणुओग-	६	३५	दस चोहस अड्डट्टा-	१०९	७९	वरकणगतविय-च्चय-	६	३७
						वंदे उसभं अजियं	३	१८

गाथा	सूत्राङ्क	गाथाङ्क	गाथा	सूत्राङ्क	गाथाङ्क	गाथा	सूत्राङ्क	गाथाङ्क
विणयणयपवरमुणिवर-	२	१६	संवरवरजलपगलिय-	२	१५	सुहमं अग्निवेसाणं	६	२३
विभलमणंतइ धम्मं	३	१९	सावयज्ञमहुयरिपरि-	२	८	सुहमो य होइ कालो	२४	५२
सम्भद्वासणवइरदढ-	२	१२	सीया साडी दीहं च	४७	६५	[आव. नि. गा. ३७]	७	४४
सञ्चबहुअगणिजीवा	२४	४६	[आव. नि. गा. १४५]			सेलधण कुडग चालणि	७	४४
[आव. नि. गा. ३१]			सुकुमाल्कोमलतले	६	४२	[आव. नि. गा. १३६]		
संखेज्जम्मि उ काले	२४	५०	सुत्तथो खलु पढमो	१२०	८७	हथम्मि मुहुतंतो	२४	४६
[आव. नि. गा. २५]			[आव. नि. गा. २४]			[आव. नि. गा. ३३]		
संगह१५ संवर१६ गिजर१७ १७९		पं. १	सुसुणियणिच्छाणिच्छ	६	४०	हारियगोतं शाइ	६	२६
[अनुक्तानन्दौ]			सुस्तूसइ पडिपुच्छइ	१२०	८५	हेरण्णए करिसए	४७	६७
संजमतवतुंबारथ-	२	५	[आव. नि. गा. २२]			[आव. नि. गा. १४७]		

द्वितीय परिशिष्टम्

नन्दीहारिभद्रीवृत्तिन्तहर्गपदव्याख्यालघुनन्दवृत्त्यन्तर्गतानामुद्धरणाना- मकारादिवर्णक्रमेणानुक्रमणिका ।

उद्धरणादि	पत्र पद्धिक	उद्धरणादि	पत्र-पद्धिक	उद्धरणादि	पत्र-पद्धिक
अउणत्तरि चउवीसा	९१-२	अच्छे ण चेत्र वीसुं	४० १७	आइच्चजसाइ सिवे	१६९-टिप्पौ
अउणत्सीसे वारे	९१-५	[विशेषणवती गा. १५४]		आइच्चजसाईणे	९०-१५
अकर्तरि च	११२-१३	अच्छे मर्वति मई	१२७-१९	आगंतुवाधिखोमे	१७-६; १०८-२३
अक्षरलंभेण समा	१६९-१६	[विशेषा गा. १४३]		[विशेषा. गा. १४७९, कल्पभा. गा. ३५९]	
[विशेषा गा. १४३]		अन्यथाऽनुपपञ्चत्वं	४८-३२	आचार्यस्यैव तज्जाडयं	१०३-१५
अचित्ता खलु जोणी	१००-७	[न्यायविनिश्चय का. ३२३]		आज्ञाध्यते यदवशः	७१-१२
[जिन संग्र. गा. ३५९, जीवस. गा. ४६]		अपुत्रस्य मतिनार्सित	१८५-११	आतक्षोपसर्गे	१८-६
अजायतष्टप्	१८-७	अप्रशान्तमतौ शाङ्क-	१०३-२०	[पा. ३ १.१३६]	
[पा. ४.१.४]		अबभंतरावही नाम जन्थ	१२०-५	आतो लोप इटि च १७-१४;	१८-६
अहः सुखमाराघ्यः	१११-१	[आवश्यकचू. विभाग १ पत्र ६२]		[पा. ६.४ ६४]	
[भर्तुहरित्रिशती १.२]		अर्शआदिभ्यः	३४-९	आदेसो त्ति पगारो ५५-२८;	१४९-३
अज्ञो जन्तुरनीशः स्या-	१६४-१८	[पा. ५. २. १२७]		[विशेषा. गा. ४०३]	
अट्टेगस्त्रिभागा	१६२-११	अवि गोपयम्मि वि विए १६-२६; १०६-२८		आदेसो त्ति व सुत्त ५६-२; १४९-१९	
अणिगूहियबलविरिओ	७६-२	[विशेषा. गा. १४६९, कल्पभा. गा. ३४९]		[विशेषा. गा. ४०५]	
अणो दोजिहि कलं १६-३०; १०७-२४	१६४-१८	अव्वत्तमणिदेसं ५४-२८;	१४५-२९	आमे घडे निहितं	१६-८
[विशेषा गा. १४७३, कल्पभा. गा. ३५३]		[विशेषा. गा. २५२]		[नि. भा. गा. ६२४३]	
अत इनि ठनौ	६९-२०	अश भोजने	२०-९	आवरिए सुत्तमिय १६-१४; १०३-२०	
[पा. ५. २. ११५]		[पा. धातु १५२४]		[विशेषा. गा. १४५७, कल्पभा. गा. २३७]	
अतिसेस १ इद्धि २ आयरिय ३	७५-२५	अश व्यासौ	२०-८	आमारम्भ अहीए	६४-३
[निशीथभा गा. ३३]		[पा. धातु. १२६५]		[आचाराङ्गनि. गा. १०]	
अतीतानागतान् भावान्	६३-२७	अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-	४-२१; ६३-१	आहार सरीरिंदिथ	३४-७
अथं भासइ अरहा	१८-१२	असंखेयाणं समयाणं समु-	२७-२३	[वृहत्सं. गा. ३४९]	
[आव नि. गा. ९२]		[अनुयो सू. १३८]		इक् कृष्णादिभ्यः	१-२३
अथशब्दः प्रक्रिया-प्रश्ना-	४३-१६	अस्यामेव हि जातौ	७१-९	[पा. वा. ३-३-१०८]	
अनपत्यस्य न सन्ति लोकाः	६१-२८	अह ण वि एवं ता सुष्ण	४१-२०	इगवीस सहस्राई	६७-२
अनशनमूनोदरता	५-२९	[विशेषणवती गा. २०३]		इगवीसं कोडिसंयं	८१-२३
[प्रश्नम आ १७५]		अह देसणाण-दंसण-	४२-२३	इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः	१७-१४
अनादिमानागमः	५२-२६	[विशेषणवती गा. १५७]		[पा. ३.१.१३५]	
अनुपवोगो इव्यम्	२-८	अहलोदयगमेसुं	१२२-२३	इत्थीअ आवि संकमणं	११९-१५
[अनुयोग सू. १३]		अहिसाव्यवस्थितः तपस्ची	९-४	इदितो तुम् धातोः	१-१८
अच्छे अणक्षर-ऽक्षर-	१२७-२३	अंतो-वहिनिवृत्ती	११३-२०	[पा. ७.१.५८]	
[विशेषा गा. १६२]		अंबत्तणे जीहाए	१६-२४; १०६-१६	इह छज्जीविणिके-	६९-१९
		[विशेषा. गा. १४६७, कल्पभा. गा. ३४७]		[दशवै. अ. ४ सू. १-३]	

उद्धरणादि	पत्र-पहिक्क	उद्धरणादि	पत्र-पहिक्क	उद्धरणादि	पत्र-पहिक्क
इहराऽऽशी-गिषणतं	४०-२९	ए होइ अयारंते	२८-१९	केवलमेग सुद्ध	११२-१८
[विशेषणवती गा. १९४]		ऐश्वर्यस्थ समग्रस्थ	३-२४; ६३-८	[विशेषा गा. ८४]	
इह लद्धि-मद्दुयाइ ४५-१७;	१२९-१८	ओसचिपीए एसो	६७-४	को आउरस्स कालो	१०६-१०
[विशेषा गा. १०८]		कज्जतया, ण तु कमसो ४५-१९; १३०-४		[निशीथभाष्य गा. १०]	
इह हि प्रमत्तमनसः	७१-१३	[विशेषा. गा. ११०]		कोमुझ्या १ संगामिय २ १७-३; १०८-१७	
इहाघोलौकिका आमा	३६-१०	कति ण भंते । एर्गिदियाण	६१-२५	[विशेषा. गा. १४७६, कल्पभा. गा. ३५६]	
ईर गति-प्रेरणयोः	४-९	कम्मे सिप्पे विज्ञा य	३७-१६	खेत्त लोगा-इलोगं ५६-१; १४९-१२	
उत्तमभरमाऊं	१००-२३	[आव. नि. गा. ५२७]		[विशेषा. गा. ४०४]	
उत्पव्यते च पनकः	२६-२३	कर्मण्	११२-१२	गणधरकयमंगगायं	६९-३०
उदय-बख्य-बख्योवस-	२२-४	[पा. ३. २. १]		गावीए पुण दिंचं	११९-१३
[विशेषा. गा. ५७३, धर्मसं. गा. १४९]		कलुसफलेण ण जुज्जद	६२-११	गुण-दोसविसेसस्थू	१७-१८
उपमित व्याघ्रादिभिः	५-१८	[विशेषा. गा. ३२६५]		[कल्पभा. गा. ३६५]	
[पा. २. १. ५६]		क-वै शैषड्जत्वानि	१०९-१५	गोद्धियोरुपसर्जनस्य	१८-१
उरल-विउवा-ऽहारे	१२९-टि १	कस्स व जाणुमतमिणं	४३-६	[पा. १. २. ४८]	
[विचारसप्तिका गा. ४४]		[विशेषणवती गा. २४६, विशेषा. गा. ३१३२]		चउ तिय चउरो दो दो	१६५-४
उलेझ्य न सको	१६-१२; १०२-२९	कहि ण भंते ! सम्मुच्छिम-	३३-१९	चउ बारसङ्घ दस या	९३-४
[विशेषा. गा. १४५५, कल्पभा. गा. ३३५]		[प्रज्ञा. पदम् १ सत्रम् ३६]		चउभाग चउब्भागो	१२४-३
उवउत्तसेमेव य	४१-२६	काय-वाढ-मनःकर्म योगः	३७-२५	चतुर्थी चाऽशिष्याऽऽयुध्य-	४-१५
[विशेषणवती गा. २०६]		[तत्त्वा ६. १]	१०६-८	[पा. २. ३. ७३]	
उवओगे एगवरो	४३-१	काया वथा य ते चिय		चत्तारि विचित्ताइ	७२-४
[विशेषणवती गा. २३२, विशेषा. गा. ३१२०]		[कल्पभा. गा. ४९७९]		चत्तारि सामरोक्षम-	६६-१२
उवभोग-परीभोग जम्म-	६६-१४	कारण-कज्जिभागो	१५६-४	चरियं च कपिप्यं चिय	१०४-१
उवभोग-परीभोग तेसि	६६-२४ २७	काले १ विणए २ बहुमाणे ३	७५-२०	[पिडनि. गा. ६३०]	
उवभोग-परीभोग पवरो	६७-१	[दशवै. नि. गा. १८६]		चित्तरत्नसंक्षिष्ठ-	८-२५
उवयोग-सर-पयत्ता	६७-१४	किह पडिकुकुडहीणो	१३२-७	चोद्दस दस य अभिष्णे	१५५-८
[विशेषा. गा. ५४७]		[विशेषा. गा. ३०४]		[विशेषा. गा. ५३४]	
ऋषयः संयतात्मानः	६३-२६	किचिच्चमत्तगाही	१७-२४	चोद्दस लक्खा सिद्धा	९०-१६
एएसु य अञ्चसु य	६६-२१	[कल्पभा. गा. ३६९]		छुउमत्याणं सञ्चा	१५४-१७
एकारस तेवीसा	९१-१	कुपपव्यण ओसन्नेहि १६-१८; १०४-१६		[विशेषा. गा. ५२४]	
एय चउ सत्त दसगं	९०-२७	[विशेषा. गा. १४६९, कल्पभा. गा. ३११]		छुउमत्ये ण भंते ! मणुस्से	१२५-२६
एर्गिदिय-नेरइया	१००-१६	कृत्यल्युओ बहुलम् १-२४; ६-३१;		[भगवतीपत्र ७५५]	
[जिन. संप्र. गा. ३५८, जीवस. गा. ४५]		[पा. ३. ३. ११३]	२-१	छुउउ भूमीए १६-२८; १०७-८	
एगुत्तरा उ ठाणा	९०-१९	कृदिकारादवितनः		[विशेषा. गा. १४७१, कल्पभा. गा. ३५१]	
एरेण विसइ बीएण	१६-२१; १०५-७	[पा. वा. ४. १. ४५]	१५३-३०	छण्ह वि सममारमे	१२१-टि. १
[विशेषा. गा. १४६४, कल्पभा. गा. ३४४]		कृमि-कीट-पत्ताद्याः		[विचारसप्तिका गा. ४६]	
एतं तु कालचकं	६७-५	[नन्दिचूर्णि पत्र ४८]	११६-१४	जगन्ति जङ्गमान्याहु-	२-३१
एतो उ किलिद्धुतरा	६७-३	कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्	४०-१५	जति सद्बुद्धिमेत्य-	५४-३०; १४६-२६
एवमसंखेजाओ	९१-७	केइं भण्टि जुगवं		[विशेषणवती गा. १५३]	
एवं चिय सुमिणादिसु	५५-९; १४८-१८	[विशेषणवती गा. १५३]			
[विशेषा. गा. २१४]					

उद्धरणादि	पत्र-पट्टिका	उद्धरणादि	पत्र-पट्टिका	उद्धरणादि	पत्र-पट्टिका
जह किर खीणावरणे [विशेषणवती गा. १५५]	४२-१८	ज्ञानमप्रतिघं यस्य दुष्णदि समृद्धौ	६३-४	तावसखउरकदिणयं	१६-२२; १०५-२२
जह जुग्खुपत्तीय वि [विशेषणवती गा. २१९]	४२-१२	[पा. धा. पा. ६७]	१-१८	[विशेषा. गा. १४६५, कल्पभा. गा. ३४५]	
जह दुब्ययामवयणं [विशेषा. गा. ५२०]	१५४-१२	ठिहंधु इलस्स छिई [पञ्चसङ्ग्रह गा. ४३२]	१६७-५	ताहे बिउत्तराए	९०-२६
जह पासइ तह पासउ [विशेषणवती गा. १९२]	४२-२७	ग दुक्करे तोडिय अबपिढी जवंबचेरमझओ	६३-२३	तिथं च सुहम्माओ	११-१
ज केवलाइ सादी [विशेषणवती गा. १९३]	४०-२५	[आचा. नि. गा. ११]	७६-२७	तिथं भते ! तिथं ?	३९-२
जे सामि-काल-कारण- [विशेषा. गा. ८५]	११३-४	आणमिम दंसुणमिम य [विशेषणवती गा. २२९,	४२-३०	[भग. श. २३ उ. ८ सू. ६८२]	
जा खलु अभाविया कु- [कल्पभा. गा. ३६८]	११०-२६	विशेषा. गा. ३०९६]		तिथगाइबिउत्तराए	९०-२८
जाणति बज्झेऽणुमाणाओ [विशेषा. गा. ११४]	३५-१६	णाणाणडण्णाणाणि य [विशेषा. गा. १०७]	४५-१६; १२९-९	तिहि नाजेहि समग्गा	१२०-२१
जा पश्चासमसंखा जावइया तिसमया-	१६८-टिप्पणी	णातिविग्निहो य तबो	७२-५	[आव. भाष्य गा. ११० पत्र १०७]	
[आव. नि. गा. ३०]	३३-१९	णिसंस्किय १ शिक्कंशिय २ [दशवै गा. १८४]	७५-२३	तीए पुण विसुद्धीए	११९-१४
जाव ग एस जीवे एयइ वेयइ [भग. श. उ. सू. पत्र	४-२६	जेहि जिओ मि ति अह १७-५; १०८-२१		तीए पुरिसाणमाउ एंगं	६६-२६
जाव य लक्खा चोद्दस जि जये	९०-१८	[विशेषा. गा. १४७८, कल्पभा. गा. ३५८]		तीए पुरिसाणमाउ तिणि	६६-१३
जिणतरे साहुवोच्छेओ [आव. नि. गा. ३६९]	४-१६	तज्जातेण य तज्जायं	१३७-१८	तीए पुरिसाणमाउ दोणि	६६-२३
जीवादीनां वृत्ति- जुगवयजाणतो वि हु	३०-१	[गणिविद्या गा. ७५]		तीए पुरिसाणमाउ पुव्व- तुच्छा गारववहुला	६६-३०
[विशेषणवती गा. २१६]	४२-१	तज्जानमेव न भवति	६२-८	[विशेषा. गा. ५५२]	
जुगवं पि समुप्पचं जे एंग जाणति से सबं	१५६-५	ततिएगादितिउत्तर	९०-२४	तुले उभयावरण-	४२-४
[आचाराङ्ग श्रु. १ अ. ३ उ. ४ सू. १]	६९-८	तत्त्वावगमसहावे	१५५-१९	[विशेषणवती गा. २१७]	
जे जतिया उ हैऊ [ओघनि. गा. ५३]	१०१-२४	[विशेषा. गा. ५३५]		ते उण दुसमयठितस्स	४-३०
जे पुण अभाविया खलु १६-१९; १०८-३०		तत्त्वो तिजि नरिदा	९०-२५	[पञ्चा. न६ गा. ४२]	
[विशेषा. गा. १४६२, कल्पभा. गा. ३४२]		तत्व-संजमजोगेसु	१७७-२३	तेण पर दुलक्षणादी	९०-२१
जोएण कम्मरण [सुब्रक. नि. गा. १७७]	३-४	तह य असव्वनुतं	४१-८	ते पुण दसप्पगारा	६६-१५
जोतिसणिमित्तणाणं	७१-२६	[विशेषणवती गा. १५५]		तेया-भासादब्बाण	३०-१५
		तं च पंचादा सम्बं । ओव-	५-१५	तेषामपितिताना-	७३-१४
		[विशेषा. गा. ५२८]		ते सोहिंजंति फुहं	८१-२१
		तं पुण चउव्विहं नेथै-	१४८-२६	तो तिन्हि सागरोवम-	६६-२२
		[विशेषा. गा. ४०२]		तो दुसमसुस्समूणा	६६-२१
		तात्त्वात् तद्रथपदेशः	३६-२७	तो सुसमदूसमाए	६६-२५
		[पा. ३. ४. ७५]		थाणपुरिसादि-कट्ठु-	५४-८; १४८-३
		ताभ्यामन्यत्रोणादयः	१-२२	[विशेषा. गा. २९३]	
		[पा. धा. ६७]		थोवमियं जावायो-येवै	५४-३१; १४७-७
		तावज्जघन्यमवधे-	२६-२४	[विशेषा. गा. २५५]	
				दिंतस्स लभंतस्स य	४१-२४
				[विशेषणवती गा. २०५]	
				दीवसिहा जोतिसणामय	६६-१९
				दुग पण णवगं तेरस	९०-२९
				दुधाव धारण-योषणयोः	९८-४
				[पा. धातु. १०९२]	

उद्धरणादि	पत्र-पठिक्त	उद्धरणादि	पत्र-पठिक्त	उद्धरणादि	पत्र-पठिक्त
दुर्गतिप्रसवान् जीवान्	३-१७	पलगा इव पलगा:- अवयवाः	१६५-१०	भणियं पि य पञ्चती	४२-१४; १२५-२२
हष्ट्वाऽप्यालोक नैव विश्रम्भतव्यं	७१-१५	[समवायाङ्गवृत्ति पत्र ११३-२]		[विशेषणवती गा. २२०, विशेषा. गा. ३११२]	
देवसयजिङ्गसि देवदूसंतरिए	१००-१८	पंचण्हमूहसना	१५४-१६	भणिया जोग्या-ङ्गोग्या	१७-९; ११०-१९
देवागम-नभोयान-	६३-१९	पंचहि वि इदिएहि	१३०-१८;	[विशेषा. गा. १४८२, कल्पभा. गा. ३६२]	
[आस्मीमांसा का.१]		[जीवस. गा. ६२]	१४४-२६	भणिद, जहोहिणाणी	४२-२५
देसआपोवरमे	४२-२१	पाञ्च थोवं थोवं	१६-२९; १०७-१४	[विशेषा. गा. १४७२, कल्पभा. गा. ३५२]	
[विशेषणवती गा. १५६]		[विशेषा. गा. १४७२, कल्पभा. गा. ३५२]		भण्णति, ण एस नियमो	४२-१०
दो लक्षा सिद्धीए	१००-२२	पागयभासनिबद्धं	१०६-७	[विशेषणवती गा. २१८]	
दो वारे विजयाइसु	१९-१४	पाददुग्ं २ जंघोरू २	६९-२७	भण्णति, भिजमुहुतो	४१-१४
[विशेषा. गा. ४३६]		पासंतो वि ण जाणइ	४१-२८	[विशेषणवती गा. २०२]	
धर्मशास्त्रार्थवेतथात्	१०२-२१	पिहु पिहु असंखसमय-	१२१-टि. १	भरहसिल १ मिंद २ कुकुड २	१३२-१०
नद्विमि तु छाउभथिए नाणे	१५६-२४	[विचारसप्तिका गा. ४५]		[आव. नि. गा. ९४१]	
[आव. नि. गा. ५३९]		पिडविसोही ४ समिती ५	१२-२२	भवत्रय्यो नारकदेवानां	१२०-२०
नत्थि नएहि विद्वॄण	१७२-२९	[ओघनि. गा. ३]		[तत्त्वार्थ. अ. १ सु. २२]	
नमित्तण जिणवरिदे	११९-१९	पिडस्स जा विसोही	५-१०	भंभा मउंद भद्वल	२-१५
[उपदेशमाला गा. १]		[व्यव. भा. पी. गा. २०९]		भाविय इयरे वि कुडा १६-१६; १०४-१२	
न वि अथि न वि य होही	१०४-२	पिडेसण १ सेजिरिया ३	७६-१५;	[विशेषा. गा. १४५९, कल्पभा. गा. ३३९]	
[अनुयो. पत्र २३२, उत्तरा. नि. गा. ३०९]			१६४-१	भूतस्य भाविनो वा	२-११; १७१-१६
नाणमवाय-यिहो	१५५-२०			मझाः क्रोशन्ति ११८-२०; ११९-३२; १५१-१९	
[विशेषा. गा. ५३६]				मज्जे विसय कसाया	७१-५
नाम्युपधत्वात्	१२३-२३			मज्ज्ञ पितुं तुज्ज्ञ पिता	१३७-६
[कातन्त्र ४. २. ५१]				मणियंगेसु य भूसण-	६६-२०
निर्गंथ सक तात्स	७५-११			मतिपुत्रं लेण सुयं	११-२०
[पिण्डनि. गा. ४४५]				[विशेषा. गा. ८६]	
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा	४१-६; १२५-७			मत्तंगएसु मज्जं	६६-१८
[प्रमाणवार्तिक ३-४]				मत्तंगया १ य मिंगा २	६६-१६
निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्	२०-२५			मसउ व्व तुदं जचादिएहि १६-२७; १०७-३	
[तत्त्वा. २. १७]				[विशेषा. गा. १४७०, कल्पभा. गा. ३५०]	
नेगम संगह ववहार	१३२-३१			मा यिष्वव इय दातुं	१७-८; ११०-९
नोदन्वार्थितामेति	२२-२५			[विशेषा. गा. १४८१, कल्पभा. गा. ३६१]	
पगतीमुद्ध अथाणिय	१७-२१			मा मे होज अवणो	१७-१; १०८-३
[कल्पभा. गा. ३६७]				[विशेषा. गा. १४७४, कल्पभा. गा. ३५४]	
पश्चाश्वाद् विरमणं	५-२६			मिच्छत्ता संकेती	३४-१३; १२१-१४
[प्रशम. आ. १७२]				[कल्पभा. गा. ११४]	
पणिहाणजोगजुत्तो	७५-२८			मिस्सतं जोणीए	१००-५
[दशवै. नि. गा. १८७]				मीसा य गव्ववसही	१००-४
पणुतीसं कोडिसयं	८१-२८			मुक्तं तथा अगहिते	१७-७; १०९-२८
परिहरणा होइ वरिखोगो	१६६-११			[विशेषा. गा. १४८०, कल्पभा. गा. ३६०]	
पलवग्राहि पाणित्यं	११०-३०				

नन्दीसूत्रवृत्त्यावन्तर्गतानामुद्धरणानामकारादिक्रमः ।

१९३

उद्धरणादि	पत्र-पट्टिका	उद्धरणादि	पत्र-पट्टिका	उद्धरणादि	पत्र-पट्टिका
मोहा-५३उगवज्जाण [पश्चा. १६ शा. ४१]	४-२९	व्याख्यानयन्ति केचित् [नन्दिहरिभद्रहत्ति]	३-२७	सर्वतोऽक्षिङ्गर्थादित्ये [पा. वा. ४. १ ४५]	२-१
मौ यौ पञ्चाऽश्वे- [जयदेवच्छन्दः अ ६ सू. २७]	१६२-४	शूर वीर विकान्तौ [पा. धा. पा. ११०३]	४-८	सर्वधातुभ्य इत् [पा. उ. ५६७]	१-१९
यद् वस्तुनोऽभिधानं	६७-टि. १	श्रेयांसि बहुविघ्नानि	१-१५	सर्वव्यक्तिषु नियतं	१४-१९
यत्र प्रयान्ति पुरुषाः	७१-१०	श्रेयो विषमुपभुक्तं	७१-८	सब्बगयं सम्मतं	११२-२९
यस्य	२-३	षिज् बन्धने वा	१२३-२४	[आव. नि. गा. ८३०, विशेषा. गा. २७५१]	
[पा. ६. ४ १४८]		विद्विदादिभ्योऽङ्	१८-५	सब्बथोका तिथगरीसिद्धा	३९-१६
यः समः सर्वभूतेषु	७-३	[पा. ३. ३. १०४]	३७-१४	[सिद्धप्राभृत गा. १०० वृत्तौ]	
यः साध्यस्योपमाभूतः	४९-१	विषू शाले माङ्गल्ये च		सब्बन्तुपामज्ञा	१६-२३; १०६-१
यु मिथ्रणे	३-२	[पा. धातु. ४८]		[विशेषावश्यकगा. १४६३, कल्पभा. गा. ३४६]	
[पा. धा. पा. १०३३]		विधौ संराद्धौ	३७-१३	सब्बाओ वि गतीओ	९३-७
योजनसहस्रमानो	२६-१९	[पा. धातु. ११९२]		सब्बा वि य अज्ञाओ	१६० ८
यो ह्यभ्युपेतसम्यक्त्वो	६-२८	सक्षक्षसंसा, गुणगाहि	१७-४; १०८-१९	[मरणसमाधि गा. ५४१]	
रविओ ति ठिओ मेहो १६-१३; १०२-३१		[विशेषा. गा. १४५६, कल्पभा. गा. ३३६]		सब्बे पाणा सब्बे भूया	३-१३
[विशेषा. गा. १४५६, कल्पभा. गा. ३३६]		सह्यवातीताख्याद्गुल-	२६-२२	[आचा श्रु १ अ ४ उ. १ सूत्र १-२]	
राध साध संसिद्धौ	३७-१३	सचित्तशीतसंवृत्तेर-	३-१	सब्बेसि आयारो	८८-२५; १६६ ३४
[पा. धातु. १२६३-६४]		[तत्त्वार्थ २. ३३]		[आचाराङ्गनि. गा. ८]	
रुप्यं पत्तेयवृहा	१२४-१२	सज्जायज्ञाणतवओसहेसु	३-२१	सहवत्ति गुणा कमवत्ति	१०२-४
लक्षणभेद्या हेतुफल-	१२७-१२	[आव. नि. गा. १५०४]		संखातीते वि भवे	३३-१४
[विशेषा. गा. ९७]		सद्गु कागसहस्रा	१३५-६	[आव. नि. गा. ५९०]	
लद्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्	२०-२७	सततं न देति लहति व	४१-२२	संसारबन्धनगतो	७१-११
[तत्त्वा २. १०]		[विशेषणवती गा. २०४]		संहृत्य चाऽऽयसमये	२६-२०
व्यमाय अवमाय वि य १६-१७; १०४-१४		सत्य य छ चड चउरो	७६-२५	सामण्णत्वाद्गमहण	१५०-१८
[विशेषा. गा. १४६०, कल्पभा. गा. ३४०]		सत्त्विहवंघमा होति	४-२८	[विशेषा. गा. १८०]	
वयस्मणधम्म-	७२-१०	[पश्चा. १६ गा. ४०]		सामत्यमेत्तमेयं	११८-५
[ओवनि भा. गा. २]		सत्यपरिक्षा १ लोगविजयो २	७६-१३	[विशेषा. गा. ६०५]	
वंजणवग्गहक्षालो	५३-७	[आवश्यकसंग्रहणीहारि. वृत्ति पत्र ६६०-१]		सामान्योक्तावपि प्राधान्य-	६-१३
वाचना प्रच्छना परात्वत्वेना	६-१०	सदसदिविसेसणाओ	४६-७; १३१-२०	सावज्ञोगविरती	७०-९
वासं कोडीसहित्यं	७२-६	[विशेषा. गा. ११५]		[अनुयोग. पत्र ४३-१]	
विवरीत्य सब्बुंडे	९०-२०	सदे ति भणति वत्ता	५४-२९; १४६-१४	सिवगति पदमारीए	९१-६
विशेषणं विशेष्येण बहुलम्	८-२९	[विशेषा. गा. २५३]		सिवगति-सब्बट्टेहि चित्त-	९०-२३
[पा. २. १. १७]		स-परप्यक्षायणओ	१२७-२६	सिवगति-सब्बट्टेहि दो	९१-३
विस्मुत्तराय पदमा	९१-४	[विशेषा. गा. १७१]		सि वर्ण-बन्धनयोः	३४-१८
कुद्रे वि दोणमेहे	१६-१५; १०४-५	समणं जदा कूलवालयं	१४३-२३	सीओसियोगीया	१००-११
[विशेषा. गा. १४५८, कल्पभा. गा. ३३८]		सम्मत १ नाण ३ दंसण ३	१२४-२३	[जिन. सङ्ग्र. गा. ३६०, जीवस. गा. ४७]	
वेउव्वा-५३हाराण	१२१-११	समयविनियिह महिसो १६-२५; १०६-२२			
वेउव्विय पजत्ती	१२१-टि. १	[विशेषा. गा. १४६४, कल्पभा. गा. ३४८]			

उद्धरणादि	पत्र-पट्टिका	उद्धरणादि	पत्र-पट्टिका	उद्धरणादि	पत्र-पट्टिका
खींधा पठिच्छगणं	१७-२; १०८-९	सेले य छिङ्ग चालणि	१६-२०; १०५-५	स्वकल्पनुप्रभुत्वमात्रं	२६-२१
[विशेषा. गा. १४७५, कल्पभा. गा. ३५५]		[विशेषा. गा. १४६३, कल्पभा. गा. ३४३]		स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता	१६७-३
सुयथम्नो सज्जाओ	१-११	सेसेसु वि रुवादिसु	५५-७; १४७-२०	हृवद् य सपंचचूलो	७६-२९
[निशीथभाष्य गा. ३२९९]		[विशेषा. गा. २९२]		[आचा नि गा. ११]	
सुरलिंगे पुष्ट्वसुए	१२४-१३	सोइदियोकलद्वी	४५-२३; १३०-२०	होइ अयोहोडवाओ	१५२-१३
सुसमदुसमावसेसे	६६-२८	[विशेषा. गा. ११७]		ह्रस्वो नयुंसके प्राति-	१८-८
सुदरबुद्धीए क्यं	११९-१३	सोऊण जा भत्ती मे	४५-१८; १२९-२६	[पा. १. २. ४७]	
सूच् सूचायाम्	७७-२७	[विशेषा. गा. १०९]			



तृतीयं परिशिष्टम् ।

नन्दीसूत्रमूल-हारिभद्रीबृत्ति-हा. बृ. दुर्गपदव्याख्या-हा. बृ. विषमपदटिप्पनक-सबृत्तिलघुनन्दी-योगनन्दीसूत्रान्तर्गतानां विशेषनामनामकारादिवर्णकमेणानुकमणिका ।

[अस्मिन् परिशिष्टे *एतादृक्पुष्पिकायुतानि नामानि नन्दीसूत्रमूलादिसूत्रपाठगतानि हेयानि]

विशेषनाम	किम्?	पत्र-पड्डक्त	विशेषनाम	किम्?	पत्र-पड्डक्त	विशेषनाम	किम्?	पत्र-पड्डक्त
*अक्षिपथ	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-११	अणियण	कलपवृक्षनाम	६६-१७ २०	अरुण	देव	७३-४
अक्षिरियवादि	दार्शनिक	७४-१०	आयज्ञ	„	„	अरुणोपपात	जैनागम	७२-३
* „ „	७७-१८	*अणुओगद्वार	जैनागम	७०-१९;	१८०-१८	*अरुणोववाथ	„	७२-२२;
अक्षियवादिन्	„	७८-१०,११	*अणुत्तरोव-	„	६२-२५; ७४-२५;	अर्ज्जभरत	क्षेत्र	१३-११
अक्षपाद	„ ७-१५; १०१-१३;	१०१-१८	वाह्यदस्ता	„	८३-१३, १४, २४;	अर्वंद्व	पूर्व	८९-१२
*अग्निभूह	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-९	अण्णारणियवादि	दार्शनिक	७८-२०	* „ „	„	८८-३ १०
*अग्निवेस	गोत्र	१०-२६	* „ „	„	७७-१८	अशिवोपशमिका	मेरीनाम	१००-२५
अग्नेणीय	पूर्व	८८-२८	अणिण्यपुत्त	निर्ग्रन्थ-आचार्य	१४१-५	असिवपसमणी	„	१९-१६
* „ „	८८-२५	अतिदूसमा	कालविशेष	६७-३	असिवोवसमणी	„	१७-३ ५;	१०८-१८
अश्विवेशायन	गोत्र	११-३	अथसरथ	शास्त्र	४७-३;	असोगचंद्र	राजा	१४३-२३
अङ्गचूलिका	जैनागम	७२-३०;	„	१३६-२९, ३०;	असोगविणिया	वाटिका	१२८-२१	७२-२२;
अचलपुर	नगर	१३-५	„	१३७-२३	*अंगचूलिया	जैनागम	१८१-२	१८१-२
अजित+जिने-	तीर्थकर	२७-६, १२;	अतिथणत्थिपवात	पूर्व	८९-२	अंतगडदस्ता	जैनागम	१६६-१०
न्द्र, स्वामिन्	७४-३; १०-१२, १३;	११५-१९, १४; १६८-२०	* „ „	८८-२, ६	* „ „	६२-२४; ७४-२४;	८२-२३, २७; ८३-६;	९८१-३०
अजिय	„	९१-७	अन्तकृदशा	जैनागम	७३-२	आहच्चन्नस	राजा	१६८-१५
* „ „	„	१० ७	अन्धकवृष्णि	राजवंश	७३-२७	आउरपञ्चकलाण	जैनागम	७२-१३
*अज्ञ	गोत्र	११-२०	अन्धकणिदशा	जैनागम	७३-२७	* „ „	७०-२२; १८०-२८	६३-२२
*अज्ञाणागद्विथ	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१२-१५	अभअंय	अमात्य	१३४-२४	आगम	„	६३-२२
*अज्ञमंगु	,	१२-४	* „ „	„	१४०-२, ११, १५	आगमोद्धारक	निर्ग्रन्थ-आचार्य	६८-१
*अज्ञसमुद्द	,	११-२७	अभयकुमार	„	१२३-२२;	„	सामरानन्दसुरि	„
*अज्ञाणंदिल	,	१२-१२	„	„	१७८-५ ६	आचार	जैनागम	४-३; ५-१३;
अक्षानिक	दार्शनिक	७८-२०	*अभिणंदण	तीर्थकर	१०-१	„	१४-१८; ६४-५;	६९-२१; ७५-८;
*अद्वाय	दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२३.	*अमरगद्वय-	दृष्टिवाद-	९०-७	*अयलपुर	नगर	१३-३
		२७	२७	प्रविभाग	„	*अयलभाया	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-११
*अड्डभरह	क्षेत्र	१४-१२	*अयलभाया	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-११	*अर	तीर्थकर	१०-३
*अणेतइ	तीर्थकर	१०-३	„	„	„	„	„	१६८-८
*अणेतर	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१०	*अर	तीर्थकर	१०-३	आचारनिर्युक्ति	„	१६१-७

विशेषनाम	किम्?	पत्र-पहिक्त	विशेषनाम	किम्?	पत्र-पहिक्त	विशेषनाम	किम्?	पत्र-पहिक्त
आजीष	अमणभेद	७५-१३	आवश्यकचूर्णि	जैनागम	१२०-५	उसभसेन	निर्घन्थ-गणधर	१७८-२७
आजीषग	दर्शन	८७-१	आवश्यकनिर्युक्ति	,,	१६१-१६	पुण्डरीक	,	
आजीषिय	,	८७-२४	आवश्यकचृह-	जैनागम-अल-	६८-टि१	उसह	तीर्थकर	७४-५
* "	"	८६-२५;८७-१४	द्रुति	भ्यमाना हरि-		*उसहसामि	„	७३-२९
आतुरप्रत्याख्यान	जैनागम	७२-१०		भद्रीया वृत्ति		*उस्सपिष्ठि-	दृष्टिवाद-	९०-६
आत्मवादिन्	दर्शनिक	७८-६	*आवस्सग-०४	जैनागम ७०-१;७४-१;		गंडिया	प्रविभाग	६७-४
आत्मविशुद्धि	जैनागम	७२-१		१८०-१५ १६		उस्सपिष्ठि	कालविशेष	७४-४;
*आदिकर	तीर्थकर	१७८-२४	*आसीविसभावणा	,,	१८१-६	क्रशम	तीर्थकर	४-४; १२३-२२
आदिच्छजस	राजा	९०-१५	*इसिभासिय	,	७२-२०; १८०-३१			९०-१२, १३; १६७-१३;
आदितीर्थकर	तीर्थकर	१७८-२७	*इद्भूद्धि	निर्घन्थ-गणधर	१०-९			१६८-२०
आदित्यशस्	राजा	१६३-१३	*इश्वरकारणिन्	दर्शनिक	७८-५	एकोहक	द्वीप	३३-२७
आनन्द	आवक	१६६-१	*उज्जुसुत	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-९	*घग्नुण	दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२४;
*आमासपथ	दृष्टिवादप्र-	८५-२३, २७;	उज्जेणो	नगरी	१३३-७ १३			८६-१४ ७ ११,
	विभाग	८६-४, ७, ११,						१५ ११
		१५, १९	*उहाणसुय	जैनागम	७२-२४; १८१-४			
*आयचाय	"	८७-११	*उत्तराद्ययण	,,	७२-१५; १८०-३०	*एग्नियपथ	„	८५-२३, २७
आयन्न	कल्यवृक्षनाम	६६-१७, २०	उत्तराद्ययन	,,	७२-२६; १६१-३१	एग्नतस्समा	कालविशेष	६६-१२
आयण्य			उत्थानस्तुत	,,	७३-११	*एरवय	क्षेत्र	६५-२५
*आयप्पवाद	पूर्व	८८-२, ८	उत्पलपत्रशत-	सप्तयनिरूपको-५८-२३; ५७-१	एलापत्य	गोत्र	११-१४, १५	
आयप्पवाय	"	८९-७	व्यतिभेदवृष्टान्त	दाहरण		*एलावच्च	„	११-१२
आयविभित्ति	जैनागम	१८०-१७	उत्पात-८	पूर्व	१३-३०;	*एवंमूय	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-११
आयविसोहि	,	७०-२१;			१६९-१	ऐरवत	क्षेत्र	६६-६
		१८०-२७	*उदिओदय	राजा	४७-१६	ऐरावत	„ ११७-१२; १५६-२९;	१५७-१
आयर	,	६४ ३; ८८-२४	उदितोदय	,,	१४७-७, १० ११	*ओगाढसेणि-	दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२०
* "	, ६२-२३; ७४-२३ २८;	७५-६; १८१-९	उपासकदशा	जैनागम	८२-२१	यापरिकम्म	„	८६-६, ९
आयारणिज्जुत्ति	जैनागम	८८-२४	*उपाय + पुच्छ	पूर्व	८८-१, ४	*ओगाढाचत्त	„	८६-८
आर्य	गोत्र	११-२५	उपायपुच्छ	,,	८८-२६; १६३-९	*ओदिओदय	राजा	४७-१६
आर्यनन्दिल	निर्घन्थ-स्थविर	१२-१३ १९	उच्चूद्धया	मेरीनाम	१७-३; १०८-१७	*ओवाइय	जैनागम	७०-१८
आर्यनामहस्ति	„	१२-२०;	उच्चकोसा	गणिका	१३८-१८	*ओस्सपिष्ठि-	दृष्टिवाद-	९०-६
		१३-१	*उच्चवाइय	जैनागम	१००-२३	गंडिया	प्रविभाग	
आर्यमहु	,	१२-५, १३	*उच्चसंपज्ञासेणि-	दृष्टिवादप्र-	८५-१०;	ओस्पिष्ठी	कालविशेष	६७-४
आर्यसमुद्र	,	११-२८; १२-५	यापरिकम्म	विभाग	८५-१०, १३	औद्गुतिकी	मेरीनाम	१०८-२६
आवश्यक	जैनागम	१६-११;				कञ्जुणी	तेलनाम	११५-३
		६४-६; ७०-४;	* „	, ६२-२४; ७४-२४				
		७४-२३; १२३-१९;		८२-७ १२ १९; १८१-१०	*कञ्जाशण	गोत्र	१० २७	
		१६१-६३	उसभ	तीर्थकर	७४-१३, १३; १०-१५	कहु	ब्रह्मी	१४०-१७
+लघु-	जैनागम-हरिभद्री-	६८-२९,	* „	६२-२४; ७४-२४		*कणासत्तरी	शाल्व	६४-२०
वृत्ति	या वृत्ति, लभ्यमाना	टि१	उसभसेण	निर्घन्थ-गणधर	१०-१	कणभक्ष	दार्शनिक	७-१५; १०१-१३
						कणाद	दार्शनिक	१०१-टि१

विशेषनाम	क्रमः	पत्र-पद्धति	विशेषनाम	क्रमः	पत्र पद्धति	विशेषनाम	क्रमः	पत्र-पद्धति
कण्ह	वासुदेव	१०९-५	*केउभूय	हष्टिवाद-	८३-२३ २७;	*गोयम	गोत्र	११-७
कपिल	दर्शनिक ७-१५; १०१-१३, १६		प्रविभाग	८६-४, ७, ११.			निर्वन्ध-गणधर	३१-२७, २८;
*कप्य	जैनागम ७२-२०; १८० ३०			१५ १९			३२-१, ४ ७, १२, १८,	२८; ३३-२
*कप्यवडिसिथा	, ७२-२५; १८१-५	*केउभूयपद्धि-	, ८५-१४; ८६-१९ ४					
कप्यवडेसिथा	, ७३-२४	उगह		८, १२, १६ २०		गोशालक	आजीवक-	१०१-२६
*कप्यसिथ	शाख	६४-२०	केसव	वासुदेव	१०९-१३ १६		दर्शनप्रणेता	
कप्यथा	जैनागम	७३-२२		२१ २४		गोष्ठामाहिल	निर्वन्धनिहर	१३-५;
*	, ७२-२४; १८१-५	+कोडल्लुय	शाख	६४-१९				१०७-११
*कप्ययाकप्यिय	, ७०-१८; १८०-२२	कोमुहया	मेरीनाम	१७-३; १०८-१७		गोसाल + य	आजीवक-	८७-१, २६
*कमप्ययडि	जैनप्रकरण	कोसा	गणिका	१३-८-१८		दर्शनप्रणेता		
*कमप्यवाद	पूर्व	८८-३, ९	*कोसिय	गोत्र	११-१३, २०	गौतम	गोत्र	११-१०
कमप्यवाय + पुढ़व	, ,	८९-८;	कोमुदिकी	मेरीनाम	१०८-२६	, + स्वा-	निर्वन्ध-	१४-६; ३३-१०,
		९६७-२	कोशिक	गोत्र	११-१७; २२	मिन्	गणधर	१२, १७; १३३-३१;
करकण्डु	निर्वन्ध-मुनि	३९-१०	क्रियावादिन्	दर्शनिक	७८-१			१६९-१५
कर्मप्रकृति	जैनप्रकरण	१२-२४	क्रियाविशाल	पूर्व	१६७-८	*चक्रवटिंगंडिया	हष्टिवाद-	१०-५
कल्पलघुभाष्य	जैनागम	१२१-३; २	क्षुल्लिकाविमा-	जैनागम	७२-३०		प्रविभाग	
कल्पाकल्प	, ,	नप्रविभक्ति				चरक	श्रमणमेद	६-३; १०१-७, ८
कल्पावत्तंसिका	, ,	क्षेत्रसमास	जैनप्रकरण	१२१-६	चरणविधि	जैनागम	७२-१, १०	
कल्पिका	, ,	खंदिलायरिय	निर्वन्ध-स्थविर	१३-१५,	*चरणविसोहि	, ,	१८०-२८	
*कविल	शाख	६४-२०		१६, १८	*चरणविधि	, ,	७०-२२	
कंडरीय	राजा	१३५-२८	* , , ,	१३-१०	चंडकोसिय	सर्प	१४३-१७	
कात्यायन	गोत्र	११-८	*खुड्डियाविमा-	जैनागम	७२-२१;	*चंदपण्णति	जैनागम ७२-२१; १८०-३१	
कामदेव	श्रावक	१६६-२	णप्रविभक्ति		१८१-१	*चंदावेज्ञय-	, , ७०-२०; १८०-२१	
कार्बाधिण	नाणक	१५३-२४	*खोडमुह	शाख	६४-२०	विज्ञय		
कालचक्ष	कालविशेष	६७-५	गङ्गा	नदी	९५-२	चाणक	अमात्य	१४२-२९; १४४-१
कालचक्र	, ,	६६-१०	*गणधरगंडिया	हष्टिवाद-	९०-५	*	"	४७-१८
कालवादिन्	दर्शनिक	७८-५				चाणक्य	"	१२३-२२
काइयप	गोत्र	११ ३	*गणिधिज्ञा	जैनागम	७०-२१;	*चारणभवणा	जैनागम	१८१-६
*कासव	, ,	१०-२६		१८०-२६		चित्तरस	कल्पवृक्षनाम	६६-१७, १९
किरियावादि	दर्शनिक	७७-२८	गणिविद्या	, ,	७१-२४	चित्तंग	, ,	६६-१६, १९
*	, ,	७७-१७	गणिङ्कानुयोग	हष्टिवाद-	८९-२१	चित्तंतर-	हष्टिवाद-	९१-७, ८, २१ २४;
*किरियाविशाल	पूर्व	८९-१५		प्रविभाग		गंडिया	प्रविभाग	९२-३, १६८-७
*	, ,	८८-३, १२	*गहलोववाय	जैनागम ७२-२३; १८१-३		*	"	९०-७
*कुलगरण्डिया	हष्टिवाद-	९०-४	*गंडियाणुओग	हष्टिवाद-	८९-२०;	चित्र	अन्यजो निर्वन्धश्च	१६२-७
	प्रविभाग			प्रविभाग	९०-४, ८	चित्रान्तरग-	हष्टिवाद-	९२-११;
*कुंथु	तीर्थकर	१०-३	गुरवः	निर्वन्ध-इद्वाचार्य	८२-३	पिङ्का	प्रविभाग	१६८-११
कूणित	राजा	१४३-२१, २२	गेहय	श्रमणमेद	७५-११	चिरन्तनवाचना	प्राचीना जैना-	१६५-१४
कूलवालय-	भगवत्मुनि	१४३-२३ २८	गोहामार	{ कल्पवृक्षनाम	६६-१७, २०		गमपरम्परा	
'वारत			भवणरुक्ष					

विशेषनाम	क्रमः ?	पत्र-पठिक्त	विशेषनाम	क्रमः ?	पत्र-पठिक्त	विशेषनाम	क्रमः ?	पत्र-पठिक्त	
बोटिक	थ्रमणभेद	१०१-७८	*परयगइग- मणगंडिया	दृष्टिवाद- प्रविभाग	१०-७	दशा	जैनागम	७२-२७	
*चुतभचुतसेणिया- परिकर्म-चुयमचु-	दृष्टिवाद- प्रविभाग	८१-२१;	*णंदावत्त	"	८७-११	दशार्हग- जिङ्का	दृष्टिवाद- प्रविभाग	१६७-१२	
यसे	२१	८६-१८,	*णंदिसेण	निर्ग्रन्थ-मुनि	८७-१७	*दसकालिय	जैनागम	१८०-२२	
*चुयमचुयावत्त	"	८६-२०	*णाइलकुल	निर्ग्रन्थवंश	१४-१३	*दसवेयालिय	"	७०-१७	
*चुलकप्प + सुत	जैनागम	७०-१८; १८०-२२	णाग	देव	१४२-१०	दसा	"	११-१६	
चुलकप्पसुय	"	७०-२६	*णागज्जुणायरिय	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१३-२९;	* "	"	७२-२०; १८०-३०	
चैत्यवन्दनभाष्य	जैनप्रकरण	१६८-टि.	णागज्जुणरिति	"	१४-२, १५	दसारगंडिया	दृष्टिवादप्रविभाग	१६७-१२	
जमालि	निर्ग्रन्थनिहृ	१३-४	णागपरियावणिया	जैनागम	७३-१८	*	"	९०-५	
जाबू	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-३	णाणप्रवाद	पूर्व	८९-४	*दिहिवाम-य	जैनागम	६२-१५; ७४-२५;	
जम्बूद्वीप	द्वीप	२८-४; १५-३	*णाडग	शाल	६४-२१			८५-१३; ९२-१६;	
जम्बूद्वीपप्रहृष्टि	जैनागम	७२-२८	*णायाधमकहा	जैनागम	६२-२४; ७४-२४;			१८९-११	
*जसभद	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-६	णासिक	नगर	१४३-४	*दिहिविसमावणा	"	१८९-६	
जंबुद्वीप	द्वीप	३५-२५	*	"	४७-१९	*दीवपण्णति	"	१८९-१	
*	"	२५-२३	पिरयावलिया	जैनागम	७३-२०	*दीवसागरपण्णति	"	७२-२१	
*जंबुद्वीपपण्णति	जैनागम	७२-२०; १८०-३१	*पिमीह	"	७२-२०	दीव + सिद्ध	कल्पवृक्षनाम	६६-१६, १९	
*जंबूणाम	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१०-२६	*पेमि	तीर्थकर	१०-४	*दुगुण	दृष्टिवाद- ८१-२४; ८६-१४,		
जितशब्दु	राजा	१८६-३०	तन्दुलविचारणा	जैनागम	१६१-३२		प्रविभाग	७७-१५, १९, ११	
जिनदासगणि	निर्ग्रन्थ-महत्तर	१६७-टि. १	*तदोकम्मग-	दृष्टिवाद-	१०-६	*दुष्परिगह	"	८७-१२	
जिनभट	निर्ग्रन्थ-आचार्य	९७-७	डिया	प्रविभाग		दुर्गपदव्याख्या	नन्दीहरिभ-	१६९-३१	
जिनभद्रगणि-	"	४०-२०	*तंदुलव्रेयालिय	जैनागम	७०-२०; १८०-२४	द्रीयवृत्तिव्याख्या			
क्षमाध्रमण			तावस	थ्रमणभेद	७५-११	दुसमसुस्समा	कालविशेष	६६-२९	
जियसत्त	राजा	९९-७	*तिगुण	दृष्टिवादप्र- ८१-२४; ८६-१४,		दूष्यगणि	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१५-७, २१	
जीतधर	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-२५		विभाग	८, १२, १६-२०	*दुसगणि	"	१३-५	
*जीयधर	"	११-२०	*तिथगरगंडिया	दृष्टिवादप्रविभाग	९०-४	दूसमा	कालविशेष	६७-२	
जीर्णपट्टशाटि	समयनिरूपको-	५७-९	*तिरियगइग-	"	९०-७	दृढ़ग्रहारिन्	निर्ग्रन्थ-मुनि	१२३-१२	
कापाटमदप्पान्त	दाहरण		मणगंडिया			देववाचक	निर्ग्रन्थ-स्थविर,	१५-२१;	
*जीवाभिगम	जैनागम	७०-१८; १८०-२३	तुङ्गिक	गोत्र	११-८		नन्दिसूत्रकर्ता	१७-३६;	
जेसलमेह	नगर	१६८-टि.	व्याघ्रापत्य	"				३३-१०	
जोति + स	कल्पवृक्षनाम	६६-१६, १९	तुङ्गियंग	कल्पवृक्षनाम	६६-१६, १८	देवसम्म	ब्राह्मण	१४०-१७	
ज्ञाताधर्मकथा	जैनागम	८१-१३, १४; १६५-१५	*तेयनिसगम	जैनागम	१८१-७	*देविंदित्य-	जैनागम	७०-११; १८०-२४	
ज्ञानप्रवाद	पूर्व	३३-टि. १	*तेरासिय	दर्शन	८६-२६; ८७-१५	अ-थथ			
*ज्ञानविभत्ति	जैनागम	७०-२१; १८०-२७	त्रैराशिक	"	८७-२८	*देविंदोव्याय	"	७२-२३; १८१-४	
*ठाण	"	६२-२३; ७४-२४;	*थूलभद्र + सामि	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-७;	देवेन्द्रनरकेन्द्र-	जैनप्रकरण	१६८-५	
		७९-५, ७, ८, ९, १६;			८७-१८; १३८-१८,				
		१८१-९			२०; १४३-१	शास्त्र			
*णमि	तीर्थकर	१०-४	दशवैकालिक	जैनागम	७०-२४	देवेन्द्रसूरि	निर्ग्रन्थ-आचार्य	१६७ टि. १	
							चैत्यवन्दनभाष्यकर्ता	१६८-टि.	
							द्वीपसागरप्रहृष्टि	जैनागम	१२-१
							धणदत्त	थ्रेष्ठी	१४७-१७
							*	"	४७-१७

विशेषनाम	क्रम्?	पत्र-पट्टि	विशेषनाम	क्रम्?	पत्र-पट्टि	विशेषनाम	क्रम्?	पत्र-पट्टि
धनेश्वरसूरि	निर्ग्रन्थ-	१६९-२९,३०;	*नाण्डपवात	पूर्व	८७ २,७	*पाणाउ-०४	पूर्व	८८-३ ११
आचार्य (नन्दि-	१७९-८	*नामसुहुम	शास्त्र	६४-२०	पाणाउ	,	८९-१४	
सूत्रहरिभद्रीय-		*नायाधम्मकहा	जैनागम	१८१-१०	पालंक-०५	नाणक	१४२-२१,२२,२३	
वृत्तिदुर्गपदव्याख्या-		निर्ग्रन्थ	श्रमणमेद	७५-१९	पादलिपि	निर्ग्रन्थ-आचार्य	१२३ २१	
कारश्रीबन्द्रसूरिगुरु)		नियतिवादिन	दाशनिक	७८-६	पारस	देश	१२८-३	
*धर्म	तीर्थकर	१०-३	*निरयगहग-	हष्टिवाद	९०-७	पार्थ	तीर्थकर	७४-३
धर्महर	राजा	१४१-८	मणगडिया	प्रविभाग		पालित्तम-०४	निर्ग्रन्थ-आचार्य	१३०-९,१०
*धरणोदव्याय	जैनागम	७२-२३; १८१-३	*निरयाचलिया	जैनागम	७२-२४; १८१-५	पाशुपति(त)	दर्शन	१०१-टि.२
धर्मघोष	निर्ग्रन्थ-आचार्य	१६८-टि.	निशीथ	,	७२-२७	पास	तीर्थकर	१०-४
(सहाचरटीकाकर्ता)		*निसीह	„	१८०-२१	*पुहुसेणियाप-	हष्टिवाद-	८५-२०;	
धर्मनविभक्ति	जैनागम	७१-२८	नेमि	तीर्थकर	१०९-४	रिकम्य	प्रविभाग	८६-३,५
नन्दि + सूत्र	,	१४६-११; १६९-३२	तैयायिक	दर्शन	१०१ टि.२	*पुडापुड	„	८७-११
नन्दिचूर्णिकृत्	निर्ग्रन्थ-महत्तर	५५ टि. १,३;	पञ्चव्याप्ति	पूर्व	८९-१०	*पुडावित्त	„	८६-५
(जिनदासगणी)	१५३-३०	*	„	„	८८-३,९	पुण्डरीक	गणधर	१७८-२७
नन्दीवृत्तिटीका	जैनागम	१६९-२९;	पज्जोअ	राजा	१४०-११	उसभस्तेन		
		१७८-८	*पडिकोहग-	अवग्रादादिनि-	५२-७,१२,२०	पुष्टकचूल	राजपुत्र, राजा	१४१-२
नन्दिसूत्रलघुवृत्ति	,	१६७-टि.१	दिहुंत	रूपकोदाहरण		पुष्टकचूला	राजपुत्री, राजी	१४१ २
नन्दिसूत्रवृत्ति	,	१६७-टि.१	*पणगवणा	जैनागम	७०-११; १८०-२३	*पुष्टकचूलिया	जैनागम	७२-२५; १८१-५
नन्दी	"	१२६-७	पणास	हष्टिवादप्रविभाग	८७-१२	*पुष्टकदंत	तीर्थकर	१०-२
नन्दीचूर्णिकार	निर्ग्रन्थ-महत्तर	१-टि.२;	पणहावागरण	जैनागम	१६६-१७	पुष्टकभइ	नगर	१४१-२
(जिनदासगणी)	३-टि.३	*	„	„	६२-२५; ७४ २५;	पुष्टकवती	राजी	१४१-२
नन्दीसूत्रचूर्णि	जैनागम	१६७ टि.१	„	८४-४,६,१३; १८१-११	८४-४,६,१३; १८१-११	*पुष्टकसेण	राजा	१४१-२
नन्द्यध्ययन	"	१४६-९	पत्तन	नगर	१६८-टि	पुष्टिहया	जैनागम	७३-२४
नन्द्यध्ययनटीका	"	१६९-३०	पत्तति	जैनागम(भगवती)	४२-१४; १२५-२२	*	„	७२-२५; १८१-५
नन्द्यध्ययनविवरण	"	९७-४,६	पञ्चवणा	जैनागम	४२-१४; १२५-२२	*पुराण	शास्त्र	६४-२१
नंद	वणिक	१४३-४	*पभव	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१०-२७	*पुरिमताल	नगर	१७८-२७
*नंदावत्त	हष्टिवादप्रे-	८५-२४; ८६-२,	*पभास	„-गणधर	१०-१२	*	„	१७८ २४
		विभाग	५,८,१२,१६,२०	*पमायपमाद-०४	७० १९;	पुष्टचूला	जैनागम	७३-२७
नंदिसेण	राजपुत्र, निर्ग्रन्थ	१४१-१२,१४		१८०-२४	१८०-२४	*पुष्पिता	„	७३-२६
*नंदी	जैनागम	७०-१९;	परमगुह	निर्ग्रन्थ-स्थविर-	६१-२५	*पोरिसिमंडल	„	७०-२०; १८०-२५
		१८०-२४		विशेष सुधर्मगणधर		पौष्टुरीक	द्रह	९५-२
नाग	देवजाति	१६६-२०,२१	*परंपर	हष्टिवादप्रविभाग	८७-१०	प्रझसि	जैनागम(भगवती)	१२५-२४
*	"	८४-६	*परिणायापरिणय	„	८७-९	प्रझापना	जैनागम	७०-२७; ९५-१३;
नागदिष्ण	राजपुत्र, निर्ग्रन्थ	१४२-११	पसेणती	राजा	१३४-२०			१२५ २४; १२६-४
*नागपरिणा-	जैनागम	७२-१४;	*याइण	गोत्र	११-७	प्रतिबोधक-	अवग्रहादि-	५२-१०
वणिया		१८१-८	पाडलिपुत्त	नगर	१३८-९ १८;	हष्टान्त	निरूपकोदाहरण	
नागार्जुनाचार्य-	{ निर्ग्रन्थ-	१३-३१;		१४३-९	प्रथमानुयोग	हष्टिवाद-	१०-७; ७४-४;	
नागार्जुनवाचक }	स्थविर	१४-८	*पाढ	हष्टिवादप्रविभाग	८५-२३,२७;		प्रविभाग	१६६-२६;
नारोन्द्रकुलवंश	निर्ग्रन्थवंश	१४-१८		८६-४,७,११,१५,१९				१८६-२४

विशेषनाम	क्रमः	पत्र-पट्टिका	विशेषनाम	क्रमः	पत्र-पट्टिका	विशेषनाम	क्रमः	पत्र-पट्टिका
प्रभव	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-३४	भाष्य	जैनागम	१५२-१२	महागिरि	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१४तः१७
प्रमादाप्रमाद्	जैनागम	७०-२८	(विशेषावश्यकमहाभाष्य)			*	"	११-१२
प्रश्नव्याकरण	"	१२-२१	भाष्यकार	निर्ग्रन्थ-	११-१३;३५-१६;	*महाणिसीह	जैनागम	७२-२०;१८०-३१
प्राचीन	गोत्र	११ ९			आचार्य	४६-६;५४-२७;	महानिशीथ	७२-२८
*बलदेवगंडिया	दृष्टिवाद-	९०-५	(जिनभृशणि	५५-६;२७;१४५-२८;	क्षमाश्रमण)	१४७-१८;१५०-१७	*महापञ्चक्लाण	७०-२३;१८०-२८
	प्रविभाग						*महापण्डियणा	७०-१९;१८०-२३
बलिस्सह	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१७.२१	भाष्यकृत्	"	४-१५;	महाप्रशापना	जैनागम	७०-२८
*बहुभंगिय	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१०		११८-४;१४८-२५			महाप्रत्याख्यान	७२-१३
बहुल	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१७.१८	भिंग	कल्पवृक्षनाम	६६-१६.१८	महाभाष्य	"	५४-टि १.२;५५-
*	"	११-१३	भूतदिक्षा	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१४-२०.२४	(विशेषावश्यकमहाभाष्य)		४
*	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-११	*भूयनिष्ठा	"	१४-१४	महाविदेह	क्षेत्र	६६-७;६७-६;
*बहुलसरिव्यय	{ निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१३	भूतवाद्	जैनागम	१६१-२५			१५६-३०;३१
(बलिस्सह)			भूतावाद्	"	१६१-२३	*	"	६५ २६
*बंभदीवग	निर्ग्रन्थशास्त्रा	१३-१४	*भूयावत्	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१२	महावीर+	तीर्थकर	३०-टि.३;४-८;
बार्तवृह	नगरी	१३७-२८	भिंगियंग	कल्पवृक्षनाम	६६-१७.२०	बर्द्धमान		१०-७;५४-१०
विन्दुसार	पूर्व	१६९-१	*मणुस्ससेपिया-	दृष्टिवाद-	८५-२०.२६;	*महावीर	"	४-२
*बुद्धवयण	शास्त्र	६४ २०	परिक्रम्म	प्रविभाग	८६-२	*महासुमिणभावणा	जैनागम	१८१-७
बेण्णायड-तड	नगर	१३४ २१;१३५-६	*मणुस्सावत्	"	८६-२	महुरा	नगरी	१३-१४
ब्रह्मदत्त	चक्रवर्ती	१६२-७	मण्डलप्रबेश	जैनागम	७१-२१.२२	*मंडलपृष्ठवेस	जैनागम	७०-२०;१८० २५
ब्रह्मद्वीपिका	निर्ग्रन्थशास्त्रा	१३-७	मण्ड्रक	तैलनाम	११५-३	*मंडिय	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-११
ब्राह्मी	लिपि	५९-१४	मन्त्रग्रन्थ	कल्पवृक्षनाम	६६-१६.१८	मंदर	पर्वत	३५-२५
"	तैलनाम	११५-३	मम्मण	विणिक्	१२३-२१	*माउगापय	दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२३ २७
भगवती	जैनागम	८३-४;१२५-२४.२६	मरणविभक्ति	जैनागम	७१-३०	मागधदेशी	भाषा	२०-१८
*भद्रबाहु	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-७	*मरणविभक्ति	,	७०-२१;१८०-२७	माग्निहिता	गणिका	१४३-२३
*भद्रबाहु-	दृष्टि-	९०-६	*मरणविसोहि	,	१८०-२७	माहार	गोत्र	११-९ १०
दियाओ	वादप्रविभाग		मरुदेवी	कुलकरराजी	३९-१९;	*	"	११-६
भद्रबाहु+	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-९.१०;		(ऋषभजिनमाता)	१२४-२१	*	शास्त्र	६४ २१
स्वामिन्		१६१-१५	मलशगिरि	निर्ग्रन्थ-आचार्य	१६७-टि.१	*मासाण	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१०
भरत	नट	१३२-१३.३२	मल्लकदशान्त	अवग्रहादि-	५२-११;	माहुरा	वाद्यणा	१३-१६ १८
"	क्षेत्र	४-५;२८-४;३३-२५;		निरुपकोदाहरण	५४-१.१५	*मुणिसुव्यय	तीर्थकर	१०-४
		६६-६;१०३-६;११७-१२;	*मल्लगदिङ्गुत	,	५२-७;५३-१०.२७	मुणिसुव्ययसामि	"	१४३-२१
		१५६-२९;१५७-१	*मल्लि	तीर्थकर	१०-३	मूलदेव	धूर्त	१३५-२५ २७
भरह	नट	१३२-१०	महतीविमान-	जैनागम	७२-३०	*मूलपद्मा-	दृष्टिवाद-	८९-१९ २२,
*	,	४६-२६.२९;१३३-१८	प्रविभक्ति				गुओग	३०
*	क्षेत्र	२५-२३;६५-२५	*महलिया	वि-	७२-२१;१८१-१	मूलप्रथमानुयोग	,,	८९-२१
भवणरुक्त	{ कल्पवृक्षनाम	६६-१७.२०	मणपविभक्ति			*मेयज्ञ	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-१२
गोहागर			महाकदशुय	,	७०-२६	मेरु	पर्वत	९४-२९
*भारह	शास्त्र	६४-१९	*	-त	७०-१८;१८०-२३	*मोरियपुत्त	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-११
						यशोभद्र	, -स्थविर	११-८

विशेषनाम	क्रम्?	पत्र-पटिक्त	विशेषनाम	क्रम्?	पत्र-पटिक्त	विशेषनाम	क्रम्?	पत्र-पटिक्त
स्तनप्रभा	नरक	१२२-१७	*वरुणोववाय	,,	७२-२२;१८१-३	*वियाह+	जैनागम	४०-१३,१६,२३
रथणप्रभ-भाँह	,	३५-२५;२६-४;	वर्गचूलिका	,	७३-१२	पण्णति		७४-२४
		१२२-१९	वर्द्धमानस्वामिन्	तीर्थकर	७४-५	*विवाह+सुत	..	६२-२५;७४-२५;
*रथणप्रभा	,	३५-१	*ववहार	जैनागम	७२-२०;१८०-३१			८४-२०;८५-१;
*रामायण	शास्त्र	६४-१९	वशिष्ठ	गोत्र	११-१५			१८९-१९
रायगिह	नगर	१३४-२२,२५;	वसुदेव	(राजा-कृष्णपिता)	१६७-१२	*विवाहचूलिया	,,	७२-२२;१८१-२
		१४०-११,१४	वसुदेवहिंडि	जैनकथाग्रन्थ	१६७-टि.१	*विवाहपण्णति	,,	६२-२४;१८१-१०
*रायपसेणिय	जैनागम	३०-१८;१८०-२३	*वाउभूइ	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-१०	विशेषावश्यक-	,,	६८-टि.१
*रासिवद्ध	दृष्टिवादप्र-	८५-२४;८६-१,	*वागरण	शास्त्र	१२-१६;६४-२१	महाभाष्य		
		विभाग ४,७,११,१५,१९	वाचकवंश	निर्ग्रन्थवंश	१२-१७;१३-१	*विहारकण्ठ	,,	७०-२२;१८०-२६
रुचक	पर्वत	२८-६;१२२-१३ १७	वाचनान्तर	जैनागमप्राची-	१६६-२३	विहारकल्प	,,	७२-७,८
रुयग	,,	३५-२५		नपरम्परा		वीतरागश्रुत	,,	७२-१,२
*	,	२५-२४	वाणारसी	नगरी	१४१-८	*वीयरायसुत-०४	,,	७०-२२;१८०-२६
*रेवहणकखन्ति	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१२-२७	*वायगवंस	निर्ग्रन्थवंश	१२-१५,२३	*वीर	तीर्थकर	४-१२
रेवतिनक्षत्र	{,,	१३-२,७	वासुदेव	कृष्ण	१३७-२८	वीरशासनक	जैनशासन	१०-२२
रेवतिवाचक	{,,		*वासुदेव-	दृष्टिवाद-	९०-५	*वीरसासणय	,,	१०-१७
रोहभ-०४	नट	१३३-२०,२३,२९	गंडिया	प्रविभाग		*वीरिय	पूर्व	८८-२,५
लवण	समुद्र	३३-२६	*वासुपुज्ज	तीर्थकर	१०-२	वीरियपद्माय	,,	८९-१
लोकप्रकाश	जैनशास्त्र	१६७-टि.१	विचारसस्तिका	जैनप्रकरण	१२१-टि.१	वृद्धटीकाकार	निर्ग्रन्थ-ग्रन्थकार	१५३-३
लोकविन्दुसार	पूर्व	४६-१७	विजय	देवविमान	१६८-२	वृद्धाचार्य	,,	४०-२१
लोगविन्दुसार	„	४९-१७	*विजयचरिय	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१०	वेणाह्यवादि	दार्शनिक	७८-३०
*	"	८८-४,१२	विज्ञुण्यपद्माय	पूर्व	८९-११	*	,	७७-१८
*लोगायत	शास्त्र	६४-२०	*	"	८८-३,१०	*वेद	शास्त्र	६४-२१
*लोहिच्च	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१४-२३	*विजाचरण-	जैनागम	७०-२१;	*वेयावच्च	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-११
लोहिच्च	{,,	१४-२४;	विजिच्छलभ-०४		१८०-२५	*वेलंघरोववाय	जैनागम	७२-२३;१८१-३
लोहित्य	{,,	१५-६	विष्णु	कृष्ण	१०९-१०	वेसमण	यक्ष	१३४-९,१०,१३;
*वहू	,	४७-१९	विदेह	क्षेत्र	११७-१३	*वेसमणोववाय	जैनागम	७२-२२;१८१-३
वहरसामि	,	१४३-९	विद्याचरण-	जैनागम	७१-२२ २४	वेसाली	नगरी	१४३-२१,२३,२०
*वहसेसिय	शास्त्र	६४-२०	विनिश्चय		१६७-टि.	*वेतित	शास्त्र	६४-२०
*वहगचूलिया	जैनागम	७२-२२;१८१-२	विनयविजय	निर्ग्रन्थ-	१६८-टि.	वैज्ञानिक	देवविमान	१६८-२
वच्छ	गोत्र	११-५		उपाध्याय	१६८-टि.	वैताहिक	पूर्व	११-२९;१३-११
*	,	१०-२७	विन्ध्य	निर्ग्रन्थ-मुनि	१०७-१२	वैनियिक	दार्शनिक	७८-३०
वज्ञा	श्रेष्ठपत्नी	१४०-१७,२९	*विष्णजहणसेणि-	दृष्टिवाद	८५-२१;	वैशेषिक	दर्शन १०१-टि.१,११४-२०	
*वष्णिहदसा	जैनागम	७२-२५;१८१-६	वापरिकम्	प्रविभाग	८६-१४,१७	व्याख्या	जैनागम	७३-२;८०-२४;
*वष्णिहया	,	१८१-५	*विष्णजहणसेणि	,	८६-१६			१६५-१३
*वत्तमाणुपद्म	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१२	विमल	तीर्थकर	१०-२	व्याख्याचूलिका	,,	७३-३
वत्स	गोत्र	११-५	विमलवाहण	कुलकर	१०-१०	व्याधापत्य	गोत्र	११-८
*वद्धमाण + सामि	तीर्थकर	१०-४;७३-३१	*वियत	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-१०	तुङ्गिक		
वरधणु + अ अमात्यपुत्र	१४१-२०;१४२-१८							
वरुणोववाय	जैनागम	७३-१०						

विशेषनाम	क्रमः	पत्र-पट्टिका	विशेषनाम	क्रमः	पत्र-पट्टिका	विशेषनाम	क्रमः	पत्र-पट्टिका
शिद्धप्राभूत	जैनशास्त्र	१२-२१	सम्प्रतिवाचना	जैनागमवर्तमान-	१६५-१४	सिद्धप्राभूत	जैनशास्त्र	३९-१६
शाश्वतमध्य	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-५; ११-८	परम्परा			सिद्धसिला	शत्रुञ्जयगत.	१४३-२५
शाक्य	ध्रमणभेद	९-४; ७५-११	सम्भूत	अन्त्यज. निर्ग्रन्थ	१६२-७		शिलातीर्थ	
शापिण्डिल्य	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-२२, २५, २८	सम्भूतविजय	{ निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-९, १०	*सिद्धसेणिया-	दृष्टिवादप्रविभाग	८५-१९.
शान्तिनाथताडप-	जैनशास्त्र-	१६८-टि.	सम्भूत }			परिक्रम		२२-२५
श्रीयभाण्डगार	ण्डारनाम		सर्वर्थि + सिद्धि	देवलोक	११-२०; १६७-	सिद्धसेनाचार्य	निर्ग्रन्थ-आचार्य	४०-१९, २७
शिखरिन्	पवत	३३-२६; १२१-५	सिद्ध		१४, १५; १६७-	*सिद्धावत्त	दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२५
शीलभद्र	निर्ग्रन्थ-आचार्य	१६९-३०; १७९-८			३, ४, ५; ११ १२, २१	सिन्धु	नदी	९५-२
(नन्दिसूत्रहितीश्वति-			*सद्व ओभइ	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१२	सिद्धिपा	"	१३३-१४
दुर्गपदव्याख्याकारयुक्त)			सद्वट्टु	देवलोक	९०-१६तः २६ २९;	सिरिकंता	राजा	१४७-७, ८
शैव	दर्शन	१०१-टि. १			११-३, ६ १०, १२,	सिरित	अमात्यपुत्र, अमात्य	१४३-३
श्यामार्य	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-२२			१६ २३; १३-३, ६,	*सीयल	तीर्थकर	१०-३
श्रीबन्द्र+सूरि	निर्ग्रन्थ-आचार्य	१६७-टि. १;			५, १६८-१६, ७, ८, ११	*सीढ़ि	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१३-४
(नन्दीसूत्रहिति-		१६९-२९ ३१;	*ससि	तीर्थकर	१०-२	सुगत	भगवान् बुद्ध	६३-१७
दुर्गपदव्याख्याकार)		१७०-१; १७९-८	संगमिया	भेरीनाम	१७-३; १०८-१७	"	दर्शन	१५४-२९
श्रेणिक	राजा	१७८-५	*संजूह	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१०	सुधम्म	निर्ग्रन्थ-गणधर	११-१
सक	ध्रमणभेद	७५-११	*संडिल्ह	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-२०	सुधर्म + स्वामिन्	"	११-१२
*सगभद्रिया	शास्त्र	६४-१९	*संति	तीर्थकर	१०-३	सुधर्णी	देवजाति	१६६-२०
सगर	चक्रवर्ती	९०-१५; १६७-१४;	*संभव	"	१०-१	*सुपास	तीर्थकर	१०-१
		१६८-२९; १८६-३०	*संभिष्ठा	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१०	*सुपद्म	"	१०-१
सङ्गम	देव	१०१-२६	*संभूय	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११ ६	सुपतिवद्ध	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१५
सङ्घदासगणि	निर्ग्रन्थ-वाचक	१६७-टि. १	संलेखनाश्रृत	जैनागम	७२-२	सुवुद्धि	अमात्य	९०-१५;
(वसुदेवहिण्डिकार)			*संलेहणासुत-य	, ७०-२२; १८०-२६				१६७-१४; १६८-२९
सङ्घाचारटीका	जैनशास्त्र	१६८-टि.	*संसारपद्धिगद्ध	दृष्टिवाद	८१-२४; ८६-१,	*सुमति	तीर्थकर	१०-१
(चेत्यवन्दनभाष्यटीका)					प्रविभाग ५ ८ १२, १६ २०	*सुमिणभावणा	जैनागम	१८१-६
*सच्चपदवाद	पूर्व	८८-३, ७	*साइ	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१९	*सुवण्ण	देवजाति	८४-६
सच्चपदवाय	"	८९-५	*सागरपण्णती	जैनागम	१८१-१	सुसमदूसमा	कालविशेष	६६-२५
*सहितंत	शास्त्र	६४-२१	साङ्ग्रामिकी	भेरीनाम	१०८-२६	सुसमा	"	६६-२२
सत्यकी		६५-१०	*सामज्ञ	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१९	सुस्थित	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१५
*समभिरुद्ध	दृष्टिवादप्रविभाग	८७-१	सामायिक	जैनागम	४६-१७	*सुहतिथ	"	११-१२
समवाय	जैनागम	८०-८, ९	सामि	तीर्थकर	१३१-२६	सुहम्म	निर्ग्रन्थ-गणधर	१०-१०, २६
		१६५-८		(बद्धमानस्त्रामि)		सुहस्तिन्	-, -स्थविर	११-१५
*,, -अ,,		६२-२३; ७४-२४;	*सिंह + वाचक	{ निर्ग्रन्थ-स्थविर	१३-७, १२	सुदर्दी	वणिकगत्ती	१४३-४ ७
		७९-२५, २८, २९; ८०-७				*	"	४७-१९
		१८१-१०	*सिंज्ञस	तीर्थकर	१०-२	सुद्रीणंद	वणिकपुत्र	१४३-४
समवायाह्नवृत्ति	"	१६५-११	सिणपहु	चौरपली	१३७-२०	*सुदरीनंद	"	४७-१९
*समुद्धणसुय	"	७२-२४; १८१-४	सिद्धदण्डिका	जैनप्रकरण	१६७-टि. १;	सुंसुपा	वणिकपुत्री	१४१-१७
समुथानश्रृत	"	७३-१४			१६८-टि.	सूक्ष्मत	जैनागम	७७-२७; १६४-१६
समुद्रविजय	राजा(नेमिजिनपिता)	१६७-१२						

विशेषनाम	किम्?	पत्र-पद्धिक	विशेषनाम	किम्?	पत्र-पद्धिक	विशेषनाम	किम्?	पत्र-पद्धिक
*सूयगड	जैनागम	६२-२३; ७४-२३; ७७-१५ १७ १९ २६; १८१-१९	स्तुतिकार	निर्ग्रन्थ-आचार्य (सिद्धसेनदिवाकर)	६३-१८	*हरिवंस- गंडिया	दृष्टिवाद- प्रविभाग	९०-६
सूयगड	..	१६४-१६	स्थान	जैनागम	७९-१७	*हंसीमासुखख शास्त्र	६४-१९	
*सुरपणाती	जैनागम	७०-२०; १८०-२५	स्थूलभद्र	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-१०, १४	*हारिय	गोत्र	११-१९
सूर्यप्रब्रह्मि	..	७१-१७, १८	स्वभाववादिन	दार्शनिक	७८-७	हारीत	..	११-२१
*सेज्जभव	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१०-२७	स्वाति	निर्ग्रन्थ-स्थविर	११-२१	हिमवत्	पर्वत	११-२१; ३३-२६; १२१-५
सेणित-य	राजपुत्र, राजा	१३४-२०; १३६-२५	स्वोपश्चीका	जैनागम	५५-टि. २ (विशेषावद्यकरीका)	हिमवन्त	{ निर्ग्रन्थ- १३-२२, ३० हिमवत्क्षमाध्यमण } स्थविर	
*सोवत्तिथपण	हरिवादप्रविभाग	८७-११	हनूमत्	राजा (वानरवंशीय)	१२३-२१	*हिमवंत	..	१३-२१, ३१
सौधर्म	देवलोक	१०८-३०	हरि	कृष्ण	१०९-१, ४, ५, १२ २१, २४	हैमवत	क्षेत्र	३३-२६
स्कन्दिलाचार्य	निर्ग्रन्थ-स्थविर	१३-१२ २२	हरिभद्र + सूरि	निर्ग्रन्थ-आचार्य	९७-७;			
स्तम्भतीर्थ	नगर	१६८-टि.	(नन्दीसूत्रवृत्तिकार)	१६७-टि. १				

४

चतुर्थं परिशिष्टम् ।

नन्दीसूत्रवृत्याध्यन्तर्गतानि पाठान्तर-मतान्तर-व्याख्यान्तरावेदकानि स्थानानि ।

पाठान्तरादि	पत्र-पद्धिक	पाठान्तरादि	पत्र-पद्धिक	पाठान्तरादि	पत्र-पद्धिक
अणे भण्ति {	१३-१७, ३६-६ ७४-१३,		२८, ३२६-३१, १६९-५,	एके	३४-५, २७-२२, १६३-२
अचे भण्ति {	१३४-३० १३७-२४, १३८-२		१७५-२०	एके व्याचक्षते	७४-१७
६	१४१-२१, १४२-१९	अन्ये तु व्याचक्षते	२६-२८, ७७-२	एकेषां मते	१२१-६
अज्ञायरियमतेन	८८-२३	अन्ये त्वाचार्याः	५५-१	एगे आयरिया	७४-११
अचे	१२७-२३	अन्ये त्वेवं पठन्ति	४४-६; ५७-५ १६;	केचनाचार्याः	११६-३०
अचे मन्त्रिति	१२७-१९		१५०-१४	केचित्	३-२७
अन्ये	१३-१, ३६-२६, ५७-४, ७५-१३ १६२-२७	अन्ये पठन्ति	४८-७	केपाषित्	११७-६
अन्ये तु	१-२३, ११-२४, २४-१८, ५१-२५, ५५-१३ १३-१६, ९५-१४, १२३-९, १२४-	अन्ये पुनः	७४-२० ८२-३	पाठान्तरम्	३०-३०
		अपरमतेन	१२१-७	पाठान्तरे	१२०-२८
		अपरे	१६३-२	मतान्तराणि	१६२-२४

पञ्चमं परिशिष्टम् ।

नन्दीसूत्रमूल-हारिभद्रीवृत्त्याद्यन्तर्गतानां व्याख्याताव्याख्यातशब्दानामकारादिक्मेणानुक्रमणिका ।

[अस्मिन् परिशिष्टे *एतत्कुलिकाच्छिह्नान्विताः शब्दा मूले व्याख्याताः, +एतदङ्किताः +*एतच्छिह्नद्याङ्किताश्च शब्दाः ‘पाइयसद्महण्वा’-स्वयकोशानुपलभ्यमाना व्याख्याताः, +५ एतच्छिह्नद्यान्विताः शब्दाः ‘पाइय० स० म०’ कोशानुपलभ्यमाना अव्याख्याताश्च ज्ञेयाः]]

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पट्टिका	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पट्टिका	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पट्टिका
अकर्मभूमि	अकम्मभूमि	३३-२६	अचिन्ता	कुप्रावचनिकी	१७७-३	+५ अचिण्या=स्वामिनी		१४०-२०
अकारण	अकारण	९३-२०	ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यति-			+अतित्थगरसिद्ध		३८-२२
अक्रिय	अक्रिय	७ ९	रिक्ता द्रव्यानुक्ता			अतिदूसमा		६७-३
अक्रियवादिन्	अक्रियवादि०	७८-१०, ११	*अचिन्ता लोइया जाणगस- १७५-२१ तः			अतिशेष	अइसेस	१६३-२०
अक्ष = जीव	अक्ष	२०-८, ९ १०, १२;	रीर-भव्यवसरीरवतिरित्ता १७६-३			अतिशेषसिद्ध	अइसेसइड्ड	१६३-२०
		११३-२०, २१, २२	दव्याणुण्णा			अतीर्थसिद्ध	अतित्थसिद्ध	३९-४ ५ ६
,, = इन्द्रिय	अक्ष	११४-१९ २०	*अचिन्ता लोउत्तरिया	१७७-१०		अथोग्मह		१४४-२६
,, = चन्दनक	,	१७१-२	दव्याणुण्णा	तः १३		अथ	अह	४३-१५, १६, १७
अक्षर	अक्षर	६८-८;	अच्छिद्ग्रन्थच्छेदण्य	८७-२४ तः २६		अधमस्तिकाय		४४-२०, २९
		१५८-१९ तः २३	अजीव	अजीव	९३-२१	अध्यवसायस्थान	अज्ञवसाणड्डाण	२६-७
अक्षरलघ्विधिक	अक्षरलघ्वीय	५९-२४, २५,	+अज्ञावष्ट = तज्जन	१००-२७		अनक्षरश्रुत	अणक्षरसुय	६०-८ तः १७;
		२६	अज्ञान	अण्णाण	७८-१०			१५३-१८ तः ६
अक्षरश्रुत	अक्षरसुय	५९-६ तः ९	अज्ञानिक	अण्णाणिय	७८-२० तः २३	अनगार	अणगार	२२-२६, २७
अगमिक	अगमिय	६९-२१; १६१-१२,	अज्ञिका+पर्वत् अज्ञाणिया०	१७-१६, २१		अनस्त्यक्षर	अणस्त्यक्षर	१७२-७
		१३, १४५-१९	परिसा			अनन्त	अणंत	१३-२६
अग्ग		८८-२८	+५ अह्नापय = हृष्टिवादप्रविभाग	८५-२३, २७		अनन्तगुणित	अणंतगुणिय	६८-२
अर्थोणीय		८८-२८	*अणंत्वरसुय	६०-३, ४, ५		अनन्तप्रदेशक	अणंतप्रदेशक	३५-१२
अग्नि	अग्नि	६८-१	+५ अणंतर = हृष्टिवादप्रविभाग	८७-१०		अनन्तरसिद्ध	अणंतरसिद्ध	३८-१८, १९
अङ्गचूलिका	अंगचूलिया	७२-३० तः	+अणाइसेसि० अनतिशायिन्	१८३-२२		केवलज्ञान	केवलणाण	
		७३-१	*अणाणुगामिय[ओहिणाण]	२४-२७		अनवधृत = अनियत		१६५-१
अङ्गप्रविष्ट	अंगपविष्ट	१६१-१५, १६, १७;		तः २५-५		अनाजीविन्	अणाजीवि	१६३-२४ २५
		१६३-१०	+५ अणुओगदार = ज्ञानागम	७०-१९		अनात्यन्तिक		११-२
अङ्गशाह्य	अंगशाहिर	१६१-१५ १७, १८	अणुकड्ड	११६-७, ८		अनानुगामुक	अणाणुगामिय	२३-३; २५-
अचिन्तजोणि		१००-७	*अणुत्तरोववाइयदसा	८३-१३ तः २५		[अवधिज्ञान] [ओहिणाण]	६ तः ११; ११५-	११, २०
*अचिन्ता कुप्रावय-		१७६-२० तः २३	अणुभाग	१६७-५				१७०-८, ९
णिया जाणगसरी-			+अणेगसिद्ध	२८-२५, ३९-२०,		अनुक्ता	अणुणा	
रभवियसरीरवतिरि-				२९, २२		अनुत्तर	अणुत्तर	८३-२६
त्ता दव्याणुण्णा			+अणालिगसिद्ध	३८-२४				

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पट्टिका	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पट्टिका	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पट्टिका
अनुकृतोपपा-	अणुकृतोप-	८३-२६; २७,	अप्रथमसमय-	अपदमसमयसिद्ध	४०-१	अवग्रहणता	ओग्रेण्हणया	५०-१३; १४
तिकदशा	वाइदसा	२८	सिद्ध			अवचन	अवयण	१५४-१४
अनुप्रेशा	अणुपेहा	१७३-२२	अप्रमत्तसंयत	अप्रमत्तसंजय	३४-१६; १७	अवधि + ज्ञान	ओहिणाण	१८-२८तः ३१;
अनुभाग	अणुभाग	१६७-३	अप्रश्न	अपसिण	१६६-१७; १८			११२-३तः ११५-
अनुमान	अणुमाण	४८-३०	अभ्यंतरावहि		१२०-५; ६			१५६; १६
अनुयोग	अणुओग	८९-२१;	अभवसिद्धिक	अभवसिद्धीय	६७-२५	अवबोध		१२६-११; १२
		६९-३०	अभव्य	अभविय	९३-२२	अवयण		१५४-१२
अनुयोगद्वार	अणुओगद्वार	७६-६	अभाव	अभाव	९३-१३; १४; १६	अवलम्बनता	अवलम्बणता	५०-१७तः २०
अनैकान्तिक		९९-२	अभिप्राय		१२३-२१	अवंक्ष		८९-९२
अन्त	अंत	८३-७	अभिप्रायसिद्ध		१२३-२२	अवाअ-॒य		१५०-१८; १५२-१३
अन्तकृहशा	अंतगडदसा	८३-७ ८	अभिसंधारण	अभिसंधारण	६१-३७; १८	*अचाय		५६-८; १५०-७
अन्तगत[अ- वधिज्ञान]	अंतगय	२३ १४तः १८	अभ्यथिकतर+क	अभ्यथिकतर+क	३६-१८ १९, तराग २० २६; १२२-२९	अविच्छयिति		१४५-४; ५; १५०-२५
अन्तर	अंतर	९०-१२	अभ्यन्तरश्रन्थ		१६३-१३; १४	अवेदित	अवेद्य	४८-४
अन्त्यक्षिया	अंतकिरिया	८३-९	अमिलित	अमिलिय	१७२-१०; ११	अव्यक्त		१४५-२४
अन्यलिङ्गसिद्ध	अण्णलिङ्गसिद्ध	३९-१९; १२४-१९	अमूढिष्ठि	अमूढिष्ठि	१६३-१६	अव्यत्याप्रेडित	अविच्छामेलिय	१७२-१२,
*अपेदिवाति[ओहिणाण]		२९-२३, २३, २४	अय		१८-३२			१३, १४
अपर्यवसित	अपज्वसिय	६५-२१	अयोगिन्	अजोगि	३७-२९	अव्यवच्छित्ति-	अविउच्छित्ति-	६५-१९,
अपर्यास्तक	अपज्जतग	३४-१०	अयोगिभवस्थ-	अजोगिभवस्थ-	३७-२९	नयार्थता	णयद्वया	२०, २१
अपश्चिम	अपच्छिम	१०१-२	केवलज्ञान	केवलज्ञान		अव्याविद्ध	अव्याविद्ध	१७२-९
+अष्टसिणा		८४-१५, १६	अरुणोपपात	अरुणोपवाय	७३-३तः १०	अव्याविद्धाक्षर	अव्याविद्धाक्षर	१७२-८, ९
अपाय	अवाय	४९-१३; १४; ५१-१३, १४; ५७-३; १४५-१, २; १४८-२३; १४९-३१; १५२-१५; १८४-२१	अर्थ = भाषाभिधेय	अर्थ	१५-८	अव्याहत	अव्याहय	४८-६
"	"	, १५०-११, १२, २२, २३	" = धर्मास्तिकायादि,,	४३-३०; १२६-१६		अशुतनिश्चित-	असुयणिस्त-	४६-१८, १९
अवाय			" = अभिप्रेतपदार्थ	,,	४८-५	[मतिज्ञान]	य[मझणाण]	
अपोह	अपोह	५८-१६; ६१-१; १५२-६	" = रूपादि	"	५६-२६	*असणिण		६०-२५, २६
अपोहते	अपोहए	१६-१४	अर्थसिद्ध		१२३-२१	असंख्येयवर्षा-	असंखेज-	३३-२८
अप्रतिचक्र	अपेदिचक्र	६-३	अर्थावग्रह	अर्थोग्रह	४९-१७	युष्	वासाउय	
अप्रतिपाति	अपेदिवाति	२३-७;	अर्द्धतृतीय	अडाइज्ज	३६-१८; ११२-१५	असंज्ञिन = समू-	असणिण	६९-११, १२
[अवधिज्ञान]	[ओहिणाण]	२९-२५ तः ३०-३; ११५-२४ तः २६	अर्हत्	अरिहंत	६२-२९तः ६३-५	छिमविकले-		
अप्रतिपाति	अपेदिवाति	४३-२१, २२	अलात	अलाय	२३-३०	निद्यादि		
[केवलज्ञान]	[केवलज्ञान]		अलोक	अलोअ	३०-२१	" = पृथिव्यादि	असणिण	६९-२१, २२;
अप्रथमसमय	अपदमसमय	३८-६	अव = अधः	अव	११२-३			१५३-२१
			,, = मर्यादा	,,	११२-४	,, = मिथ्यादृष्टि	,,	६२-१४, १५
			,, = गमन	,,	११२-१४	असंज्ञिश्रुत	असणिण्श्रुत	१५३-११
			अवगाहना	ओगाहणा	२६-१६	असंयत	असंज्य	३४-१५
			*अवगग्न		१५०-६	असिद्ध	असिद्ध	१६९-८, ९
			अवग्रह	उग्रह	४९-९, १०, ५६-	असील		१५४-१२
					२६, २७; १४९-३०	अस्खलित	अस्खलिय	१७२-९, १०
				अवग्रह	१४८-२२; १५०-८	अहीनाक्षर	अहीणक्षर	१७२-७
				ओग्रह	१५०-१९, २०	अहेतु	अहेतु	९३-१९

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र पठिक्र	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पठिक्र	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पठिक्र
*अंतगडवसा		८२-२३तः४३-६	आभृत	पूरित	१४५-२०	ईहा	ईहा	४९-१०,११,१२;
+आउरपच्चक्षवाण		७०-२२	आभोगनता	आभोगणया	५०-२८			५५-३४;५७-२;
आउ		८९-१४	आभ्यन्तरतपः		६-१			५८-१६;६०-२९तः
आएस = प्रकार		५५-२८;१४९-३	+आमासपय = हिंडिवादप्रविभाग		८५-२३,			६१-१;१४४-२९,२०,३१;
,, = सूत्र		१६-२;१४९-१९			२७;८६-४,			१४९-३०,३१;१५०-८,
आगम	आगम	९६-४,५			७,११,१५,१९			९१०,१८ २१,२२;१५२-६
*आगमओ दब्बाणुण्णा		१७१-१९तः२४	आय		८९ ७	उक्षा = सम्ब- +उक्षा	२०-१३;११३-२९	न्यन
आगमतः		१८२-१०,११	+आयचाय = हिंडिवादप्रविभाग		८७-११	+उग्गह		५६-७
आगमतो द्रव्यनन्दि		२-७,८	+आयचिसोहि		७०-२१	+उज्ज्ञसुत = हिंडिवादप्रविभाग		८७-९
आगमतो आगमओ	आगमतो	१७१-२९ ताः	*आयत		७४-२८त ७५-६	+उण्णमणी = अनुज्ञा		१७८ २९
द्रव्यानुज्ञा दब्बाणुण्णा		१७३-२४	+आयिणेत = आचिन्वान		१३९-२३	उत्कालिक	उक्कालिय	७०-१६;
आगमतो भावनन्दि		२-१७,१८	आयुस = क्षुरकर्म		१३८-टि.३			१६१-३१,३२
आगमशास्त्र आगमसत्थ		९४-४८:७	आर्य	अज्ज	११-२३	उत्तर	उत्तर	८३-२६
आगमसिद्ध		१२३-२१	आर्यजीतधर अज्जीयधर		११-२३ २४	उत्तरगुण		५-१०
आगर		७९-२२,२३	आलोक		१६२-५	+उत्तरज्ञयण		७२-१९
आगृहीत आचिय		१७४-१६	+*आवट्टण्णा = अपायज्ञान		५१-८	उत्तराध्ययन	उत्तरज्ञयण	७२-२६,२७
आघविज्जंति आख्यायन्ते		६७-८;१६४-१३	आवरण		१२३-२	उत्थानशूत उट्टाणसुय		७३-११तः१४
आचार आयार		७५-७,८,१२	आवर्तनता आवट्टण्णा		५१-१०,११	उद्धवण		१००-२७
आचार्य=दशनान्त- आयरिय		१७७-१	आवलिका आवलिया	२७-२२,२३;११८-	११८-१५	उद्यान	उज्जाण	१६५-१६,१७
रीयाचार्य			आवश्यक आवस्य	७०-७,८		उपचारप्रत्यक्ष } इन्द्रियप्रत्यक्ष }		११४-६,७,८
,, = निर्ग्रन्थाचार्य आयरिय		१७७-२०	आपनविशेष		१५७-१०	उपद्रवित	उवदंसिय	१७४-१८
आतुर आउर		७२-११	आसुरुप्त आसुरुत		१६३-४	उपद्रव्यन्ते	उवदंसिज्जति	६७-१०;
आतुरप्रत्याख्यान आउरपच्चक्षवाण		७२-१०	आहारक आहारग		११६-१५			१६४-१५
		तः१३	आहारपर्याप्ति		३४-१	उपधारणता उवधारणया		५०-१५,१६
आत्मप्रदेशान्तर्गत[अवधिज्ञान]		११५-३०	इङ्गना		१००-३०;१५४-२७	उपपात	उववाय	८३ २६
आत्ममध्यगत [अवधिज्ञान]		११५-३२	+इतिथिलिंगसिद्ध		३८-२३	उपवैद्वा	उववृहा	१६३-१७
		तः ११६-१	इद्र = जीव इद	२०-२४;१३०-२२		उपयोग	उवओग	५४८-२३;१५७-९
आत्मवादिन्		७८-६	इन्द्रिय इंदिय		२०-२४	उपलिधि	उवलिद्धि	१३०-२२
आत्मविशुद्धि आयविसोहि		७१-३०तः७२-१	इन्द्रियपर्याप्ति		३४-३	उपशान्त		१२३-५
आदेश = प्रकार आएस ५५-३,३१२-३०;			इन्द्रियप्रत्यक्ष इंदियपच्चक्ष	२०-२३तः२७		उपसर्ग	उवसर्ग	१६६-५
		१४९-५;१४३-६	"		११४-६,७,८	उपाधि		१२३-२९
,, = सूत्र ,		१४९-२१	उपचारप्रत्यक्ष } इन्द्रियप्रत्यक्ष }			उपाध्याय = उवज्ञाय		१७७-१
आनुगामुक्त[अ- आणुगामि- २३-२;११५-			इभ्य इभ्म		१७५-२२-२३		कलाघ्यापक	
वधिज्ञान] यओहिणण १८,१९			ईश्वर ईसर		१७१-१९,२०	,, = निर्ग्रन्थ ,		१७७-२१
आभिणिबोहिय		१५२-४,५,१३,१४	ईश्वरकारणिन्		७८-५	उपासक	उवासग	८३-२०
*		४४-१८	ईहते ईहए		९६-१२	उपासकदशा उवासगदसा		८२-२०
आभिनिबो- आभिणिबो-		१८-१९तः२३;	*ईहा		५६-७;१५०-६	*उपत्तिया बुद्धि		४६-२४,२५
धिक + ज्ञान हिणण ४५-१३;११९-								
		१४तः३०;१२७-						
		३०,३१;१५२-६तः२०						

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पटिक्त	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पटिक्त	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पटिक्त
कूमेच्छिता[योनि]	कुमुच्छया	१००-२१,	*खायोवसमिय [ओहिणाण]	२२-९,		गुण = गुणवत्	गुण	१६६-२
		२३		१०.११		गुरु	गुरु	४-६
+ईकेउभूय = हष्टिवादप्रविभाग	८४-२३,२७;	८६-४,७,१३,१५,१९	+खुड्डियाविभाणपविभत्ति	७२-२१		गुरुवाचनोपगत	गुरुवायणोवगव	१७२-
+ईकेउभूयपडिगाह =,,	८५-२४;८६-१,	४,८,१२,१६,२०	*खेत्तओ आभिजिष्वोहिणाणि ५५-२०					१७,१८
केवलज्ञान	केवलणाण-	११-५तः८;	*खेत्तओ उज्जुमति	३५-१;२,३		गोचर	गोयर	७५-१२
	०णाण	४३-२६	[मणपञ्जवणाण]			गौरखर		१६४-२५
+ईकोड्डल्य = शास्त्र		६४-१९	*खेत्तओ ओहिणाणि	३०-७,८		ग्रन्थिम	गथिम	१७०-३०,३१
+ईकोलवाल = प्राणिविशेषवाल	१३९-२३		*खेत्तओ केवलणाणि	४०-५,६		ग्राह्य	गज्ज,गेज्ज	१०४-२४
कोष्ठक	कोष्ठ	५१-२६,२७	*खेत्तओ विउलमति-	३५-४,५		घट		१६०-२०
कौटुम्बिक	कौटुंबिक	१७५-२२	[मणपञ्जवणाण]			घोड + थ	१७५-१७,१७६-१८	
कियावादिन्	किरियावादि	७७-२० तः	*खेत्तओ सम्मसुय	६५-२५	+ईधोलचम्म = चर्मगोलक			१३८-३
		७८-१	*खेत्ताणुण्णा	१७७-२७,२८	घोषसम			१७२-५६
+ईखोडमुह = शास्त्र			खेदक्ष	१००-२८	चतुरन्तसंसा-	चाउरतंसंसा-		१४-४
			+ईखोडमुह = शास्त्र	६४-२०	रकान्तार	रकंतार		
क्रियाविशाल	किरियाविसाल	१६७-७,८	गणावच्छेदक	गणावच्छेदयअ	१७७-२५	+ईचपफलि+ = आमन्द+गान		१४२-२३
क्षयोपशम		१२३-६	गणिन् = गणपालक,आचार्य गणि	६४-	' गाइत			१४२-२३
क्षायोपशमिक	खयोवसमिय	२१ २७,२८		२,३,४	चरक			१०१-८
(अवधिज्ञान) [ओहिणाण]			, = गुणगणवान् आचार्य गणि	७१-२४	चरण	चरण	७२-९,१०,७५-१४	
क्षुलकप्रतर	खुड्डागपयर	३५-२३ तः३६-		तः २७	चरणविधि	चरणविहि	७२-९ १०	
		१०	गणिपिटक	गणिपिटग	६४-२३:५	+ईचरणविहि		७०-२२
क्षुल्लिकाविमात्	खुड्डियावि-	७२-२९,३०	गणिविद्या	गणिविजा	७१-२४,२५	चारित्रिचार	चरित्याचार	७५-२८,२९
प्रविभक्ति	माणपविभत्ति		गणिडका	गंडिया	९०-९,१२;१६७-१०	चिन्त		१०१-१९
क्षेत्रत क्रज्जुमति-	खेत्तओ उज्जु-	२५-२१	गणिडकानुयोग	गंडियाणुओग	९०-९ १०	+चिन्तंतरंदिया		१०-७
विपुलमति [मनः- मति-विउलम- तः ३६			गम = समानसूत्रोच्चार-	गम	६९-१८ १९	चित्र	चित्त	१०-११
पर्यायज्ञान] ति[मणपञ्जवणाण]	-१९		लक्षण			चित्रकर्म	चित्तकर्म	१७०-३०
क्षेत्रतः केवल-	खेत्तओ केव-	४०-९,	, = अर्थपरिच्छेद	७७-१,२	चित्रान्तरग-	चित्ततरग-	१०-११तः१४	
ज्ञानिन्	ज्ञानाणि	.१०,११	गमिक [श्रुत] = गमियसुय	६९-१८ १९,	णिडिका	डिया		
क्षेत्रोऽवधिज्ञा-	खेत्तओ ओ-	३०-२०,	१ सूत्रोच्चारणलक्षणवद्	२०;१६१-१२;	चिन्ता	चित्ता ५१-१,२;६१-३,४		
निन्	हिणाणि	२१,२२	२ सदसाक्षरालापक,	दृष्टिवाद १८५-२९	चीरिक		१०१-८,९	
क्षेत्रमध्यगत [अवधिज्ञान]		११६-२	गंडे	१०३-२	चुडली	चुडलिया	२३-२९	
क्षेत्रानुक्षा	खेत्ताणुण्णा	१७७-२९ ३०	गंडिया	५०-३०तः५१-१	+ईचुतमचुतसे = दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२१;		
क्षेत्रान्तर्गत [अवधिज्ञान]		११५-३१	गंडिया	५८-१७,१८;६१-३;	गियापरिकम्म-	८६-१८,२१		
खउरकठिनक-कढिणय	१०५-२४,२५,	१५२-८		१५२-८	चुयमचुय०			
	टि १				+ईचुयमचुयावत्त= „		८६ २०	
+ईखकखर + सह = 'खट्-खट्'शब्द	१३८-४				+चुल्लकपपसुय		७०-२६	
+ईखड्डुग = सुद्रिका	१३२-२९;१३४-२५				चूडा	चूलिया	९३-१,२	
+ईखयज्ञाणग=खातज्ञायक,	१३७-२६				चूलिका	„	७३-१	
भूम्यन्तर्गतपदार्थज्ञानिन्					चैत्य	चैह्य	१६५-१७,१८	
					च्यावित	चतिय	१७४-८,९	

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पडिक्ट	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पडिक्ट	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पडिक्ट
च्युत	चुत	१७४-७८	ठिकंध		१६७-५	त्रैराशिक	तेरासिय	८७-३८
छिङ्ग = अपरनिरपेक्ष	छिणा	१६६-३१	+णघुसकलिंगसिद्ध		३८-२४	वर्वी	डोव	१३९-१३
+छिङ्गच्छेदणाऽ		८७-२१ २२	+णमणी = अनुज्ञा		१७८-२९	दर्शनाचार	दंसणायार	७५-२२तः२६
जगत्	जग	२-२९; ३-९, १०, १२, १६	+झृणदावत्त = दृष्टिवादप्रविभाग		८७-११	दर्शित	दंसिय	१७४-१७
जगदगुह	जगगुह	३-८	+णाअ = अनुज्ञा		१७८-३०	दर्शयन्ते	दंसिंजति	६७-१०; १६४-१४
*जाणगसरीरदव्वाणुणा		१७३-३१तः १७४-३	+णाशपरियावणिया		७३-१८तः२०	*दद्वओ आभिषिधोहियणाणि	५५-१९	
जाति		१४६-५	+णामणी = अनुज्ञा		१७८-२९	*दद्वओ उज्जुमति[मण- पञ्जवणाण]	३४-३०	
जाहक		१०२-२६; १०३-१६	णाथ		०९-१५, १६	*दद्वओ ओहिणाणि	३०-६७	
जित-य	जित	१७२-३; १८२-३३	*णायाधम्मकहा		८०-२६तः८१-१२	*दद्वओ केवलणाणि	४०-५५	
जीत	जीय	११-२३	+णिज्जर = अनुज्ञा		१७९-१	*दद्वओ विडलमति	३४-३०तः [मणपञ्जवणाण]	३५-१
जीवू = प्राणिन्	जीव	२-३०; ९३-२१	णियावलिया		७३-२१	*दद्वओ सम्मस्य	६५-२४	
, = पञ्चनिद्रय	,,	१००-२५	+णीसेस		८७-१५	दास = दासोपुत्र,	दास	१७६-१२
जीवविप्रसुक्त	जीवविप्रसुक्त	१७४-१०, ११	+झृणेच्छिल = नैतिक		१४०-१७	*दिद्विवाऽ	८५-१३तः८२-२४	
+जीववुडिल + पयः=अनुज्ञा		१७९-१	*णोआगमतो जाणगसरीरभ-	१७५-९		*दिद्विवाऽबैवप्स+सणिण,	६२-१, २	
+जीवाभिगम = ज्ञानगम		७६-१८	वियसरीरवतिरित्ता दद्वा-	तः१७७		असणिण		
ज्ञ	ज्ञाणग	१७४-४	पुण्णा		१७	दिवसान्त	दिवसंत	२८-१
ज्ञशरीर	जाणगसरीर	१७४-४	+५५तडियअ = उत्त्रोटित		१३६-१४	दिव्य = तात्त्विक, दिव्व	१६६-२१	
ज्ञशरीरदव्यनन्दि		९९-८, ९	+तदुभय + हिय=अनुज्ञा		१७८-३०	दीपिका } उल्का }	११६-४८	
ज्ञशरीरदव्यानुज्ञा जाणगसरीरद-	ज्ञाणग	१७४ व्याणुणा	११-१३	तपःसिद्ध	१२३-२२	दीर्घकालिकसंज्ञिन्	१५३-१७, १८	
ज्ञात	णाथ	८१-१३	तपाचार	तवायार	७५-३१, ३२	दीर्घकालिकी [संज्ञा]	१५३-१३, १४	
ज्ञाताधर्मकथा	णायाधम्मकहा	८१-१३, १४; १६५-१५	तल		१०२-१०	+झृदुगुण = दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२४; ८६-१, ४, ७, ११ १५, १५	
ज्ञान	णाण, नाण	१८-१तः४ १११-५, ६	तलवर	तलवर	१७५-२०, २१	+झृदुपरिगगह	,,	८७-१२
ज्ञानाचार	णाणाचार	७५-२०, २१	तलिमा		१९-२०	दुर्विदग्धा + पर्षद् दुर्विदग्धा	१७-१७, २४	
ज्ञिका + पर्षद् जाणिया परिसा		१७-१४ तः१६, १८	तार		१४४-२८	परिसा		
ज्योतिः	जोइ	२३-३०	+झृतिगुण = दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२४; ८६-१ ४, ८, १२ १६, २०		दुसमसुस्समा	६६-२९तः६७-१	
ज्योतिःस्थान	जोइड्हाण	२५-६८	+तितथकरिसिद्ध		१८३-३४	दुसमा	६७-२	
+ज्ञाणविभक्ति		७० २१	+तितथगरसिद्ध		३८-२२	द्वषान्त	दिद्वुत	४८-३१; ४९-१
टङ्क	टंक	७९-१९	तीर्थसिद्ध	तित्थसिद्ध	३८-२८तः३९-४	द्विष्ठि	दिद्विष्ठि	४५-१५
*ठवणा = मतिज्ञानमेद-धारणा		५१-२०	तीर्थान्तरसिद्ध		१२४-१३	द्विष्ठिपात	दिद्विवाऽ	४५-१५, १६
*ठवणाणुणा		१७०-१९तः२१	+तुञ्ज = त्रुटित		१३९-१४	द्विष्ठिवाऽ	,,	४५-१५
*ठाण		७५-५५ १६	तुञ्जाय		१३९-१४	द्विष्ठिवाऽपदेशसंज्ञिन्	१५४-६६, १०	
+ठिकरण = अनुज्ञा		१७१-१	+तुञ्जेणगसिद्धवणी = स्तेनकसीवनी		१३४-१२	द्विष्ठिवाऽपदे-	दिद्विवाऽबै-	६२-४तः१५
			तेरासिय		८७-५तः८	श + संज्ञिन्	एस + सणिण,	
			त्यक्तदेह	चत्तदेह	१७४-९, १०	असंज्ञिन्	असणिण	
			त्रिवर्ग	तिवर्ग	४८-१४ १५			
			त्रिसमयाहारक	तिसमयाहार-	२६-१४,			
					८८ १५, २८; ११६-१६			

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पंडिक्त	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पंडिक्त	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पंडिक्त
हृषिकेशदोषदेशासनशिर्	१५४-६,७,११		धीर	धीर	१६-९	निर्वृतिपथ	गेवुइपह	१०-१८
	तः१५		धृति	विद्व	७-२३	नैगम	गेगम १७२-३२तः१६३-१	
+हृषिकेशदेवता = जैनागम	७०-१९		धेनु		१०१-३०	नैवेचिकी	निसीहिया	१७४-१३
+देविदेववाप्त	७२-२३		ध्यानविभक्ति	ज्ञाणविभक्ति	७१-२८	नैवेचिकीगत	निसीहियागत	१७४-१३
देह	देह	१७४-९	धुव		१००-२८	नो = सर्वनिषेध	णो	२०-२८
द्रव्य	द्रव्य २-११; ९९-१२तः१७;		ध्वनि		१४६-४,५	, = देशवचन	, २-१८, १९; ९९-२२	
द्रव्यत आभि- दव्वओ आभि- ५५-२३तः			नन्द		९६-६	नोआगमतो ज्ञशरीरद्रव्यनन्दि	२-९, १०	
निषेचिकज्ञा- णिवोहिणा-	२६		नन्दनवन	जंदणवण	८-२७तः२९			११
निन्	णि		नन्दिनी		१-२१; २-४	नोआगमतो ज्ञशरीर-भृद्य-	२-१४तः१६	
द्रव्यतः + क्रज्जु- दव्वओ+उज्जुम	३५-१२		नन्दिन्दोष	जंदिनोस	६-११	ज्ञशरीरव्यतिरिक्ता द्रव्यनन्दि		
मति-विपुलम्- ति-विउलमतिम्	तः२१		नरक	णिरय	२१-३०	नोआगमतो भृद्यशरीरद्रव्यनन्दि	२-१३	
*तिमनःपर्य- णपञ्जवणाण			+५२नंदावत्त = हृषिकेशद्रविभाग		८५-२४;	नोआगमतो भावनन्दि	२-१४तः२०;	
यज्ञान					८६-२,५ ८,१२,१६,२०			९९-२१
द्रव्यतः केवलज्ञानिन् दव्वओ केवल- ४०-			नाग	णाग	७३-१८	नोइन्द्रियप्र-	नोइंदियप-	२०-२७,
गाणि ८९			नातिविकृष्ट	नाइविगिट्टु-	१६२-२०,२१	त्यक्त	चक्षव	२८; ११४-३
द्रव्यतोऽवधिज्ञा- दव्वओ ओहि-	३०-१४		[तपः]	[तव]		+नोतित्थगरसिद्ध		१८३-३४,३५
निन्	गाणि तः२०		नानाधोष	णाणाधोस	१४४-२३,२४	+नोतित्थसिद्ध		१८३-३४
द्रव्यनन्दि	२-३तः१८		नानाद्यञ्जन	णाणाद्यञ्जन	१४४-२४	नोतीर्थकरसिद्ध		१२४-१५,१६
द्रव्यसंलेखना	७२-२३तः६		नामधेय	णामधेय	१४४-२४	नोतीर्थकरसिद्ध		१२४-१५
द्रव्यानुज्ञा दव्वाणुणा	१७१-१२तः१६		नामनन्दी		९९-७	नोतीर्थसिद्ध		१२४-१४
द्रव्येन्द्रिय	२०-२५		नामसम	णामसम	१७२-४,५	परसंबंध		१६७-५
द्रावित	१०३-८		+५३नामसुहुम = शाक		६४-२०	पक्षान्त	पक्षङ्गत	२८-३
द्रोणमेघ	दोणमेह	१०४-७	*नामाणुष्णा		१७०-१३,१४	पग्नवंध		१६७-५
द्रादशाङ्क	दुवालसंग	६४-१	नामानुज्ञा	१७०-३० ११; १५तः१८	+५४पगल = प्रार्गल		१३९ ३०	
द्विसमयसिद्ध	दुसमयसिद्ध	४०-२	नारक	गेरद्य	२१-३०	+*पचावहृणया = अपायज्ञान		५१-८
धनु	धणु	२९-२१	निराचित-य	निकाइय	१६४-१२;	पज्जव		१०२-४
धम्मकहा		८१-१६,१७			१८६-१२	+*पञ्जवकखर		६७-२९
धरणा	धरणा	५,१-२२,२३	निर्दर्शित	णिरंसिय	१७४-१७,१८	पडिवाति ओहिणा-	प	२९-९८.१६
+धरणोववाय		७२-२३	निर्दर्शितंते णिरंसिज्जंति	६७-१०,१६४-१५	+पढमगणिट्टुण = आचारधर		६४-३	
धर्म		३-१७; ८-१६	नियतिवादिन्		+पण्णत्त-प्राज्ञास, प्रज्ञास, प्रज्ञस	१८-१४ १५		
धर्मास्तिकाय		४४-२७,२८	निःकाह्वित	णिक्कंखिय	१६३-१५	+५४पण्णास=हृषिकेशद्रविभाग.		८७ १३
*धारणा		५६-८; १०५-७	निःशक्तित	णिसंकिय	१६३-१५	*पण्णावागरण		८४ ४८.१३
धारणा	धारणा	४९-१४; ५१-२३,	निःत्रेयस	णीसेस	४९-२३	पद	पय	७६-२६
		२४,२५; ५३-३,४;	निरवशेष	णिरवसेस	९६-२८	पनक + जीव	पणगजीव	२६-१५;
		१५० १,२.१३.१४,२३;	निरीक्षित	णिरिक्खिय	६३-१६			११६-२३
		१५२-१६	निर्वैन्ध	णिर्वैन्ध	७५-१०	पञ्चविज्जंति		१६४-१३
धिँ	धारणा	१५२-१२	निर्युक्ति	णिर्जुति	७६-८	पब्मार		७९-२९,२२
+धीयार = ब्राह्मण		१३९-टि,४	निर्विचिकित्स	णिर्विचिकित्स	१६३-१५,	+पभव = अनुज्ञा		१७८-२९
					१६	+पभव =,,		१७८-२९

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पड़िक्क	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पड़िक्क	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पड़िक्क
+प्रभाषणमाद् = जीवागम	३०-१९	+पथश्च = नन्द	१३९-टि २	+पोरिसिमंडल	७०-२०			
+पथ = अनुज्ञा	१७९-१	पचाहेहि = लावयिष्यति	१४५-१८	घौहीमण्डल योरिसीमंडल	७१-१८तः२१			
+पथपर = ,,	१७९-२	पसिणा	८४-१५,१७	पौष्टिकपवास	१६६-३			
परम्परसिद्ध-	परंपरसिद्ध- ३०-१९,२०	पसिणापसिणा	८४-१६तः१८	प्रकृति	पयह			
केवलज्ञान	केवलज्ञान	+पृष्ठ = हष्टिवादप्रविभाग	८५ २३,२७;	प्रचलना	पुच्छणा			
+पृष्ठपर = हष्टिवादप्रविभाग	८७-१०	८६-४,७,११,१५,१९	प्रकृत	पण्ट	१८-१०,११,१२			
परावर्तना	परियट्टणा	+पृष्ठातंक-यंक = नाणक	१४२-२१तः२३	प्रक्षापना	पण्णा	५८-१९,२०;१५२-१०		
परिकद्ग		पादपोषगम पाशोवगम	१६५-२२	प्रक्षापित	पण्णविय	७०-२७		
परिकर्म	परिकर्म	पारगमन पारायण	९६-२२	प्रक्षापस	पण्णत	१८-१५		
परिघूण्ठ्	परिघोलेमण	पारिणामिकी पारिणामिया	४८-२९तः	प्रक्षाप्यन्ते	पण्णकिंति	६७-९		
परिघोलन	परिघोलण	[बुद्धि] बुद्धि	४९-३	प्रणिधान+यो	पण्णहाण+	१६३-२४		
परिजित	परिजित	*पारिणामिया बुद्धि	४७-१४,१५	गयुक्त	जोगजुत			
+पृष्ठियापरिणय=हष्टिवादप्रविभाग	८७-९	*पासओ अंतगमय [आणु-	२४-७,८,९	प्रणीत	पणीय	६३-३०		
परिणाम = उत्पातादि, परिणाम	४२-१८;	गामिय ओहिणाण]		प्रतिपत्ति = अभ्युपगम पडित्ति	७६-९			
	१२६-१०	+पृष्ठिअङ्कत = प्रिय	१४०-२०	,, = प्रतिपादन, ,,	१६६-४,५			
,, = पुष्टा	,, ४९-२	पिटक	पिडग	,, = मतान्तर, ,,	१८६-९			
परिताप	१००-२७	+पितिमीसग = पितृमिश्र	१३६-२६	प्रतिपात्यव-	पडिवातिओ- २६-६,२९-			
परित्त	७६-४	घुड़ = स्पृष्ट	१०३-२८	धिज्ञान	हिनाण			
परिनिष्ठा	परिणिट्ट	,, = पुष्ट	१०३-२८		१७तः२१;			
परिपर्यन्त	परिपेरेत	+पृष्ठातुड़ = हष्टिवादप्रविभाग	८७-११		११५-२४तः२६			
+परिपूणग-क = नीडिशेषः	१०२-२६;	+पृष्ठावत्त = ,,	८६-५	प्रतिपूर्ण	पडिपुण्ण			
	१०५-२७;१०२-३२	+पुय + लुज्जा = पुतुयुद्ध, नित्ययुद्ध	१८३-१	प्रतिपूर्णघोष	पडिपुण्णघोस १७२-१४तः१६			
परिभोग=परित्याग	१६६-१०,११	*पुरतोअंतगमय [आणु-	२३-२६तः२८	प्रतिपृच्छति	पडिपुच्छइ ९६-११,२१;			
परिमन्थ	१०३-२५	गामिय ओहिणाण]			१६९-२५			
परोक्ष	परोक्त	पुरतोऽन्तगत [आनुगामि	२३-२९तः	प्रतिमा = श्रावकप्रतिमा, पडिमा	१६६-५			
परोक्षज्ञान		काव्यधिज्ञान]	२४-३	प्रतिषेधात्रय	१०१-२६			
पर्यय	पञ्च १८-३२;११२-६	पुव्वगत	८८-२१तः२४	प्रतिष्ठा	पतिष्ठा ५१-२५ २६			
पर्यव=समन्ताद् गमन	,, ११२-१४	घुणचूला	७३-२७	प्रतीच्छक	१०२-१३;१०८-११			
,, = धर्म	,, १६४-१०	पुष्पिता	७३-२५,२६	प्रत्यक्ष	पञ्चकल २०-८तः११			
,, = पलव	१६५-१०	+पूर्व्य = पूर्विक, कान्दविक	१३९-१४,१५	प्रत्यक्षज्ञान	११२-२०तः२४			
पर्यव + परिमाण पलव+ङ्गम	१६५-९	पूजित	६३-१७	प्रत्यावर्तनता	पञ्चवट्ट्या ५१-११ १२			
पर्यासक	पञ्चत्तग	पूरित	५४-५,८९	प्रत्येकबुद्धसिद्ध	पत्तेयबुद्धसिद्ध ३९-७,८;			
पर्याति	पञ्चत्ति ३३-२९;३४-१	पूरिम	१७१-१		१२४-६			
पर्याय	पञ्च १९-२;७७-५;	पूर्वे = कारण, पुर्व ४५-६;१२८-२८ २९		प्रथमसमयस-	पठमसमयस- ३८-५,६			
	१०२-२;११२-९	पूर्थक्त्व	२७-३१;२९-२०	योगिभवस्थ-	जोगिभवस्थ-			
पर्यायाक्षर	पञ्चवक्त्व	पेयाल = प्रमाण, सार	१२-१;४८-१५;	केवलज्ञान	केवलज्ञान			
पलव = अवयव,	पलव १६५-१०		१०२-२४	प्रदेश = निर्विभागभाग, पदेस	६४-१			
पलवाग्र	पलवङ्गम	पोत्थ	१७०-२८,२९	,, = अंशकल्पन, पएस	१६७-३			
		पोत्थकम	१७०-२८तः३०	प्रभावक	पभावग १२-८,९			

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पटिक	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पटिक	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पटिक
प्रभावना	पभावणा	१६३-१८,१९	बुद्धि	बुद्धि	५९-१४,१५	*भावओ केवलणाणि		४०-७
प्रमत्संयत	पमत्संजय	२४-१६,१७	+बुद्धि = अपायज्ञान,	,,	५९-८	*भावओ विउलमति	३५-९,१०	[मणपञ्चवणाण]
प्रमाद	पमाय	१६३-२३	बोधिलाभ	बोहिलाभ	१६५-२२	*भावओ सम्मसुय	६५-२८तः६६-१	
प्रमादाप्रमाद	पमायष्माय	७०-२८	[भक्त]प्रत्याख्यान भत्पच्छवाण १६६-१०			भावतः केवल-	भावओ	४०-१२
प्रथन		१५७-१०	भग	भग	३-२३,२४;६३-६,७	ज्ञानिन्	केवलणाणि	
अरूपित	परूपिय	१७४-१६,१७	भगवत्	भगवे-यवे	३-२६,६३-६	भावतोऽविधि-	भावओ	३०-२४,
प्ररूप्यन्ते परूपिज्ञति	६७-९;१६४-१३,१४				तः११	ज्ञानिन्	ओहिणाणि	२५
प्रवर्तक	पवति	१७७-२१तः२३	भङ्गिका	भङ्गिया	१२-२४	भावनन्दि		२-१७तः१९
प्रवज्यापर्याय	पवज्ञापरियाग	१६५-२०	भणक	भणग	१२-५	भावसंलेखना		७२-८
प्रश्न	पसिण	१६६-१७	भम्भा		९९-१८	*भावाणुण्णा		१७८-१९तः१८
प्रश्नाकरण	पश्चावागरण	८४-१४	भर	भर	१०८-१२	भावानुज्ञा		१७८-१९तः२१
प्रश्ना-प्रश्न	पसिण-पसिण	१६६-१८	भरनिस्तरणसमर्थ	भरणित्थरण-	४८-१३	भावेन्द्रिय		२०-२६,२७
प्रसङ्ग	पसंग	४८-२४			समस्थ	भाषा	भासा ५८ ५;७३-१४;१५१-१५	१०२-७
प्राक्षात्	पण्ठ	१८-१४,१५	भव	भव	२१-२६;३७-१२	भाषापर्याप्ति		३४-४
प्राण	पाण	१००-२५	भवप्रत्यय[अ-	भवपच्छतिय	२१-२६,२७	भाषासमथेणि	भासासमसेठी	१५१-१५ १६
प्राणापानपर्याप्ति		२४-३,४	विज्ञान]	[ओहिणाण]		भूत	भूय	१००-२५
प्रापद्धि	इडिपत्त	३४-१८	भवसिद्धिक	भवसिद्धीय	६६-२२	भूतवाद	भूतावाद	१६१-२५
प्रावचनिक		१०२-१२	भवस्थ-	भवस्थकेवलज्ञान	३७-१२,१३	+भूयावत्त = हृष्टिवादप्रविभाग		८७-१२
प्रावादुक	पावादुय	७९-२	केवलज्ञान			भ्रमि	पारियल	६-२
प्रेरू		११६-५	*भवियसरीरद्रव्याणुण्णा	१७४-२३तः२६		+भग्न = अनुज्ञा		१७८-३०
फट्क	११५-२८;१८३-१३,१४		भव्य	भविय, भवसिद्धिय	९२-२१	*भव्यशरीर-भवियसरी-	आणुगामिय २४-४,	
फट्कावचिक्षण		११५-२९	, = विवक्षितपर्यायार्थ, भविय	१७४-२७,२८	९९-१०,११	ओहिणाण]	५,६	
फल = प्रयोजन	फल	४८-६	भव्यशरीरद्रव्यनन्दि			+भज्जय = अनुज्ञा		१७८-३०
फलचिपाक	फलविधाग	१६६-२३,२४	भव्यशरीर-	भवियसरी-	१७४-२७तः२८	*भज्जय [आणुगामिय-	२४-१२,१३	
फिडिय = निर्गत		१८२-२७	, द्रव्यानुज्ञा	रद्रव्याणुण्णा	१७५-७	ओहिणाण]		
बद्ध	बद्ध	५७-३१	+भंडग = आभरण		१७६-९,१२,२५	+भित्त्वय = मदीय		१४०-३२
बद्धस्पृष्ट	बद्धपुद्ध	१५१-३,४ ५	भाज्य	भद्रयत्व	२८-१७,२१	मद्दत्त	मद्दव	१७५-२१
+भुभुभंगिय = हृष्टिवादप्रविभाग		८७-१०	भामष्टल		१०१-२,३	भणि		११६-४
+भुहुल =		८७-११	भाव = पर्याय		३०-२४;९९-१३	+भृणुस्तावत्त = हृष्टिवादप्रविभाग		८६-२
बाढ़कार	बाढ़कार	९६-२०	, = सत्ता स्वलक्षण		४३-१८;१२६-११	भण्डलप्रवेश	मंडलप्रवेश	७१-२१,२२
बाहिरावहि		१२०-७,८	, = पदार्थ		६७-८;७७-९;९३-१३;	मति	मति-८	३४-२३;५८-१९;
बाह्यान्त्य		१६३-१३			१६४-१२			१५२-९
बाह्यात्पः		५-२९	, = अस्तित्वादि	●	९३-१६	*मतिअण्णाणि		४५-२८,२९
बाह्या भ्रमि		१०१-७	*भावओ आभिणिओहियणाणि			मतिज्ञान		४५-२५;१३०-३१
बुद्ध = आचार्य, बुद्ध		३९-१४	*भावत्रो उज्जुमति					१५२-१६
बुद्धबोधितसिद्ध		३९-१४				*भावओ ओहिणाणि		४५-२८,२९
+बुद्धबोधियसिद्ध		३८-२४	*भावओ ओहिणाणि		३०-११,१२			

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र पट्टिका	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पट्टिका
मध्यगत [आनु- सउक्षण्य २३-१८तः			मार्गणा = अन्वय- भग्नणा ५८ १७;		योग = कायादि, जोग ३७-२४; १२३-२४
गामिकाव- [आणुगामिय २३			धर्मान्वेषण १५२-७,८	" = अदृश्यीकरणादि, ,	" १२३-२०
विज्ञान] ओहिणाण]			,, = विशेषधर्मान्वेषण , ६९ २	योगसिद्ध	१२३-२१
मनःपर्यवेक्षण { मण्डजवणाण १८-२२			+५मासाण = दृष्टिवादप्रविभाग ८७-१०	योनि	जोणि ३-१८तः४
मनःपर्यायिकान } तः१९-४; १९२-६तः१३			*मिच्छसुत ६४-१८तः२६	रजस्	रव ४-२५; ६-२१
मनःपर्यवेक्षण , १९२-१४ १५			मित १७२-३	रविअ = इवित	१०३-८; १८२-२९
मनःपर्यायसि ३४-५			मिथ्याहृषि मिच्छहिंडि ३४-११	+५रालेङ्गण = राजीकृत्य १३८-१२	
मनोयोग ३७-२७			मिथ्याभ्रुत मिच्छसुत ६४-१० ११, १५, १६,	रावेहिति	५४-४
मन्त्र = अधिकृतज्ञानवत्, मंता २४-२५			२७तः६५-११; १५५-२	+५रासिरद्व = दृष्टिवादप्रविभाग ८५-२४;	
,, = चिन्तक , १८३-२६			मिथिकी कुप्रावचनिकी १७७-४	रूपक = छन्दोविशेष	१०१-२४
मन्त्र १२३-२०			शशरीर-भव्यशरीरव्य- १२३-२०	+५लद्विअक्खर	५९-२०
मन्द्र १४४-२८			तिरिक्ता द्रव्यानुक्षा	लविध	५९-२४
+५प्रयणसलाहया = सारिका, १४०-११ २०			मिथिकी लौकिकी शशरीर- १७६-१२	लद्यश्वर	लद्विअक्खर ५९-२७; १५२-२९
मदनशालाकिका			भव्यशरीरव्यति- १७६-१२	लाघव	१०२-१८
मरणविभक्ति मरणविभत्ति ७१-२९, ३०			रिक्ता द्रव्यानुक्षा	लेप्यकर्म	लेपकम्म १७०-३०
+५मरणविभक्ति ७०-२१			मिस्पजोणि १००-४ ५	लेश्या = किरण	लेसा ७-१७
मर्दल ९९-१०, १९			मीमांसा वीमांसा ९६-२६	,, = कृष्णादि	,, ११६-१४
मर्यादा १०१-१६, १७			*मीसिया कुप्रावय- १७६-२४तः२७	*लोहया जाणगसरीर- १७५-१३तः	
महती विमान- महलिया वि- ७२-२९, ३०			जिया जाणगसरीर-भवि- १७६-१२	भवियसरीरव्यतिरित्ता	१७६-११
प्रविभक्ति भाणविभत्ति			यव्यरीरव्यतिरित्ता	दव्वाणुण्णा	
+५महलियाविमाणपविभक्ति ७२-२१			*मीसिया लोहया जाणग- १७६-७तः११	*लोहया भावाणुण्णा	१७८-९ १०
महाकण्ठसुय ७०-२६			सरीर-भवियसरीरव्यतिरित्ता	*लोउत्तरिया भावाणुण्णा	१७८-१३तः१८
+५महापञ्चक्खण ७०-२३			दव्वाणुण्णा	लोक = लोक्यत इति लोअ ७७-२८; ९९-१४	
+५महापथणवणा ७०-१९ २८			*मीसिया लोउत्तरिया १७७-१४तः१७	,, = जीवास्तिकायादि, ,	१००-२८
महाप्रक्षापना महापणवणा ७० २८			दव्वाणुण्णा	लोकोत्तरिक	लोउत्तरिय १७७-१९
महाप्रत्याख्यान महापञ्चक्खण ७२-१४			मुकुन्द ९९-१८, १९	लोकोत्तरिकी द्रव्यानुक्षा	१७७-१९तः१८
तः१६			मुत्ति १३९-१३	लोउत्तरिया दव्वाणुण्णा	२५
महार्थ महस्य १५ ८			मुद्रिका सुद्रिया १२-२९	+५लोभिलुता = लोभित्व	१३६-१९
महावीर ४-८			मुहूर्त गुहूत ५७-१४	लोमंथिय-०त = नट	१३९-८१
महित ६३-१६, १७			मूक मूय ९६-१९, २०	लौकिकी शशरीर-भव्यशरीर- १७५-१९	
+५माउगापय = दृष्टिवादप्रविभाग ८५-२३, २७			मूल ९०-१	व्यतिरिक्ता द्रव्यानुक्षा तः१७६-१४	
माडमिक माडवित्त १७५-२०, २१			*मूलपदमाणुओग ८९-२३तः१०	वग	८१-१८; ८३-१०
मात्रा माया ७५-१५			मूलप्रथमानुयोग ९०-१, २	*वडदमाण ओहिणाण २५-१२तः२६ ५	
मातुषक्षेत्र माणुसखेत ३७-४, ५			मेधा मेहा ५०-२०तः२२	+५वडिदपउत्त = वृद्धिप्रयुक्तवन	१३७-१
मार्गणता मरणया ५०-२९ २०; १४४-२०, २१			+५वत्तमाणुपय = दृष्टिवादप्रविभाग ८७-१२		
			+५यात्रा याया ७५-१५	वनषष्ठ वणसेंड	१६५-१८
			यात्रासिद्ध १२३-२१	वय = देहावस्थाविशेष, वय ४९-१	

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पाठिक्त
वराटक	वराड़ा	१७१-२
+वरुणोववाय		७२-२२
वर्ग = अध्ययनसमूह, वर्ग ७३-२२; ८४-१;		१६६-१३
वर्गचूलिका	वरगचूलिया	७३-१,२
वर्द्धमान[अव- वर्द्धमाणओ-	वर्द्धमाण	२३-३,४;
धिक्षान]	हिणाण	२६-६तः२८-३२;
		१९५-२९
वर्क	वाग्	१२७-१८,२०
वस्तु	वस्तु	१६७-९
+*वंजणक्खर		५९-१५
वंश		८९-१२
+वंसपत्ता [जोणि] = योनिविशेष		१००-२२
वाग्योग = वाग्दव्यसमूहसाचिव्याद्		३७-२६;
जीवव्यापार, व्राक्परिस्तन्द.		१२६-१४
वासीर्थ		
वाचक + वंश	वायग + वंश	१२-१७,१८
वाचना	वायणा	१७२-१९
वात्सल्य	वच्छल	१६३-१८
वाद	वाऽ	४५-१५
वाम्य	वम्य	१०४-२१
वार्तिककर = अर्थविशेष		१०२-८,९
वासना = मतिज्ञानभेद, स्थापना		१४५-५,६;
		१५०-२७
विइवैस्संति व्यतिविष्यन्ति		१६९-१३
विइवैस्सु = व्यतिकान्तवन्तः,		९४-१६;
व्यतिविष्यन्तः		१६९-१२
विइवर्यति = व्युक्तामन्ति		९४-१७
विकृष्ट [तपः]		१६२-२२
विचारण	वियालण	५७-२
+विज्यथरिय = दृष्टिवादप्रविभाग		८७-१०
+विज्ञाचरणविणिच्छाभ		७०-२१
विहिति	विज्ञति	४३-१९; १२६-
		११,१२
विज्ञान	विष्णाण	५९-१५
विज्ञायक	वियाणअ	२-६.
वित्तिमिरतर + क	वित्तिमिरतराग	३६-
		२४,२६; १२२-३०; १२३-७

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पाठिक्त	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पाठिक्त
विद्या		१२३-२०	वेद		७६-७
विद्याचरणवि- विज्ञाचरण-	७१-२२,२३		*वेणद्या बुद्धि		४७-४,५
निश्चय	विजिच्छाभ		वेदिका		१८२-१६
विनय = गुरुशुश्रूषा, विणय	४७-२५		+वेयालिय = विचारित		११०-२१
, = ज्ञानादि	७५-१३		+विद्यावच्छ = दृष्टिवादप्रविभाग		८७-११
विषाक्षुत	विवागसुत	८९-१०	+वेलंघरोषवाय		७२-२३
विपुल	विरल	३४-२५	वेष्टिम	वेष्टिम	१७०-३१; १७१-१
विपुलतर + क विउलतराग	३६-२०,२१;		वैनियिक = कर्मक्षयादि फल, वैणिय	७५-१३	
	२६; १२२-२९,३०		,, = दार्शनिक	,, ७८-३०,३१	
विपुलमति[म- विउलमति- ३४-२५तः			वैनियिकी[बुद्धि] वैणिया	४७-२५; ४८-	
नःपर्ययहान] [मणपञ्जवण्ण] २७; १२१-				बुद्धि १३तः१८	
	२०तः२७		व्यञ्जनाक्षर	व्यञ्जनक्खर	५९-१६तः१८;
+५वंसपत्ता [जोणि] = योनिविशेष					१५२-२८
वाग्योग = वाग्दव्यसमूहसाचिव्याद्			व्यञ्जनावग्रह	वंजणोग्मह	४९-१८ १९
जीवव्यापार, व्राक्परिस्तन्द.			व्यतिवज्ञन्ति	विवर्यति	१६९-१३
विमर्ष	वीमंसा	५१-२३; ५८-	व्यत्याङ्गेदित	विच्छामेलिय	११०-१०
	१६,१७; ६१-४,५; १५२-७		व्यपरगत	ववगय	१७४-७
विमानप्रविभक्ति विमाण- ७२-२८,२९			व्यवचित्तिनि- विउचित्तिनि- ६५-१६,१७		
			यार्थता	णवद्या	
+५वियतिथि = वितस्ति			व्यवसाय	ववसाय	५७-३
*वियाद		८०-१३तः२३	व्यवहार	ववहार	१७३-५
विरमण	वेरमण	१६६-३,३	व्याकरण	वागरण	१२-२१
विराधना		१६९-११	व्याख्या	वियाह	७३-२; ८०-२४;
*विवागसुत		८४-२०तः८५-९			१६५-१३
+विवाहचूलिया		७२-२२	व्याख्याचूलिका	वियाहचूलिया	७३-३
विशुद्ध	विशुद्ध	४८-५	व्याख्यान	वक्ष्याण	१५-१०
विशुद्धतर	विशुद्धतराग	३६-२१,२६;	व्यूह	वृह	७९-३; १६४-१६,१७;
		१२२-३०			१८६-१३
विशुद्धफङ्क		११६-१०	शङ्खावर्ता संववत्ता	जोणि	१००-२१,२३
विमाल		८९-१६	कृत = अध्ययन, सत		१६५-१५
+विहारकप		७०-२२	शब्दनय	सदनय	१७३-२०
विहारकल्प	विहारकल्प	७२-८,९	शाय्या सेज्जा		१७४-१२
वीतरागशुत	वीयरागसुय	७२-१,२	शय्यागत	सेज्जागय	१७४-१२,१३
+वीयरागसुत		७०-२२	शरीरपर्याप्ति		३४-२
+५वीरिय = पूर्व		८८-२	शास्त्रत		१००-२९
वीयाचार	वीरियाचार	७६-१,२,३	शास्त्र	सत्य	९६-५; १६९-२०,२१
वृत्ति	वित्ति	७५-१५	शिक्षा	सिक्षा	७५-१३
वृच्छिदशा		९८-२			

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पहिक्त	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पहिक्त
शिक्षित	सिकिवय	१७२-१,२	*सचिना लोहया जाणगसरीर	१७५-	सयोगिभवस्थ- सजोगिभवस्थ- ३७-२४
शिल्प	४७-२६; १२३-१५, १६		भवियसरीरवतिरिच्चा	१५८:१८	केवलज्ञान केवलज्ञान तः२८
शीतोष्ण-	सीओसिं- १००-११,१२		दव्वाणुण्णा		सर्वद्रव्यपरिणा- सर्वद्रव्यप- ४३-१७तः
योनिक	जोषीय		*सचिना लोउत्तरिया दव्वाणुण्णा १७७-		मधावविज्ञप्ति- रिणामभाव- १९
शीलव्रत = अणुव्रत,	सीलवय	१६६-२		कारण	विष्णतिकारण
शुस्व = दवरिका, 'दोरी'	१२७-२०,२१			सर्वाकाश	सव्वागास ६७-३०
इति भाषायाम्				सर्वाकाशप्रदे-	सव्वागास- ६७-३०तः
शुश्रूषते	सुस्समै १६-१७; १६९-२४			शाश्र	देसग ६८-१
शृङ्खलातीय	सिंगणाइय	१६२-३२तः		+सर्लिंगसिद्ध	३८-२४
		१६३-२		सर्ववदव्य	४७-१७
शृङ्खलादित	"	१६३-२,३,४		संक्रिलदयमान	संक्रिलिस्समान २९-७
शेष = अप्रधान,	सेस	४४-५,६		+संख्यात्ता [जोणि] = बोनिविशेष १००-२३	
श्रमण	समण	६-२१तः७-३		संख्येय	संखेज २४-२५; २८-७
श्रवणता	सवणवा	५०-१६,१७		संख्येयवर्षायुष्ट	संखेजशाडय ३३-२८
आवक	सापय	६-२६तः२८		+संग्रह = अनुज्ञा	१७९-१
श्रीप्रवाल	सिलप्पवाल	१७३-५		संज्ञा = अवग्रहोत्तर-	सण्ण ५८-१८;
श्रुत = आचारादि,	सुव	४-३; ५-१३		कालभाविसतिविशेष	१५२-८,९
श्रुत + ज्ञान	सुयणाण	१८-२४तः२७		" = हेतुवादोपदेशन	१५३-२८
		४५-२,३,२५,२६;		संज्ञाक्षर	सण्णक्षर ५९-१२तः१४;
		१११-३०तः११२-३;			१५६-२६,२७
		१२७-३१; १२८-१तः		संक्षिप्तुत	सण्णसुत ६०-२१; १९३-
		७; १३१-३,४			१०तः१२
श्रुत [ज्ञान] लाप	सुयणाणलंभ	१६९-२२		संक्षिप्त = विकलेन्द्रिय, सण्ण	३६-१६
श्रुतनिधित-	सुयणिस्सिय	४६-१७,१८		सम्मूळिमप्पेन्द्रिय	६९-१४तः२१;
[मतिज्ञान]	[महाण]				१५३-२०,२७,२८
श्रुतस्कन्ध	सुयक्कन्ध	७६-१२		" = त्रिविधसंज्ञोपेत	सण्ण ६०-२१;
श्रेष्ठिन्	सेढि	१७५-२३,२४			१५३-१२
श्रोत्रेन्द्रिय	सोइंदिय	१३०-२२		" = गर्भजतिर्यग-मनु-	६०-२५तः
श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष	सोइंदियपचक्ष	२१-३		ध्य-देव-नारक	६१-१०
सङ्ग्रह	संगह	१७३-१७,१९		," = सम्यग्ज्ञानिन्	६२-४तः१४;
सङ्खातिम	संघातिम	१७१-१			१५४-६
*सचिना कुप्पावयणिया	१७६-१७तः		+संधर = जीवत		१६३-८
जाणगसरीर-भवियसरीर-		१९	+संभिष्ण = हष्टिवादप्रविभाग		८७-१०
वच्चिरिच्चा दव्वाणुण्णा			संयत	संय	३४-१५
सचिना कुप्रावचनिकी	१७७-१,२		संबतासंयत	संजयासंजय	३४-१५
ज्ञशरीर-भवियशरीरवतिरिच्चा			संलेखना		१६२-१५
दव्वाणुज्ञा			संलेखनाश्रुत	संलेहणासुय	७२-२तः८

शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पटिक्क	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पटिक्क	शब्द	मूलशब्द-अर्थादि	पत्र-पटिक्क
+संबद्ध = संकोचन		१८३-२७	सुकुमालकोमल + तल		१०२-१०	स्थिति	ठिठ	१६७-३
संवर्त = प्रत्याख्यानरूप		९-१३	सुष्ठिअ	१०६-३०; १८२-३३ ३३		स्थिरीकरण	थिरीकरण	१६३-१७, १८
+,, = अनुशा		१७९-१	*सुन		४४-१८	स्नातक	सिणाय	४३-४, ५
संवर्तं संबद्ध		१२२-१५	सुप्रजिज्ञान		१०१ ९, १०	स्पृष्ट	पुङ्क	५७-२५; १५०-३१
संवर्तकमेघ		१०३-५८:७	सुय		४५-२३; १३०-२०	स्मृति = मतिज्ञा- सती	५८-१८; १५०-	
संवाद संवाद		१६६-२१	*सुयग्निष्ठाण		४५-२९, ३०	नमेद		२६; १५२-९
संवित्		१११-४	*सुयणाय		४५-२९ ३०	स्वभाववादिन्		७८-७
संवृतयोनि संवृडजोगि	१००-१६, १८		*सुयणाशलंभ		९५-१९	स्वयम्बुद्धसिद्ध	स्वयंबुद्धसिद्ध	३९-७;
संवृतविवृता संबुडवियडा	१००-१६, २१		सुसम		६६-२२तः२४			१२४-५
[योनि] [जोगि]			सुसमदूसमा		६६-२५तः२८	स्वर		१५७-१०
+५संसारपटिगमह=दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२४:		सूत्र	सुय, सुत्त	७७-२७; ८७-१८	स्वलिङ्गसिद्ध	स्वलिङ्गसिद्ध	३९-१८, १९;
८६-१, ५ ८, १३, १६, २०			सूत्रकृत्	सूयगड	७७-२७			१२४-१८
संस्तार संथार		१७४-१३	*सूयपड		७७-१५तः२६	स्वविष्यव्यक्ति		१४५-१९, २०;
संस्तारमत संथारगय		१७४-१३	सूर्यप्रहृष्टि	सूरपण्टि	७९-१७, १८			१४४-२३
साचिद्य		११६-१५	मे = अथ		२०-१८, १७०-९	स्वाध्याय	सज्जाय	६-१०
सादि सादीयं		६५-१६	,, = तस्य		४०-२३	स्वापतेय	सावदिज-०एज	१७६-३२२
सादिसपर्यवसान आईनिहण्त	४१-१		सेण्ट्रित	छेलिय	६०-१३	+५हंभीमासुरुक्त्व = शाक्त		६४-१९
सामान्यार्थव- सामण्टथ- १५०-१९,			सेनापति	सेणावह	१७५-२४	*हायमाणओहिणा		२९-२, ३ ४
ग्रहण वग्गहण	२०		सेयकाल		१७५-२३	'हित हिय		४९-२
साम्परायिकसात्		१०२-५	सेल		१०२-२५	+हिय= अनुज्ञा		१७८-३०
सार		४८-२२	+५सोव्यतिथपण्ड = दृष्टिवादप्रविभाग	८७-११		हीयमानक	हीयमाण्य	२१-५तः८;
सार्थवाह सत्यवाह	१७५-२५तः२७		स्फन्ध	खंघ	३५-१३	[अवधिज्ञान] [ओहिणा] ११५-२२ २३		
सित		१२३-२३	स्थविर	थेर	१७७-२४	हुङ्कार	हुकार	९६-२०
सिद्ध	३७-१३तः१९; १६९-८		स्थान	ठाण	७९-१७	*हेऊवप्पस [सण्ण, असण्ण]	६१-१३	तः१५
सिद्धकेवलज्ञान सिद्धकेवलण्ण	३७-१३		स्थापना = धारणा, ठवणा ५१-२४, २५;			हेतु	हेउ	९-१०; ४८-३०;
तः२०			(मतिज्ञानमेद)	१४५-६७				९३-१७
सिद्धशिलात् सिद्धसिलातलग्य	१७४-१४		स्थापनानन्दि		९९-७	हेतुवादोपदेश		१२२-२६, २८
लगत		०	स्थापनानुज्ञा ठवणाणुण्णा	१७०-२२तः१७१-३		हेतुपदेश + संज्ञिन्, हेऊवएस + ६१-१६		
+५सिद्धावत् = दृष्टिवादप्रविभाग	८५-२५		स्थापक = आदर्श, थासग १७६-१२ २६			असंज्ञिन्	सण्ण, असण्ण	तः२२
सिहरि		७९-२०	स्थित	ठिठ	१७२-२३	+५होङ्गा = पण		१३४-टि ७
सिगनाइय		१०६-१						

शुद्धिपत्रकम् ।

पत्रस्य पद्मौ	अशुद्धं	विशोध्यम्	पत्रस्य पद्मौ	अशुद्धं	विशोध्यम्
२ २६	जगजीव-जो०	जग-जीव-जो०	५२ २६	“अनादिमानागमः”	‘अनादिमानागमः’
४ ९	ईर्	‘ईर्	५३ १	°भ्य ग्रहण०	°भ्य [पुद्ला] ग्रहण०
८ २०	व्याख्या	व्याख्या	,, २	प्रविष्टैरसङ्ख्येय०	प्रविष्टा असङ्ख्येय०
९ ३	जीवदैव	जीवदैव	,, ४	एव ग्रहण०	एव [विज्ञानजनकर्त्वेन] ग्रहण०
, २०	एव	एवं	५४ १७-१८	अनिर्देश्यस्वरूपं नामा०	अनिर्देश्यं स्वरूपनामा०
१० ९८: १२ गत गाथायुगलं वृत्तावक्षरशं उपलभ्यते ।			,, २४	°कार इति, क०	°कार ‘इति’ क०
,, २०	इत्यनेन	इत्यनेन	५५ ८	°आलादि य	°आलादिव
१३ ९	अज्ञा वि	अज्ञावि	, २७पद्मकथमन्तरभियं गाथा वाच्या—		
,, २९	°खमासमणे	°खमासमणे	[तं पुण चउच्चिह्नं नेयमेवओ तेण जं लद्वउत्ती ।		
१४ १०	चंपयवि०	°चंपय-वि०	आएसेणं सत्यं दब्बाइ चउच्चिह्नं मुण्ड ॥१॥]		
१५ २५	सेलधण	सेलधण	५७ २१	भवत्येव, स्मृ०	भवति, एवं स्मृ०
१७ १०	६१]	६१]॥४४॥	५९ ६	क्षर “स०	‘क्षर स०’
१८ ३	स्वविषय०	स्व-विषय०	६० २५	५२	२५
,, २०	°त्वाद् अभेदो०	°त्वाद् मेदो०	,, २९	स्तेन	तेन
२४ १२	मज्जग्रयं ? से	मज्जग्रयं ? मज्जग्रयं से	६२ ४	°वादोपदेशेन	°वादोपदेशेन
,, २२	°णाणं ।	°णाणं ? ।	६३ ३	तरहङ्गिः,	तैरहङ्गिः,
२६ २८	°विष्कम्भ सं०	°विष्कम्भसं०	,, २४	वक्तव्यम्	वक्तव्यम् ,
२८ २५	क्रमवर्ति०	अक्रमवर्ति०	६४ १४	समयकछुत०	सम्यकछुत०
३० १०	उस्पिष्ठिओ अव-	ओस्पिष्ठिओ उस्पिष्ठि-	,, २५	°हिंडिया	°हिंडिया
	सपिष्ठिओ	णीओ	,, „	वर्तति	वर्तति
,, १२	°भागं जाणद पासइ ४ ।	°भागो ४ ।	६५ ९	°दर्शनं स्यां०	°दर्शी न स्यां०
३१ ११	विदिक्षु	विदिक्षु	,, १९	एव	ए(‘इ’व
३३ ७	°मुत्पत्ति-स्वा०	°मुत्पत्तिस्वा०	,, २९	तहा	तहा
३४ ५	°प्रयाति०	°प्रयोगिति०	६६ २१	भविय पुण०	भवियपुण०
३५ ९	‘स्कन्धान्’	‘स्कन्धान्’	६८ १८	°धिकाराद्येव	°धिकाराद्येव
३६ १४	‘क्षेत्रप्राप्ता	‘क्षेत्रप्राप्ता	,, ३०	°ततुष्ट्यर्थं	°ततुष्ट्यर्थं
३८ ७	प्रश्नानु०	प्रश्नानु०	६९ ५	°पर्याया अभाव०	°पर्यायाभाव०
३९ २०	‘अणेगसिद्धाः’	‘अणेगसिद्धाः’	,, २७	गात्राद्यग्रं च	गात्राद्यग्रं च
४० ११	साक्षाज्ञा०	साक्षाज्ञा०	७२ २२	विवाह०	विवाह०
,, १३	°यां कमोप०	°यां कमा-इकमोप०	७४ १३	संचराणं	संधराणं
४३ १५	शुद्धिला०	शुद्धितो ला०	७६ १६	१६ वि०	१५ वि०
,, १८	°विश्रसो०	°विश्रसो०	७७ १८	अकिरियवा०	अकिरियवा०
४७ २१	अनाचार्यकं	अनाचार्यकं	७८ ६	इ०	१०
४९ १०	हचोड़भ्र०	काचाभ्र०	,, ९	८८ नवं गुणा	८८ नवगुणाः
५१ २	स्वधर्मा०	सधर्मा०	८७ ६	‘चिताए ते	‘चिताए वि ते
,, २२	°सुहृत्त	°सुहृत्त			
,, २७	इहाऽस्तमनो	इह चाऽस्तमनो			

पत्रस्य पट्टकौ	अशुद्धं	विशेषध्यम्	पत्रस्य पट्टकौ	अशुद्धं	विशेषध्यम्
१०८ १९	सक्त प०	°सक्तप०	१४५ ३१	°मिति । ग्रा०	°मिति ग्रा०
११४ ३२	योग-क्षेमौ	‘योग-क्षेमौ’	१५० १	स्वातन्त्र्य प्र०	स्वातन्त्र्यप्र०
११६ ५	आदिग्रहण०	आदिग्रहण०	,, ३१	°लिङ्गित०	°लिङ्गित०
,, १५	११	१४	१५१ २१	तः	तः
,, २७	‘संक्षिप्तश्च’	‘संक्षिप्तश्च’?	,, २७	यदिव०	यदि व०
,, ३१	°त्यादि	°त्यादि	१५२ २०	संकृ-	संकृ-
११७ २०	सूक्ष्मश्चा०	सूक्ष्मश्चा०	१५२ २	शेषितादि	शेषितादि
११८ १३	‘यःशिलाका०	‘यःशिलाका०	१५४ ८	क्षयिक०	क्षयिक०
,, २२	°तम्। प. १६	‘तम्। [पृष्ठ २८] १६	१५५ ५	सत्यादय	सत्या(१ सत्यक्या)दय
,, „	‘वृद्धी०	‘वृद्धी०	१५७ १६	गतिस्थि०	गति-स्थि०
११९ १	तदाऽङ्गल०	तदाऽङ्गल०	१५८ २०	‘भूतघटा०	‘भूतघटा०
,, १४	°दिषु०	‘दिषु०	१५९ १३	संज्ञाव्य०	संज्ञा-व्य०
,, २६	‘अन्तरादू०	‘अन्तरा०	,, ३१	दाषः	दोषः
१२५ १७	‘योगभावे	‘योगभावे	१६३ ३	शृङ्खलातीयं शृङ्ख-	शृङ्खलातीयं सङ्घ-
१२७ १६	तयोर्भेद	तयोर्भेद	१६५ २	७७	७८
१४० ९	१२	२१	,, १०	१५	१०
१४१ २६	दिष्टो	दिष्टो	,, २५	२०	२५
१४२ १४	निगच्छंती	निगच्छंती	१७४ १४	सिद्धशिला०	सिद्धशिला०
,, २४	आहो	आहो	१७५ २२	कौटुम्बिकः	कौटुम्बिकः
१४४ २	‘ण्यासमता	‘ण्या समता	१८५	शिर्षके °सत्र०	°सत्र०
१४५ २३	°मित्यादिका	‘मित्यादिना			

PRAKRIT TEXT SERIES
PUBLISHED WORKS.

I. ANGAVIJJĀ..

-Demy Quarto size..Pages-8+94+372..Price Rs. 21/-

Āngavijjā is published for the first time by the Prakrit Text Society. It is critically edited by Muni Shri Punyavijayaji, with English Introduction by Dr. Motichandra and Hindi Introduction by Dr. V. S. Agarwal.

Āngavijjā is an ancient Prakrit Text relating to prognostication on the basis of bodily signs. The work is of unknown authorship but was considered to be of high antiquity and great sanctity having been delivered by Mahāvīra himself. Its internal evidence points to its having been finally compiled at the end of the Kushan period, about 4th Century A. D.

It is highly important document firstly, for the history of Prakrit language and secondly, for the cultural history of India. It contains hundreds of lists of all descriptions, for example, seats, postures, utensils, containers, flowers, trees, personal names, food and drinks, bedsteads, conveyances, textiles, ornaments, jewellery, coins, birds, animals, arrows, weapons, boats, gods, goddesses, etc.

2, 4 PRĀKRTA-PAIṄGALAM Part I, II

Part I-Demy Octavo size..Pages 700 - Rs. 16/- : Part II-Pages 16+16+592+12..Price Rs. 15/-

Prākritapaiṅgalam is a text on Prakrit and Apabhraṃśa Metres. It is critically edited with three Sanskrit commentaries on the basis of the two earlier editions and further available manuscript material by Dr. Bholashankar Vyas, a distinguished member of the Hindi Department of the Banaras Hindu University. He has also added Hindi translation with philological notes and glossary of Prakrit and Apabhraṃśa words.

Part II contains the editor's comprehensive Introduction dealing with the problems of the Prākṛta Paiṅgalam together with a critical and comparative study of the metres that form the subject matter, as well as; the exact nature of the language of the original text, and also a literary assessment of the portion which the author intended to serve as illustrations to the Matrika and Varnika metres dealt with by him.

3. CAUPPANNAMAHĀPURISACARIYAM

-Demy Quarto size..Pages-8-68+384. Price Rs. 21/-

Cauppannamahāpurisacariyam is a great biographical work by Ācārya Śilāṅka of the 9th Century A. D. It is critically edited by Pt. Amritlal Mohanlal, Research Scholar of Prakrit Text Society. Its Introduction is written by Dr. K. L. Bruhn.

It gives the lives of 54 great men revered by the Jains, viz. 24 Tīrthaṅkaras, 12 Cakravartins, 9 Baladevas and 9 Vāsudevas.

5. ĀKHYĀNAKAMANIKOŚA.

-Demy Quarto size..Pages 8+16+25+422..Price Rs. 21/-

Akhyānakamanikośa is critically edited for the first time by Muni Shri Punyavijayaji.

It is written by Nemichandra and is commented upon by Āmradeva of the 12th Century A. D. This book is a mine of historical and legendary stories in Prakrit and Apabhraṃśa.

6. PAUMACARIAM Part I.

-Demy Quarto size.. Pages 8+40+376.. Rs. 18/-

This is the earliest Prakrit version of the story of Rāma. It was written in about the third Century A. D. by Vimala. The work is printed with Hindi translation. It is revised by Muni Shri Punyavijayaji and translated by Prof. S. M. vora, M. A., Jainadarśanācārya. Its Introduction is written by Dr. V. M. Kulkarni.

7. PĀIASADDAMAHANNAVO

-Demy Quarto size.. Pages 64+952. Price Rs. 20 for student edition and Rs. 30 for the library edition. This great Prakrit-Hindi Dictionary is published in its second edition adding some new words.

8. NANDISŪTRACŪRNĪ

-Demy Quarto size, Pages 104 : Price Rs. 12/-

Nandisūtra with its Cūrṇī is critically edited by Muni Shri Punyavijayaji for the first time. Five indices have been added at the end.

WORKS IN THE PRESS.

1. PAUMACARIAM Part II

-Demy Quarto size..

The second part of this great work will be published very soon.

2. PĀSACARIU

-Demy Quarto size..

This work is critically edited and translated in Hindi by Prof. P. K. Modi, Principal, Sanskrit College, Indore.

This is a work on the life of Pārśvanātha, the 23rd Tīrthaṅkara in Apabhraṁśa language.

3. SŪTRAKRITĀNGA

-Demy Quarto size..

Sūtrakṛtāṅga is an important canonical text of the Jains. It gives the fair idea of the various Sects and Philosophical Schools of the sixth Century B. C. and also deals with fundamental teachings of Lord Mahāvira.

This is critically edited by Muni Shri Punyavijayaji with two commentaries in Prakrit, viz. Niruyuktī and Cūrṇī.

4 DASAKĀLIKA.

-Demy Quarto size..

Dasakālika is written by Śayambhava in the 4th Century B. C. It will be published with Niruyuktī and Cūrṇī of Agastyasimha for the first time. It deals with the conduct of the Jaina Monks.

It is edited by Muni Shri Punyavijayaji.

5. PUHVICANDACARIYAM

This work written by Ācārya Śāntisūri deals with the famous story of Pṛthvicandra. It is a fine piece of ornate Prakrit poetry.

6. MŪLAŚUDDHI

The text is written by Ācārya Pradyumnasūri and is commented by Ācārya Devacandra the Guru of Hemacandrasūri. This important work contains many stories regarding purity of the faith etc.



